श्रीहरिः

श्रीभगवत्तत्त्व

श्रीहरिः

श्रीभगवत्तत्त्व

श्रीस्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी)

काशी

प्रथम वार]　　　　वि० सं० १९९७　　　　[मूल्य ३)

प्रकाशक—
मूलचन्द चोपड़ा
सत्ती-चबूतरा,
बनारस

मुद्रक—
अपूर्वकृष्ण बोस
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच

श्रीहरिः

प्राक्कथन

इसमें श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के लेखों एवं उपदेशों का संग्रह है। इनमें से कुछ लेख काशी के 'पण्डित-पत्र' तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। 'श्रीरासलीला-रहस्य' का कुछ अंश 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुका है। लोक-हित की कामना से यह संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
वि० सं० १९९७
काशी

विनीत—
मूलचन्द चोपड़ा
(प्रकाशक)

——

लेख-सूची

श्रीहरिः

श्रीभगवत्तत्त्व

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय
भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय ।

विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत् ॥

श्रीहरिः शरणम्

श्रीभगवत्तत्त्व

१

वेदान्त-रससार

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्या-हृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥

वेद-शास्त्रार्थ-परिशीलन-संस्कृत-मानस महानुभावों से यह तिरोहित नहीं है कि प्राणियों के चतुर्वर्ग की अविकल रूप से प्राप्ति का अति सुन्दर पथ वेदों ने प्रदर्शित किया है। विशेषतः धर्म और ब्रह्म के बोध में तो एक मात्र वेद ही प्रमाण-भूत है। अतएव "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (प्रवर्तक और निवर्तक वैदिक वाक्यों से लक्षित, अनर्थ श्येनादि से व्यावर्तित, अग्निहोत्र-दर्श-पौर्णमासादि अर्थ ही धर्म है), "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य", "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते", "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि आर्ष-वचनों से धर्म को वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य माना है।

वेद अनादि अविच्छिन्न सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त है। कोई भी पुरुष स्वातन्त्र्येण उनका निर्माण करनेवाला नहीं है। परमात्मा भी पूर्व कल्पीय वेदानुपूर्वी सापेक्ष ही उत्तर कल्पीय आनुपूर्वी का निर्माण करते हैं। प्रमाणान्तर से अर्थोपलम्भपुरःसर निर्मातृत्वरूप कर्तृत्व उन परमात्मा में भी नहीं है। अतः अपौरुषेय वेदों को ही सकल पुंदोषशंका-कलंक-पंक से असंस्पृष्ट होने के कारण उनका सर्वानपेक्ष प्रामाण्य है।

अतएव परमेश्वर निर्मितत्व वेदों के प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है, किन्तु परमेश्वर के स्वरूपादि की सिद्धि ही वेदों के अधीन है। अन्यथा वैदिक जिन जिन युक्तियों से वेदकार को परमेश्वर या तदवतार मानकर तन्निर्मितत्वेन वेदों का प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे, उन्हीं उन्हीं युक्तियों से भिन्न भिन्न मतवादी भी अपने धर्मग्रन्थ-रचयिता को परमेश्वर सिद्ध करके उससे निर्मित अपने धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे।

अस्तु, इन सब बातों के कथन का आशय यही है कि वेदों का धर्म और ब्रह्मस्वरूप निर्णय में अनपेक्ष प्रामाण्य है। कल्पसूत्र, स्मृत्यादि और अन्यान्य आर्षग्रन्थों का प्रामाण्य वेद सापेक्ष ही है। अतएव वेद के साथ जिन वचनों का विरोध होता है, उनका प्रामाण्य कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता, चाहे वे वचन किसी भी आर्षग्रन्थ के क्यों न हों।

वेदों में अवान्तर अनेक भेदों के होते हुए भी प्रधान रूप से मन्त्र और ब्राह्मण ये दो भाग हैं। उनका शाखा-भेद होने से

अनेकता होने पर भी विषय प्राय: सबका समान ही है। प्रायेण मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प-सूत्र साथ ही चलते हैं। यद्यपि उन सभी का महातात्पर्य सर्व प्राणिपरप्रेमास्पद परिपूर्ण परमानन्दघन भगवान् में ही है यथा "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" तथापि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, परमसूक्ष्म भगवत्तत्त्व की उपलब्धि और उसमें स्थिति बहिर्मुख प्राणियों के लिये कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अत: योग्यता-सम्पादन के लिये अनेक प्रकार के कर्म और उपासनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी लिये वेदों का अवान्तर तात्पर्य्य उनमें भी है।

वेदों के महातात्पर्य्य के विषयभूत परमानन्दघन भगवान् में ही सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और प्रतीति होती है। अत: जैसे तरङ्ग के भीतर, बाहर, मध्य में जल ही भरपूर होता है, वैसे ही भोक्ताभोग्य सकल प्रपञ्च के भीतर, बाहर, मध्य में परमानन्द रसात्मक भगवान् ही भरपूर है। किंबहुना एक आनन्द सुधासिन्धु भगवान् ही अपनी अघटितघटना-पटीयसी माया शक्ति के प्रभाव से नाना दृश्य रूप में प्रतीत होते हैं, यथा श्रुति: "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्", "एकोऽहम् बहु स्याम्" इत्यादि।

जैसे आनन्दस्वरूप से दु:खात्मक प्रपञ्च प्रादुर्भूत होता है, वैसे ही चैतन्य से जड़ प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है। यह बात अभिन्न निमित्तोपादान कारणवादियों को माननी पड़ती है और

उसी तरह त्रिकालाबाध्य परमार्थ सत्य भगवान् से अनृतात्मक प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है, यह भी मानना चाहिये।

प्रपञ्च आनन्द से उत्पन्न होनेवाला और आनन्द में विलीन होनेवाला है, यह उपर्युक्त श्रुतियों से स्पष्ट सिद्ध होता है। जैसे समुद्र से उत्पन्न और विलीन होनेवाला तरङ्ग समुद्र ही है, वैसे ही आनन्द से उत्पन्न और उसी में विलीन होनेवाला प्रपञ्च भी आनन्दात्मक ही होना चाहिये, तथा सर्वप्रकाशक चैतन्यघन से उत्पन्न होनेवाला प्रपञ्च चेतनात्मक ही होना चाहिये। परन्तु प्रपञ्च में दुःखरूपता और जड़ता सर्वानुभवसिद्ध एवं सर्वमान्य है, अतः कहना पड़ता है कि कारणगत अनिर्वचनीय शक्ति से कार्य में अनिर्वचनीय विलक्षणता होती है। इसी वास्ते यद्यपि स्पष्ट देखते हैं कि जल से भिन्न बर्फ और तन्तु से भिन्न पट कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, तो भी जल और तन्तुओं की अपेक्षा उनमें (बर्फ और पट में) विलक्षणता अवश्य है। इसी लिये आनन्द और स्वप्रकाश चैतन्यरूप परमात्मा से भिन्न जड़ और दुःखरूप प्रपञ्च उत्पन्न होता है।

अब यह देखना चाहिये कि दुःख जड़रूप प्रपञ्च सत्य है या मिथ्या? यदि पूर्वोक्त न्याय से विचार करें तो स्पष्ट विदित होगा कि कार्य और कारण में अनिर्वचनीय विलक्षणता है। अतः जैसे आनन्द-चैतन्यात्मक ब्रह्म से जड़ तथा दुःखात्मक प्रपञ्च का होना सम्मत है, वैसे ही परमार्थसत्य परमात्मा से मिथ्या प्रपञ्च का प्रादुर्भाव मानना युक्त है। इन विवेचनों से सिद्ध हुआ कि

परमानन्द स्वप्रकाश परमार्थसत्य भगवान् से दुःखात्मक, जड़ात्मक, मिथ्या अर्थात् अपरमार्थिक, व्यवहारोपयोगी, व्यावहारिक प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है।

जैसे अग्नि में दाहिका-शक्ति अग्नि से विलक्षण होती है, वैसे ही त्रिकालाबाध्य सद्रूप ब्रह्म की जो प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है, वह भी उससे विलक्षण है। अतः त्रिकालाबाध्य-रूप सत् से विलक्षण उसकी शक्ति शुद्ध सद्रूप अधिष्ठान के बोध से बाधित होती है। साथ ही क्वचिदपि कथञ्चिदपि न प्रतीत होनेवाले अत्यन्त असत् खपुष्पादि से भी विलक्षण सत् की शक्ति है, क्योंकि वही सकल प्रपञ्च की जननी है। इस तरह परमात्मनिष्ठ वह शक्ति, जिससे परमात्मा अपने आपको सकल प्रपञ्चरूप से व्यक्त करता है, सत् और असत् दोनों से विलक्षण है, अतएव उसको अनिर्वचनीय कहते हैं।

इस शक्ति को ही 'माया', 'प्रकृति', 'अविद्या', 'अज्ञान' आदि शब्दों से कहा जाता है। जैसे "योगमायासमावृतः" इत्यादि वचनों से माया द्वारा ज्ञानानन्द-स्वरूप ब्रह्म का आवरण कहा है, वैसे ही "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्" इस वाक्य से अज्ञान को भी आवरक कहा है। जैसे "मायामेतां तरन्ति ते" इस वाक्य में माया का तरण कहा है, वैसे ही "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" इस वचन से ज्ञान को अज्ञान का नाशक कहा है।

ज्ञानाभावरूप अज्ञान को आवरण कर्तृत्व नहीं हो सकता भावाभाव के असमकालिक होने से ज्ञान से ज्ञानाभावरूप अज्ञान

का नाश भी नहीं हो सकता, अतः अज्ञान सदसद्विलक्षण माया-शक्ति रूप ही है। जैसे 'चित्', 'अचित्' इन दोनों शब्दों से चेतन और जड़ दोनों भावरूप ही गृहीत होते हैं, वैसे ही 'ज्ञान', 'अज्ञान' इन दोनों शब्दों से परमात्मा और उसकी शक्ति अनिर्वचनीय माया गृहीत होती है। वह शक्ति जैसे सद्विलक्षण है, वैसे ही चित् से भी विलक्षण है, अतः 'अचित्' जड़ समझी जाती है। उसी के द्वारा सच्चिदात्मक तत्त्व का जड़ प्रपञ्चरूप से विवर्त होता है।

जैसे शक्ति की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अपने आधारभूत शक्तिमान् से ही होते हैं, वैसे ही अचित् की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अचित् के आधारभूत चित् के ही परतन्त्र हैं। यह स्पष्ट ही है कि अचित् की प्रवृत्ति और प्रकाश चित् ही से है। यदि वह स्वतः प्रकाश हो तब तो उसे अचित् ही नहीं कह सकते। ऐसे ही अज्ञान की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश यह सभी ज्ञानस्वरूप परमात्मा से ही है। अतएव "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार अज्ञान का प्रकाश नित्य अखण्ड ज्ञान स्वरूप साक्षी से ही होता है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान दो प्रकार का है। एक तो अंतःकरण की चैतन्य प्रतिबिम्बोपेत वृत्तिरूप, जो उत्पन्न होनेवाले और विनाशीरूप से लोक में शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञानादिरूप से प्रसिद्ध है, और दूसरा स्वप्रकाश चैतन्यानन्द ब्रह्मरूप, जो लौकिक ज्ञान और निद्रा अज्ञानादि का भासक, कूटस्थरूप, "सत्यं ज्ञानमनन्तं", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है।

ब्रह्मरूप ज्ञान ही अचिच्छक्तिरूप अज्ञान एवं तत्कार्यरूप सकल प्रपञ्च को सत्त्व और प्रकाश देकर कार्यकरणात्म बनाता है। इस तरह परमानन्द रसात्मक भगवान् से ही सत्ता, स्थिति, स्फूर्ति प्राप्त करके नीरस, असत्, स्फूर्तिरहित प्रपञ्च सरस, सत्य, स्फूर्तिमान् सा प्रतीत हो रहा है। अतएव जैसे दहन-सामर्थ्यशून्य लौहपिण्ड को अनित्य और सातिशय दहन-सामर्थ्य प्रदान करनेवाला, नित्यनिरतिशयदहन-सामर्थ्य-सम्पन्न अग्नि, दग्धा का भी दग्धा कहा जाता है, और जैसे अनेक प्रान्ताधिपतियों को राजा बनानेवाला सर्वाधिपति राजराज कहा जाता है, वैसे ही अनित्यों को नित्य, अचेतनों को चेतन, असत्यों को सत्य बनानेवाले वेदान्त-वेद्य परमानन्द रसात्मक भगवान्, नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, सत्यों के सत्य कहे जाते हैं। जैसे सर्वाधिपति राजराज से निर्मित राजगण, प्रान्तीयों की अपेक्षा राजा होते हुए भी, सम्राट् की अपेक्षा प्रजा ही हैं; वैसे ही नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, सत्यों के सत्य, भगवान् से निर्मित नित्य, चेतन, सत्य पदार्थ (चिदाभास साभास अन्तःकरणरूप जीव, तथा आकाश घटादि) असत्य रज्जु सर्पादि की अपेक्षा चेतन, नित्य, सत्य होते हुए भी, परमनित्य, सत्य, चैतन्य की अपेक्षा अनित्य, असत्य, अचेतन ही हैं। जैसे आकाश की उत्पत्ति श्रुति-सिद्ध है तथापि क्षणिक पदार्थों की अपेक्षा वह स्थिर है, अतः उसको न्यायसिद्धान्तानुसारी नित्य कहते हैं; जैसे उत्पत्ति-विनाशवाले, साभासवृत्तिरूप ज्ञान जड़ होते हुए भी घट की अपेक्षा चेतन कहे जाते हैं, वैसे ही

लोकसिद्ध मिथ्या रज्जु-सर्पादि की अपेक्षा अबाध्य होने के कारण घटादि भी सत्य कहे जाते हैं। इन्हीं आपेक्षिक नित्य-चेतन, सत्य, सरस पदार्थों को वेदान्ती सकल सत्शास्त्रों के महातात्पर्य का विषयीभूत, निखिल रसों के समुद्गम-स्थान, भगवान् की अपेक्षा अनित्य, जड़, नीरस, दुःखरूप या व्यवहारोपयुक्त, व्यावहारिक नित्य, व्यावहारिक सत्य, व्यावहारिक चेतन, अथवा व्यावहारिक सुख कहते हैं।

पारमार्थिक सत्य, चैतन्य, नित्यआनन्दरस-स्वरूप तो भगवान् ही हैं, इसी अभिप्राय से "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्", "सत्यस्य सत्यम्" इत्यादि श्रुति-वचन भगवान् को नित्य का नित्य, सत्य का सत्य कहते हैं। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी भी अपने राम को प्राण के प्राण, जीव के जीव, सुख के सुख कहते हैं :—

"आनन्दहुँ के आनन्ददाता,"

"प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम।
तुम तजि तात सुहात गृह, जिन्हहि तिन्हहि विधि बाम।"

जैसे घटाकाश का जीवन महाकाश और तरंग का जीवन समुद्र है, वैसे ही जीव के जीवन भगवान् हैं।

अस्तु, इस तरह सिद्ध हुआ कि परमार्थतः सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, वह मिथ्या ही है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वैसे ही परमात्मा में प्रपञ्च का भ्रम है। यही सत्य से मिथ्या पदार्थ की उत्पत्ति का प्रकार है।

इसी सिद्धान्त को श्री गोस्वामीजी ने भी रामचरितमानस में पुष्ट किया है :—

"झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥"

अतः सिद्ध हुआ कि परमानन्दघन भगवान् से भिन्न होकर परमार्थ सत्य कोई भी पदार्थ नहीं है। जैसे वायु आदि क्रम से आकाश के द्वारा ही समुद्भूत घटरूप उपाधि से आकाश में महाकाश और घटाकाश ये दो भेद हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मा से समुद्भूत उपाधियों के द्वारा चैतन्यानन्दघन भगवान् में ही जीव और परमेश्वर ये दो भेद हो जाते हैं। वस्तुतः घट आकाश का कार्य होने से उससे पृथक् नहीं है।

अतएव विद्वान्, जैसे कार्य को विज्ञान-दृष्टि से कारण में प्रलीन करके, घटरूप उपाधि को आकाश में बाधित कर घटाकाश और महाकाश के भेद को बाधित कर देते हैं, वैसे ही अधिष्ठानरूप, शुद्ध सत्य के बोध से, सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति, एवं तत्कार्यरूप उपाधियों को सद्रूप ब्रह्म में ही बाधित करके जीव और परमेश्वर के भेद का भी निराकरण कर देते हैं। अर्थात् जैसे घट को पृथ्वी में, पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में एवं वायु को आकाश में लय करने पर महाकाश से भिन्न न घटरूप उपाधि रहती है और न घटोपहित घटाकाश ही रहता है, वैसे ही आकाश को अहंतत्त्व में, अहंतत्त्व को महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व को अव्यक्त में और अव्यक्त को सत्तत्त्व में विलीन

कर देने पर देह, इन्द्रिय, मन, वुद्धि, अज्ञानरूप उपाधि तथा इन उपाधियों से उपहित जीव ये सभी अखण्डानन्द-रस भगवान् ही हो जाते हैं। अर्थात् भगवान् से भिन्न उनका कोई भी स्वरूप नहीं रहता।

इसी वास्ते भगवती श्रुति ने कहा है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि "तज्ज, तल्ल, तदन" है। ब्रह्म से ही समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति एवं विलयन होता है। यह सर्व दृश्य प्रपञ्च इस आत्मा का स्वरूप ही है। ब्रह्म ही समस्त प्रपञ्च की आत्मा और ब्रह्म ही तुम हो। यह आत्मा ब्रह्म है। "अहं" पद लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है। किंबहुना "स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः", "बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च" अर्थात् चराचर सकल प्रपञ्च के भीतर बाहर ब्रह्म ही है, और जिस चराचर प्रपञ्च के भीतर बाहर ब्रह्म है, वह चराचर प्रपञ्च भी ब्रह्म ही है। सर्वदृश्यरूप क्षेत्र और द्रष्टारूप क्षेत्रज्ञ ये सभी भगवान् ही हैं। श्री भगवान् की भी उक्ति है—"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।" बाह्याभ्यन्तर कार्यकारण सब कुछ अज अव्यक्त ही ब्रह्म है। "अजायमानो बहुधा व्यजायत", "एकोहं बहु स्याम्", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" अर्थात् अजायमान और एक ही परमतत्त्व माया से बहुरूप में जायमान सा प्रतीत होता है। जो इस अजायमान अखण्डैकरस, अद्वितीय वस्तु में वस्तुतः जायमानता और नानात्व देखता है, जो ब्रह्म भगवान्

की निर्विकारकूटस्थता और अखण्डैकरसता का व्यापादन या उसे कलंकित करना चाहता है, वह प्राणी उसी अपराध से पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः इसे परमार्थतः एकरूप से ही देखना चाहिये। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" अर्थात् जो भगवान् में थोड़ी भी भेद की कल्पना करता है, उसे भय होता है। "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति द्वितीयाद्वै भयं भवति"। इतना ही नहीं, संसार में ब्रह्म और धर्म, लोक एवं वेद, किंबहुना जिस किसी भी पदार्थ को प्रभु से भिन्न या पृथक् देखा जाता है, वह पदार्थ ही अपना घोर अपमान समझकर भिन्नदर्शी को परमार्थ से प्रच्युत कर देता है। "सर्वं तम् परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" प्रियतम का विप्रयोग किसी के लिये भी सह्य नहीं है। प्रेम की पराकाष्ठा यही है कि प्रियतम से वियुक्त होकर प्रेमी क्षण भर भी अपना जीवन न रख सके। श्री व्रजाङ्गनाओं को अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में एक क्षण भी अनन्त कोटि कल्प के समान प्रतीत होता था। परमार्थ दृष्टि से तो प्रियतम का वियोग होते ही प्रेमी का स्वरूप ही नहीं रह सकता। क्या बिम्ब से वियुक्त होकर प्रतिबिम्ब का, महाकाश से वियुक्त होकर घटाकाश का एवं महासमुद्र से वियुक्त होकर तरंग का स्वरूप रह सकता है ? इनमें तो कहने के लिये ही भेद है, वस्तुतः भेद ही नहीं। इसी लिये श्री गोस्वामी जी ने श्रीराम और जनकनन्दिनी में वारि और वीचि का दृष्टान्त रखकर अभेद सिद्ध किया है :—

"गिरा अरथ जल बीचि जिमि; कहियत भिन्न न भिन्न।"

फिर कोई भी तत्त्व भगवान् की सत्ता और स्फूर्त्ति से वियुक्त होकर अपना स्वरूप कैसे रखे, क्योंकि सत्ता स्फूर्तिसम्बन्धशून्य होने पर सभी तत्त्व निःसत्त्व और निःस्फूर्ति हो जाते हैं। स्फूर्ति और सत्ता से रहित पदार्थ का स्वरूप ही क्या हो सकता है, अतः जिन पदार्थों को परमार्थ सद्रूप, स्वयंप्रकाश, स्फूर्तिरूप भगवान् से भिन्न समझा जाता है, उन्हें मानों उनके प्रियतम से वियुक्त किया जाता है। उन्हें सत्तास्फूर्तिविहीन, निःसत्त्व तथा निःस्फूर्ति बना कर अपमानित किया जाता है।

अतः वे पदार्थ उस भिन्नदर्शी को स्वार्थ से प्रच्युत कर देते हैं। इन्हीं श्रुति-स्मृति-सिद्ध पारमार्थिक अभेद और काल्पनिक व्यवहार में आनेवाले व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने के लिये वेदान्तों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब, घटाकाश, महाकाश, समुद्र-तरंग आदि अनेक दृष्टान्त जीव और भगवान् के स्वरूप में रखे गये हैं। दृष्टान्त एकदेशी हुआ करते हैं, उनका सर्वांश दार्ष्टान्त में नहीं संगत हुआ करता। इसी लिये जैसे घट के गमन में, जिस आकाश के साथ घट-सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ, वह महाकाश हुआ और जो महाकाश था वही घट के संसर्ग से घटाकाश हो गया; वैसे ही अन्तःकरण के गमन में पूर्वदेशस्थ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य मुक्त हो गया, तथा अपूर्व चेतन बद्ध हो गया, एवं नीरूप निरवयव पदार्थ न प्रतिबिम्बित होता है और न प्रतिबिम्ब का आधार होता है।

फिर आत्मा और अन्तःकरण ये दोनों ही नीरूप एवं निरवयव हैं। इनका प्रतिविम्ब या प्रतिविम्बाधारता कैसे होगी इत्यादि शंकायें निर्मूल हैं, कारण कि अलौकिक अर्थ में लौकिक पदार्थ पूर्णरूप से दृष्टान्त नहीं हुआ करते। केवल विवक्षित अंश में दृष्टान्त दार्ष्टान्त की समता होती है। यहाँ केवल उपाधिद्वारा उपहित में काल्पनिक भेद तथा उपाधिगत दूषण या भूषण का भान होना और परमार्थतः अभेद तथा सर्वोपाधिदोषादिविवर्जित होना इतना ही अंश विवक्षित है। जैसे घटाकाश का महाकाश से भेद और उसमें गमनागमनादि नाना प्रकार की कार्य-करणक्षमता ये सब घटोपाधिकृत हैं, जैसे महासमुद्र से तरंग का भेद और उसका चाञ्चल्यादि वायुरूप उपाधि से जन्य है, जैसे प्रतिविम्ब में विम्ब का भेद एवं मलिनता, चञ्चलता आदि जलदर्पणादि उपाधिजन्य है, उसी तरह जीव में निर्विकार, परमचैतन्यानन्द, रसात्मक भगवान् से भिन्नता कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखित्व दुःखित्वादि नाना अनर्थों का योग एवं अविद्या अन्तःकरण रूप उपाधिकृत है। उपाधि के विलयन में एक परमानन्द भगवान् ही का अवशेष रहता है।

इस तरह तत्त्व की अद्वितीयता, अनन्तता और लोकसिद्ध व्यवहार की उपपत्ति दिखलाने के लिये अनेक प्रकार के दृष्टान्तों का उपादान है। जिसकी बुद्धि में जिस दृष्टान्त से पारमार्थिक अभेद और भेद-व्यवहार बुद्ध्यारूढ़ हो उसके लिये वही दृष्टान्त प्राधान्येन उपादेय है, क्योंकि शास्त्रों का किसी दृष्टान्त

में तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो केवल व्यावहारिक भेदोपपादन-पूर्वक पारमार्थिकाद्वैतबोधन में ही है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि परमानन्द रसात्मक भगवान् ही चिदानन्दमयी जीव-शक्ति के भीतर, बाहर तथा मध्य में भरपूर है। किंवहुना जीव-शक्ति विशुद्धरसरूप भगवान् ही हैं। आनन्दसुधासिंधु भगवान् की लहरी रूप जीवशक्ति भी "चेतन अमल सहज सुखराशी" ही है। जैसे बर्फ की पुतली सिन्धु के बीच में रहकर प्यास की रटन रटे, किंवा जैसे निखिल रसामृतसिन्धुसारसर्वस्व कृष्णसुधा में अह-र्निश सर्वाङ्गीण संश्लेष रूप अवगाहन करती हुई भी, कृष्णप्रेयसी श्री वृषभानुनन्दिनी अधिरूढ़ महाभाव की विलक्षण अवस्था-विशेष-परवश होकर "हा प्राणवल्लभ, कहाँ हो" इस प्रकार मिलन के लिये व्यग्र होती हैं—"अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोह-नेति मधुरं विदधात्यकस्मात्", वैसे ही प्रियतम की मोहिनी माया-शक्ति से परमानन्दरसार्णव भगवान् में बर्फ-पुतली की तरह निमग्न जीव-शक्ति, प्रियतम को भूलकर, अनन्त संतापों में निमग्न सन्तप्त हो रही है।

शास्त्र तथा आगमों के प्रबोधन से ही अज्ञान विस्मरण विभ्रम की निवृत्ति होती है—"आनँदसिन्धु मध्य तव वासा, बिनु जाने कत मरत पियासा।" "सो तैं ताहि, तोहि नहिं भेदा, वारि वीचि जिमि गावहिं वेदा।" तू वही है, तुझमें उसमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, जैसे वारि और वीचि का भेद "कहियत भिन्न न भिन्न।" श्रीमद्भागवत के पुरञ्जन और पुरञ्जनी के आख्यान

में, जिस समय जीवरूप पुरञ्जन मायावश अपने परम अन्तरङ्ग, प्रियतम सखा को भूल कर बुद्धि पुरञ्जनी का अत्यन्त अनुरागी होकर अनवरत पुरञ्जनी के चिन्तन से तन्मय हो गया, उस समय पुण्य-परिपाक से पतिरूप गुरु की आराधना से सन्तुष्ट होकर श्री हंसरूपधारी भगवान् ने प्रकट होकर पूछा कि तुम हमें जानती हो? पुरञ्जनी ने कहा—"प्रभो! मैं आपको नहीं जानती।" इस पर भगवान् ने कहा "ठीक है, मेरे विस्मरण का ही तो यह फल है। मुझे भूलने से ही अनेकानर्थमूल संसृतिचक्र में प्राणियों को भटकना पड़ता है। देखो "अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः", "न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि—मैं ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप हूँ, तुम मुझसे पृथक् नहीं हो। मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ। इस भाव को गम्भीरता से देखो। कवि लोग हमारे और तुम्हारे में कभी किंचित्मात्र भी भेद नहीं देखते।" श्री परीक्षित की भी अन्त में 'अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्' ऐसी ही दृढ़ धारणा हुई। अन्यान्य वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की भी ऐसी धारणा है "अहं वै भगवोदेवते त्वमसि त्वं वै भगवोदेवते अहमस्मि" हे भगवन्, मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ, क्योंकि जो लोग "देवता मुझसे पृथक् हैं, मैं देवता से पृथक् हूँ" ऐसी बुद्धि रखते हैं, वे उपास्योपासक के तत्त्व को नहीं जानते। अतएव वे पशुओं की तरह ही केवल बलि-पूजादि द्वारा किंचित् सत्कार करते हैं—"अन्योऽसावहमन्योऽस्मि न स वेद यथा पशुरेवं भवति स देवानां" कारण

कि जो पुरुष जिस किसी देवता को आत्मा से पृथक् देखेगा, वही देवता अपना अपमान समझकर उस भिन्नदर्शी को स्वार्थ से गिरावेगा, क्योंकि आत्मा से भिन्न में औपधिक ही प्रेम होता है। इसलिये देखते हैं कि सूर्य भगवान् यद्यपि ब्राह्मणों के परम इष्टदेव हैं, नित्य प्रातःकाल उनका उपस्थान किया जाता है, परन्तु जब वे ग्रीष्म के मध्याह्न काल में आत्मा के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तब प्राणियों को उन्हीं से कितना उद्वेग होता है और अनेक उपायों से उन्हीं सूर्य भगवान् के व्यवधान की कामना होने लगती है।

यह लौकिक वैदिक अटल सिद्धान्त है कि सभी पदार्थों के लिये सब पदार्थों में प्रेम नहीं होता, किन्तु आत्मा के लिये ही समस्त पदार्थों में प्रेम होता है! "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" अतएव "न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।" अर्थात् देवताओं के लिये देवताओं में प्रेम नहीं होता, किन्तु अपनी ही कामना के लिये देवताओं में प्रेम होता है। अन्यथा यदि देवता प्रतिकूल हों, तो भी उनमें प्रेम होना चाहिये। कंस, शिशुपाल प्रभृति को श्रीकृष्ण के प्रति विद्वेष क्यों हुआ? जो लोग प्रभु के अनन्य भक्त भी हैं, वे भी यदि प्रभु को निरुपाधिक, निरतिशय प्रेमास्पद, प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं समझते तो निश्चय प्रभु में उनकी भी औपाधिकी ही प्रीति है।

जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय से भी निरपेक्ष है, उससे भी यदि प्रश्न किया जाय कि आप प्रभु में प्रेम

क्यों करते हैं तो उसे यही कहना पड़ता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल प्रभुप्रेम में या प्रभुस्वरूप के सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसुधा-समास्वादन में मुझे लोकोत्तर रस आता है। ऐसी स्थिति में विवेकी जनों को स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रेमी अपने आनन्द के लिये ही प्रभु में प्रेम करता है, प्रभुस्वरूप-सम्बन्धी सौन्दर्य्यमाधुर्य्यरसामृत के आस्वादन से ही उसकी आत्मा को आनन्द होता है।

इसी लिये जिनके ऐसे भी भाव हैं कि प्रियतम मुझसे अनुकूल हों वा प्रतिकूल, सर्वगुणसम्पन्न हों या सर्वगुणरहित, सौन्दर्य-माधुर्य्य-सुधाजलनिधि हों या सौन्दर्य-माधुर्य्य-विहीन, सब प्रकार से हमारे ध्येय, ज्ञेय, प्रियतम प्रभु ही हैं :—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा,
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा,
कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

उनकी आत्मा को सुख और शान्ति सब प्रकार से प्रभुसमाश्रयण में ही होती है। इसलिये ये समस्त भाव आत्मा के लिये हुए। प्रभु के लिये लोक-परलोक सब प्रकार की सुखशान्ति का किंबहुना प्राणादि समस्त प्रियतम वस्तुओं का त्याग किया जाता है। यहाँ पर भी सूक्ष्म रूप से देखने पर यही विदित होता है कि उस प्रेमी की आत्मा को ऐसा ही करने पर सुख मिलता है, अतः यह सब कुछ आत्मा के लिये ही है।

लोक में कोई धार्मिक पुरुष धर्म-रक्षा के लिये आत्मा की आहुति दे देते हैं। वेदों में भी एक यज्ञ ऐसा है जिसमें यजमान अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को देकर स्वयं अपने को अग्निकुंड में समर्पण कर देता है। परन्तु इन सभी स्थलों में इस प्रकार के उत्कट त्याग और तपस्याओं का लक्ष्य अन्तरात्मा की अनन्त शान्ति में ही है। इसी प्रकार के भावों को लक्ष्य में रखकर आत्मा के औपाधिक चिदाभास-स्वरूप-बाध के लिये साधिष्ठान चिदाभास से ही प्रयत्न किया जाता है। इसी लिये भगवती श्रुति ने स्पष्ट निर्णय करके यहाँ भी सर्वोपप्लव-विवर्जित, परमानन्दरूप चिदात्मा का शेष रहना लक्ष्य रखा है—"आत्मानं प्रियमुपासीत" अर्थात् प्रिय रूप से आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये। आत्मा से भिन्न को जो प्रिय कहता है, उसे प्रिय के लिये रुदन करना पड़ता है।

जब ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के गोवत्सों और वत्सपालों का हरण किया, तब एक वर्ष पर्यन्त श्रीकृष्ण ही वत्स और वत्सपाल रूप में व्यक्त हुए। उस समय समस्त गौवों को अपने अपने बछड़ों में और व्रजदेवियों को अपने अपने शिशुओं में ऐसा अभूत-पूर्व लोकोत्तर प्रेम हुआ, जैसा कभी अपने मुख्य अङ्गजों में नहीं हुआ था। इस बात को श्रीशुकदेव के मुखारविन्द से श्रवण करके जब श्री परीक्षितजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए इसका कारण पूछा, तब श्रीशुकदेवजी ने यही कहा कि राजन्! संसार में समस्त वस्तुओं की अपेक्षा आत्मा ही प्रिय होता है; तदितर पुत्र, वित्त,

कलत्रादि आत्मा के ही लिये प्रिय होते हैं। देह को ही आत्मा माननेवाले जो देहात्मवादी हैं, उन्हें भी जितना देह प्रिय है, उतने देह-सम्बन्धी पुत्रादि नहीं। श्रीकृष्ण समस्त जीवों के अन्तरात्मा हैं, अतः समस्त प्राणियों के निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम के आस्पद हैं, अतः उनमें अपने आत्मजों की अपेक्षा अधिक प्रेम होना युक्त ही है।

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यकलत्राद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
देहात्मवादिनां राजन्"
"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सकलात्मनाम्।"

जिसमें प्रेम किसी दूसरे के लिये होता है, उसमें कभी प्रेम का अभाव भी हो जाता है, क्योंकि वह औपाधिक प्रेम होता है। अतएव अनित्य एवं सातिशय होता है, जैसे अनुष्ण जल में उष्णता अग्नि के संसर्ग से होती है, स्वतः नहीं, वैसे ही जल में औपाधिक उष्णता अनित्य एवं सातिशय है, परन्तु जिस अग्नि के संसर्ग से जल में उष्णता व्यक्त हुई, उस अग्नि में तो उष्णता नित्य एवं निरतिशय है। इसी तरह संसार की समस्त वस्तुओं में प्रेम आत्मा के संसर्ग से ही होता है। वित्त, क्षेत्र, साम्राज्यमात्र में प्राणियों को प्रेम नहीं होता, क्योंकि कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, साम्राज्यादि अनेक प्रकार के अभ्युदय सम्बन्धी साधन हैं ही। मान लीजिये कि हम और हमारा देश किसी राष्ट्र के बिलकुल परतन्त्र हो, हमारा

सर्वस्व किसी ने अपहरण कर लिया हो, तो भी सम्पत्ति और राष्ट्र या साम्राज्य आक्रमणकारी अपहर्ता के पास तो हैं ही, उसमें हमें संतोष क्यों नहीं होता ? यहाँ विज्ञसम्मत हेतु यही हो सकता है कि यद्यपि कहीं न कहीं तो सब कुछ है सही, तथापि वह हमारा तो नहीं है। वित्त, क्षेत्र, राष्ट्र या साम्राज्यमात्र में ही हमारा प्रेम नहीं होता, किन्तु हमारा 'अपने' वित्त, क्षेत्र, राष्ट्रादि में प्रेम होता है। इस तरह स्वसम्बन्ध से ही स्वदेश, स्वराज्य, स्ववित्त, स्वक्षेत्र में प्राणियों को अधिक प्रेम होता है। सुन्दर पुत्र कलत्र में भी स्वसम्बन्ध होने से ही प्रेम होता है। सुन्दरी कामिनी में भी "यह मुझे मिले, मेरी हो जाय" इस तरह स्वसम्बन्धित्वापादन की ही रुचि होती है। इसी तरह "उच्च से उच्च ऐश्वर्य मुझे, मेरे देश को, मेरे सम्बन्धियों को हो" इस प्रकार स्वसम्बन्धी में ही, स्वानुकूल में ही, प्रेम दृष्टि-गोचर होता है।

किंबहुना अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति से श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र एवं श्रीकृष्ण-चन्द्रस्वरूप में प्रकट होते हैं, परन्तु उनमें भी स्वसम्बन्ध से प्रेम का तारतम्य देखा जाता है। जो अपने इष्टदेव हैं, उनके सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य एवं चरित्रादि में जितना प्रेम, जितना आकर्षण होता है, उतना अन्य में नहीं। और तो क्या कृष्ण-स्वरूप में ही महानुभावों ने पाँच भेदों की कल्पना कर डाली है। वे द्वारकास्थ, मथुरास्थ कृष्ण के अतिरिक्त "व्रजे वने निकुञ्जे

च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्" के अनुसार पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम भेद से व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, लीलानिकुञ्जस्थ श्रीकृष्ण में भेद स्वीकार कर पूर्णतम लीलानिकुञ्जनायक श्रीकृष्ण में ही अपना हृदय आसक्त करते हैं। अन्य के स्वरूपसौन्दर्यादिकों में उनके चित्त आकर्षित नहीं होते हैं। अतएव एक बार लीलया किसी निकुञ्ज में छिपे हुए श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती हुई व्रजाङ्गनाएँ जब मनमोहन के पास पहुँच गईं, तब श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही विष्णुस्वरूप में प्रकट होकर अपने उस व्रजराजकुमारस्वरूप को छिपा लिया; और अपने आपको सर्वगुणसमलंकृत श्रीमन्नारायण के रूप में प्रकट किया; पर श्री व्रजाङ्गनाओं का मन उस रूप में किञ्चित् भी आकर्षित नहीं हुआ, किन्तु उन्हें प्रणाम कर वे "हे देव, हमारे प्रियतम को मिला दो" यह कहकर वहाँ से अपने प्रियतम को ढूँढती हुई आगे चली गईं।

कुछ वस्तु के उत्कर्ष से उसमें प्रेम नहीं होता है, किंतु स्वसम्बन्ध से ही वस्तु की उत्कृष्टता भी व्यक्त होती है। अतएव "गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा" इत्यादि वचनों से पहले ही कह आये हैं कि "अनन्त गुणसमलंकृत हो या सर्वगुणविहीन हो, जो अपना है वही सर्वस्व है।" पूर्णतम होने के कारण ही उनकी ओर सभी का चित्त आकर्षित नहीं होता है—"महादेव अवगुण-भवन, विष्णु सकल गुणधाम। जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥"

जिसमें स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता हो गई वही सर्वस्व है। जिसमें जितनी जितनी स्वानुकूलता है, उसमें उतनी ही प्रेम की

अधिकता और जिसमें जितनी स्वप्रतिकूलता है, उसमें उतनी ही द्वेष की अधिकता होती है। कोई व्यापारी बहुत दिनों के बाद अपने घर को लौट रहा था। मार्ग में किसी सराय में उसने निवास किया। दैवात् उसी सराय में रात को उसकी स्त्री अपने अत्यन्त रुग्ण पुत्र को लेकर आई। रुग्ण बालक दुःख से घबराकर, चीख मारकर रो रहा था। उस व्यापारी ने अपनी नींद में बाधक समझकर बालक और उसकी माँ को रोष के साथ खरी-खोटी सुनाईं। परन्तु प्रातःकाल होने पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह तो मेरे ही स्त्री और पुत्र हैं, तब तो उनके साथ ही वह अपने आप भी रोने लगा। इस तरह विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु में भी आत्मा के स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता से प्रेम की अतिशयता और अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु में भी स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता न होने से प्रेम की न्यूनता होती है। इतना ही नहीं, दूसरे की उत्कृष्ट वस्तु में द्वेष या ईर्ष्या पर्यन्त का सञ्चार हो जाता है। तभी तो ये कट्टर नवीन शैव-वैष्णव परस्पर एक दूसरे के इष्ट का उत्कर्ष नहीं सहन कर सकते हैं।

अब सोचने की बात है कि जिसके सम्बन्ध से निकृष्ट में भी लोकोत्तर प्रेम और जिसके सम्बन्ध बिना परम उत्कृष्ट में भी द्वेष या ईर्ष्या होती है, वह निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है कि नहीं। जब शर्करा के सम्बन्ध से स्वभावतः माधुर्यशून्य पदार्थों में भी मधुरिमा का अनुभव होता है, तब क्या शर्करा में मधुरिमा का अभाव कहा जा सकता है? जब स्वस्वरूप आत्मा

के सम्बन्ध से प्रेम के अयोग्य पदार्थों में भी प्रेम होता है, तब क्या आत्मा में अन्यशेषता या प्रेम की निकर्षता कही जा सकती है? प्रत्युत स्पष्ट रूप से यही कहा जा सकता कि आत्मा के सन्निहित में प्रेम का आधिक्य और विप्रकृष्ट में प्रेम की न्यूनता होती है। तभी देखते हैं कि प्रियतम, कलत्र एवं पुत्र की रक्षा के लिये अनेकानेक प्रयत्न से उपार्जन की हुई रत्नादि सम्पत्तियों को त्याग देने में विलम्ब नहीं होता, किन्तु कलत्र, पुत्र प्रभृति यदि अपने शरीर के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तो अप्रिय ही नहीं किन्तु शत्रु समझे जाते हैं।

किसी गृह में अग्नि लग रही है, पता चलता है कि अत्यन्त प्रिय पुत्र गृह के भीतर रह गया है। गृहपति अत्यन्त व्याकुल होता है, रुदन करता है, लोगों से कहता है "भाई, चाहे कोई हमारा समस्त धन-धान्य रत्नादि ले ले, परन्तु हमारे प्रिय पुत्र को जलते हुए भवन से निकाल लावे।" यह सब कुछ होते हुए भी अपना शरीर इतना प्रिय है कि कोई अत्यन्त धन के लोभ से भी उसका नाश नहीं सहन कर सकता। जिसका प्रिय पुत्र है, वह स्वयं जलते हुए घर में प्रवेश नहीं करता; केवल बाहर दूर खड़ा तड़फड़ाता है। ठीक ही है, संसार के समस्त नाते इस देह के ही साथ हैं, उसके नष्ट होने पर समस्त नाते मिट जाते हैं। नहीं तो इस अपार संसार में अनन्त जन्म के देह-सम्बन्धियों का यदि स्मरण रहे तब कितनी माताएँ, कितने पिता और कितने पुत्र-कलत्रादि कुटुम्बी कहाँ कहाँ हैं, उन सभी के सुख-दुःख में कितना

सुख-दुःख देखना पड़े। एक ही जन्म के कुटुम्बियों के सम्बन्ध में क्या दशा हो रही है। अस्तु, देह के नष्ट होते ही स्त्री, पुत्र, धन-धान्य तथा अखण्ड साम्राज्य से सम्बन्ध छूट जाता है। कदाचित् दूसरे जन्म में किसी को स्मरण भी रहे कि यह साम्राज्य और विशाल धवलधाम सब मेरे ही हैं। पर अब बिना वर्तमान अधिपति की आज्ञा के उसे अपने ही निर्मित उस धवलधाम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। और गत जन्म में उसके नियुक्त भृत्य ही उसे प्रवेश नहीं करने देते हैं। ठीक है, देह तक ही समस्त सांसारिक सम्बन्ध हैं। अतः समस्त पुत्र, कलत्रादि बहिरङ्ग पदार्थों की अपेक्षा देह प्रिय होता है। ऐसे ही देह की अपेक्षा इंद्रियाँ, उनकी अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, एवं बुद्धि से भी अहमर्थ और उससे भी अन्तरङ्ग विशुद्ध चिदात्मा प्रिय है।

इंद्रिय-शक्ति के बिना शरीर मृतकप्राय हो जाने के कारण भाररूप हो जाता है। जब मन किन्हीं काञ्चन, कामिनी प्रभृति विषयों की ओर खिंच जाता है, तब प्राणी मनःसन्तोषार्थ देह और इंद्रियों की भी परवाह नहीं करते। किसी प्रकार की अकीर्ति आदि से यदि मन को उद्वेग होता है, तब देहादि-त्याग के लिये विष या शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। जब प्राणी मन की चञ्चलता से संतप्त होता है, तब उसके भी निग्रह का उपाय ढूँढता है और निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा संकल्प-विकल्पात्मक मन का भी निग्रह करता है। जब प्राणी को मन आदि करणग्राम के निरोध या निर्व्यापारता का आनन्द अनुभव होने लगता है, तब तो वह

दु:खात्मक दृश्य के प्रतीति-निरोध के लिये बुद्धि को भी निरोध करके निगृहीत करने की चेष्टा करने लगता है।

यदापञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

इस रीति से क्रमशः आत्मा के सन्निहित अतएव अन्तरङ्ग बुद्ध्यादि के उद्वेग-निराकरण एवं अनुकूलता-सम्पादन करने के लिये वहिरङ्ग करणों का निग्रह किया जाता है। अध्यात्म शास्त्रों में मनोनाश वासनाक्षय प्रसिद्ध ही है। यहाँ तक कि जो यह 'अहं' पद का वाच्यार्थ है, वह भी अन्तःकरण के अहंकारांश से उपहित आत्मा का औपाधिक रूप है। अतः वह भी असह्य होने के कारण निग्राह्य हो जाता है, क्योंकि 'अहं' पद का लक्ष्यार्थरूप जो निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप है वही मन, बुद्धि एवं अहमर्थ और उसके सुखित्व, दुःखित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सर्व दृश्य का भासक और मिथ्याभूत समस्त भास्य के वाध का साक्षी, वस्तुतः भास्यभासकातीत, सर्वोपप्लवविवर्जित, त्रिकालाबाध्य, स्वप्रकाश परमानन्द चिदात्मा है। उसके स्वाभाविक अखण्डानन्द की अभिव्यक्ति में 'अहमर्थ' भी प्रतिवन्धक ही है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कुछ दार्शनिकों के मत में 'अहं' का वाच्यार्थ ही आत्मा है जो कि 'अहं कर्ता', 'अहं भोक्ता', 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी', इस रूप से अनुभव में आ रहा है, अतः उसका नाश आत्मा का ही नाश है। मेरा देह, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अहंकार, इस प्रकार जो ममता के आस्पद हैं, वे

अनात्मा हैं, और मेरी बुद्धि सुस्थिर है, मैं अपनी बुद्धि द्वारा अपने मन को निगृहीत करूँगा, इस प्रकार जो 'अहंता' का आस्पद 'अहमर्थ' है वही शुद्ध आत्मा है। उससे परे जीव का अपना कोई स्वरूप नहीं है, अतः 'अहमर्थ' का नाश करना आत्मा ही का नाश करना है।

तथापि अभिज्ञ वेदान्ती का सिद्धान्त है कि 'अहं' का वाच्यार्थ आत्मा नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ ही आत्मा है। अर्थात् जैसे अग्नि के सम्बन्ध से अग्नि की दाहकता, प्रकाशकता आदि शक्तियों से युक्त होने से लौहपिण्ड में अग्नि का भ्रममात्र होता है, शुद्ध निरुपाधिक अग्नि लौहपिण्ड से पृथक् है, वैसे ही आत्मा के घनिष्ठ संसर्ग से अहमर्थ (मैं) में प्रेमास्पदता और चेतनता अधिक प्रतीत होती है, अतएव उसमें आत्मा की भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतस्तु मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा सुख, मेरा दुःख, मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी या केवल मैं, ये सभी भास्य हैं, इनकी प्रतीति होती है, इनका सुस्पष्ट भान होता है।

भास्य से भासक या भान पृथक् ही है। जिस रीति से चार्वाक प्रभृति को देह में ही आत्मबुद्धि हुई, क्योंकि आत्मा के ही पारम्परीण सम्बन्ध से देह में भी किञ्चित् चेतनता, इष्टता या प्रेमास्पदता भासित होती है और उसी से उन अत्यन्त अज्ञ, लौकिक, पामर एवं चार्वाकों को देह-नाश में ही आत्म-नाश की बुद्धि हुई, उसी प्रकार 'अहमर्थ-नाश' में 'आत्म-नाश' की बुद्धि इतर दार्शनिकों को भी हुई। 'अहं श्यामः', 'अहं गौरः' मैं काला हूँ, मैं गौर हूँ, स्थूल

हूँ, कृश हूँ इस तरह स्थौल्यादि धर्मवान् देह में जैसे अहमर्थ के अभेद का अध्यास होता है, वैसे ही चिज्जड़ग्रन्थि अहमर्थ में चैतन्यानन्दघन भगवान् का अभेदाध्यास होता है।

इसी वास्ते सर्वस्पर्शविहीन ("स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः विषयाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त दृश्य ही स्पर्श हैं) अर्थात् सर्व-दृश्य-विहीन, परम सूक्ष्म, सर्वावभासक, स्वप्रकाश, चैतन्यानन्दघन, परम अभय भगवान् में अज्ञों को भय होता है। देखा जाता है कि प्राणियों को स्थूल पदार्थों का ही आधिक्येन भान होता है इसी लिये नील, पीत, हरित रूपों की जैसी स्फुट प्रतीति होती है वैसी अनेक रूपों का प्रकाश करनेवाली प्रभा की स्फुटता नहीं होती। प्रभा का प्रकाश करनेवाले नेत्रालोक का विज्ञान उससे भी अधिक दुर्लभ है। कोई ही यह समझता है कि जैसे प्रभा के न होने पर रूप का प्रकाश नहीं हुआ और प्रभा के होने पर रूप का प्रकाश हुआ, अतः प्रभा रूप से पृथक् है, वैसे ही नेत्र-निमीलन काल में प्रभा का भी भान नहीं था और नेत्रोन्मीलन काल में प्रभा की प्रतीति हुई, अतः नेत्र के उन्मीलन-काल में एक अति सूक्ष्म नेत्रालोक ही प्रभा पर व्याप्त होकर प्रभा का प्रकाशन करता है। अस्तु, इसके उपरान्त भी नेत्रालोक की मन्दता और पटुता का प्रकाश करनेवाला मानसालोक (मानस-प्रकाश) नेत्रालोक से पृथक् ही है, जिससे कि मेरी नेत्र-ज्योति मन्द है या तीव्र है, यह जाना जाता है। मनुष्य मन के काम, संकल्प, संशय आदि अनेक विकारों को जानकर निश्चयात्मिका बुद्धि से निश्चय करता

है कि मैं स्थिर बुद्धि से मन और उनके विकारों को निरुद्ध करूँगा। यहाँ स्पष्टतया तीनों अंशों की प्रतीति होती है—जिसका निरोध या नाश करेंगे वह मन और उसके संशयादि विकार, जिससे निरोध करेंगे वह साधनरूपा निश्चयात्मिका बुद्धि जिसके विषय में उसकी बुद्धि मन्द या अत्यन्त सूक्ष्म है इस तरह के अनुभव होते हैं और जो बुद्धिद्वारा मन का निरोध करनेवाला है वह 'अहं' अर्थात् 'मैं'। इसी प्रकार से "अहं बुद्ध्या मनः संयच्छामि" (मैं बुद्धि से मन का नियंत्रण करूँगा) ऐसे अनुभव में 'मैं', 'बुद्धि' और 'मन' इन तीनों की प्रतीति होती है। अतः ये सभी तो प्रतीति के विषय हो गये, इनकी प्रतीति या भान इनसे अवश्य पृथक् है, क्योंकि एक में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव नहीं बन सकता। इसी लिये प्रकाश्य से प्रकाशक भिन्न होता है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है।

प्रकाशान्तर-निरपेक्ष प्रकाशमान 'स्वयंप्रकाश' कहा जाता है। मन, बुद्धि और मैं, का भासक, अकेला शुद्ध भान तो भास्य न होने से स्वयंप्रकाश है। अतः यह भान ही सर्वदा प्रकाशान्तर-निरपेक्ष भासमान होकर स्थिर है और तदतिरिक्त सभी भास्य अस्थिर हैं। इसी लिये जागर और स्वप्न में 'अहं' और 'बुद्धि' एवं 'मन' यद्यपि उपलब्ध होते हैं, परन्तु सुषुप्ति में इन सबका अभाव हो जाता है। उस समय भी जागर और स्वप्न में सकल दृश्य के भाव का और सुषुप्ति में समस्त व्यक्त दृश्य के अभाव का प्रकाश करनेवाला, एवं सर्व दृश्य के विलयन का

आधार-भूत, सुषुप्ति व गाढ़ निद्रा या अज्ञान का भासन करनेवाला, कूटस्थ भानरूप आत्मा ही विराजमान रहता है। इसी का संकेत भागवत में इस तरह किया है—

"सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।"

इस प्रकार अखण्ड, अनन्त, परमसूक्ष्म वस्तु का बोध अत्यन्त दुर्लभ है। जिन स्थूल पदार्थों का बोध प्राणियों को है, उनके नाश में सर्वनाश या आत्मनाश की प्रतीति होनी युक्त ही है। इसी लिये श्रीगौड़पादाचार्य भगवान् कहते हैं कि "अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम्, योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः" सर्व-स्पर्श, सर्वदृश्य-सम्बन्ध से रहित, भास्य-विवर्जित, परमसूक्ष्म, अखण्डानन्द रूप, काल्पनिक सर्वभाव तथा अभावों का भासक, कूटस्थ भान आत्मा, तत्त्वज्ञ से भिन्न समस्त योगियों के लिये दुर्दर्श है, क्योंकि दृश्य ही जिनका सर्वस्व है, दृश्य से भिन्न स्वप्रकाश अखण्डानन्त द्रष्टा पर जिनकी कभी दृष्टि गई ही नहीं, उन्हें दृश्य के नाश से परमानन्दसुधासिन्धु के सर्वतोभावेन भरपूर होने पर भी सर्वस्वनाश होने की ही प्रतीति होती है। किसी भिक्षुकी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर किसी सम्राट् ने उसे साम्राज्ञी होने को कहा; किन्तु भिक्षुकी यह समझकर कि हमारी भिक्षा माँगने की सामग्री और भिक्षा का आनन्द चला जायगा, साम्राज्ञी बनने से डर गई। कारण कि साम्राज्ञी के सुख की कल्पना कभी उसकी दृष्टि में हुई ही नहीं, उसे तो भिक्षा और उसके ही आनन्द का

सर्वदा संस्कार रहा। ठीक इसी तरह जिन्हें कभी अखण्डानन्दमय, निर्विकार दृक् के अनन्त सौख्य की अनुभूति हुई ही नहीं, केवल कटु दृश्य के ही अक्षुण्ण संस्कार प्राप्त हो रहे हैं, उनको दृश्य ही सरस प्रतीत होता है।

परमात्मस्वरूप उन्हें उद्वेजक प्रतीत होता है। जैसे सेंधा नमक का ढेला पानी में मिल जाने से नष्ट हुआ कहा जाता है, वास्तव में उपाधि के साथ संसर्ग मिटने से केवल उसका औपाधिक रूप ही मिटता है, वैसे ही पञ्चकोशादि उपाधि मिटने से चेतन में तत्कृत अवच्छेद ही मिटता है, आत्मतत्त्व शुद्ध निर्विकार भानरूप से तो विद्यमान ही रहता है। जैसे नीम के कीड़े को नीम में ही स्वाद आता है और मिसरी या चीनी से उसे उद्वेग होता है, वैसे ही दृश्य-रागी को अत्यन्त कटु दृश्य में ही प्रीति होती है। सर्व दृश्य-रूप उपद्रव से रहित, परमानन्दघन भगवान् से उन्हें घबराहट होती है। जैसे पुत्र-कलत्रादि कुटुम्ब के अनुरागी विषयी प्राणियों को स्वर्ग या वैकुण्ठ भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार सप्रपञ्च सुख के रागियों को निरावरण अद्वैतानन्द में रुचि नहीं होती। इसी लिये वे अद्वैत, अखण्ड, अनन्त, ब्रह्मानन्दरूप मुक्ति से घबराते हैं। किसी किसी का तो यहाँ तक कथन है कि चाहे शृगाल भले ही हो जायँ परन्तु अद्वैतियों का निर्विशेष मोक्ष हमें नहीं चाहिए। ठीक ही है, विषयी का तो सर्वस्व विषय ही है। अतः जहाँ विषय का अत्यन्त अभाव हो ऐसे ब्रह्म या मोक्ष से उनका क्या सम्बन्ध ?

जिस मोक्ष में नृत्य, वादित्र, गीत और सरस रूप एवं मधुर रस की अनुभूति नहीं ऐसे नीरस, निर्विषय, मोक्ष में उन्हें शुष्क पाषाण-बुद्धि क्यों न हो ? वस्तुतः यह उनके संस्कारों का ही दोष है, सप्रपञ्च, सातिशय, क्षुद्र साधन-परतन्त्र सुख का ही उन्हें अनुभव है। उन्हीं में उन्हें संस्कार या राग है, तो फिर तद्विलक्षण, निष्प्रपञ्च, निरतिशय, अनन्त, स्वतन्त्र, आनन्दाम्बुधि की कल्पना भी उनके मन में कैसे हो ?

अति स्वल्प भी विवेचन करने पर विवेकियों को निरायास, निष्प्रपञ्च, अपरिच्छिन्न आनन्द की महत्ता का ज्ञान हो जाता है। जब किसी रसिक को अत्यन्त अभिलषित रसमय पदार्थ एवं रसमयी कान्ता की प्राप्ति होती है, तब किञ्चित् काल उसे अत्यन्त हर्ष होता है। परन्तु अन्त में उसे छोड़कर वही पुरुष सोने के लिये प्रवृत्त होता है। क्यों यह क्या बात है, जिस प्रियतमा कान्ता के मिलन के लिये पहले उसे इतनी व्यग्रता, इतनी व्याकुलता थी, आज उसी प्रेयसी के सम्मिलन में केवल उसी में उसकी तल्लीनता होनी चाहिये, पर अब वह निद्रा को बुलाता है। मनुष्य की तो कौन कहे, ब्रह्मा और विष्णु की भी जिनके सन्निधान में दिव्यातिदिव्य रमण-सामग्रियाँ विद्यमान हैं, द्वैत प्रपञ्च में जितनी भी उच्च से उच्च कोटि की सौख्य-सामग्रियाँ हैं, वे सभी वहाँ विद्यमान हैं, फिर भी उन अद्भुत सप्रपञ्च सौख्यों को छोड़ कर सुषुप्ति में क्यों प्रवृत्ति होती है ? शायद इसी लिये कि वहाँ निष्प्रपञ्च, अद्वैत सुख की अनुभूति होती है, जिसकी एक छाया मात्र ही सातिशय प्रपञ्च सुख में होती है।

किंबहुना भगवद्भावापन्न, अत्यन्त उच्च कोटि के अनुरागी, जिन्हें अपने प्रियतम प्राणधन के वियोग में मरण से भी अनन्त कोटि गुणित संताप होता है; जिनके क्षणमात्र के प्रियतम-वियोग-जन्य तीव्र ताप को निरीक्षण करके अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त पाप यह सोचकर संताप से दुर्बल हो जाते हैं कि हम सभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों के अनन्त पाप एकत्रित होकर भी, अनन्त कल्पों में भी रौरवादि महा-नरकों द्वारा इतना सन्ताप नहीं सम्पादन कर सके, जितना सन्ताप (कष्ट) इन्हें एक क्षण के प्रियतम-वियोग-जन्य तीव्र ताप में हुआ है। और जिन प्रेमियों को केवल ध्यान में प्राप्त प्रियतम के मानस आलिङ्गन में ऐसा अद्भुत 'आनन्द होता है, जिसे देखकर अनन्त ब्रह्माण्ड के पुण्यपुञ्ज यह सोचकर क्षीण हो जाते हैं कि हम सभी पुण्य मिलकर भी क्या अनन्त कल्पों में किसी को इतना आनन्द दे सकते हैं, जितना आनन्द इन्हें अपने प्रियतम के मानस परिष्वङ्ग से एक क्षण में हुआ है। वे ही प्रेमी सौभाग्यवश जब अपने प्रियतम के चिर अभिलषित उस मङ्गलमय धाम में पहुँच जाते हैं जहाँ कहीं मरकतमयी भूमि पर सुवर्णवर्णा लतावल्ली एवं अद्भुत अनन्त ज्योतिर्मय वृक्ष हैं। कहीं कनकमयी भूमि पर मर-कतमयी लताप्रतान एवं परम मनोहर श्यामल दूर्वाएँ हैं। अपनी दिव्य दीप्तियों से सूर्य-चन्द्र की दीप्तियों को भी तिरस्कार करने-वाले मणि तथा रत्न प्रकाश कर रहे हैं, हंस, सारस, कारण्डव, पिकादि कलरव कर रहे हैं; कहीं नाना प्रकार के अद्भुत खग

मृग विचरते हैं। कहीं मरकत मणियों के समान वृक्षों पर कनकमयी वल्लियाँ शोभायमान हो रही हैं, कहीं कनकमय मञ्जुल-कुञ्जों पर मरकतमयी लताएँ विराजमान हैं, कहीं पद्मराग मणि के वृक्ष स्फटिकमयी लताओं से परिवेष्टित हैं और अनेक प्रकार की विचित्र मणिमयी शाखाओं से शोभित हो रहे हैं। प्रत्येक शाखा अद्भुत अनन्त रङ्गों के विचित्र मणिमय पल्लवों से भूषित है। प्रत्येक पल्लव नाना रङ्गों के पुष्पस्तवकों से शोभायमान है तथा प्रत्येक पुष्प पर नाना प्रकार सौगन्ध्यमधुलुब्ध भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। नाना प्रकार की दीप्तियों से दीप्यमान प्रकट पुष्पों से शोभित मधुमयी मनोरम लताएँ विलक्षण शोभा फैलाती हैं। समस्त वृक्ष और लताएँ एक काल में ही मुकुलित, प्रफुल्लित, फलित एवं पक्व फलों से भी युक्त हो रहे हैं। वहाँ के अद्भुत सौन्दर्य, माधुर्यादि गुणों का वर्णन शारदा के लिये भी अशक्य है। ऐसे मङ्गलमय धाम में प्रेमी अपने सर्वस्व चिराभिलषित प्रियतम का परिष्वङ्ग करके फूले नहीं समाते हैं।

परन्तु यदि प्रियतम और उनकी मङ्गलमयी लीला की मञ्जु सामग्री अखण्ड अनन्त आनन्दस्वरूप ही है, तब तो उस अपरिमित रस के आस्वादन से उनको विरति नहीं हो सकती, क्योंकि वह अद्वैत आनन्दैकरस ही हैं, दूसरी वस्तु नहीं। यदि वस्तुतः पारमार्थिक अखण्डैकरस अद्वैत आनन्द से पृथक् है, तब तो वही बात हुई कि जैसे लोक में किसी को दुष्प्राप्य धवलधाम और मनोहर उद्यान देखकर उनकी प्राप्ति के लिये बड़ी उत्कण्ठा होती है

और उनके मिलने पर कुछ क्षण बड़ा हर्ष भी होता है, परन्तु कुछ ही काल में चित्त अन्य विषयों के चिन्तन में व्यग्र हो जाता है और वे समस्त सौख्य-सामग्रियाँ सामने होने पर भी अपना प्रभाव उसके चित्त पर नहीं डाल सकतीं। फिर तो वह और हो चिन्ता में ग्रस्त हो जाता है। दूसरे की दृष्टि में वह बहुत सुखी होने पर भी अपनी दृष्टि में दुःखी होता है। ठीक वैसे ही थोड़ी देर में नाना प्रकार के रसास्वादन के अनन्तर मन कुछ और चाहने लगता है। वहाँ भी यदि नींद में बाधा पड़ी तब तो प्रजागर दोष समझा जाने लगता है। कहने का आशय यही कि प्रियतम से मिलकर भी प्रेमी की सोने के लिये प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः जिनके पास जितनी अधिक भोग-सामग्री है, वे उतना ही अधिक सोने में प्रवृत्त होते हैं। यह सब इसी लिये कि चाहे कितना ही सुख क्यों न हो, परन्तु वह दुःखरूप ही है। दृश्यदर्शन में श्रम है, अतः उससे परिश्रान्त होकर प्राणी निरायास, अखण्ड, आनन्द ब्रह्म में विश्रान्ति चाहता है। वास्तव सभी तत्त्व अपने अधिष्ठानभूत परमात्मा से वियुक्त होकर संतप्त होते हैं। जैसे किसी सूत्र में बँधा हुआ कोई पक्षी प्रतिदिशा में भ्रमण करने से परिश्रान्त होकर विश्रान्ति के लिये, बन्धनसूत्र के आश्रय काष्ठ का ही समाश्रयण करता है, वैसे ही नाना प्रकार के कर्मों से परतन्त्र होकर जीव, जाग्रत् एवं स्वप्न की अवस्थाओं में, स्वाश्रयभूत प्रभु से वियुक्त होकर, भिन्न भिन्न विषयों में भटकता है। जाग्रत् एवं स्वप्न के हेतुभूत अविद्या, काम कर्मों के क्षीण होने पर, वह पुनः

विश्रान्ति के लिये भगवान् का ही अवलम्बन करता है। श्रुतियों में जीव को प्रभु का अंश बतलाया है और कहा है कि जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) का निर्गम होता है, उसी तरह परमात्मा से जीवों का निर्गम होता है। "तद्यथा अग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे जीवाः सर्वे लोकाः।"

निष्कल, निरवयव, अखण्ड, अनन्त परमात्मा में छेदन-भेदनादि द्वारा किसी तरह से भी खण्ड होना असम्भव होने से मुख्य अंश-अंशि भाव तो सम्पन्न नहीं होता। अतः काल्पनिक अंश-अंशि भाव लोग मानते हैं। अन्यान्य लोग कहते हैं कि जैसे चन्द्रमा का शतांश शुक्र है, वैसे ही परमात्मा का अंश जीव है। इनके मत में "तत्सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्" यही अंश-कथन का आशय है। परन्तु अद्वैतवादियों का कहना है कि चन्द्रमा का और शुक्र का अंश-अंशि भाव बहुत बाह्य एवं औपचारिक है। अतएव शुक्र का चन्द्रमा से उद्गम न होने से उसके साथ शुक्र का कोई विशेष सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु परमात्मा से उद्गम और उससे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले जीव का अंशांशि-भाव अन्तरङ्ग ही होना चाहिये। अतः जैसे घटोपाधि से घटाकाश महाकाश का अंश कहा जाता है, वायु उपाधि से तरङ्ग महासमुद्र का अंश है, उसी तरह अविद्या या अन्तःकरण उपाधि से जीव परमात्मा का अंश कहा जाता है। उपाधियों के विक्षोभ में उपहित का अनुपहित से पार्थक्य और उनकी उपशान्ति में उपहित का अनुपहित से ऐक्य होता है। जिस समय आकाश से

वायु-जलादि क्रमेण घट उत्पन्न होता है, उस समय घटाकाश की उत्पत्ति एवं महाकाश से उसके पार्थक्य की प्रतीति होती है। घट का विलयन होने पर घटाकाश का महाकाश के साथ सम्मिलन प्रतीत होता है। वायु के स्पन्दनकाल में महासमुद्र से तरङ्ग की उत्पत्ति एवं उसकी समुद्र से भिन्नता प्रतीत होती है और वायु के निःस्पन्दनकाल में तरङ्ग का विलयन प्रतीत होता है। निरावरण तथा द्रवीभूत जल की अभिव्यक्ति में बिम्ब से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति एवं बिम्ब से भिन्नता प्रतीत होती है, और जल के सावरण होने पर या शैत्ययोग से घनीभूत होने पर प्रतिबिम्ब की बिम्बभावापत्ति होती है। इन सभी उदाहरणों से केवल यही बात दिखलाई जाती है कि जैसे स्वभाव से घटाकाश, तरङ्ग तथा प्रतिबिम्ब महाकाश, महासमुद्र एवं बिम्ब से पृथक् नहीं हैं, उनसे भिन्नता एवं विलक्षणता उपाधि से प्रतीत होती है, वैसे ही जीव स्वभावतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसमें भिन्नता एवं परमात्मा से विलक्षणता केवल उपाधियों से प्रतीत होती है। जैसे महाप्रलय में समस्त प्रपञ्च समष्टि सबीज ब्रह्म में विलीन होता है, वैसे ही सुषुप्ति में भी समस्त प्रपञ्च का विलयन श्रुति ने कहा है। अतः सुषुप्ति में उपाधियों के विलीन होने पर जीव परमात्मा से मिलता है। जब तक जल निरावरण एवं द्रुत रहता है, तब तक उसकी चञ्चलता एवं मलिनता से प्रतिबिम्ब भी चञ्चल एवं मलिन प्रतीत होता है। ऐसे ही अन्तःकरण जब तक निरावरणस्वरूपेण व्यक्त रहता है, तब तक उसमें प्रतिबिम्बित चिदानन्दतत्त्व भी उसकी व्याकुलता एवं मलि-

नता से व्याकुल एवं मलिन सा रहता है। यही बात "ध्यायतीव लेलायतीव" इस श्रुति में कही गई है। परन्तु जिस समय अविद्यापरिणाम अन्तःकरण अविद्या में विलीन हो जाय या निद्रा-रूप गाढ़ आवरण से आवृत हो जाय, उस समय जैसे जल के सावरण एवं घनीभाव में प्रतिविम्ब बिम्ब ही हो जाता है, बिम्ब से पृथक् रहता ही नहीं, अतः उससे किसी प्रकार के अनर्थ का सम्बन्ध नहीं होता; ठीक वैसे ही सुषुप्ति में जीव परमात्मा में मिल जाता है, पृथक् उसका स्वरूप ही नहीं रहता। अतएव किसी प्रकार के अनर्थ का योग उस समय उसको नहीं होता। इसी लिये श्रुति "सता सोम्य तदा संपन्नो भवति, स्वमपीतो भवति" इत्यादि वचनों से उस स्थिति को स्पष्ट सिद्ध कर रही है। जीव जाग्रत् और स्वप्न में कर्मों के वश होने से अद्वैत निष्प्रपञ्च परमात्मसुख से वञ्चित होकर द्वैतरूप दुःखसागर में भटकते भटकते परिश्रान्त हो जाता है और विश्रान्ति के लिये फिर कर्मों के उपरत होने पर 'सत्' पदवाच्य सबीज परमात्मा में मिलता है। अतः दृश्य में, द्वैत में वस्तुतः सुख का लेश भी नहीं है, केवल अज्ञों ने भ्रान्ति से उसमें सुख की कल्पना की है।

लौकिक विषयानन्द में भी जहाँ जितना भेद भाव मिटता है, वहाँ उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। चञ्चल चित्त में अधिक मात्रा में द्वैत का भान होता है, अतः उस अवस्था में अधिक दुःख होता है। अभिलषित विषय की प्राप्ति में तृष्णा-कण्टक के अपगम से चित्त में स्वस्थता, एकाग्रता एवं कुछ अन्त-

मुखता होती है, कुछ मात्रा में द्वैत मिटता है, अतएव कुछ मात्रा में आनन्द की प्राप्ति होती है। समाधि में द्वैत की प्रतीति अधिक मिटती है, अतएव वहाँ अधिक आनन्द मिलता है। सौषुप्त-सुख के भी उत्कर्ष में द्वैत की अप्रतीति हेतु है। अतएव वहाँ दृष्टान्त भी उसी ढंग का है "तद्यथा प्रियया भार्यया सम्परिष्वक्तोनान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्" अर्थात् जैसे प्रियतमा से विप्रयुक्त कोई नायक चिरकाल से अभिलषित अपनी प्रेयसी की प्राप्ति होने पर उसके परिरम्भण से आनन्दोद्रेक में बाह्य आभ्यन्तर सर्वविध दृश्य को भूल जाता है; जगत् क्या है, मैं क्या और कहाँ हूँ इसका उसे ज्ञान ही नहीं रहता वैसे ही जागर एवं स्वप्न के द्वैत प्रपञ्च से उद्विग्न जीव भी निष्प्रपञ्च प्राज्ञ परमात्मा के परिरम्भण से दृश्य क्या और कहाँ है और मैं क्या हूँ इत्यादि आन्तर बाह्य सब प्रकार के प्रपञ्च को भूल जाता है।

दुःखरूप द्वैत में केवल अपेक्षाकृत सुख की कल्पना है। रज-तम के उद्रेक में मोह-विषाद का विस्तार होता है। उसकी अपेक्षा सत्त्व के उद्रेक से अन्तमुखता में अर्थात् द्वैत-प्रतीति की कमी में सुख का व्यवहार होता है। और तो क्या कहें, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् को भी दृश्य की प्रतीति में सन्ताप ही होता है। अतएव श्रुति ने कहा है कि "द्वैत का ज्ञान होना ही परमात्मा का तप है"—"यस्य ज्ञानमयं तपः"। जैसे हम सबके लिये कृच्छ्रादिरूप तप है, वैसे ही परमात्मा के लिये द्वैत ज्ञान ही तप है। यह ठीक ही है, क्योंकि जो बात बहिर्मुखों के लिये

नगण्य है वही अन्तर्मुखों को और ही प्रकार से अनुभूत होती है। देखते ही हैं कि और अङ्गों में दण्ड के आघात से भी उतना कष्ट नहीं होता, जितना नेत्र में ऊर्णा तन्तु के निक्षेप से होता है। जिन दोषों एवं दृश्य प्रतीतियों से वहिर्मुखों को कुछ भी संताप नहीं होता, उन्हीं से अन्तर्मुख योगियों को बहुत विक्षेप होता है। तो फिर योगेश्वर भगवान् के लिये दृश्यदर्शन कृच्छ्रादिकों की तरह घोर तप हो तो इसमें क्या आश्चर्य है।

कठोरों के लिये जो कुछ नहीं वहा सुकुमारों के लिये बहुत है, इसी लिये आचार्यों ने कहा है कि "निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि, स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः" अर्थात् भगवान् के निःश्वास से ही वेदों का प्रादुर्भाव होता है, वीक्षण से हा पञ्चभूतों की सृष्टि होती है, स्मित (मन्दहास) से ही सकल चराचर जगत् बन जाता है और प्रभु की सुषुप्ति में ही समस्त प्रपञ्च का प्रलय हो जाता । प्रभु के वीक्षण एवं मन्दहास (मुसकुराहट) से कितने अद्भुत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का प्राकट्य होता है। प्रभु के वीक्षणादि में जैसा अद्भुत प्रभाव है, वैसे ही प्रभु की सुकुमारता भी अद्भुत है। अतः वीक्षण ही में उन्हें इतना श्रम तथा कष्ट होता है कि वही तप हो जाता है। बस, वीक्षण और मन्दहास में ही परिश्रान्त होकर वे विश्रान्ति के लिये सुषुप्ति में पहुँच जाते हैं। वीक्षण करके थोड़ा सा मुसकुरा देना और सो जाना, बस इतना ही उनका कार्य है।

अब सहृदय महापुरुष कल्पना करें कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक श्रीभगवान् को भी जब वीक्षण और मुसकुराहट के अनंतर ही विश्रान्ति के लिये सुषुप्ति की आवश्यकता है तब फिर द्वैत में सुख है या अद्वैत में? द्वैत में चाहे जहाँ भी जितना भी जो कुछ भी सुख है; वह निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्मसुख की अपेक्षा न्यून ही नहीं अपितु दुःखरूप है। सर्व सौख्य-सम्पन्न द्वैतदर्शन से उद्विग्न होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् विश्रान्ति के लिये अद्भुत अद्वैत सुख का समाश्रयण करते हैं, फिर उनके भक्तों को दुःखरूप द्वैत में ही आनन्द हो यह कैसे हो सकता है? अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त जीवों एवं उन सब के नियामक तथा आराध्य भगवान् को द्वैतदर्शन में सुख का लेश भी नहीं है। जो कुछ भी सुख की कल्पना है, वह केवल राजस-तामस भावों के उद्रेक से चाञ्चल्य और द्वैतदर्शन के आधिक्यरूप दुःख की अपेक्षा से ही है। जितनी जितनी प्रपञ्च की निवृत्ति एवं अन्तर्मुखता होती है, उतने उतने अंशों में सुख की कल्पना है। सुषुप्ति में द्वैत-दर्शन की पर्याप्त निवृत्ति होती है, अतः वहाँ सुख भी पर्याप्त होता है। इसी लिये जीव और उनके भगवान् दोनों की प्रवृत्ति स्वरूप-भूत निष्प्रपञ्च सुख के लिये होती है।

जिस जीव को एक दिन नींद नहीं आती, वह घबरा जाता है और उसे प्रजागर दोष समझकर नींद के लिये सहस्रों उपचार करता है। उस समय चाहे कितनी भी दिव्यातिदिव्य सौख्य-सामग्रियाँ क्यों न प्राप्त हों, सबकी सब बेकार प्रतीत होती हैं,

उनकी प्रतीति भी खटकती है। सब कुछ छोड़कर केवल सोने के ही लिये जीव व्यग्र हो उठता है। यह क्या निष्प्रपञ्च अद्वैत सुख की महत्ता नहीं है? अब कृतप्रज्ञ यह सोच सकते हैं कि जब सावरण निष्प्रपञ्च अद्वैत सुख में सबका इतना आकर्षण है, तब निरावरण, निरतिशय, निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्मसुख में सभी का कितना प्रेम होगा? यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सौषुप्त निष्प्रपञ्च ब्राह्मसुख सावरण एवं सबीज है। इसी लिये इसे प्राप्त कर भी जीवों का पुनरुत्थान होता है और जीवों को ही कर्मफल देने के लिये लीलया भगवान् का भी उत्थान होता है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से जिन लोगों के अज्ञान रूप बीज की निवृत्ति होती है उन निर्बीज ब्रह्मभावापन्नों का पुनरुत्थान नहीं होता।

सबीज से ही समस्त प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है—जैसे अखण्ड, अनन्त नभोमण्डल में एक अतिक्षुद्र मेघ का अङ्कुर होता है, उसी तरह अनन्त, अखण्ड, परिपूर्ण परमानन्द स्वप्रकाश भगवान् के अति स्वल्प प्रदेश में अनन्त अचिन्त्य दिव्य महामाया शक्ति होती है। उसके भी अति स्वल्प प्रदेश में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-जननी अनन्त अवान्तर शक्तियाँ होती हैं। एक एक शक्ति में सत्व, रज, तम के प्राधान्याप्राधान्य से विद्या-अविद्या तामसी प्रकृति आदि अनेक भेद हो जाते हैं।

रज और तम के लेश से भी अनाक्रान्त अतएव विशुद्ध सत्त्वप्रधाना शक्ति को माया या विद्या कहते हैं; एवं रज तथा तम से संस्पृष्ट अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना शक्ति को अविद्या

कहते हैं, और तमःप्रधाना शक्ति तामसी प्रकृति कही जाती है। यद्यपि कहीं कहीं मूल प्रकृति में भी माया और अविद्या पद का प्रयोग होता है, जैसे "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इत्यादि, तथापि वह कार्य और कारण के अभेद से औपचारिक समझना चाहिये। जैसे मीमांसक गोविकार पय में भी गो-पद का प्रयोग उपचार से मानते हैं, यथा "गोभिः श्रिणीत मत्सरम्", वैसे ही कहीं कार्य का प्रयोग कारण में हो जाता है। अतः मूल महाशक्ति की अवान्तर शक्तियों के विभाग में विद्या-अविद्या आदि पदों का प्रयोग शास्त्रसम्मत है।

विद्या या माया रूप उपाधि से उपहित चैतन्य ईश्वर-चैतन्य है और अविद्या उपाधि से उपहित चैतन्य जीव-चैतन्य है। तामसी प्रकृति से भोग्यवर्ग का प्रादुर्भाव होता है। इस तामसी प्रकृतियुक्त परमात्मा से महत्तत्त्व एवं महत्तत्त्व से अहंतत्त्व की उत्पत्ति होती है। यद्यपि श्रुतियों में "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि वचनों द्वारा सीधे परमात्मा से ही आकाश की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है तथापि "बुद्धेरात्मा महान् परः, महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि "परमात्मा और उनकी शक्ति अव्यक्त के अनन्तर एवं आकाश के पहले महत्तत्त्व तथा अहं तत्त्व नामक पदार्थ भी हैं"। गीता ने भी "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" इस श्लोक से अपञ्चीकृत (परस्पर असम्मिलित) आकाशादि पृथिव्यन्त पञ्चमहाभूत एवं अहंकार (अहंतत्त्व), बुद्धि (महत्तत्त्व) तथा 'अव्यक्त तत्त्व'

इन आठ प्रकृतियों के रूप में उन्हीं का वर्णन किया है। उन्हीं का "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च, अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" इस श्लोक में भी वर्णन किया है। इस श्लोक में मन शब्द से आकाश के कारण अहंतत्त्व को ही समझना चाहिये, बुद्धि पद से अहंतत्त्व का कारण महत्तत्त्व को समझना चाहिये और अहंकार से महत्तत्त्व का कारण अव्यक्त को समझना चाहिये क्योंकि ऐसा ही प्रकृति-विकृति भाव सर्वत्र प्रसिद्ध है। यथाश्रुत मन बुद्धि एवं अहंकार का कार्य-कारण भाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, और यहाँ "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" से भिन्न भिन्न आठ प्रकृतियाँ विवक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब भूमि का जल से, जल का अनल (तेज) से, अनल का वायु से एवं वायु का आकाश से, आकाश का अहंतत्त्व से, उसका महत्तत्त्व से और महत्तत्त्व का अव्यक्त तत्त्व से आविर्भाव माना जाय। अतएव "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" इस गीता-वचन में स्पष्ट ही अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्त तत्त्व का वर्णन है। इस तरह श्रुति-स्मृति के तात्पर्य विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि साक्षात् परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु महत्तत्त्व आदि के क्रम से ही हुई है। अतएव जहाँ कहीं सत्तत्त्व परमात्मा से सीधे तेज की ही उत्पत्ति श्रुत है, वहाँ भी आकाश एवं वायु की उत्पत्ति के अनन्तर आकाश वायु रूप में आविर्भूत परमात्मा से तेज की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

श्रुतियों में जो "तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्" (परमात्मा ने ईक्षण = निरीक्षण (विचार) किया कि एक मैं बहुत हो जाऊँ) इत्यादि रूप से ईक्षण और अहं का उल्लेख मिलता है, इससे भी अहंतत्त्व एवं महत्तत्त्व का ही द्योतन होता है। किसी कार्य के निर्माण में ज्ञान एवं अहंकार की आवश्यकता होती है। व्यष्टि द्वारा ही समष्टि भाव समझे जाते हैं। समष्टि तत्त्व को बुद्ध्यारूढ़ करने के लिये प्रथम व्यष्टि का ही अवलम्बन करना पड़ता है। इसी वास्ते श्रुति ने ही "स एकाकी न रेमे" (उस पुरुष को एकाकी होने के कारण अरति हुई) इसी कारण अब भी प्राणियों को अकेले होने पर रमण, आनन्द नहीं होता "तस्मादेकाकी न रमते" ऐसा कहा है। यही कारण है कि उपासनाओं में जैसे प्रत्यक्ष शाल-ग्राम में अप्रत्यक्ष विष्णु की बुद्धि की जाती है, वैसे ही प्रत्यक्ष व्यष्टि जाग्रत् अवस्था एवं स्थूल शरीराभिमानी विश्व में समष्टि स्थूल प्रपञ्चाभिमानी वैश्वानर की दृष्टि एवं व्यष्टि, स्वप्नावस्था एवं सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस में समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चाभिमानी हिरण्य-गर्भ की दृष्टि, तथा व्यष्टि सुषुप्ति अवस्था एवं अज्ञान रूप कारण-शरीराभिमानी प्राज्ञ में समष्टि अज्ञान रूप कारणशरीराभिमानी कारण ब्रह्म रूप अव्यक्त की दृष्टि कही गई है। इससे विपरीत विराट् में विश्व-दृष्टि नहीं कही गई क्योंकि समष्टि अप्रत्यक्ष है।

आकाश के एक देश में छोटी सी बादल की एक टिकुली देख-कर आकाशव्यापी महामेघमण्डल की कल्पना की जाती है। जैसे स्वल्प परिमाणवाले दीप्तिमान् अग्नि को देखकर अखण्ड ब्रह्माण्ड-

व्यापक दीप्तिमान् अग्नि की कल्पना की जाती है, वैसे ही अनुभूत व्यष्टि अज्ञान एवं ज्ञान तथा अहंकार से समष्टि अज्ञान तथा महत्तत्त्व एवं अहंतत्त्व का भी बुद्धि में आरोहण हो सकता है। समस्त तत्त्व क्रमशः परमात्मा से उत्पन्न और उसी में लीन होते हैं। सुषुप्ति में भी प्रपञ्च का लय प्रतीत होता है। हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि घोर सुषुप्ति में सोया हुआ पुरुष न कुछ जानता है, न उसे अहंकार होता है और न वह कुछ कार्य कर सकता है, क्योंकि समस्त इन्द्रियगण और अहंकार उस समय अज्ञान में लीन होते हैं। "सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते" इसी वास्ते सुषुप्ति अवस्था में रहनेवाला आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापति के उपदेश को सुनकर इन्द्र को यही अनुपपत्ति प्रतीत हुई थी कि सुषुप्ति में अपने या दूसरे किसी का तो ज्ञान होता नहीं, फिर इसमें पुरुषार्थ ही क्या है? यहाँ भी अहंकारादि का आत्यन्तिक लय नहीं है, क्योंकि जागर में उनकी पुनः प्रतीति होती है। अस्तु, यह तो बहुत ही प्रसिद्ध है कि सुषुप्ति दशा में जीव को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु इस बात को भी विज्ञ पुरुष ही समझ सकते हैं कि "मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना।"—इस प्रकार की जो स्मृति सुषुप्ति से उत्थित पुरुष को होती है, यह भी बिना अनुभव के असम्भव है, क्योंकि बिना अनुभव के कोई स्मरण नहीं होता। अतः सुषुप्तोत्थ पुरुष के स्मरण से निश्चय होता है कि सुषुप्ति में गाढ़ निद्रा एवं सौषुप्त-सुख का प्रकाशक कोई स्वाभाविक अखण्ड नित्य विज्ञान अवश्य था। यहाँ जो

लोग यह कहते हैं कि सुषुप्ति में कोई भावरूप सुख या अज्ञान नहीं होता किन्तु दुःख के अभाव एवं ज्ञान के अभाव में ही सुख एवं अज्ञान का व्यवहार होता है, उनको यह बतलाना चाहिये कि ज्ञानाभाव का ज्ञान कैसे होगा? अभाव के ज्ञान में अनुयोगी (अधिकरण) एवं प्रतियोगी (जिसका अभाव हो) का ज्ञान आवश्यक होता है। जैसे घटाभाव जानने के लिये अनुयोगी (घटाभाव के अधिकरण भूतलादि) तथा प्रतियोगी (घट) इन दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। अन्यथा किसका अभाव कहाँ है, ऐसी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

यदि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव के अधिकरण एवं उसके प्रतियोगी का ज्ञान रहा हो, तब उस ज्ञान के होते हुए, वहाँ ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकता है? जिस भूतल में कोई भी घट हो वहाँ घटाभाव का व्यवहार कैसे हो सकता है? यदि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव के अनुयोगी एवं प्रतियोगी का ज्ञान नहीं था, तब तो उस ज्ञानाभाव की अनुपलब्धि या प्रत्यक्ष द्वारा कथमपि ज्ञान नहीं हो सकता है।

अतः आत्मस्वरूप का आवरण करनेवाला अज्ञान पूर्वकथनानुसार भाव रूप ही है। जैसे सूर्य के आवरक मेघ का प्रकाश सूर्य से ही होता है, उसी तरह नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मा के आवरक अज्ञान का प्रकाश साक्षी-रूप आत्मा से ही होता है। अस्तु, इस प्रसङ्ग का स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा। प्रकृत प्रसङ्ग यही है कि सुषुप्ति दशा में निद्रा या अज्ञान से समा-

वृत साक्षी द्वारा अज्ञान का प्रकाश होता है। अहंकार आदि वहाँ नहीं होते। सुषुप्ति के अनन्तर प्रथम निद्रा की निवृत्ति में कुछ ऐसा ज्ञान होता है, जिसमें किसी तरह के विशेष विकल्प का स्फुरण नहीं होता। यहाँ दो स्थितियाँ हैं—विषय-विशेष के स्फुरण के बिना बौद्ध ज्ञान होता है, जिसे व्यष्टि महत्तत्त्व कह सकते हैं; जिसके अनन्तर अहंकार का उल्लेख होता है, इसी लिये अज्ञान से ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। सुषुप्ति में अज्ञान ही होता है और उसके अव्यवहित उत्तर जागर या स्वप्न में ही कुछ ज्ञान होता है। समष्टि अज्ञान रूप माया से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। जैसे अव्यक्त से व्यक्त का प्रादुर्भाव है वैसे ही अज्ञान से ज्ञान का प्रादुर्भाव होना युक्त ही है। उत्पन्न व्यक्त ज्ञान के सिवा निद्राभङ्ग के अनन्तर एक नित्य-सिद्ध निरावरण ब्रह्मरूप अखण्ड बोध की भी अभिव्यक्ति होती है। तत्परतापूर्वक उसी के साक्षात्कार से जीव सदा के लिये बन्धन से मुक्त हो जाता है। विवेकियों का कहना है कि आत्मा के आवरण दो हैं—एक तो दृश्य का स्फुरण और दूसरा अज्ञान। जाग्रत् स्वप्न में आत्मा विक्षेपरूप दृश्य से समावृत रहता है और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होता है। जब समाधि में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाँचों वृत्तियों का निरोध होता है अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से अतीत तुरीयावस्था का आविर्भाव होता है, तब निरावरण विशुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन होता है। अज्ञानादि सब दृश्यों की जो प्रतीति या भान किंवा प्रकाश है, वही अखण्ड

एवं अनन्त आत्मा है। बिना प्रतीति, बिना भान, बिना प्रकाश किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता। जो पदार्थ है वह अवश्य ही केनचित्क्वचित्कथञ्चित् विज्ञात है, इसी वास्ते प्रतीति के भीतर ही समस्त देश, समस्त काल और समस्त वस्तुएँ हैं। यह सर्वभासक, निर्मल अखण्ड प्रतीति ही परमात्मस्वरूप है।

यह अखण्ड प्रतीति आकाश की तरह पोली नहीं है किन्तु ठोस है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का स्फुरण होता है, वैसे ही इस प्रतीति में दृश्य का स्फुरण होता है। जैसे बिना दर्पण-प्रतीति के प्रतिबिम्ब का प्रकाश नहीं होता वैसे ही बिना स्वयंप्रकाश प्रतीति के स्फुरण हुए दृश्य का स्फुरण नहीं होता। अतएव श्रुति है "तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। जैसे दर्पण-स्फुरण के पीछे प्रतिबिम्ब स्फुरण होता है वैसे ही स्वयंप्रकाश प्रतीति स्फुरण के अनन्तर दृश्य का स्फुरण होता है। असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, निरवयव, निष्कल परमात्मा में प्रपञ्चसंसर्ग का प्रकार यही है। सभी वादिगण परमात्मा को अखण्ड, असङ्ग, निष्कल तथा अनन्त स्वरूप मानते हैं।

ऐसी परिस्थिति में प्रपञ्च की स्थिति कैसे और कहाँ सम्भव है? या तो प्रपञ्च को किसी ऐसे देश काल में रक्खें जहाँ परमात्मा न हों या परमात्मा को आकाश की तरह सावकाश पोला मानें। परन्तु ये दोनों ही पक्ष शास्त्रविरुद्ध हैं। क्योंकि शास्त्रों ने परमात्मा को ब्रह्म शब्द से बोधित किया है। ब्रह्म शब्द "बृहि वृद्धौ" धातु से बनता है। अतः ब्रह्म शब्द का "बृहत्

या महान्" यह अर्थ होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी बृहत् या महान् वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। अब यह विवेचन करना रहा कि ब्रह्म की वह बृहत्ता सापेक्ष है या निरपेक्ष, सातिशय है या निरतिशय? अर्थात् जैसे घट, पट, मठ आदि में बृहत्ता है और आकाश में भी, परन्तु घट पट मठादि में सापेक्ष बृहत्ता है, और आकाश में निरपेक्ष है, वैसे ब्रह्म में कैसी बृहत्ता होनी चाहिये? इसपर विज्ञ जनों की सम्मति यही है कि जब कोई संकोचक पद हो तब ब्रह्म में सापेक्ष बृहत्ता की कल्पना की जाय। जैसे "सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः" इस वचन में सर्व पद का संकोच किया जाता है। जहाँ सार्वत्रिक सार्वदेशिक सर्व ब्राह्मणों का एकत्रीभाव या भोजन असम्भव हो, वहाँ "निमन्त्रिताः सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः" इस प्रकार सर्वपद का संकोच करके निमन्त्रित सर्व ब्राह्मण का ग्रहण होता है। ऐसे यहाँ भी यदि कोई संकोचक प्रमाण होता या निरतिशय बृहत्ता में किसी तरह की अनुपपत्ति होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि "इस प्रकार के इतने महान् को ब्रह्म कहें।" जब किसी प्रकार का कोई संकोचक प्रमाण नहीं है और निरतिशय महत्ता में कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब सर्वप्रकार एवं सर्व से अधिक निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहना चाहिये। महत्ता की अतिशयता की कल्पना-परम्परा जहाँ विरत हो जाय, जिससे अधिक बृहत्ता की कल्पना हो ही नहीं सके, उसी को ब्रह्म कहते हैं। फिर भी भगवती श्रुति ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस वचन में लक्षण या विशेषण रूप में अनन्त पद का प्रयोग

किया है, जिससे निरतिशय बृहत्ता की और भी पुष्टि हो जाती है। इस तरह सर्व प्रकार से सिद्ध हुआ कि निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु किसी देश में हो और किसी देश में न हो, वह तो देश-परिच्छिन्न ही है, उसमें निरतिशय बृहत्ता कैसी? और जो कभी मिट जाय वह तो काल-परिच्छिन्न एवं अनित्य है, वह भी अनन्त महान् नहीं हो सकती और यदि किसी दूसरी अन्य वस्तु का अस्तित्व हो, तब तो अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होने से ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न हो जायगा। अतः फिर भी निरतिशय महत्ता उसमें नहीं हो सकती। इसलिये निरतिशय तथा अनन्त महत्ता के लये ब्रह्म को सर्व देश-काल-वस्तु से अतीत एवं अपरिच्छिन्न मानना चाहिये। अर्थात् ऐसा कोई देश काल या वस्तु नहीं है, जहाँ ब्रह्म न हो, वल्कि "देश-काल-वस्तु में ब्रह्म है" ऐसा कथन भी औपचारिक ही है। जैसे तन्तु-निर्मित पट में तन्तु का अस्तित्व, कनक-निर्मित कटक-कुण्डल-मुकुटादि में कनक का अस्तित्व, तरङ्ग में जल का अस्तित्व एवं कल्पित सर्प में अधिष्ठान-रूप से रज्जु का अस्तित्व है, बस उसी प्रकार, "देश-काल-वस्तु में ब्रह्म का अस्तित्व है" ऐसा व्यवहार प्राकृत, विवेकी पुरुषों में हुआ करता है। वस्तुतः जैसे तन्तुओं से भिन्न होकर पट नाम की कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है, एवं कनक से भिन्न कुण्डलादि पृथक् वस्तु नहीं है और जल से भिन्न तरङ्ग नाम का कोई पदार्थान्तर नहीं है, किन्तु तन्तु आदि में ही पटादि की कल्पना है, ठीक

वैसे ही ब्रह्म से भिन्न होकर देश काल वस्तु कुछ है ही नहीं। अतः देश काल वस्तु में ब्रह्म नहीं, किन्तु देश काल वस्तु ही ब्रह्म में कल्पित है। इसी वास्ते "यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु, प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्" भगवान् के इस वचन से यह कहा गया है कि जैसे आकाशादि पञ्च महाभूत उच्चावच नाना प्रकार के भौतिक प्रपञ्चों में प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट हैं, उसी तरह मैं महाभूतों में प्रविष्ट हूँ और अप्रविष्ट भी हूँ।

कार्यवर्ग में महाभूतादि कारणों की उपलब्धि होती है, अतः प्रवेश की कल्पना है वस्तुतः "प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह संभवः" प्रथम से ही जो व्यापक हैं, उनका प्रवेश क्या कहा जाय? इसी अभिप्राय से "न त्वहं तेषु ते मयि" इस वचन से भगवान् ने ही अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि सर्व प्रपञ्च मुझमें है, मैं प्रपञ्च में नहीं हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म से रहित कोई देश या काल है ही नहीं, जहाँ भगवान् से भिन्न किसी वस्तु की स्थिति हो। किन्तु जब सभी देश और काल ही ब्रह्म में हैं, तब फिर देशनिष्ठ, कालनिष्ठ वस्तु सुतरां ब्रह्म में ही पर्यवसित होगी।

अब देखना यह है कि देश, काल एवं वस्तु ये असङ्ग ब्रह्म में कैसे रहते हैं। श्रुतियों ने ब्रह्म को ही समस्त प्रपञ्च का उपादान एवं निमित्त कारण भी बतलाया है। यदि थोड़ी देर के लिये प्रकृति को ही उपादान मान लें, तो भी वही प्रश्न उठता है कि प्रकृति कहाँ है— ब्रह्म में या उससे पृथक्? जब ब्रह्म से पृथक् देश, काल नहीं तो पृथक् देश में प्रकृति की कल्पना कैसे उठ सकती है? यदि ब्रह्म में ही प्रकृति

है तब वहाँ भी वही प्रश्न है कि किस सम्बन्ध से ब्रह्म में प्रकृति रहती है? यदि प्रकृति या जगत् का ब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध मानें तो ब्रह्म में असङ्गता नहीं रहती है। साथ ही उपादान को छोड़कर अन्यत्र कार्य की सत्ता भी नहीं कही जा सकती। वारि को छोड़कर वीचि एवं सुवर्ण को छोड़कर कुण्डलादि पृथक् कैसे रह सकते हैं? साथ ही प्रपञ्च तथा भगवान् का स्वभाव भी अत्यन्त विरुद्ध है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न, प्रपञ्च परिच्छिन्न, ब्रह्म अमृत, प्रपञ्च मर्त्य, ब्रह्म सुख-दुःख-मोहातीत, प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक, तथा ब्रह्म परम-सत्य स्वप्रकाश परमानन्दरूप और प्रपञ्च अनृत जड़ दुःखरूप है। ब्रह्म निरवयव तथा निष्कल और प्रपञ्च सावयव, सकल है। अतः ब्रह्म और प्रपञ्च का सम्बन्ध कैसे और कौन हो सकता है? निर्गुण तथा निष्क्रिय होने के कारण ब्रह्म द्रव्य नहीं कहा जा सकता। अतएव उसमें संयोग या समवाय दोनों नियामक सम्बन्ध नहीं हो सकते। निष्कल निरवयव में भी ये सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः केवल आध्यासिक सम्बन्ध मानना उचित है। इसी आशय से "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना, मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः", "न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्, भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः" आदि वचन आये हैं, जिनका भाव यह है कि मुझ अव्यक्त-मूर्ति से समस्त साकाश प्रपञ्च व्याप्त है, समस्त भूत मेरे में है पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, वास्तव में तो समस्त प्रपञ्च मुझमें स्थित भी नहीं है।

आशय यह है कि बहिर्मुख प्राणियों की दृष्टि में प्रपञ्च ही स्पष्ट रूप में विद्यमान है, प्रपञ्चातीत भगवान् का तो अस्तित्व ही दुर्गम है, अतः प्रथम प्रपञ्च के कारण-रूप से या आधार तथा भासक सत्ता स्फूर्तिप्रद-रूप से भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास होना यह सबसे बड़ी बात है। कुछ अभिज्ञ प्रपञ्च देखकर उसके आधार या कारण का अन्वेषण करते हैं। यदि भगवान् प्रथम ही यह कह दें कि न मैं प्रपञ्च में हूँ न प्रपञ्च मुझमें है, तब तो निज दृष्टिसिद्ध प्रपञ्च के कारण का अन्वेषण करनेवाला साधक भगवान् से निराश होकर परमाणु, प्रकृति या अन्य किसी को प्रपञ्च के कारण-रूप से निश्चय करेगा। अतः भगवान् प्राणिकल्याणार्थ प्रथम यही कहते हैं कि "मैं ही जगत् का कारण हूँ। यदि तत्त्वतः विवेचन किया जाय तब तो जगत् नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। परन्तु यदि अज्ञ बुद्धि-सिद्ध व्यावहारिक जगत् है, तो मेरे में ही है। मैं ही इसके भीतर, बाहर, मध्य में तथा मैं ही इसका भासक हूँ।" जब इस तरह प्रभु के उपदेश से प्राणी को प्रपञ्च से भिन्न एक भगवान् पर विश्वास हो जाता है तब फिर ठीक ठीक तत्त्व का उपदेश किया जाता है कि वस्तुतः मेरे से भिन्न होकर प्रपञ्च है ही नहीं; जो कुछ है वह बस एक मैं ही हूँ।

जैसे भ्रान्ति से किसी को अमृतसागर में क्षारसागर की कल्पना हो, ठीक वैसे ही एक अखण्ड आनन्दसागर में ही भवसागर की कल्पना है। आनन्दसागर ही भ्रान्ति से भवसागर के रूप में भासित होता है। आनन्दसागर से भिन्न होकर भवसागर नाम की कोई

वस्तु है ही नहीं। भीतर, बाहर, सर्वत्र अचिन्त्य, अनन्त, अखण्ड संवित्सुखसागर का भान हो रहा है, इसी लिये गोस्वामीजी कहते हैं—"आनँदसिन्धु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा।" अतः भगवान् सर्व-कारण, सर्वाधार, सर्वभूत होकर भी असङ्ग और सर्वरहित हैं। आनन्दसागर और भवसागर का संयोग समवाय आदि सम्बन्ध तो बनता नहीं। अतः केवल आध्यासिक ही सम्बन्ध है—अर्थात् आध्यासिक सम्बन्ध से प्रपञ्च ब्रह्म में रह सकता है। इसे यों भी समझ सकते हैं, जैसे दर्पण में आकाशमण्डल, सूर्य-मण्डल, चन्द्र एवं नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि नाना प्रकार के दृश्य प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देते हैं—वस्तुतः है ही नहीं, केवल प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही महाप्रतीति-रूप दर्पण में यह समस्त चरा-चर-प्रपञ्च देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और अज्ञान ये सभी प्रतिबिम्ब के समान न होते हुए भी प्रतीत होते हैं। समस्त देश एवं क्षण, प्रहर, दिवस, पक्ष, मास, अब्द, युग, कल्प तथा गत-आगत नाना प्रकार के काल, ये सभी अखण्ड अनन्त निर्मल असङ्ग प्रतीति रूप दर्पण में ठीक प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत हो रहे हैं।

जैसे रूपादि-ग्रहण के लिये प्रवृत्त भी चक्षु सौरादि आलोक का ग्रहण करता है, पीछे आलोकावभासित रूप का ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही सर्वभासिका प्रतीति का स्फुरण पहले होता है। तदनन्तर प्रतीति-प्रकाशित अहंकारादि दृश्य का स्फुरण होता है। किंवा जैसे पहले दर्पण का ग्रहण होता है पीछे दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है, वैसे ही पहले

प्रतीतिरूप दर्पण की प्रतीति होती है। यही "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इस श्रुति का आशय है। परमात्म-प्रकाश के पीछे सर्व दृश्य का प्रकाश होता है और परमात्म-प्रकाश से ही सकल दृश्य प्रकाशित होता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार ये सभी अपने अपने प्रकाश्य विषयों का प्रकाशन करनेवाले हैं, अतः ज्योति हैं। परन्तु इन ज्योतियों का भी प्रकाशन करनेवाला विशुद्ध-भान-रूप परमात्मा ज्योतियों का भी ज्योति है "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते"।

तम-रूप अज्ञान का भी प्रकाशक वही है। अतः "देशः स्फुरति देशोऽस्ति। कालो भाति कालोऽस्ति। वस्तूनि स्फुरन्ति वस्तूनि सन्ति" इत्यादि रूप से "देश की प्रतीति, काल की प्रतीति, वस्तुओं की प्रतीति, एवं देश है, काल है, वस्तु है, इस प्रकार देश-काल-वस्तु की सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है। जैसे दर्पण से प्रतिविम्ब कवलित है, दर्पण के विना उसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती, वैसे ही देश, काल तथा समस्त वस्तुएँ अबाधित सत्ता एवं अखण्ड अनन्त प्रतीति से कवलित हैं। अतः विना प्रतीति और सत्ता के देशादि की सिद्धि हो ही नहीं सकती। सत्ता और स्फूर्ति से विहीन देशादि असत् तथा निःस्फूर्ति हो जाते हैं।

यद्यपि प्रतिबिम्ब से भिन्न बिम्ब दर्पण से पृथक् हुआ करता है, परन्तु यहाँ तो सत्ता और प्रतीतिरूप दर्पण से भिन्न कोई देश ही नहीं, जहाँ बिम्ब की तरह किसी पृथक् वस्तु की स्थिति हो सकती हो। इसी वास्ते हम भी जगत् को प्रतिबिम्ब न कहकर

प्रतिबिम्ब के समान कहते हैं। वस्तुतत्त्व के बुद्ध्यारोहण के लिय दृष्टान्त का उपादान किया जाता है। दृष्टान्त इतने ही अंश में है कि जैसे दर्पण में न होकर भी प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से दर्पण में प्रतीत होता है, उसी तरह ब्रह्म में न होता हुआ भी प्रपञ्च अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है कि प्रतिबिम्बाधार दर्पण से भिन्न भी देश है और वहाँ प्रतिबिम्ब का निमित्त बिम्ब भी है। परन्तु यहाँ दृश्याधार अखण्ड ब्रह्मरूप दर्पण से भिन्न कोई देश नहीं, अतएव यहाँ बिम्ब के समान कोई सत्य वस्तु निमित्त भी नहीं। किन्तु एकमात्र अनिर्वचनीय शक्ति के अद्भुत माहात्म्य से प्रतिबिम्ब की तरह वस्तुतः अत्यन्तासत् दृश्य प्रपञ्च की प्रतीति होती है। वह शक्ति ही जैसे सर्व दृश्य की कल्पना का मूल है, वैसे ही अपनी कल्पना का भी मूल वह स्वयं ही है। जैसे भेद ही घट-पट का भेदक है, और वही घटपट से अपना भी भेद सिद्ध करता है किंवा जैसे अनुभव ही अपने विषयों का और अपने भी व्यवहार का जनक है तथा नैयायिकों का आत्मा ही सर्व ज्ञेय का तथा अपना भी ज्ञाता है, वैसे ही वह शक्ति ब्रह्म को ही सर्व दृश्यरूप में तथा अपने भी रूप में प्रतिभासित करती है। जैसे निष्प्रतिबिम्ब दर्पण-मात्र पर दृष्टि डालने से प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता, वैसे ही निर्दृश्य चितिरूप नित्य दृक् पर दृष्टि डालने से दृश्य, दर्शन और साभास-अहमर्थरूप अनित्य द्रष्टा इन सभी का अत्यन्ताभाव हो जाता है।

प्रतिबिम्ब में जब दृष्टि आसक्त होती है उस समय भी यद्यपि दर्पण का दर्शन होता ही है, क्योंकि बिना दर्पण के दर्शन तो

प्रतिबिम्ब का दर्शन हो ही नहीं सकता, तथापि शुद्ध निष्प्रतिबिम्ब दर्पण का दर्शन नहीं होता। उसी तरह दृश्यादि दृष्टि काल में भी दृश्य के अधिष्ठानभूत अखण्ड स्फुरण रूप भगवान् का भान है ही, क्योंकि बिना स्फुरण किसी भी दृश्य की सिद्धि नहीं होती, तथापि स्पष्ट शुद्ध अनन्त भान नहीं व्यक्त होता है। उसके लिये ही वैराग्य-पूर्वक दृश्य की ओर से दृष्टि को व्यावर्तित करके केवल निर्दृश्य विशुद्ध अखण्ड भान पर दृष्टि स्थिर करना होता है। उसी तरह अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर फिर केवल जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तभी तक व्युत्थान-काल में दृश्य का स्फुरण होता है। प्रारब्ध क्षय होने पर सदा के लिये दृश्य मिट जाता है और अखण्ड आनन्द परिपूर्ण भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं।

जब तक यह स्थिति नहीं मिलती, तब तक सुषुप्ति में सावरण ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। जैसे मेघ से समावृत मेघ का अवभासक सूर्य है, बस वैसे ही अज्ञान से समावृत अज्ञान का प्रकाशक निष्प्रपञ्च अद्वैत स्वप्रकाशानन्द रूप आत्मा सुषुप्ति में जीव को मिलता है। जैसे घोर-निद्रा से किसी तरह अकस्मात् जागने पर विशेष विकल्प विस्फुरण के बिना कुछ ज्ञान होता है, विवेकी-जन वैसे ही ब्रह्मानुभव का प्रकार बतलाते हैं। घोर निद्रा से जागने के पश्चात् एवं द्वैत-प्रतीति के प्रथम निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह शुद्ध, निर्दृश्य, निरावरण, चिदात्मक प्रकाश ब्रह्म का दर्शन होता है, वैसे ही जागरण के अन्त में और सुषुप्ति के पूर्व में भी निरावरण तत्त्व की उपलब्धि होती है, जाग्रत् काल में अन्तःकरण-रूप कमल की वृत्ति-

रूप पखुरियाँ विकसित होती हैं। इसी वास्ते द्वैत दृश्य का सम्यक् स्फुरण हुआ करता है। अन्तःकरण के विकाश या चाञ्चल्य में ही द्वैत का दर्शन होता है, इसी लिये किन्हीं महानुभावों ने कहा है कि "चित्तं तु चिद् विजानीयात् तकाररहितं यदा" चित्त में जब तक द्वितीय 'तकार' का योग है तब तक वह दृश्य है; 'तकार' संसर्ग रहित होते ही वह केवल 'चित्' परमात्मा ही हो जाता है। चित् ही किञ्चित् मननशील शक्ति को धारण करके मन हो जाता है। जैसे मृत्तिका के होने में ही घट की उपलब्धि होती है, और उसके न होने पर नहीं होती, ठीक वैसे ही चित्त की चञ्चलता में ही, अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न में दृश्य दिखाई देते हैं। मूर्च्छा, समाधि या सुषुप्ति में चित्त का चाञ्चल्य नहीं होता, अतएव वहाँ द्वैत-दर्शन भी नहीं होता। अतः जैसे घट मृत्तिका रूप ही है, वैसे द्वैत-दृश्य भी चित्तरूप ही है। विषय-चिन्तनरूप चित्त का चाञ्चल्य मिटने पर दृश्य की भी समाप्ति हो जाती है।

इस तरह क्रमशः जब सुषुप्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होने लगती है, तब चित्त की वृत्तियाँ संकुचित होने लगती हैं। जैसे जैसे उनका संकोच होता है, वैसे वैसे दृश्य का दर्शन न्यून होने लगता है। जब अन्तःकरण-कमल अत्यन्त मुकुलित हो जाता है, तब दृश्य-दर्शन बिलकुल वन्द हो जाता है। कुछ क्षण के अनन्तर तामसी निद्रा से वह समावृत हो जाता है, फिर घोर तम छा जाता है।

इसी तरह जब निद्रा भङ्ग होती है, तब पहले तामसी निद्रा दूर होती है। फिर कुछ क्षण के अनन्तर निद्रारूप आवरण से रहित

मुकुलित अंतःकरण-कमल, शनैः शनैः पुनः विकसित होकर, सम्यक् रूप में द्वैत का दर्शन करने लगता है। इस तरह से मनोव्यापार स्वरूप प्रयत्न से द्वैत व्यक्त होता है। निर्व्यापाररूप विश्रान्ति में स्वाभाविक अद्वैत व्यक्त होती है। जो वस्तु प्रयत्न से, परिश्रम से, सिद्ध की जाती है वह कृत्रिम, अनित्य तथा असत्य होती है, और जो विना व्यापार, विना परिश्रम, नित्यसिद्ध हो, वही स्वाभाविक एवं सत्य है। मूल श्रुति भी परिश्रम-रहित निर्व्यापार दशा का वर्णन अद्वैत-रूप से ही करती है "सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्", "एकमेवाद्वितीयम्।" और ईक्षण, कामना, तप तथा संकल्परूप परिश्रम से बहुभवन का वर्णन करती है "तदैक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्", "सोऽकामयत स तपस्तप्त्वा इदमसृजत्" इत्यादि।

जागर के अन्त एवं सुषुप्ति के पूर्व में तथा सुषुप्ति के अन्त एवं जागर के पूर्व में कुछ क्षण निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह शुद्ध निर्दृश्य चिद्रूप अखण्ड भान का दर्शन होता है। परन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता। जैसे हम सदा ही उत्तराभिमुख होकर नक्षत्र-राशियों पर दृष्टि डालने पर ध्रुव का दर्शन करते हैं, तथापि "अयं ध्रुवः" इत्याकारक स्पष्ट विवेकपूर्वक ध्रुव को नहीं पहचानते; कुछ लोगों के न पहचानने में तो लक्षण का अज्ञान ही हेतु है और कुछ लोगों को "अमुक अमुक नक्षत्रों के सन्निधान में तथा उत्तर दिशा में सदा अचल रूप से स्थिर रहनेवाले नक्षत्र का नाम ध्रुव है" इस प्रकार से लक्षण का ज्ञान है। तथापि वे लक्षण को लक्ष्य में समन्वित करके ध्रुव को

पहचानने के लिये तत्पर नहीं होते, इसी लिये उन्हें प्रतिदिन ध्रुव को देखने पर भी उसकी पहचान नहीं होती। अतः लक्षण-ज्ञान एवं परिचय के लिये, अन्य दृश्य की ओर से दृष्टि व्यावर्तनपूर्वक तत्परता से ही प्रयत्न करने पर स्पष्टरूपेण ध्रुव का परिचयपूर्वक दर्शन होता है। ठीक इसी तरह सदा ही सुषुप्ति एवं जागर के अन्त में यद्यपि सभी को निर्दृश्य शुद्ध दृक्-रूप स्वयंप्रकाश अखण्डभान का दर्शन होता है, तथापि परिचयपूर्वक स्पष्ट साक्षात्कार नहीं होता।

सदा स्वप्रकाशरूप से भासमान में भी जो "नास्ति" (नहीं है) और "न भाति" (नहीं प्रतीत होता है) इत्याकारक व्यवहार-योग्यता है, वही आवरण-शक्ति का विलक्षण चमत्कार है; और स्वप्रकाश अनन्त अद्वैत में जड़ परिच्छिन्न द्वैत प्रपञ्च का भान करा देना, यही विक्षेप-शक्ति का विलक्षण चमत्कार है। इसी की निवृत्ति के लिये आचार्य-परम्परा से वेदान्तों का श्रवण तथा मनन करके अद्वितीय परमात्मा के लक्षणों का संस्कार अन्तःकरण में स्थिर करना चाहिये। किसी भी वस्तु को जानने के लिये अन्य विषयों से चित्त को व्यावर्तित करने और तत्परतापूर्वक परिचय करने की आवश्यकता होती है। परन्तु यहाँ तो श्रवण मननादि जन्य स्वरूप के संस्कार ही परिचय, प्रयत्न के स्थान में अपेक्षित हैं, क्योंकि जैसे छाया के पीछे चलने से छाया का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे ही प्रयत्न से शुद्ध वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती—"कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।" निर्व्यापार होने पर ही वस्तु-बोध हो सकता है। परन्तु केवल

निर्व्यापारता योगियों को भी होती है, उन्हें अद्वैत ब्रह्म का आपरोक्ष्य फिर भी नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वरूपपरिचयानुकूल श्रवणादि द्वारा संस्कार वहाँ सम्पादित नहीं किये गये हैं।

आत्मा पर प्राथमिक आवरण अनिर्वचनीय अज्ञान, और द्वितीय विक्षेपरूप द्वैत, तृतीय अर्धनिद्रापूर्वक स्वप्न और चतुर्थ पूर्ण निद्रा या सुषुप्ति है। मेघाच्छन्न भाद्रपद अमावास्या की रात्रि की तरह सुषुप्ति में आत्मा का अत्यन्त अप्रकाश रहता है। मेघ-रहित रात्रि के समान स्वप्न में किञ्चित्प्रकाश होता है। चान्द्र-मसी रात्रि की तरह जाग्रत् में पर्याप्त प्रकाश होता है। मेघाच्छन्न दिवस की तरह समाधि में आत्मा का प्रकाश होता है। निरावरण सूर्य की तरह तत्त्वसाक्षात्कार में आत्मा का प्रकाश होता है।

निरावरण ब्रह्म-स्वरूप-साक्षात्कार के लिये देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि का अत्यन्त निरोध और वेदान्ताभ्यास-जन्य संस्कार इन दोनों की आवश्यकता है। जैसे "गोसदृशो गवयः" इत्याकारक वाक्य-जन्य दृढ़तर संस्कारवाले पुरुष को 'नेत्र' और 'गवय' का सन्निकर्ष होते ही "अयं गवयः" ऐसा बोध हो जाता है, वहाँ विचार की आवश्यकता नहीं होती; और गवय का नेत्रों से सम्बन्ध होने पर भी "यह गवय है" ऐसा बोध नहीं होता, जब तक कि "गौ के सदृश गवय होता है" ऐसा ज्ञान नहीं होता। अतः जहाँ सन्निकर्ष होने पर भी "गोसदृशो गवयः" इस वाक्य के विना "अयं गवयः" इत्याकारक साक्षात्कार में विलम्ब हो, वहाँ

"यह गवय है" इस ज्ञान में वाक्य ही हेतु है, इन्द्रिय-सन्निकर्ष सहकारी मात्र है, एवं जहाँ "गोसदृशो गवयः" इस वाक्य के संस्कार होने पर भी नेत्र-सन्निकर्ष बिना साक्षात्कार में विलम्ब है, वहाँ सन्निकर्ष ही मुख्य हेतु है, और वाक्य सहकारी है। ठीक इसी तरह योगियों को निरोध समाधि होने पर भी वेदान्ताभ्यास-जन्य संस्कार बिना साक्षात्कार में विलम्ब है। अतः वहाँ ब्रह्म-साक्षात्कार में वेदान्त-वाक्य ही मुख्य कारण है, निरोध सहकारी है। जहाँ वेदान्ताभ्यास होने पर भी निरोध बिना साक्षात्कार में विलम्ब है, वहाँ निरोध को ही मुख्य हेतुता है, वाक्य सहकारी है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहीं वेदान्तों को, कहीं संस्कृत-निरुद्ध मन को, ब्रह्म-साक्षात्कार में हेतु माना है और कहीं महा-वाक्य को ही मुख्य हेतु कहा है। इससे सिद्ध होता है कि वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार से युक्त निरुद्ध अन्तःकरण से निरा-वरण ब्रह्म का साक्षात् होता है।

जैसे पूर्णिमा के किसी अवस्था-विशेष-विशिष्ट चन्द्रमा पर ही राहु का प्राकट्य होता है, वैसे ही निर्वृत्तिक निरुद्ध मन पर ही ब्रह्म-स्वरूप का प्राकट्य होता है। "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" असत्य काल्पनिक मार्ग पर ही स्थित होकर सत्य-वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। अप्राकृत भगवान् की मङ्गलमयी मूर्ति को प्राकृत कमल महेन्द्र नीलमणि प्रभृति उपमानों से उपमित किया जाता है। क्या कोई भी आस्तिक सर्वांश में भगवान् में इन उपमानों को मान सकता है?

एक के विज्ञान में सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा का समर्थन करने के लिये श्रुति ने यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक मिट्टी के विज्ञान में समस्त मृण्मय पदार्थ का "यह सब मिट्टी ही है" इस प्रकार विज्ञान हो जाता है, वैसे ही एक परमात्मा के विज्ञान से समस्त परमात्म-कार्य का विज्ञान हो जाता है। परन्तु यहाँ भी तो मृत्तिका सावयव एवं परिणामिनी है, तो फिर निरवयव कूटस्थ अपरिणामी भगवान् का प्रपञ्च-रूप में परिणाम कैसे सम्भव है? और परमात्मा के विज्ञान में समस्त प्रपञ्च का विज्ञान भी होना कैसे सम्भव है? यह बात नहीं है, यहाँ तो केवल जैसे कारण से भिन्न कार्य की सत्ता नहीं; कारण की ही सत्ता से कार्य में सत्ता और स्फूर्तिमत्ता प्रतीत होती है, वैसे ही परमात्मा से भिन्न प्रपञ्च की सत्ता नहीं; एक परमात्मा की ही सत्ता और स्फूर्ति से प्रपञ्च में सत्ता और स्फूर्ति की प्रतीति होती है। इतने ही अंश में दृष्टान्त है। इसी प्रकार घट से ही महाकाश में देश की कल्पना और उससे ही महाकाश में घटाकाश-व्यवहार और घट के गमन में घटाकाश के गमन की प्रतीति होती है।

वस्तुतः न तो महाकाश से भिन्न घटाकाश है और न उसका गमन ही होता है, वैसे ही अनन्त अखण्ड शुद्ध भगवान् में उपाधियोग से ही भेद और गति, उत्क्रान्ति आदि की प्रतीति होती है, वस्तुतः कुछ नहीं है। उपाधि-विरहित देश में उपाधि के जाने से वहाँ नवीन जीवभाव की कल्पना हो जाती है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देश की कल्पना भी तो उपाधि के ही अधीन है।

इसके अतिरिक्त ऐसी कल्पना से अधिष्ठान में तो कोई हानि ही नहीं है। यों तो समस्त प्रपञ्च ही उसी में कल्पित है; परन्तु इससे क्या वह बद्ध समझा जाता है? क्या कल्पित जल से मरुभूमि आर्द्रा होती है? जब निरवयव निष्प्रदेश निष्कल में काल्पनिक उपाधि-द्वारा ही काल्पनिक प्रदेश का व्यवहार होता है, तब तत्त्वतः प्रदेश या उसके बन्ध और मोक्ष की कल्पना तात्त्विकी कैसी ?

यदि पूछा जाय कि फिर किसका बन्ध-मोक्ष तात्त्विक है, तो इसका उत्तर यही है कि किसी का नहीं। अतएव "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।" "अज्ञान-संज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नाऽन्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।" सत्यज्ञाना-नन्दात्मक भगवान् से भिन्न होकर बन्ध-मोक्ष नाम के कोई पदार्थ नहीं हैं। केवल अज्ञान से बन्ध और मोक्ष ये दो संज्ञायें होती हैं, अतः केवल कल्पित-उपाधि से कल्पित-प्रदेश में कल्पित ही गमनागमन और कल्पित ही बन्ध-मोक्ष होते हैं। कल्पितोपाधि का अनुगामी जो कल्पित-प्रदेश वही कल्पित-बन्ध से पीड़ित और कल्पित-मोक्ष से मुक्त होता है। यदि बन्ध सत्य हो तभी मोक्ष भी सत्य हो सकता है। अधिष्ठानावशेष के अभिप्राय से भगवत्प्राप्ति, मोक्ष या निरावरण भगवान् ही सत्य हैं। इसी तरह "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्" इत्यादि श्रुति-स्मृतियों में परमात्मा के जीवरूप से प्रवेश में दृष्टान्त-रूप से यह आया है कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न भिन्न जलों में प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होते हैं, वैसे ही परमात्मा भिन्न भिन्न उपाधियों

में प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होते हैं। ऐसे ही "घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा" इत्यादि वचनों में जैसे घट के नष्ट होने में घटाकाश का महाकाश में मिलना होता है, वैसे ही उपाधि-भङ्ग होने पर उपहित जीव निरुपाधिक परमात्मा में ही मिल जाता है। इन उक्तियों के आधार पर पारमार्थिक अभेद और व्यावहारिक भेद-सिद्धि के लिये ये सभी दृष्टान्त ग्रहण किये जाते हैं।

यहाँ आत्मा के प्रतिविम्ब समर्थन की कोई आवश्यकता नहीं है। इस वात को प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा स्वयं यद्यपि स्थौल्य, कार्श्य, श्यामत्व, गौरत्वादि धर्मों से विवर्जित है, तथापि देह के साथ विलक्षण सम्बन्ध के कारण देहगत ही स्थौल्यादि धर्म आत्मा में भासमान होते हैं। ठीक इसी तरह प्रतिविम्ब-वादियों का यही आशय है कि आत्मा स्वयं यद्यपि अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, वुद्ध, मुक्त-स्वभाव, सर्वभासक भावरूप है, तथापि देह इन्द्रिय मन बुद्धि प्रभृति उपाधियों के संसर्ग से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अनर्थ उसी तरह भासित होने लगते हैं, जैसे अचञ्चल एवं स्वच्छ सूर्य का चञ्चल एवं मलिन जल में प्रतिविम्ब होने पर जल की ही चञ्चलता एवं मलिनता सूर्य में भासित होने लगती है।

जीव जब अपने को नित्य, शुद्ध, वुद्ध, मुक्त, निरुपम-सुख-संविद्रूप न समझकर कर्ता, भोक्ता समझने लगता है, तव उसको उपाधि-संसर्ग से तद्धर्मारोप के कारण प्रतिविम्ब कहने लगते हैं। उपाधि-

संसर्गातीत होने पर शुद्ध-बिम्ब रूप ही हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्ब की अपेक्षा ही से गगनस्थ सूर्य में बिम्ब का व्यवहार होता है। प्रतिबिम्ब की अपेक्षा न करने से बिम्बता-प्रतिबिम्बता-रूप धर्मों से रहित शुद्ध सूर्य का व्यवहार होता है, वैसे ही प्रतिबिम्बात्मक जीव की अपेक्षा विशुद्ध चिदात्मक परमतत्त्व में ही परमेश्वरत्व का व्यवहार होता है। जीवभाव की अपेक्षा न करने से जीवत्व-परमेश्वरत्व धर्म-रहित निर्विकार शुद्ध परमात्मा ही का व्यवहार होता है।

भगवती श्रुति ने परमात्मा को ही समस्त प्रपञ्च का उपादान तथा निमित्त कारण कहा है। इसी से एक विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध की गई है। परंन्तु जब परमतत्त्व असङ्ग, निरवयव, निष्कल एवं सुख-दुःखमोहातीत है, तब उसमें सकल सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च की स्थिति कैसे हो सकती है? प्रपञ्चातीत परमतत्त्व के निरवयव एवं असङ्ग होने से ही कार्यकारण भाव की भी सङ्गति नहीं होती। निरवयव तथा निर्गुण निष्क्रिय होने के कारण संयोग-सम्बन्ध एवं समवाय-सम्बन्ध भी प्रपञ्च के साथ नहीं हो सकता। अतः केवल दर्पण में प्रतिबिम्ब, एवं रज्जु में सर्प की तरह ब्रह्म में प्रपञ्च का आध्यासिक सम्बन्ध ही कहा जा सकता है।

ब्रह्म में आध्यासिक सम्बन्ध मानने से प्रपञ्च का जब मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है, तो ऐसी स्थिति में एक के विज्ञान में सर्व के विज्ञान का कैसे समर्थन किया जा सकता है? जैसे रज्जु-

ज्ञान में सर्प का 'बाध' कहा जाता है 'विज्ञान' नहीं, वैसे ही ब्रह्म के विज्ञान में सर्व-पद से विवक्षित प्रपञ्च बाधित या मिथ्या हो जाता है। अतः जिस ब्रह्म का विज्ञान होने में प्रपञ्च का बाध होना निश्चित है, उस ब्रह्म के ज्ञान में सर्व प्रपञ्च का विज्ञान कैसे कहा जा सकता है? तथापि यहाँ श्रुति का आशय गम्भीर है। जैसे 'शत्रु-गृह' का भोजन करूँ या न करूँ? बालक के ऐसे प्रश्न पर जननी कहती है 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य का उत्तान अर्थ यही है कि "विष खा" परन्तु क्या पुत्रवत्सला जननी अपने शिशु को विप-भोजन का आदेश दे सकती है? यदि नहीं, तो यही कहना होगा कि इस वाक्य का अभिप्राय शत्रु-गृह-भोजन-निवृत्ति में है "शत्रुगृहभोजनाद्वरं विषभोजनं, अतो मा भुङ्क्ष्वेति।" ठीक वैसे ही भगवती श्रुति का परमात्म-विज्ञान से जड़ दुःखमय प्रपञ्च के निरर्थक विज्ञान के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं हो सकता, किन्तु मधुरतम भगवान् के ज्ञान से पहले यद्यपि सर्वपद वाच्य प्रपञ्च के बोध में कुछ पुरुषार्थ-बुद्धि होती है तथापि परमानन्द-स्वरूप भगवान् का बोध होने पर तो नीरस प्रपञ्च का बोध अत्यन्त निरर्थक हो जाता है। अतः अपुरुषार्थ होने से परमात्म-विज्ञान में सर्व-विज्ञान विवक्षित नहीं है, अपितु प्रपञ्च का बाध ही अनर्थ-निवृत्ति रूप होने से विवक्षित हो सकता है। पुत्र-वत्सला जननी की तरह परम हितैषिणी भगवती श्रुति यह समझकर कि प्रपञ्च विज्ञान के लिये व्यग्र जीव प्रपञ्चातीत ब्रह्मज्ञान के लिये कैसे प्रयत्नशील हो, ब्रह्म के विज्ञान में सर्व-विज्ञान का प्रलोभन

देकर अधिकारियों के हृदय में ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न करना चाहती है।

साधारणतया प्राणियों की उत्सुकता अनेक प्रकार के भूत भौतिक पदार्थों के विज्ञान में ही होती है। एक एक भौतिक भाव के जानने में बहुत धन, जन तथा शक्तियों का क्षय किया जाता है। नाना प्रकार के पार्थिव, आप्य, तैजस, विशिष्ट तत्त्वों का बोध होने पर भी अभी तक इयत्ता निश्चित नहीं हो सकी है। एक नगण्य तृण की भी समस्त विशेषताएँ क्या सहस्रों जीवन में भी जानी जा सकेंगी? तब भी पदार्थविज्ञान की उत्सुकता प्राणियों के हृदय से निकलती नहीं है। इस तरह निरर्थक पदार्थ-विज्ञान में उत्सुकता एवं आसक्ति और परम सार्थक भगवत्तत्त्व-विज्ञान से बहिर्मुख जीवों के हृदय में भगवत्तत्त्व-विविदिषा उत्पादन करने के लिये भगवती श्रुति कहती है कि "हे शिशुओ! यह तुम समझते ही हो कि जिन भौतिक तत्त्वों की विशेषताओं के जानने के लिये तुम व्यग्र हो, उनका सामस्त्येन बोध लक्ष कल्पों में भी होना कठिन है। अच्छा, यदि तुम्हें सर्व प्रपञ्च का ही तत्त्व जानना है तो तुम ब्रह्म का विज्ञान सम्पादन करो। बस, एक ब्रह्म के ही विज्ञान में सब का विज्ञान हो जायगा।" इस तरह सर्व विज्ञान के प्रलोभन में आकर यदि प्राणी ब्रह्म-विज्ञान के लिये उत्सुक हुआ और उसने उचित साधनानुष्ठानपूर्वक ब्रह्म का विज्ञान सम्पादन कर लिया, तब तो जिस प्रपञ्च-विज्ञान के लिये प्रथम वह अत्यन्त व्यग्र था, उत्सुक था, वही प्रपञ्च जब रज्जु-सर्प

के समान या स्वप्न की तरह बाधित हो जाता है, तब उसे निस्तत्त्व समझकर उस प्रपञ्च की जिज्ञासा ही प्रशान्त हो जाती है। जिज्ञासा-निवृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं। इस तरह ब्रह्म के विज्ञान में प्रपञ्च की जिज्ञासा का ही मिट जाना प्रपञ्च का विज्ञान है।

परमात्मतत्त्व से भिन्न यदि किसी भी तत्त्व का अस्तित्व है, तब तो उसकी जिज्ञासा भी अनिवार्य होगी। इसलिये अज्ञलोक-बुद्धि-सिद्ध प्रपञ्च की प्रसक्त निमित्त एवं उपादानरूप द्विविध कारणता भी परमतत्त्व में ही समर्थन की जाती है, क्योंकि केवल निमित्त या केवल उपादान के विज्ञान में सर्व का विज्ञान नहीं हो सकता। मृत्तिका के विज्ञान में घटादि मृण्मय पदार्थों का यद्यपि विज्ञान हो सकता है, तथापि निमित्त-कारणरूप दण्ड, कुलालादि का ज्ञान नहीं होता एवं दण्ड, कुलालादि के ज्ञान में मृत्तिका या उसके घटादि का ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में एक के विज्ञान में सर्व का विज्ञान तभी हो सकता है, जब एक ही परम तत्त्व समस्त प्रपञ्च का उपादान तथा निमित्त दोनों ही कारण हो। इसी लिये प्रपञ्च की—निमित्त, उपादान—उभय-कारणता परमात्मा में ही समर्थन की जाती है।

अधिष्ठान-स्वरूप परमात्मा के विज्ञान में जब प्रपञ्च-बुद्धि बाधित हो जाती है, तब उपादानता निमित्तता भी परमात्मा में बाधित हो जाती है। ऐसी स्थिति में कार्य-कारणातीत शुद्ध रूप की स्थिति होती है। प्रपञ्च के प्रतीति-काल में ही, तमः-प्रधान प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्द में उपादानता, और सत्त्व-प्रधान प्रकृति-युक्त

सच्चिदानन्द में निमित्तता उपपन्न होती है। तम आवरक है, अतः उससे सावरण सच्चिदानन्द में जड़ प्रपञ्च के अनुरूप जड़ता भासित होती है। प्रकाशात्मक सत्त्व के योग से निरावरण स्वप्रकाशात्मक सच्चिदानन्द में कुलालादि निमित्त-कारण के अनुरूप सर्व विज्ञान होता है। दोनों ही प्रकार की प्रकृति मूल प्रकृति के अन्तर्गत है, और मूल प्रकृति भी ब्रह्म में परिकल्पित है।

अधिष्ठान के बोध से प्रकृति तत्कार्यात्मक प्रपञ्च का बाध हो जाता है। भोग्य-वर्ग का बाध, स्वरूप से ही होता है। परन्तु भोक्तृवर्ग का बाध उपाधि तत्संसर्ग के बाधाभिप्राय से ही होता है। इसी अभिप्राय से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि स्थलों में "योऽयं स्थाणुः पुमानेषः" की तरह बाध-सामानाधिकरण्य से सर्व पदार्थ का ब्रह्म के साथ अभेद बोधन किया जाता है। और "तत्त्वमसि" इत्यादि स्थलों में "सोऽयं देवदत्तः" की तरह भाग-त्याग लक्षणा के द्वारा मुख्य सामानाधिकरण्य से 'त्वं' पदार्थ जीव का 'तत्' पदार्थ ब्रह्म के साथ अभेद बोधित होता है। 'त्वं' पदार्थ जीव के साथ अभेद बिना 'तत्' पदार्थ परमात्मा में निरतिशय, निरुपाधिक पर-प्रेमास्पदता, परमानन्दरूपता, स्वप्रकाशता आदि ही नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त सन्निहित है वही स्वतः अपरोक्ष अर्थात् अन्यनिरपेक्ष स्वप्रकाश होता है, और वही परम अन्तरङ्ग एवं अत्यन्त परिचित स्वप्रकाश होने के कारण निरतिशय प्रेम का आस्पद होता है। निरतिशय प्रेमास्पद ही परमानन्दरूप हुआ करता है।

यदि तत्पदार्थ परमात्मा जीव से भिन्न एवं तटस्थ हो तो उसमें उपर्युक्त सब बातें नहीं बन सकतीं। पृथिवी, आकाशादि बाह्य पदार्थ एवं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि आन्तर समस्त दृश्य पदार्थों का द्रष्टा सर्वप्रकाशक 'त्वं' पद लक्ष्यार्थ साक्षी ही होता है। अहंकार, बुद्धि आदि सभी उसकी अपेक्षा असन्निहित, बहिरंग, परतः-प्रकाश, सातिशय, सोपाधिक प्रेम के आस्पद ही हैं। 'त्वं' पद लक्ष्यार्थ सर्वद्रष्टा साक्षी ही सबसे अन्तरङ्ग सन्निहित है। जैसे अन्यान्य पदार्थ सूर्यादि प्रकाश सम्बन्ध से प्रकाशमान होते हैं, परन्तु सूर्यादि स्वतः-प्रकाशमान होते हैं, वैसे ही बुद्धि, अहंकारादि अन्यान्य दृश्य-पदार्थ इस साक्षी के सम्बन्ध से प्रकाशमान होते हैं, और यह साक्षी स्वतःप्रकाश होता है। यह "त्वं" पद लक्ष्यार्थ स्वात्मा ही सर्वान्तरङ्ग है। यहाँ ही परम-सान्निध्य का भी पर्यवसान होता है, क्योंकि अपने से परम-सन्निहित अपना अन्तरात्मा ही हो सकता है। अन्य पदार्थों में कुछ न कुछ देश, वस्तु आदि का व्यवधान रहने से पूर्ण सान्निध्य नहीं बन सकता। देह, इन्द्रियादि की अपेक्षा कुछ सन्निहित (समीप होनेवाले) मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञान, अज्ञान, सुखादिक भी अप्रकाशमान होकर नहीं रहते। किन्तु ये जब कभी रहते हैं तब स्वप्रकाश साक्षी के संसर्ग से भासमान होकर ही रहते हैं। सुख, दुःखादि हों और भासमान न हों, ऐसा कदापि नहीं होता, तब फिर अत्यन्त सन्निहित स्वान्तरात्मा अप्रकाशमान हो यह कैसे हो सकता है? "जो सर्व-द्रष्टा सर्व-भासक होता है, वह सदा सर्वदा अन्य प्रकाश से निरपेक्ष

स्वतःप्रकाशमान होता है" इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है कि जो सबको जाननेवाला है, उसे किससे जानें—"विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्" ?

यदि भगवान् ही प्रत्यगात्मरूप से भी विराजमान हैं, तब तो उनमें उक्त श्रुति के अनुसार स्वप्रकाशता बन सकती है। जो व्यवधान-रहित, अन्य प्रकाश-निरपेक्ष, स्वतः साक्षात् अपरोक्ष है वही ब्रह्म है "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"। अन्यथा कोई भी लक्षों जन्म की अनन्त तपस्याओं से भी अति दुर्गम परम-परोक्ष भगवान् में सर्वविज्ञातृता, अन्य-निरपेक्ष परम प्रकाशमानता कैसे सिद्ध कर सकता है? क्या कोई अत्यन्त परोक्ष तटस्थ परमेश्वर को साक्षात् अपरोक्ष कहने का साहस कर सकता है? यदि वह परमेश्वर सर्व-विज्ञातारूप साक्षात् अपरोक्ष हो, तो उसके विषय में अनेक प्रकार की अनुपपत्तियाँ एवं विप्रतिपत्तियाँ कैसे हो सकती हैं? जब इन्द्रिय मन आदि द्वारा पारम्परीण अपरोक्ष घटादि में भी संशय-विपर्ययादि नहीं होते, तब साक्षात् अपरोक्ष परमात्मा में संशयादि कैसे हो सकते हैं? फिर यदि वह साक्षात् अपरोक्ष है, तो उसके बोध के लिये श्रवण मननादि उपायोपदेश भी व्यर्थ हैं। क्योंकि अनुभव-विरोध स्पष्ट ही है। अतः यदि भगवान् में उक्त श्रुतियों के अनुसार साक्षादपरोक्षत्वरूप स्वप्रकाशता आदि का समर्थन करना है, तो अनिच्छयापि कहना पड़ेगा कि भगवान् ही सर्वप्रकाशक, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, प्रत्यगात्मा रूप से भी विराजमान हैं। उसी रूप से उनमें साक्षात् अपरोक्षता, स्वप्रकाशरूपता उपपन्न होती है।

इसी परम-सन्निहित स्वप्रकाश आत्मा में अध्यारोपित अपूर्णता अपरिच्छिन्नता आदि की निवृत्ति के लिये श्रवणादि भी सार्थक होते हैं। परोक्ष 'तत्पदार्थ' असन्निहित एवं परोक्ष होने के कारण प्रेमास्पद भी नहीं होता, क्योंकि सन्निहित एवं अपरोक्ष में ही निरतिशय प्रेम हो सकता है। इसलिये निरुपाधिक परमप्रेमास्पद आत्मा ही है। अतएव वही परमआनन्दरूप भी है। परोक्ष परमात्मा में स्वाभाविक निरुपाधिक निरतिशय प्रेम अत्यन्त अप्रसिद्ध एवं अनुभव से विरुद्ध है। परमात्मा में प्रेम और भक्ति की अभ्यर्थना की जाती है। "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।" "हे नाथ! जैसे अविवेकियों की विषयों में स्वाभाविक प्रीति होती है, वैसी ही आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदय में आपमें अटल प्रीति हो।" अतएव भगवती श्रुति ने भी प्रत्यगात्मा को ही सर्वाधिक प्रेम का विषय बतलाया है। देवताओं में भी प्रेम आत्म-कल्याण के लिये ही किया जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। परोक्ष तत्त्व प्रेम का आस्पद नहीं है, वह आनन्द या परमानन्द रूप कैसे हो सकता है? अतः जैसे स्वप्रकाशता परोक्ष परमात्मा में असङ्गत है, वैसे ही परप्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता भी असङ्गत है। इन उपर्युक्त हेतुओं से कहना पड़ता है कि वेदान्तवेद्य परात्पर पूर्णतम भगवान् सर्वान्तरतम सर्वप्रत्यगात्मा हैं। अतएव निरतिशय निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद एवं परमानन्दरूप हैं। आनन्द चैतन्य परम-सत्य भगवान् ही सर्वप्रत्यगात्मरूप से स्थित हैं।

अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुण-गण-निलय भगवान् ही सच्चिदानन्द रूप हैं।

समस्त गुण-गणों का पर्यवसान आनन्द में ही होता है, क्योंकि सर्व-गुणों का उपयोग अनर्थ-निबर्हण, सौख्यातिशय एवं महत्त्वातिशय के आधान में ही होता है। निरतिशय-सुखस्वरूप एवं निरतिशय-महान् भगवान् में सर्व गुणों की समाप्ति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि सौन्दर्य्य माधुर्य्यादि गुणसम्पन्न सगुण साकार भगवान् में ही आनन्द है। अदृश्य अग्राह्य अचिन्त्य निराकार निर्विकार परमात्मा पाषाणरूप है। उसमें सुख का लेश भी नहीं है। परन्तु यदि यहाँ विवेचन किया जाय तो यही विदित होता है कि जहाँ कहीं भी किसी प्रकार के सुख का स्वरूप होता है, वह सभी सुख निराकार ही है। कहीं भी सुख का स्वरूप नील, पीत, हरित या मूर्त नहीं देखा जाता है। चिरकाल के विप्रयोग से सन्तप्त कामुक अपनी प्रियतमा कान्ता के परिरम्भण से आनन्द का अनुभव करता है, उत्कट पिपासा एवं बुभुक्षा से परिपीड़ित पुरुष को शीतल, मधुर, सुगन्धित जल एवं सौगन्ध्य, सौरस्य, माधुर्य्य सम्पन्न पक्वान्न के मिलने पर आनन्द होता है। यहाँ विवेचन करना चाहिये कि यह जो आनन्द है उसका क्या रूप है। नील या पीत, लघु या गुरु, बृहत्परिमाण-परिमित या मध्यमपरिमाण-परिमित है? यहाँ यह कहना न होगा कि शीतल सुमधुर जल, पक्वान्न या कामिनी स्वयं आनन्दरूप नहीं है, क्योंकि बुभुक्षा, पिपासा तथा कामव्यथा विना कामिनी आदि में

आनन्द का गन्ध भी उपलब्ध नहीं होता। वह आनन्द सर्वत्र ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, अदृश्य तथा निराकार ही है।

प्रेमास्पद में प्रेम के उद्रेक से आनन्द का उद्रेक होता है। आनन्द के उद्रेक में आन्तर-बाह्य सर्व दृश्य जगत् का विस्मरण होता है। तभी चिरकाल-कामित कामिनी के परिरम्भणजन्य आनन्द के उद्रेक में आन्तर-बाह्य दृश्य का विस्मरण होता है। ऐसे ही सुषुप्ति-काल में प्राज्ञ परमात्मा के सम्मिलनजन्य आनन्द से प्रपञ्च का विस्मरण होता है। सप्रपञ्च ब्रह्म में सातिशय प्रेम होता है। अतएव वहाँ सातिशय आनन्द तथा प्रपञ्च-विस्मरण भी कुछ मात्रा में ही होता है। सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त भगवान् ही निरावरण होने के कारण निरतिशय प्रेम के आस्पद हैं। उन्हीं के सम्मिलन में निरतिशय आनन्द होता है, और तभी सम्पूर्ण रूप से सर्वदृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। अधिष्ठान साक्षात्कार द्वारा जब तक आवरण निवृत्ति नहीं होती, तब तक जीव को पूर्णरूपेण ब्रह्म का परिष्वंग नहीं होता। जितना व्यवधान-शून्य प्रियतम-परिष्वंग होता है, उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। सृष्टि या प्रबोध-काल में भोग्य और भोक्ता सभी अपने महाकारण से दूर हो जाते हैं। प्रलय तथा सुषुप्ति में वे सभी अपने कारण के सन्निधान में पहुँच जाते हैं।

यद्यपि जैसे तरङ्ग किसी अवस्था में भी सागर से वियुक्त नहीं होते, किन्तु सदा सागर के अंक में ही उनकी स्थिति होती है, महासागर से फेन, बुद्बुद, तरंग की तरह परमानन्दसुधासागर से उत्पन्न होनेवाले समस्त तत्त्वों की स्थिति प्रभु के मङ्गलमय श्री अङ्ग

में ही है, तथापि भ्रममूलक भेद और वियोग इतना स्पष्ट व्यक्त हो रहा है कि स्वाभाविक अभेद एवं सम्बन्ध अत्यन्त तिरोहित हो गया है। विस्मृत कण्ठमणि का अन्वेषण तथा महासागर के अन्तर्गत होनेवाले हिमउपल की पिपासा इस विषय के पोषक सुन्दर उदाहरण हैं। महाप्रलय के समय समस्त प्रपञ्च क्रमेण सबीज ब्रह्म में लीन होता है। समस्त वन, पर्वत, नगर, ग्रामादि पार्थिव प्रपञ्च पृथिवी में विलीन हो जाते हैं। पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में एवं वायु आकाश में लय हो जाता है। सृष्टिकाल में जैसे महाकारण, कार्योन्मुख विकसित होकर, सविशेषभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रलय काल में समस्त कार्य, कारणोन्मुख संकुचित होकर निर्विशेष भाव को प्राप्त होता है।

तन्तु में अङ्ग, प्रावरण-शीतापनयनादि कार्य-करण-क्षमता नहीं होती; परन्तु पट में होती है यद्यपि वह तन्तुओं से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर केवल आतानवितानात्मक तन्तुरूप ही है। तथापि उसमें अङ्ग आवरण तथा शीतापनयन करने का सामर्थ्य होता है। तन्तु में वह सामर्थ्य नहीं है वैसे ही घट में जलानयन करने का सामर्थ्य है, किन्तु मृत्तिका में नहीं। मृत्तिका जलानयन कर्तृत्व विशेष रहित होने से निर्विशेष है। घट जलानयन कर्तृत्व युक्त होने से सविशेष होता है। पट में शीतापनयन कार्य-कारितारूप विशेष है। अतः वह सविशेष है। तन्तु उससे हीन होने के कारण निर्विशेष है। यद्यपि विवेचन करने पर उपादान कारण से भिन्न कार्य कुछ होता नहीं, तथापि कारण की अपेक्षा कार्य में कुछ अनिर्वचनीय विल-

क्षणता अवश्य होती है। मृत्तिका घट-रूप में व्यक्त होकर सविशेष होती है। घट के मृत्तिका में लीन होने पर घट की अपेक्षा वह निर्विशेष और मृत्तिका की अपेक्षा घट सविशेष होता है। जल निर्गन्ध है पर उसका कार्य पृथिवी गन्धवती है। नीरस तेज से रसवान् जल, एवं नीरूप वायु से रूपयुक्त तेज की उत्पत्ति होती है। कारण की अपेक्षा कार्य सविशेष एवं कार्य की अपेक्षा कारण निर्विशेष होता है। आकाश में शब्द होता है। आकाश को भी 'अहंतत्त्व' (अहंकार) में एवं अहंकार को 'महत्तत्त्व' (समष्टिज्ञान) में, 'महत्तत्त्व' को 'अव्यक्त' में लय चिन्तन करने से अत्यन्त निर्विशेषता होती है। महानिद्रा, तम, सुषुप्ति में सर्वदृश्य का परमात्मा में लय होता है। सुषुप्ति या प्रलय में जिस भगवत्स्वरूप में सर्व भोग्य एवं भोक्ता का लय होता है, वह भी विश्वशक्ति-विशिष्ट ही है। यहाँ सबीज ब्रह्म में ही सबीज प्रपञ्च का विलयन होता है। अतएव पार्थक्य भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान ही रहता है।

क्षीर-नीर के सम्मिश्रण में एकता सी हो जाती है, परन्तु वस्तुतः क्षीर-नीर के अवयव पृथक् पृथक् ही रहते हैं। इसी लिये हंस उनका विवेचन कर लेता है। महासमुद्र में नाना निर्झर-निर्झरिणी एवं महानदियों का संगम होता है। स्थूलदर्शियों की दृष्टि में यद्यपि समुद्र के साथ सबकी एकता हो जाती है, परन्तु अभिज्ञ जन समझते हैं कि महासमुद्र में सभी निर्झर, सरिताओं के जल पृथक् पृथक् विद्यमान हैं। सर्वज्ञ-कल्प योगिजन एवं सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् उन सबका विवेचन एवं पृथक्करण कर

सकते हैं। ठीक इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्ड-जननी महाशक्ति-विशिष्ट भगवान् में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं तदन्तर्गत अनन्त जीव, तथा उनके अनन्त कर्म और सभी भोग्य प्रपञ्च विलीन होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दशा में पहुँचने के कारण यद्यपि जीवों के लिये उनका विवेचन एवं पृथक्करण अशक्य है, तथापि सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् सभी का विवेचन एवं पृथक्करण कर सकते हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त जीव, एवं उनके अनन्त कर्मों तथा उनके फलों को जानकर यथायोग्य विवेचन, नियोजन, यही परमेश्वर का विशेष कार्य है। किन किन ब्रह्माण्डों के, किन किन जीवों के, किन किन जन्मों के, किन किन कर्मों का फल किन किन देशों एवं कालों में, किस तरह प्रदान करना चाहिये, यह ज्ञान, कर्म एवं जीव इन दोनों ही के लिये अशक्य है। न तो कर्म ही अपने अनन्त स्वरूपों एवं फलों को जान सकते हैं और न जीवों को ही अनन्त कर्म एवं तत्फलों का ज्ञान है। यदि हो भी तो फल सम्पादन की शक्ति नहीं है। क्योंकि परमेश्वर के सिवा सभी की शक्तियाँ क्षुद्र ही हैं। यदि जीव को कर्म एवं उनके फलों का ज्ञान तथा फल-सम्पादन की शक्ति भी हो, तो भी जीव अपने शुभ कर्मों के शुभ फलों के ही सम्पादन में रुचि रख सकता है। अशुभ कर्म एवं तत्फलों के सम्पादन में उसकी कथमपि रुचि एवं प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् भगवान् के बिना अन्यत्र सर्व ब्रह्माण्डान्तर्गत सर्व जीव तथा उनके कर्म तथा फलों का ज्ञान और कर्म-फलदान की शक्ति का होना असम्भव है।

इस तरह अविद्या, काम, कर्मविशिष्ट जीव का ही सुषुप्ति अवस्था में सबीज ब्रह्म के साथ सायुज्य (एकता) होता है। ब्रह्म-सम्मिलन में जीव को अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु सुषुप्ति में सावरण जीव का सावरण ब्रह्म के साथ सम्मिलन होता है, इसलिये व्यवधान का अवशेष रहता है। व्यवधान-रहित ब्रह्म-सम्मिलन तो तभी हो सकता है जब जीव स्वयं निरावरण होकर निरावरण ब्रह्म के साथ सम्मिलन प्राप्त करे। इस आवरणनिवृत्ति के लिये स्वधर्मानुष्ठान, भगवदाराधन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अधिष्ठानभूत भगवान् का साक्षात्कार किया जाता है। अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति से ही जीव को व्यवधान-शून्य ब्रह्म का सम्मिलन प्राप्त होता है। जिस समय श्री कृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हस्तिनापुर से श्री द्वारिका पधारे, उस समय प्रोषितभर्तृका द्वारिकास्थ श्रीकृष्णपट्टमहिषीगण प्रियतम का आगमन सुनकर प्रिय-सम्मिलन के लिये आसन से एवं आशय से उठीं 'उत्तस्थुरारात्सहसासनाऽशयात्'। यहाँ देशकृत व्यवधान निराकरण के लिये श्रीकृष्ण-प्रेयसीवर्ग का आसन से अभ्युत्थान हुआ। वस्तु-कृत व्यवधान के निवारण के लिये आशय से अभ्युत्थान है "आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः"। आशय शब्द से अन्तःकरण विवक्षित है, जो कि समस्त कर्मवासनाओं का आलय है। आशय भी पञ्चकोश का उपलक्षण है, अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेयसी आशयोपलक्षित पञ्चकोश कञ्चुक से समावृत स्वरूप से प्रिय-सम्मिलन में त्रुटि समझ कर पञ्चकोश कञ्चुक से पृथक् होकर निरावरण रूप से प्रियतम-सम्मिलन के लिये

उठीं। यहाँ पञ्चकोशातीत 'त्वंपदलक्ष्यार्थ' ही जीव का निजी शुद्ध स्वरूप है और 'तत्पदलक्ष्यार्थ' व्यापक महाचेतन ही उसका अंशी है। अंश और अंशी का मुख्य सम्बन्ध होता है। जैसे पृथ्वी का अंश लोष्ठ या पाषाण आदि पृथ्वी की ओर आकर्षित होता है, वैसे ही परमात्मा के अंश जीवों का भी उस ओर आकर्षण होता है। जिनके मत में चन्द्र का शतांश बृहस्पति नक्षत्र है, इस प्रकार का केवल औपचारिक अंशांशिभाव है, उनका आकर्षण भले ही न हो, पर यहाँ तो श्रीकृष्ण-प्रेयसी-गण पञ्चकोश-कञ्चुक से निरावरण होकर व्यवधान-शून्य प्रियतम-सम्मिलन के लिये ही आशय से अभ्युत्थित हुई। उन्होंने यह समझा कि जब प्रियतम-व्यवधायक आनन्दोद्रेक-जन्य रोमाञ्च की उद्गति भी असह्य है, तब पञ्चकोश कञ्चुक का व्यवधान कैसे सह्य हो सकता है। इस तरह प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार होने पर ही अज्ञान एवं तत्कार्य-रूप व्यवधायक आवरण की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। निरतिशय परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मा के साथ एकता होने से तत्पदार्थ परमात्मा में भी निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पदता व्यक्त होती है और साक्षात् अपरोक्षता परमानन्दरूपता भी स्फुट होती है। इसके विपरीत परमात्मा को प्रत्यक् भिन्न पराक् बहिरङ्ग मानने से स्वयंप्रकाशता, परप्रेमास्पदता तथा परमानन्दास्पदता किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकती। अतः साधक को अपने भगवान् की पूर्णता, परमानन्दता आदि सिद्धि के लिये स्वात्म-समर्पण करना ही पड़ता है।

अनात्मज्ञ प्रत्यगात्मा से भिन्न अन्यान्य समस्त प्रपञ्चों का भगवान् में समर्पण करता है, परन्तु प्रत्यगात्मा का अस्तित्व पृथक् रखता है। आत्मज्ञ प्रियतम के सब प्रकार के परिच्छेद से शून्य पूर्णता की सिद्धि के लिये प्रत्यगात्मा को भी भगवान् में समर्पित कर देता है। जैसे घटाकाश अपने आपको महाकाश में, किंवा तरङ्ग अपने आपको महासमुद्र में समर्पण करता है, वैसे ही जीवात्मा अपने आपको भगवान् में समर्पण कर देता है। यही "मामेकं शरणं व्रज" आदि भगवदादेश का पालन है। "मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु। यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशः तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः।" यही निर्विकार अद्वैत चिदात्मा परम तात्त्विक है। इससे भिन्न समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च अतात्त्विक असत् है, अतएव गीता ने देहात्मज्ञान, भेदज्ञान, ऐकात्म्यज्ञान इत्यादि भेद से तामस, राजस, सात्त्विक विविध ज्ञान का वर्णन किया है।

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्॥"

जिस शास्त्र तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञान से परस्पर विभक्त समस्त भूतों में एक त्रिकालाबाध्य, अव्यय, अधिष्ठान-स्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है, वही सात्त्विक ज्ञान है। जैसे कटक, मुकुट, कुण्डलादि नाना नामरूप-वाले अलंकारों में सुवर्ण, किंवा सर्प, धारा, माला आदि विकल्पनाओं में अधिष्ठान रज्जुखण्ड ही विद्यमान है, वैसे ही अत्यन्त विषम

६

प्रपञ्च में अधिष्ठानरूप से एक स्वप्रकाश सदानन्द परमात्मा विराजमान है। यही अद्वैत ब्रह्मवाद गीतोक्त सात्त्विक ज्ञान है। यही "ब्रह्मैवेदं सर्वं, आत्मैवेद सर्वं" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है। "पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं राजस स्मृतम् ॥" जिस भिन्न भिन्न पदार्थ-विषयक ज्ञान से पृथक् प्रकार के नाना भाव जाने जाते हैं, वह राजस ज्ञान है। यह भेद-ब्रह्मज्ञान गीतोक्त राजस ज्ञान है। "सर्वं परस्परं भिन्नं" यह ज्ञान श्रुति में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

"यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तज्ज्ञानं तामसं स्मृतम् ॥"

देहादि कार्य्य में ही आसक्त अतत्त्वार्थ-विषयक ज्ञान तामस ज्ञान होता है। श्रीमद्भागवत में भी सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद-रहित, स्वप्रकाश, नित्य-विज्ञान को ही तत्त्व कहा है।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥"

अद्वय ज्ञान को ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसी को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ ब्रह्म से परमात्मा में और उससे भगवान् में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण की सभा में बैठे हुए यादवों ने आकाश-मार्ग से आते हुए देवर्षि श्री नारदजी को प्रथम केवल तेजः-पुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आने पर कोई देहधारी समझा और

अधिक समीप होने पर पुरुष एवं सर्वथा सान्निध्य में श्री नारद समझा।

"चयस्त्विषामित्यवधारितम्पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"

ठीक उसी तरह तत्त्व से अति दूर स्थित अधिकारी को प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्म का बोध होता है, कुछ सामीप्य होने पर योगियों को कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सान्निध्य होने पर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान् के रूप में तत्त्व का उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगों में ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्ण को आदित्यस्थानीय और ब्रह्म को प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्री वृषभानुकिशोरी के नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाश को ही औपनिषद् परब्रह्म कहते हैं। परन्तु वैदिकों की दृष्टि में तो वेदों का महान् तात्पर्य्य ब्रह्म ही में है और वही सब तरह से सर्वोत्कृष्ट है।

संकोच का कारण न होने से वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश काल वस्तु परिच्छेद वाला हो वह तो परिच्छिन्न होने के कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ हो तो भी दृश्य होने से अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश सदानन्द तत्त्व ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभी को अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पद के साथ पठित 'ब्रह्म' शब्द का तो सुतरां यही अर्थ है। उसमें

अतिशयता की कल्पना निर्मूल है। किसी राजा ने ऐसी कहानी सुनना चाहा कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुर ने सुनाना प्रारम्भ किया। राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओं में अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओं में भी अनन्त पल्लव थे और उन पर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ काल में एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजा ने कहा आगे कहिये, इस पर उसने कहा 'दूसरा उड़ा फुर्र'। तब राजा ने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुर ने कहा कि पहले पक्षियों का उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ। यहाँ एक एक पक्षी का उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओं का अन्त ही नहीं है। अतः एक शब्द में यही कहा जाता है कि अतिशयता की कल्पना करते करते वाचस्पति तथा प्रजापति की भी मति जब विरत हो जाय, और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्द-घन, भगवान् को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसी का 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि व्याससूत्रों से विचार किया गया है।

प्रकाश की अपेक्षा आदित्य में जिस अतिशयता की कल्पना की जाती है, उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयता की कल्पना के पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय सर्व बृहत् पदार्थ की सिद्धि हो, उसमें भी देश काल वस्तु के परिच्छेदों को मिटाकर, परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणों का अत्यन्ताभाव सम्पादन करके, तब उसे ब्रह्म शब्द का अर्थ जानना चाहिये। इसी को "तत्त्व" कहा जाता

है। इसका ही लक्षण है—"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्" इसी का नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षण के भेद से लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेद से नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्व घट का एक लक्षण है। अतएव घट कुम्भ कलशादि नाम से उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्य ब्रह्म, कारण ब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध-ब्रह्मरूप भगवान् के प्रकाशस्थान में कार्यब्रह्म या कारण-ब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान् का धाम है। यद्यपि धाम का अर्थ ऐसे स्थलों में स्वरूपभूत आत्म-ज्योति का ही बोधक होता है 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।' हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं। तथापि कुछ अविवेकियों की यही अटल धारणा है कि धाम के माने निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्त-रूप कारण-ब्रह्म को ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्य-कारणातीत तत्त्व तक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्म को धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियों को इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्म के ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्म के ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होने के कारण इसे सर्वधाम, सर्वनिवासस्थान भी कहें, तो भी

कोई हानि नहीं। इसी अंश का स्पष्टीकरण भागवत के इन पद्यों में किया गया है।

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥"

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्त जनों को अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपञ्चरूप से भासित होता है।

——

२

निर्गुण या सगुण ?

श्री भगवान् के स्वरूप में अन्तरात्मा और अन्तःकरण के आकर्षित हो जाने पर सहज ही में प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अखण्डानन्द स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। श्री कपिलदेवजी ने अपनी माँ श्री देवहूतिजी को प्रथम असंग, अनन्त, निराकार, निर्गुण परम तत्त्व का सम्यक् उपदेश करने के अनन्तर उसमें स्थिति के लिये सगुण स्वरूप का वर्णन करके उसके ध्यान की परमावश्यकता बतलाई है। अति मधुर सुन्दर भगवान् के स्वरूप में चित्त जैसे जैसे अधिक आकर्षित होता है वैसे ही वैसे उसकी निर्मलता और स्वच्छता बढ़ती है एवं चित्त के अधिकाधिक स्वच्छ होने पर प्रभु-स्वरूप में चित्त की और अधिक आसक्ति होती है। जैसे अयस्कान्त मणि (चुंबक) में स्वच्छ लौह का अत्यधिक आकर्षण होता है, वैसे ही अमलान्तरात्मा का भगवत्स्वरूप में अत्यधिक आकर्षण होता है। प्रेमानन्द के उद्रेक में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सर्वाङ्ग का शैथिल्य तथा नैश्चल्य हो जाता है। लौकिक-प्रेम में भी वाङ्निरोध, कण्ठावरोध आदि देखा ही जाता है। फिर अलौकिक भगवान् के प्रेमानन्द में सर्वकरण-शैथिल्य तथा नैश्चल्य होना भी श्री भरत और राम के सम्मिलन में प्रसिद्ध ही है।

"मिलेउ प्रेम पूरण दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

प्रेम भरा मन निज गति छूछा।
कोउ कछु कहै न कोउ कछु पूछा।।"

इस तरह भगवान् के मधुर मुखचन्द्र तथा श्रीचरणारविन्द की दिव्य नखमणि-चन्द्रिकाओं में मन को एकाग्र करने से मन भी प्रेमोन्माद में विह्वल हो उठता है। प्रथम वाह्य-विषयों से मन को हटाकर अनन्त-कोटि सूर्य के दिव्य-प्रकाश को तिरोहित करनेवाले श्री भगवान् के परम प्रकाशमय मनोहर श्रीअङ्ग और दिव्यातिदिव्य भूषण वसन तथा साङ्गोपाङ्ग परिकरादि का चिन्तन किया जाता है। पश्चात् प्रेम और अनुराग की वृद्धि में श्रीचरणारविन्द या अमृतमय मुखचन्द्र में ही मन की एकाग्रता सम्पादन की जाती है। प्रेम प्राखर्य्य में मन की इतनी शिथिलता होती है, कि परम-मधुर भगवान् से भिन्न वस्तु के चिन्तन की तो चर्चा ही क्या? साक्षात् श्री भगवान् के अनन्त कोटि चन्द्रसागर-सार-सर्वस्व निष्कलंक पूर्णचन्द्र की मधुर दीप्ति को लजानेवाले सुस्मित मुखचन्द्र को ग्रहण करने में भी वह असमर्थ हो जाता है। इस तरह सर्व प्रपञ्चों से हटकर अपने ध्येय में स्थित मन को जब ध्येय-ग्रहण में भी सामर्थ्य न रहा, तब जो वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्द भगवान् अभी तक ध्येयरूप में स्थित थे, वही अब ध्येय-ध्यान-ध्याता और उन तीनों के अभाव के प्रकाशकरूप से अभिव्यक्त होते हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियों का ऐसा स्वभाव है कि इनमें एक के मिटने से तीनों ही मिट जाते हैं।

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयन्तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥"

ध्येय न रहने पर ध्यान भी नहीं रहता, क्योंकि ध्येयाकार मानसी वृत्ति को ही ध्यान कहा जाता है और ध्यानरूपा वृत्ति के आश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही ध्याता कहा जाता है। अतः जब ध्यान नहीं तब ध्यान का आश्रयभूत ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता है और ध्याता तथा ध्यान के न होने पर ध्याता के ध्यान का विषयीभूत ध्येय भी कैसे उपलब्ध हो सकता है। इस तरह जो सर्वावभासक भगवान् अभी,ध्येय-रूप से स्थित थे वे ही किसी समय के सर्वभावभासक तथा इस समय सर्वाभाव के भासक रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस तरह प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के माधुर्यामृत सौन्दर्य्यामृत पान से उन्मत्त मन की शिथिलता और निश्चलता होते ही ध्यान-ध्येय-ध्याता के भाव तथा अभाव के भासक शुद्ध प्रत्यङ्ङन्तरात्मा स्वरूप से अनन्त अखण्ड व्यापक आनन्दघन भगवान् प्रकट हो जाते हैं। इस तरह सहज ही में भगवान् अपने ही मधुर स्वरूप में मन को खींचकर और अपने माधुर्य्य सौन्दर्यामृत पान से मन को विभोर कर, त्रिपुटी मिटाकर, सर्वाभावभासक शुद्ध सच्चिदानन्दरूप में प्रकट होकर भक्त को सदा के लिये कृतार्थ कर देते हैं।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भी विराट् आदि भगवान् के स्थूलरूप के ध्यान के अनन्तर अनन्त कोटि ब्रह्मांड-नायक प्रभु की मधुर मङ्गलमयी मूर्ति का ध्यान बताया गया है। ध्यान से

चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर भगवान् के अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश बोधस्वरूप का साक्षात्कार कहा गया है। उक्त स्वरूप में दृढ़ निष्ठा के लिये पुनः पुनः भगवान् के मधुर स्वरूप के श्रीचरणों का पुनः पुनः ध्यान और अनुराग सहित परिरम्भण कहा गया है "हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे।" भगवान् के अचिन्त्य, अनन्त, मधुर मङ्गलमय-स्वरूप में प्रेम और भजन सर्वसाधन तथा सर्वफल स्वरूप है। अतएव इसमें साधक तथा सिद्ध दोनों की ही प्रवृत्ति होती है—

"साधन सिद्धि रामपद नेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू॥"

प्रभु के श्रीचरणारविन्द-सौगंध्यामृत- सिन्धु के एक बिन्दु के समास्वादन करने से सनकादिक शुकादिक जैसे ब्रह्मनिष्ठ महा-मुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

अतएव श्रीजनकजी जैसे विदेह तत्त्वनिष्ठों की यह अनु-भूतियाँ हैं—

"इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म-सुखहिं मन त्यागा॥
सहज विराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥"

ठीक ही है, तभी तो कहा जाता है कि अमलान्तरात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को ही भक्तियोग विधान करने के लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् अद्भुत सौंदर्य्य माधुर्य्य सुधाजलनिधि दिव्यमूर्ति धारण करते हैं। अन्यथा छोटे कार्यों के लिये ब्रह्म का अवतार वैसा ही है जैसा मच्छर हटाने के लिये तोप का प्रयोग। परन्तु समस्त नामरूप-क्रियात्मक प्रपञ्च से व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसों को भजनानन्द प्रदान करने के लिये प्रभु का दिव्य स्वरूप धारण परमावश्यक है।

अद्वैत-ब्रह्मनिष्ठ परमहंसों को भक्तियोग प्रदान कर उन्हें श्री परमहंस बनाना यही प्रभु के प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीर का हंस विवेचन करता है. वैसे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति प्राकृत-प्रपञ्च से पृथक्, असङ्ग अनन्त चेतनतत्त्व का विवेचन करनेवाले हंस कहे जा सकते हैं। परन्तु वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार तो दृक्, दृश्य, आत्मा, अनात्मा या परात्पर पूर्णतम सर्वभासक भगवान् और प्रकृति प्राकृत-प्रपञ्च का ऐसा सम्बन्ध है जैसे मुक्ताहार और उसमें कल्पित सर्प का। अर्थात् सत्य एवं अनृत का जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान् का आध्यासिक सम्बन्ध है। अतः सत्य एवं अनृत के विवेचन से जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृत का सर्वथा अभाव हो जाता है, वैसे ही दृक्-दृश्य का भी विवेचन करने पर अनृतस्वरूप दृश्य प्रकृति का अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् का अव-

शेष रह जाता है। ऐसे वेदान्तसिद्धान्तानुसार सत्यानृत-रूप क्षीर-नीर का विवेचनकर नीरस्थानीय दृश्य को मिटाकर परम सत्य भगवान् में ही स्थित होनेवाले परमहंस कहे जा सकते हैं। परन्तु "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्", "रामप्रेम बिनु सोह न ज्ञाना" इत्यादि अभियुक्तोक्तियों के अनुसार विदित होता है कि बिना भगवान् के मधुर मङ्गलमय स्वरूप में पूर्णानुराग हुए उच्च ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता। अतः भक्ति-योग से ज्ञान को सुशोभित करके परमहंसों को श्री परमहंस बना देना ही प्रभु के मधुर मङ्गलमय स्वरूप धारण करने का मुख्य प्रयोजन है, क्योंकि भजनीय के बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्व से भिन्न प्रपञ्च जिनकी दृष्टि में है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान् के और क्या हो सकता है।

रहा भगवान् का अचिन्त्य अनन्त अव्यपदेश्य निराकार स्वरूप, सो उस स्वरूप में तो वे परिनिष्ठित ही हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्मा-कार वृत्ति के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध जानकर मन बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम रोम भी प्रभु के साथ सम्बन्ध के लिये लालायित होते हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भू से पराङ्मुख रची जाकर अपना हिंसन किया जाना इसी लिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतम से बहिर्मुख कर दिया गया है "पराञ्चि खानि व्यतृ-णत्स्वयम्भूः"। महर्षि वाल्मीकि आदि कवि भी यही कहते हैं कि जिसने श्रीरामचन्द्र को स्नेह भरी दृष्टि से नहीं देखा और श्री रामचन्द्र ने अनुकम्पा भरी दृष्टि से जिसे नहीं देखा, वह

सर्वलोक में निन्दित है, और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा करती है।

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हति।"

जैसे कमलनयन पुरुष के वे अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, जिनका रूप-दर्शन में कभी उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानी के भी प्रारब्ध-भोग पर्य्यन्त अनिवार्य्य-रूप से रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि व्यर्थ और नीरस ही हैं, यदि इन सबका सदुपयोग प्रभु के सौन्दर्य्य, माधुर्य्य सौरस्यामृत आदि के समास्वादन में न हुआ।

इसी लिये श्री व्रजाङ्गनाओं ने भी कहा है कि नेत्रवानों के नेत्रादि करण-ग्रामों की सार्थकता और इनका चरम-फल यही है कि श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अनुराग भरे कटाक्षपात से युक्त वेणु-चुम्बित अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्यमाधुर्य्यामृत का निर्निमेष-नयनों से पान किया जाय; घ्राण से सौगन्ध्यामृत और त्वक् से सुस्पर्शामृत का आस्वादन किया जाय। अन्यथा इन करणग्रामों का होना बिलकुल व्यर्थ ही है—"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः"। इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम रोम को अपने दिव्यरस से सरस और मङ्गलमय बनाने के लिये ज्ञानी के निर्वृत्तिक मन पर अविषय रूप से प्रकट वही वेदान्त-वेद्य सच्चिदानन्दघन भगवान्, अनन्तकोटि कन्दर्प के दर्प को दूर करनेवाले दिव्य-सौन्दर्य्य-माधुर्य-जलनिधि मधुरातिमधुर-स्वरूप से प्रकट

होकर अपने स्नेह द्वारा भावुक के द्रवीभूत अन्तःकरण को अपने रङ्ग में रँग देते हैं। यद्यपि सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्द रूप है, उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता की कल्पना कहीं नहीं हो सकती; तथापि जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तब तक ज्ञानी को भी अन्तःकरणरूप उपाधि पर ही ब्रह्म का दर्शन होता है। अन्तःकरण से ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये जैसे नेत्र से सूर्य्यदर्शन। परन्तु जैसे दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से नेत्र द्वारा सूर्य्य का अति दिव्य स्पष्ट स्वरूप दिखाई देता है, वैसे ही दिव्य-लीला-शक्ति से वही भगवत्तत्त्व जब परम मनोहर सगुण-रूप में प्रकट होता है तब अन्तःकरण से उसमें विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है।

परन्तु प्रारब्ध-क्षय हो जाने, सर्वोपाधियों के मिटने तथा साक्षात् सूर्य्य-रूप हो जाने पर जो सूर्य्य को आत्मरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्री वृषभानुनन्दिनी दर्पण में अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा का अनुभव करती हैं। अस्वच्छ दर्पण आदि की अपेक्षा स्वच्छ आदर्श पर किंवा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर उन्हें अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा अधिक भासित होती है, परन्तु उनके मुखचन्द्र का जो मुख्य माधुर्य्य है वह तो उनके अन्तरात्मभूत प्रियतम श्रीकृष्ण को ही विदित हो सकता है। किञ्चित् भी व्यवधान रहने पर रसास्वादन में कमी ही रहती है, अतएव भावुकों का कहना है कि यदि मधुर रूप में ही चक्षु हो तभी रूप-माधुर्य्य का और यदि पुष्प ही में घ्राण हो,

तब ठीक सौगन्ध्य का आस्वादन हो सकता है। यह बात तो ठीक यहीं घटती है कि परमानन्द-सारसर्वस्व श्रीकृष्ण ही अपनी मधुरिमा (माधुर्य्याधिष्ठात्री श्री वृषभानुनन्दिनी) का अनुभव करते हैं। वैसे ही काल्पनिक भेद से ज्ञानी अपने स्वरूपभूत भगवान् के मधुर-रूप का अनुभव करते हैं। यद्यपि वस्तु वही है, तथापि अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के अद्भुत प्रभाव से ज्ञानियों का भी मन प्रभु के इस मधुर स्वरूप में बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, वीज यद्यपि भूमि के ही स्वरूप-विशेष हैं तथापि फल में भूमि, बीज, अङ्कुर, वृक्ष इन सभी की अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य्य माधुर्य्य सौगन्ध्य सौरस्य होता है। एवं गुलाब के बीज या नाल में जैसे शाखा उपशाखा कण्टक पत्र आदिकों की उत्पादन करने की शक्ति है, वैसे ही पुष्प के उत्पादन करने की शक्ति है। परन्तु कण्टकादि-उत्पादिनी शक्ति की अपेक्षा सौगन्ध्य-माधुर्य्य-सौन्दर्य्य-सम्पन्न पुष्प उत्पादन करने की शक्ति विलक्षण है वैसे ही भगवान् की महाशक्ति में भी प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है और उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान् की स्वरूपभूत मधुर मनोहर मङ्गलमयी मूर्ति का प्रादुर्भाव करनेवाली शक्ति भी है। उसी अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के योग से निराकार भगवान् उसी तरह साकार होते हैं, जैसे शैत्य के योग से निर्मल जल बर्फ रूप में, अथवा संघर्ष-विशेष से अव्यक्त अग्नि या विद्युत् दाहक और प्रकाशक रूप में व्यक्त होता है। निराकार ब्रह्म की अपेक्षा भी भगवान् की मधुर मूर्ति में वैसे ही चमत्कार भासित होता है।

इक्षु (ईख) दण्ड और चन्दन-वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं। यदि कदाचित् इक्षु में सुमधुर फल और चन्दन-वृक्ष में अति-सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हो तो उनकी मधुरता और सौगन्ध्य की जितनी हीं बड़ाई की जाय उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दु का उद्गमस्थान अचिन्त्य अनन्त परमानन्दघन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है। फिर उसके फलरूप मधुर मङ्गल स्वरूप में कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षुरससार शर्करासिता आदि का सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद परब्रह्म-रससार भगवान् का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है। तभी किसी ने श्रीकृष्ण को देख कर कल्पना की थी कि क्या यह श्री व्रजाङ्गनाओं का प्रेमरससार-समूह है, अथवा सात्वतवृन्द का मूर्तिमान् सौभाग्य है, किंवा श्रुतियों का गुप्तवित्त ब्रह्म ही श्यामल मोहमयी मूर्ति को धारण करके प्रकट हुआ है—

"पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥"

इसी तरह—

"शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥
परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥"

कुछ महानुभाव निगमाटवी के ब्रह्मतत्त्वान्वेषकों के परिश्रम पर दयार्द्र होकर उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्म को यशोदा के उलूखल में बँधा हुआ बतला रहे हैं, तो कुछ श्रीमन्नन्दराय के प्राङ्गण में धूलि-धूसरित वेदान्तसिद्धान्त के नृत्य का कौतुक बता रहे हैं। परम कौतुकी प्रभु में ये सभी कौतुक ही तो हैं। इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं, परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु की लीला से निराकार जीव साकार होता है, क्योंकि सर्वमत से जीव निराकार तथा निरवयव है और स्पर्शविहीन आकाश, स्पर्श-युक्त वायु के रूप में तथा रूपरहित वायु रूपवान् तेज के रूप में, और रस-गन्धविहीन तेज जल के रूप में, और रसयुक्त जल गन्धवती पृथ्वीरूप में अवतीर्ण होता है तब क्या वे निरा-कार होकर भी साकार रूप में प्रकट नहीं हो सकते ?

भावुक के द्रुतचित्त पर निखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् का प्राकट्य ही 'भक्ति' पद का अर्थ होता है। आशय यह है कि अन्तःकरण लाक्षा (लाख) के समान कठिन द्रव्य है, परन्तु तापक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से जैसे लाक्षा पिघलती है, वैसे ही स्नेह रागादि तापक भावों के साथ सम्बन्ध होने से अन्तः-करण भी पिघलता है। यही कारण है कि रागास्पद कामिनी तथा द्वेषास्पद सर्पादि पदार्थों को ग्रहण करता हुआ, चित्त पिघल कर अपने में उन पदार्थों के स्वरूपों को अंकित कर लेता है। इसी लिये उनका विस्मरण न होकर पुनः पुनः स्मरण होता है। उसे

तृण आदिकों की स्मृति इसी लिये कम होती है कि उनमें राग द्वेष या भय आदि नहीं हुए। अतः चित्त की द्रुति वहाँ नहीं हुई। भावुकों का कहना है कि लाक्षा जब तक कम पिघली होती है, तब तक उसमें कोई रंग व्यापक और स्थिर नहीं होता, अतः तापक अग्नि के सम्बन्ध से लाक्षा इतनी पिघलाई जाय कि सौ पर्त के कपड़े में छानने लायक हो जाय। तब गंगाजल के समान निर्मल और द्रवीभूत उस लाक्षा में जो रंग छोड़ा जाय; वह लाक्षा के अणु अणु में, सर्वांश में व्यापक तथा स्थिर होता है फिर चाहे लाक्षा भी चाहे कि मैं अपने से रंग को पृथक् कर दूँ, या रंग ही चाहे कि मैं पृथक् हो जाऊँ, परन्तु दोनों ही पृथक् होने में असमर्थ हैं। ठीक इसी तरह भगवद्विषयक राग-आदि से गंगाजल के समान निर्मल और द्रवीभूत चित्त में परमानन्दघन भगवान् का प्राकट्य होने पर फिर पिघलती हुई लाक्षा में रंग की तरह सर्वांश में व्यापक तथा स्थिर रूप से भगवान् की स्थिति होती है। फिर तो भावना के प्रभाव से अपरिच्छिन्न अनन्त आन्तर रस की अभिव्यक्ति अन्तःकरण प्राण तथा रोम रोम में सर्वत्र फैल जाती है, और आन्तर तथा बाह्य रूप से सर्वथा ही भगवान् का अनुभव होने लगता है।

अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप में होनेवाले तीव्र राग और उनके विरह व्यथामय तीव्र ताप से भावुक के गुणमय सर्व कोशों का भस्मीभाव हो जाने और भावनामय भगवत्-संमिलनसौख्य रस से मन, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम रोम के आप्यायन होने पर बाह्य आभ्यन्तर सर्वरूप से भगवत्तत्त्व का अवगाहन होता है।

इस तरह जब अनिमित्ता भागवती भक्ति गुणमय कोशों को जला देती है, तभी निरुपाधिक एवं निरावरण होकर भावुक अपने भगवान् से मिल सकता है। भगवद्विरह-व्यथा-तापमयी भक्ति से जिसके अन्नमयादि पञ्चकोशरूप त्रिविध तनु नहीं तप्त हुए, वे परमतत्त्वामृत के समास्वादन के अधिकारी नहीं हो सकते। यही "अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते" इस श्रुति का आशय है। "तपसा कृच्छ्रादिना भगवद्विरहजन्यतीव्रतापेन भक्तिपरिणामभूतेन ज्ञानाग्निना वा न तप्ता तनुर्यस्य स तत् परमात्मतत्वामृतं नाश्नुते"। कृच्छ्रादि तप, भगवद्विरह-जन्य तीव्र ताप, और भक्ति के परिणामभूत ज्ञानाग्नि से जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीनों तनु नहीं संतप्त हुए, वे परमतत्त्व का आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसी लिये अनिमित्ता भागवती भक्ति को सिद्धि से भी श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे निगीर्ण अन्न को जाठराग्नि पचा डालती है, वैसे ही अनिमित्ता भक्ति पञ्चकोशों को जीर्ण कर देती है—"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।" भक्ति ही ज्ञानरूप में परिणत होकर मूल अविद्या का भी विध्वंस करती है। भट्टोजी दीक्षित "क्लृपि संपद्यमाने च" इस वार्तिक के उदाहरणरूप में कहते हैं "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, ज्ञानाकारेण परिणमते।"

श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में ज्ञान वैराग्य ये श्रीभक्ति के ही पुत्र बतलाये गये हैं। ज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि यद्यपि भक्ति के फल हैं, तथापि फल की अपेक्षा साधन में ही अधिक प्रीतियुक्त

होती है। यद्यपि धन का फल भोग, धर्म, मोक्ष ही है तथापि लोभी धन के संग्रह और रक्षा के सामने भोग धर्म मोक्ष इन सभी पुरुषार्थों को तिलाञ्जलि दे देते हैं, क्योंकि उनकी यही दृढ़ धारणा है कि यदि साधन है तब सब साध्य सहज ही में सिद्ध हो सकते हैं। माता, योग्य पुत्र की उत्पत्ति से ही सौभाग्यवती समझी जाती है, और पुत्र माता की भक्ति से ही सौभाग्यवान् होता है। अत: जहाँ ज्ञान, भक्ति का फल है वहाँ भक्ति, ज्ञान तथा ज्ञानियों की भी परम पूज्य एवं भजनीय देवता है। द्रवीभूत लाक्षा में एकमेक हुए रंग की तरह भक्त के प्रेमार्द्र हृदय में एकमेक हुए भगवान् यदि चाहें तो भी पृथक् नहीं हो सकते—

"विसृजति न यस्य हृदयं हरिरित्यवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मो स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

बरबस भी जिनके मङ्गलमय नाम से बड़ी से बड़ी पापराशि नष्ट हो जाती है ऐसे परम-स्वतन्त्र सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् जिसके अन्त:करण में स्नेहार्द्रतारूप प्रणयपाश में बँधकर निकल न सकें वही प्रधान भागवत होते हैं। तभी तो किसी प्रेमी ने राग से पिघले हुए अपने अन्त:करण में उसी द्रवावस्थारूप प्रणयपाश से प्रभु को बाँधकर उनकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता-महाशक्ति को भी कुण्ठित करके नि:शंक होकर कहा है "अच्छा, यदि आप मेरे हृदय से निकल सको तो मैं आपके पौरुष को समझूँ—"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते।" ऐसे हो भक्त भगवान् को यदि अपने हृदय से पृथक् करना चाहे

तो भी नहीं कर सकता। इसी लिये तो व्रजाङ्गना श्रीकृष्ण से अपना मन हटाने के लिये उनमें दोषानुसन्धान करती हैं "हे सखि! असितों (कालों) से सख्य नहीं ही करना चाहिये, परन्तु क्या करें; श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की कथा और कथार्थ तो हम लोगों के लिये दुस्त्यज ही है।" एक सखी श्रीकृष्ण-प्रेम में मूर्च्छित अपनी प्रियतमा सखी के उपचार में लगी हुई थी। इतने ही में दूसरी सखी आकर कुछ कृष्ण की चर्चा चलाने लगी। उपचार में लगी हुई सखी वारण करती हुई कहती है "संत्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः। स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः।" हे सखि! यदि अपनी प्रिय सखी को विश्रान्ति लेने देना चाहती है तो यहाँ उन (श्रीव्रजराजकुमार) की चर्चा न चला, किन्तु किसी और बात की याद दिलाकर किसी तरह मन-मोहन को इसके मन से भुला दे।

महामुनीन्द्रगण बाह्य विषयों से मन को हटाकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द में मन लगाना चाहते हैं, किन्तु ये व्रजदेवियाँ अपने मन-मोहन श्रीकृष्ण से मन हटाकर अन्य विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्रगण अपने हृदय में जिसके स्मृति-लेश के लिये लालायित हैं, उन्हीं सर्वप्राणि-परप्रेमास्पद जीवनधन प्रभु को वे हृदय से निकालना चाहती हैं। ठीक ही है, पूर्ण-द्रवीभूत लाक्षा और उसमें स्थायिभावापन्न रङ्ग इन दोनों का इतना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों ही का परस्पर पृथक् होना असम्भव है। उसी तरह भगवद्भावना से द्रवीभूत अन्तःकरण पर भगवान् की

स्थायिभावापत्ति होने से फिर परस्पर का पार्थक्य असम्भव हो जाता है। यद्यपि जीव का भगवान् के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी बहुत अधिक घनिष्ठ है, जैसे तरङ्गों की समुद्र के विना स्थिति ही नहीं, वैसे भगवान् के विना जीव की सत्ता ही नहीं।

"सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा।
वारि वीचि जिमि गावहिं वेदा॥"

तथापि स्वरूप-साक्षात्कार के पहले यह स्वाभाविकी निरतिशय निरुपाधिक प्रीति असम्भव है, अतः भगवान् और उनमें स्वाभाविकी प्रीति ये सभी उस द्रवावस्थारूप प्रणय के ही पराधीन हैं। इसी लिये किसी महानुभाव ने कहा है कि "अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्। यद्वद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्।" अहो आश्चर्य! मैं तो उस प्रेमबन्धन का वन्दन करता हूँ जिससे बँधकर सबको मुक्ति देनेवाला और स्वयं नित्यमुक्त ब्रह्म भी भक्तों का खिलौना बन जाता है। वस्तुतः निरतिशय निरुपाधिक पर-प्रेमास्पद पूर्णतम पुरुषोत्तम का स्वरूप ही प्रेम है।

लोक में यद्यपि प्रेम, और उसका आश्रय, एवं विषय ये तीनों पृथक् होते हैं तथापि अलौकिक दिव्य-प्रेम में तीनों ही एक हैं। अतएव "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यादि वचनों से निरुपाधिक प्रेम और प्रेमास्पद का अभेद कहा गया है "प्रेमी प्रेम-पात्रन में बतायो है अभेद वेद।" इसी लिये "जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। वन्दौं सीताराम पद" इत्यादि वाक्यों से महानुभावों ने मुख्य प्रेमी और प्रेमास्पद सीता और राम में अभेद

कहा है। जैसे अमृत और उसकी मधुरिमा का अति-घनिष्ठ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमानन्दसुधासिन्धुसार-सर्वस्व श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र और उनकी माधुर्य्याधिष्ठात्री परमाह्लादिनी हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनी का भी अत्यन्त घनिष्ठ स्वरूपभूत ही सम्बन्ध है। अर्थात् सर्वान्तरङ्ग एवं सर्व से सन्निहित में ही सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध होता है। अन्तरङ्गता और सान्निध्य की समाप्ति या पर्य्यवसान-निरतिशयता प्रत्यगात्मा में ही होती है। अतः प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान् में ही प्राणियों का मुख्य प्रेम होता है।

ज्ञानीजन परमार्थतः भगवान् को अपना अन्तरात्मा समझकर पुनः काल्पनिक भेद का अवलम्बन करके भगवान् को भजते हैं। "पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।' तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका" पारमार्थिक अद्वैत और भजन के लिये द्वैत, बस इस भावना से यदि भक्ति हो तब तो यह भक्ति अपरिगणित मुक्तियों से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अद्वैत-प्रबोध बना यह द्वैत सर्वानर्थ का मूल ही है। राग, द्वेष, शोक, मोह सबका प्रसव इस द्वैत से ही होता है। परन्तु बोध हो जाने पर भक्ति के लिये स्वमनीषा-कल्पित द्वैत तो अद्वैत से भी अति सुन्दर है। "द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।" भगवान् निर्गुण भी हैं और सगुण भी। उनकी उपासना भेद-भावना तथा अभेद-भावना दोनों ही प्रकार से हो सकती है। स्वयं श्रीमुख की उक्ति है कि "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।" कोई भक्तियोग से,

कोई ज्ञानयोग से मेरा यजन करते हुए उपासना करते हैं। कुछ लोग एकत्वभाव से और कुछ पृथक्त्वभाव से मुझ विश्वतोमुख की उपासना करते हैं। ज्ञानी अत्यन्त निष्काम तथा निष्कपट होकर भगवान् को भजता है। अतएव "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्", "एकभक्तिर्विशिष्यते" इत्यादि स्थलों में श्री-भगवान् ने ही ज्ञानी को अपने में अनन्य प्रीतिमान् और उसे निज अन्तरात्मा ही बतलाया है।

भगवद्भावापन्न भगवान् के अन्तरात्मस्वरूप ज्ञानी को भगवान् से भिन्न कोई वस्तु ही दृष्टिगोचर नहीं होती। इसी लिये मुक्तोपसृप्य भगवान् को प्राप्त कर लेने से मुक्ति की भी स्पृहा मिट जाती है। अतएव "न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम। वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।" ये भक्त उसी तरह कभी निर्विकल्प समाधि से भगवान् के अङ्क में उनके साथ एकमेक होकर विराज-मान होते हैं और कभी श्रद्धाभक्ति से भगवान् के श्रीचरण-कमल के सौन्दर्य्य माधुर्य्यादि का सेवन करते हैं जिस तरह प्रेयसी कभी प्रियतम के अंक में एवं वक्षस्थल पर यथेष्ट क्रीड़ा करती है और कभी सावधानी से प्रियतम के पादपद्म का आराधन करती है। "प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुगपरिचर्य्यांम्प्रेयसी वा विधत्ताम्। विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्।" जैसे चतुरा नायिका प्रियतम के साथ एकमेक होकर भी व्यवहार में अपने प्रियतम को चैलाञ्चल के व्यवधान (घूँघट पट की ओट) से ही देखती है।

"बहुरि वदन-विधु अञ्चल ढाँकी।
पिय-तनु चितै भौंह करि बाँकी॥
खञ्जन मञ्जु तिरींछे नयननि।
निज पिय कह्यो तिनहिं सिय सैननि॥"

ठीक वैसे ही ज्ञानी यद्यपि अपने निरतिशय निरुपाधिक प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान् के साथ सर्वथा एकमेक ही रहते हैं, तथापि व्यवहार में भेद-भावना से ही अपने भगवान् की भक्ति करते हैं।

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे,
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते,
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥"

अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ तथा रोम रोम में आन्तर बाह्य सर्वरूप से प्रभु का सुमधुर स्वरूप अनुभव करने के लिये ही ज्ञानीजन भक्तियोग से श्रोपरमहंस हो जाते हैं और वे ही शुद्ध प्रेमी होते हैं। अतः इनके लिये प्रभु का प्रादुर्भाव है। ऐसे ही शुद्ध-प्रेमियों में श्रीव्रजाङ्गना प्रभृति थीं, जिन्हें श्रीकृष्ण के विरह में एक क्षण भी सहस्रों युग के समान प्रतीत होते थे और श्रीकृष्ण के सम्मिलन में सहस्र कल्प भी क्षण ही के समान प्रतीत होते थे। इस तरह जो प्रभु के बिना प्राण-धारण ही नहीं कर सकते, उनके लिये भी प्रभु का प्राकट्य होता है। इस शुद्ध तत्त्वनिष्ठ प्रेमी के लिये मुख्यरूप से प्रभु का प्राकट्य होता है। फिर तो मुमुक्षुओं के लिये किंबहुना प्राणिमात्र के कल्याण के लिये भी प्रभु का

प्राकट्य होता है। इसी वास्ते तो श्री शुकदेवजी ने प्राणिमात्र के निःश्रेयस को ही प्रभु-प्राकट्य का प्रयोजन कहा है "नृणां निःश्रेयसा-र्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः"। यहाँ 'नृणां' से 'नरमात्राभिमानिनां' यह अर्थ समझना चाहिए। जैसा कि 'न कर्म लिप्यते नरे' यहाँ पर श्री शंकराचार्य भगवान् ने 'नरे' का 'नरमात्राभिमानिनि' यह अर्थ किया है। भावार्थ यह हुआ कि ज्ञानी और उपासकों से भिन्न साधारण अज्ञ-प्राणियों के निः-श्रेयस के लिये निर्गुण निराकार निर्विकार भगवान् का सगुणरूप में प्राकट्य होता है।

अतएव काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, स्नेह आदि किसी भी भाव से भगवान् में चित्त लगाने से प्राणियों का कल्याण हो जाता है, अर्थात् यहाँ ज्ञान के बिना भी प्राणियों का कल्याण हो जाता है। जैसे विष-बुद्धि से भी अमृत पान करने से अमृतत्व-लाभ होता है, वैसे ही ब्रह्मबुद्धि बिना भी जिस किसी तरह भी श्रीकृष्ण का सेवन करने से भगवत्प्राप्ति हो ही जाती है; क्योंकि वस्तु-शक्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। यद्यपि यों तो जब "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है तो फिर प्राकृत स्त्री-पुत्र आदि के प्रेमियों को भी मुक्त हो जाना चाहिये, क्योंकि जब सब वस्तु ब्रह्म ही है, ज्ञान की अपेक्षा है ही नहीं, फिर पत्नी-सेवन भी ब्रह्मसेवन क्यों न माना जाय? इत्यादि शंकाएँ होती हैं। तथापि भगवान् निरावरण ब्रह्म हैं, और प्रपञ्च सावरण ब्रह्म है। बस, इसी भेद से भगवान् का सेवन ज्ञान बिना भी कल्याण कारक है, और प्रपञ्च-

सेवन ज्ञान विना प्रपञ्च का ही प्रापक है। जैसे मेघ के सम्बन्ध से आदित्य का रूप छिप जाता है, परन्तु दिव्य उपनेत्र या दूरबीन के सम्बन्ध से आदित्य का स्वरूप आवृत नहीं होता, किन्तु अति-दिव्य स्वरूप में स्पष्ट होता है, वैसे ही प्रपञ्चोत्पादिनी मलिनशक्ति के सम्बन्ध से प्रपञ्चरूप में प्रकट ब्रह्म का निजी दिव्यरूप तिरो-हित या आवृत हो जाता है। परन्तु दिव्य लीलाशक्ति के योग से दिव्य मधुर सगुण साकार श्रीराम, श्रीकृष्ण रूप में प्रकट पर-ब्रह्म का स्वरूप आवृत नहीं होता, किन्तु दिव्य स्वरूप में प्रकट होता है। अतः निरावरण रूप में ज्ञान की आवश्यकता नहीं, सावरण रूप में ही है। सत्त्वादिगुणकृत प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के कारण ही ये निर्गुण भी कहे जाते हैं। इसी आशय से 'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इन्हें जारबुद्धि से समाश्रयण करके भी कुछ व्रजाङ्गनाएँ मुक्त हो गईं—'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि संगताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।' जैसे चिन्तामणि में दीपक-बुद्धि से भो प्रवृत्त होने से प्राप्ति चिन्तामणि की ही होती है वैसे ही निरावरण श्रीकृष्ण परमात्मा में किसी भी बुद्धि से प्रवृत्त क्यों न हो प्राप्ति अखण्ड अनन्त निरावरण ब्रह्म की ही होगी।

३

श्रीकृष्णजन्म और बालक्रीड़ा

वेदान्तवेद्य, परात्पर, पूर्णतम भगवान् अपने परम-प्रिय धर्म के संस्थापन तथा गो, विप्र, साधुजनों की रक्षा के लिये अपनी दिव्य लीलाशक्ति द्वारा अद्भुत सौन्दर्य्य माधुर्य्य सौगन्ध्य सौरस्य सौस्वर्य्य सुधाजलनिधि मङ्गलमय विग्रह धारण करके प्रकट होते हैं। भक्तों को अभय देनेवाले विश्वान्तरात्मा भगवान् का प्रादुर्भाव प्राकृत जीवों की तरह नहीं होता, किन्तु भौतिक-धातुसम्बन्ध विना ही मन में उनका प्राकट्य होता है। व्यापक विरज ब्रह्म का धारण सिवा निर्मल अच्य मन के और किसी तरह बन ही नहीं सकता। अनन्त अखण्ड ब्रह्मतेज को ग्रहण तथा धारण करने से प्राणी में तेज प्रागल्भ्य आदि दिव्य शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। अतएव अचिन्त्य भगवान् श्री वसुदेवजी के मन में ही प्रविष्ट हुए और मन से ही देवकी ने वसुदेवजी से श्रीकृष्ण को धारण किया :—"आविवेशांश-भागेन मन आनकदुन्दुभेः", "काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः।"

सकल-लोक-नायक पुरुषोत्तम का आगमन जानकर समस्त प्रकृति अपने प्रियतम, जीवनधन प्रभु के स्वागत के लिये उतावली हो उठी। परम-शोभन समय प्रकट हुआ और शान्त दिव्य नक्षत्र तथा ग्रह तारक आ जुटे। समस्त दिशा-विदिशायें प्रभु-सम्मिलन की

संभावना से प्रसन्न हो उठीं। निर्मल उडुगणों से युक्त गगन के आनन्द की सीमा न रही। पुर, ग्राम, व्रज सहित माधवी श्रीभू देवी ने सर्वमाङ्गल्यसम्पन्न रूप धारण किया। सरोवर, सरिताओं का जल शीतल, निर्मल तथा सुहावना होकर कमल कमलिनियों की दिव्य श्री से सुशोभित हो उठा। भ्रमरवृन्द, मयूर, हंस, सारस, कारण्डव, कोकिल, शुक, तित्तिर, पारावत और अनेक दिव्यवर्ण विहंगमों के सुमधुर निनाद से उन सरित्-सरोवर तथा वनराजियों के पुष्पस्तवक पल्लवादि सन्नादित होने लगे और पुष्पगन्धयुक्त सुखद,सुस्पर्श,सुन्दर, शीतल समीर बहने लगा। इतना ही नहीं, दुष्ट दानवों के अत्याचार से प्रशान्त अग्नि, श्री भगवान् का आगमन जानकर फिर से देदीप्यमान हो उठे और आततायियों के उत्पीड़न से मुरझाये हुए सत्पुरुषों के सुमनोरूप सुमनस पुनः प्रफुल्लित हो गये, देवलोक में भी देवता दुन्दुभि बजाने लगे और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि पुष्पों की वृष्टि करने लगे। सिद्ध, चारण आदि पवित्र मंत्रों से ब्रह्माण्ड-नायक प्रभु का स्तवन करने लगे, किन्नर, गन्धर्वगण जगत्पावन गुणों का गान करने लगे, और विद्याधर, अप्सराओं के साथ प्रभु-प्रेम में निर्भर होकर नृत्य करने लगे।

ऐसे सुयोग में देवरूपिणी देवकी में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे प्रकट हुए जैसे प्राची-दिक् में पूर्ण-चन्द्र। पूर्णिमा को छोड़कर अन्य तिथियों में ठीक पूर्वा दिक् का सम्बन्ध न होने से चन्द्रमा में पूर्णता नहीं होती। यही कारण है कि श्रीकृष्णचन्द्र के पूर्ण प्रकाश के लिये देवकी देवी को प्राची दिक् बतलाया गया है—"देवक्यां

देवरूपिण्यां....प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।" श्री गोस्वामी तुलसीदास-जी ने भी आनन्द-वर्द्धन श्रीरामचन्द्र के पूर्णतम रूप में प्रकट होने के लिये श्री कौशल्या माता को प्राची बतलाया है— "वन्दौं कौशल्या दिशि प्राची।" परन्तु यहाँ एक बात और है। अलौकिक अद्भुत आनन्द-सुधासिन्धु-समुद्भूत, श्रीकृष्णचन्द्र जैसे सकलंक लौकिक चन्द्र से विलक्षण हैं वैसे ही निर्मल-विशुद्ध-सत्वमयी देवकी रूपा प्राची भी प्राकृत प्राची स विलक्षण है। फिर जैसे सूर्य्यकान्ता मणि पर ही सूर्य्य का पूर्णरूपेण प्राकट्य होता है, वैसे वेदान्तमहा-वाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित परम-सत्त्वमयी मानसी वृत्ति पर ही पूर्णतम पुरुषोत्तम का प्राकट्य होता है। अतः यहाँ पर वही परम सत्त्वसमूहाधिष्ठात्री महाशक्ति देवरूपिणी श्री देवकी हैं और उनमें पूर्णतम तत्त्व का ही आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्र-रूप में प्राकट्य हुआ है।

जन्म होने पर श्री वसुदेवजी ने एक ऐसे अद्भुत बालक को देखा, जिसके कमलदल के समान लोचन हैं और जो अपनी चार भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए है। उसका शरीर नव-नील-नीरद के समान परम सुभग सौन्दर्य्य-सम्पन्न है और उसपर श्रीवत्स-चिह्न-युक्त कौस्तुभमणि तथा पीता-म्बर विराज रहा है। परम-तेजोमय किरीट तथा कुण्डल की दिव्य-दीप्ति से उसके सहस्रों कुन्तल ('स्निग्ध सुचिक्कण-दीप्ति श्यामल अलकावली') आलिङ्गित हैं। उनमें किरीट की दीप्ति से ऊर्ध्व और कुण्डलों की दीप्ति से निम्नभाग की अलकावली वैडूर्य-

मणि की तरह नानाछवियुक्त हो रही हैं। ऐसे तेजोमयी काञ्ची आदि से अत्यन्त शोभायुक्त बालक को विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रों द्वारा देखकर श्री वसुदेवजी ने परब्रह्म परमात्मा को ही अपने पुत्ररूप में समझा और उसके जन्मोत्सव में मन से ही ब्राह्मणों के लिये दश सहस्र गौओं का संकल्प कर डाला। फिर उस बालक को अपने दिव्य ब्राह्म-तेज से सूतिका-भवन को प्रभासित करते हुए, अपने श्रीअङ्ग की सुभगता, श्यामलता और मधुर दिव्य दीप्ति से, नील-मणि तथा नीलेन्दीवर-कोश की सहज सुभगता और श्यामलता तथा अपरिगणित सूर्य चन्द्र के सुमधुर दिव्य प्रकाश को लजानेवाले साक्षात् परम पुरुष परमात्मा जानकर वे विनम्र और कृताञ्जलि तथा प्रभावित होने के कारण निर्भय होकर, स्तुति करने लगे—

हे नाथ ! मैंने आपकी मङ्गलमयी कृपा से ही आप को जाना। आप प्रकृति-पार सर्व-बुद्धि-साक्षी निर्मल-बोध तथा आनन्द स्वरूप साक्षात् परम पुरुष हैं। आप ही पहले अपने प्रकृति से त्रिगुणा-त्मक प्रपञ्च का निर्माण कर पश्चात् उसमें अप्रविष्ट होकर भी (क्योंकि सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान व्यापक असङ्ग तत्व का प्रवेश नहीं बन सकता) प्रविष्ट के समान प्रतीत होते हैं। जैसे मह-दादि अविकृत भाव विकृत भूतों के साथ मिलकर विराट् का निर्माण करते हैं और उनमें अनुगत से प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अप्रविष्ट ही हैं, हे नाथ ! वैसे ही आप सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान सर्वकारण हैं। आपका विवर्त्तभूत जगत् आपमें ही है, और आप स्वरूप से असङ्ग होते हुए भी तत्तत्प्रपञ्चों की सत्ता और

स्फूर्तिरूप से उनमें प्रविष्ट से प्रतीत होते हैं। यहाँ तात्पर्य्य यह है कि कार्य्य से प्रथम ही कारण सिद्ध होता है। किम्बहुना कारण का ही कार्यरूप में प्रादुर्भाव होता है। कारण से भिन्न कार्य कुछ होता ही नहीं, फिर कार्य में कारण का प्रवेश या परस्पर आधाराधेय भाव कैसे हो सकता है, पर तब भी कुण्डल में सुवर्ण, पट में तन्तु, ऐसा व्यवहार होता है। इसलिये अनिर्वचनीय कार्य और कार्य में कारण का अनिर्वचनीय प्रवेश प्रतीत होता ही है।

हे नाथ! आप रूपाद्यज्ञानादि साधनों से अनुमित इन्द्रियों तथा तद्ग्राह्य रूपादि विषयों के साथ सत्ता स्फूर्ति रूप से विराजमान रहते हुए भी इन्द्रियादि से अग्राह्य ही रहते हैं। जैसे चक्षु से रूप-ग्रहण काल में रूप के साथ विद्यमान भी रस नहीं गृहीत होता, क्योंकि इसके ग्रहण में चक्षु की शक्ति नहीं है, वैसे ही विषय तथा इन्द्रियादि में विद्यमान रहते हुए भी आप इन्द्रियादि से उपलब्ध नहीं होते; क्योंकि इन्द्रियों में सर्वाधिष्ठानभूत आपका प्रकाश करने का सामर्थ्य नहीं है। परिच्छिन्न पक्षी आदि का नीड़ में प्रवेश होता है, आप अपरिच्छिन्न हैं, अतः आपका बाह्य आभ्यन्तर भाव ही नहीं बन सकता। आप सर्वस्वरूप तथा सर्वात्मा एवं परमार्थ-वस्तु हैं, आपका प्रवेश कैसे और कहाँ हो सकता है? यदि कोई कहे कि दृश्य-प्रपञ्च में आपका प्रवेश हो सकता है सो ठीक नहीं, क्योंकि निर्विकार सच्चिदानन्द भगवान् से भिन्न दृश्य-प्रपञ्च में जो सत्यत्व बुद्धि करता है, वह अविवेकी है। (हेयादि

दृश्य-अनुवाद वाचारम्भण को छोड़कर किसी तरह से भी विचार-सह नहीं है, किन्तु तत्त्वकोटि से अत्यन्त वहिर्भूत अविचारित रमणीय ही है।)

हे नाथ! यद्यपि आप निरीह, निर्गुण तथा निर्विकार हैं, तथापि तत्त्वज्ञगण सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आपसे ही कहते हैं। आपके मायायुक्त और मायातीत रूप में ये दोनों बातें विरुद्ध नहीं हैं। अर्थात् आपके मायायुक्त-रूप से अनन्त ब्रह्माण्ड के सृष्ट्यादि होते हैं, और मायातीत-रूप से आप निरीह निर्गुण भी हैं। वस्तुतः आपके आश्रित रहनेवाली माया के समस्त विलास आपमें औपचारिक दृष्टि से व्यपदिष्ट होते हैं त्रिलोकी-पालन के लिये आप ही सत्त्व का अवलम्बन करके शुक्ल रूप को धारण करते हैं और उत्पादन तथा संहार के लिये रक्त और कृष्णरूप धारण करते हैं।

हे विभो! आप इस लोक की रक्षा के लिये ही मेरे गृह में अवतीर्ण हुए हैं, और आप असुर-यूथपों की सुसज्जित बड़ी से बड़ी सेनाओं का वध करके भू-भार का अपनयन करेंगे। परन्तु आपके अग्रजों का वध करनेवाला यह कंस तो अभी ही आपका जन्म-श्रवण करते ही शस्त्र लेकर आवेगा।"

इस तरह श्रीवसुदेवजी की स्तुति समाप्त होने पर देवकी भी महापुरुष-लक्षण-सम्पन्न पुत्र को देखकर तथा कंस से भयभीत होकर स्तुति करने लगी—"जिस अव्यक्त, आद्य, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्मज्योति को वेद निर्विशेष, निरीह तथा सत्ता-मात्र बतलाते हैं,

वह समस्त कार्य-कारण अध्यात्म के प्रकाशक, व्यापक विशुद्ध ब्रह्म आप ही हैं। कालचक्र के वेग में समस्त प्रपञ्च का विलयन हो जाने पर भी एक आप ही अवशिष्ट रहते हैं। हे प्रकृति-प्रवर्तक प्रभो! यह कालचक्र भी केवल आपकी ही लीला है। अतः नाथ! मैं आपको प्रपन्न हुई हूँ।

हे नाथ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु व्याल से भीत होकर पलायन करता हुआ समस्त लोकों में गया, परन्तु कहीं निर्भय न हुआ। पर जब कभी वह आपकी कृपा से आपके श्रीचरणों को प्राप्त करता है, तभी स्वस्थ होकर सुख की नींद सोता है फिर तो मृत्यु उससे बहुत दूर रहती है। हे नाथ! आप हम सबकी इस कंस से रक्षा करें और साथ ही यह भी प्रार्थना है कि यह ध्यानास्पद स्वरूप सर्व साधारण को दृष्टिगोचर न हो, और कंस मुझमें हुए आपके जन्म को न जाने।"

इस तरह नाना प्रकार से वसुदेव और देवकी का स्तवन श्रवणकर उनके पूर्वजन्म की तपस्या तथा वर-प्राप्ति की बात बताकर एवं अपने को नन्द के घर पहुँचाने का संकेत करके माता-पिता के देखते-देखते ही अपनी दिव्य योगमाया के प्रभाव से श्रीकृष्ण शिशु रूप में व्यक्त हो गये। भगवान् के संकेत से ज्योंही श्रीवसुदेवजी ने अपने शिशु को नन्द के घर पहुँचाने का मन किया त्योंही श्रीवसु-देवजी के चरणों के बन्धन शिथिल हो गये, और पहरेदार सो गये। वज्रमय कपाट भी खुल गये। जिस समय श्रीवसु-देवजी बालकरूप परमपुरुष को लेकर चले, नागराज श्रीशेष अपने

सहस्र फणों से छाया करते हुए साथ चले, और श्रीयमुनाजी गाध हो गईं। इस तरह श्रीयोगमाया की सहायता से श्रीवसुदेव-जी ने श्रीमन्नन्दराय के मंगलमय भवन में, जिसका द्वार खुला था, पहुँचकर प्रसुप्त श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी की शय्या पर अपने सर्वस्व पुत्ररत्न किंवा अन्तरात्मा को ही लिटा दिया और कन्या-रूप में श्रीयशोदा-जी से उत्पन्न योगमाया को लेकर वे अपने स्थान को लौट आये। श्रीवसुदेव के चले जाने तथा योगमाया का प्रभाव मिट जाने पर सब लोग प्रबुद्ध हो गये—

"ददृशे च प्रबुद्धा, सा यशोदा जातमात्मजम्।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥"

(विष्णुपुराणे)

श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी ने प्रबुद्ध होकर नीलोत्पलदल-श्याम मनोहर पुत्र को देखा और वे अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुईं। इस समय की बालकृष्ण की शोभा या छवि का कहना ही क्या है। भगवान् दिव्यातिदिव्य महेन्द्र नीलमणि तथा अति दिव्य नील कमल, किंवा नील नीरधर, या मयूरपिच्छचन्द्रक से कोटि गुणित सुन्दर श्यामल कोमल गंभीर एवं दीप्तिमान् हैं और अपने अमृतमय मुखचन्द्र की दिव्य छवि से अनन्त कोटि चन्द्रमाओं को लजाने-वाले हैं। लोकातीत कमलदल सरीखे मनोहर नयन हैं और कल्पतरु के सुकोमल नवल दल की मृदुता एवं मनोहरता को प्रहसन करनेवाले अङ्घ्रि-पल्लव हैं। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशुमति अपने मधुरतम ललन श्रीकृष्ण को देखकर कल्पना करती हैं, क्या

यह श्यामल महोमय परमतत्त्व श्याममय प्रकाश-पुञ्जों का साम्राज्य है, किंवा रूपरत्नाकरों की दिव्यनिधि है, किंवा लावण्यामृत-माणिक्य का परम सौभाग्य है, किंवा तत्तत् अङ्गावलियों का सुशोभित सिद्धान्त है।

यशोदानन्दन श्रीश्यामसुन्दर के सुमधुर स्वरूप का अनुभव करके भगवद्भक्त कवीन्द्रगण भी कल्पना करते हैं। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशोदा के अंक में विराजमान श्रीकृष्ण मानों अद्भुत कुवलय अर्थात् रात्रिविकासी पंकज हैं। वह पंकज भी जलीय सरोवर के साधारण पंक या क्षीर-सरोवर के नवनीतमय पंक से जायमान नहीं है, किन्तु पूर्णानुराग रससार सरोवर के सारमय पंक से उत्पन्न होनेवाला पंकज है। यह ऐसा अलौकिक कुवलय है कि आज तक भृङ्गों ने इसका आघ्राण एवं मकरन्द पान नहीं किया। अर्थात् भक्तों ने अब तक श्रीमन्नारायण के ही रूप-माधुर्य्य का आस्वादन किया, पर इन यशोदोत्सङ्ग-लालित श्रीकृष्ण का माधुर्य्यामृत पान नहीं किया और अनिलों ने अभी तक इस पंकज का सौगन्ध्य भी नहीं हरण किया। अभिप्राय यह है कि कवीश्वरों ने अब तक नारायण के यश का ही वर्णन किया है, अतः यह उनके लिये भी अपूर्व ही है और यह नीर में उत्पन्न होनेवाला भी नहीं अर्थात् प्रपञ्च में श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव ही नहीं है। तरङ्गों ने भी इस पंकज को आहत नहीं किया है अर्थात् मायामय गुणों के तरङ्गों से यह असंस्पृष्ट है और आज तक किसी ने कहीं भी इस अद्भुत कमल को देखा भी नहीं है या वैकुण्ठवासियों ने भी इस

तत्त्व का दर्शन नहीं किया है। अथवा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द कन्द के श्रीअङ्ग का ऐसा अद्भुत नित्य नवनवायमान माधुर्य्य है कि भक्तगण अनादि काल से उसका आस्वादन करते हुए भी उसको प्रतिक्षण अभिनव एवं अपूर्व ही समझते हैं, वैसे रसिकजन भी सदा ही श्रीकृष्ण के सुमधुर यश का वर्णन करते हैं पर तब भी उन्हें प्रतिक्षण उसमें अपूर्वता ही का भान होता है :—

"अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः;
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोड़े कुवलयमिवौजस्तदभवत् ॥

श्रीनन्दरानी मृदु मधुर विश्व-मोहन शिशु-रुदन को सुनकर प्रेमानन्द में चित्र-लिखित सी रह गईं। योगमाया का प्रभाव मिट जाने पर शिशु-रुदन से आकर्षित होकर स्निग्ध व्रज-युवतीजन समीप आईं। जैसे चन्द्रमा का अभ्युदय होते ही व्यवधानयुक्त भी (साक्षात् चन्द्रिका सम्बन्ध न होने पर भी) कुमुदिनी प्रफुल्लित होती है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र के अभ्युदय मात्र से परमानन्दवती स्निग्धाओं के सुमनस (शोभन मन) प्रफुल्लित हो उठे। श्रीकृष्ण केवल श्रीयशोदा की शय्या पर ही नहीं अपितु व्य-वधान होने पर भी स्निग्धों के स्वच्छ चित्त पर भी प्रतिबिम्ब की तरह स्फुरित हुए। नवनील नीरधर के समागम में चातकी के समान प्रहृष्ट होकर व्रजाङ्गनाएँ शीघ्र ही समीप आकर रोहिणी आदि के साथ बालक को देखने लगीं।

जैसे अभ्युदित होते हुए पूर्ण चन्द्रमा को उत्कण्ठित होकर चकोरीगण देखती हैं वैसे ही व्रजाङ्गनागण श्रीकृष्ण को सतृष्ण निर्निमेष नयनों से देखती हुई सोचती हैं कि क्या यह अद्भुत अलौकिक नीलकमलमय माल्य है, किंवा अलौकिक इन्द्रनील मणि है, अथवा विचित्रच्छवि का सुमधुर वैदूर्य है। अहो! यह बालक अनुपमेय और अज्ञेय है। इस बालक के तनु और सर्वेन्द्रियों की रचना नयनों की निर्द्वन्द्वता का विस्तार करती है। अहो! मानों इस बालक के श्री अङ्ग मृगमद-सौरभ तथा तमाल-दलसार से अभ्यञ्जित हैं मानों निखिल ब्रह्माण्डव्यापी लावण्यामृतसार से ही इस बालक के श्री अङ्ग में उबटन हुआ है, और निजाङ्गतेज से ही यह नहलाया गया है। मानों निज-मुखचन्द्र से विनिःसृत कान्ति-सुधा से ही इसका अनुलेपन हुआ है, एवं मङ्गलमय लक्ष्मी से ही इस बालक का अङ्ग भूषित किया गया है। अथवा इस बालक के सुन्दर अङ्गों में मानों अति सुगन्धित स्नेह (तेल या प्रेम) से अभ्यङ्ग हुआ है, और सौरभ्य (विश्वव्यापी सौगन्ध्यामृतसार) से उबटन हुआ है, माधुर्य्यामृतसार से स्नान कराया गया है और लावण्यसार से मार्जन किया गया है। सौन्दर्यसार-सर्वस्व से अनुलेपन और त्रैलोक्य-लक्ष्मी से ही इसका शृंगार हुआ है।

अभ्यङ्ग स्नान मार्जन आदि से लोक में यत्किञ्चित् स्निग्धता मधुरता लावण्यादि का सम्पादन होता है, यहाँ तो स्नेह माधुर्य्य लावण्य सौन्दर्यादि सुधासार-सर्वस्व से ही अभ्यङ्ग आदि हुआ

है। यह बालक मानों अभिनव नीलमणीन्द्र का अङ्कुर है, अथवा श्यामल तमाल का सुभग मृदुल पल्लव है, अथवा मानों नवाम्भोद का अति स्निग्ध कन्दल है, या त्रैलोक्य-लक्ष्मी का अत्यन्त उत्कृष्ट और सुरभित कस्तूरिका-तिलक है, किंवा सौभाग्य संपत्ति का अति चिक्कण एवं सर्वाकर्षण-संपन्न सिद्धाञ्जन है। क्या यह बालक सुरभित श्यामल मृगमद कर्दम है, या श्यामामृतमहोदधि के मन्थन से समुद्भूत अति स्निग्ध और मधुर नवनीतपिण्ड है, अथवा मृगमद-रस से श्यामलीकृत शुद्ध दुग्धफेनखण्ड है या सौन्दर्य माधुर्य्य सुधाजलनिधि का रत्न है, किंवा सुछवि युवती का ललित लोचन है।

पहले तो श्रीनन्दरानी बालक के दिव्याङ्ग में अपना प्रतिबिम्ब देखकर 'यह कौन है' ऐसी शंका से व्याकुल हो उठीं और सोचने लगीं कि "क्या प्रसव के समय मेरा रूप धरके यह कोई योगिनी आ गई है।" पश्चात् नृसिंह मंत्र जपती हुई उससे 'दूर हो' ऐसा कहती हैं। तत्पश्चात् दीर्घश्वास के सम्बन्ध द्वारा निजप्रतिबिम्ब मिटने पर श्रीव्रजरानी ने उस अद्भुत बालक को देखा जिसका अङ्ग मृगमदसार-पंक के समान अत्यन्त सुकोमल है, जिसका मुख चन्द्र-चूर्णित घनान्धतम की तरह स्निग्ध श्यामल अलकावली से शोभित है और जो मानों सबके मन को आकर्षित करने के लिये ही दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधे हुए कालिन्दी-तरङ्ग की तरह चरण को चला रहा है। स्वयं परम कोमलाङ्गी होती हुई भी अंक में लेने से भयभीत होती हैं कि कहीं मेरे कठोर अङ्ग से बालक का सुकुमार शरीर पीड़ित न हो, अपने पयोधर के अग्र को उसके

अधरपुट में रखकर वे पयः-पान कराने लगीं। फिर व्रजपुरन्ध्रियों के शिक्षानुसार श्रीकृष्ण को गोद में लेकर मूर्त अमृत-रस की तरह स्तन-रस पिलाने लगीं। स्नेह के आवेग से दुग्ध अधिक प्रस्रुत होकर मृदुल बिम्बाधर के प्रान्त से कपोलतल को आप्लावित करने लगा, तब श्रीव्रजरानी सादर सस्नेह सुकोमलतर आँचल से उसको पोंछने लगीं।

श्रीव्रजरानी की समस्त सखियाँ बालक को देखकर प्रमुदित होती हैं और विचार करती हैं—"अहो! इस शिशु को शिर पर धारण करें, किंवा नयनों में धारण करें, किंवा हृदय या हृदय के मध्य में इसे बिठला लें।" फिर देखती हुई कल्पना करती हैं, मानों देदीप्यमान नीलमणि से इस बालक के सर्वाङ्ग का निर्माण हुआ है। कुरुविन्द (अरुण कान्तिवाले मणि) से बिम्बाधर, एवं पद्मराग से श्रीचरण और हस्त तथा पक्व दाड़िम-बीज के समान शिखरमणि से नखों का निर्माण हुआ है, अतः क्या यह मणिमय बालक है? पुनः बालक के श्रीअङ्ग की कोमलता का अनुभव करके कठिन मणिमयत्व की कल्पना को अनुचित समझकर दूसरी कल्पना करतो हैं, मानों नीलेन्दीवर से बालक के सकल अवयवों का, बन्धूक से बिम्बाधर ओष्ठ का, जपाकुसुम से पाणिपाद का और प्रान्त रत्न मल्ली-कोरक से नखसमूह का निर्माण हुआ है, अतः क्या यह कुसुममय बालक है? फिर सोचती हैं कि क्या वस्तुतः अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत-सौन्दर्य-माधुर्य्य-बिन्दु का उद्गम-स्थान और अचिन्त्य अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु-सार-सर्वस्व

किंवा सकेलि सुषमा और शोभासार को ही लेकर किसी अद्भुत अलौकिक जगन्मोहन काम ने ही अपने सु-करकमल से इस बालक का निर्माण किया है !

श्रीव्रजेश्वरी अपने ललन श्रीबालकृष्ण को स्नेहस्नुत पयोधर पिलाती हुई, दक्षिण वक्षःस्थल में मृणालतन्तु के समान स्वच्छ सुभग सुस्निग्ध दक्षिणावर्त रोमराजिस्वरूप श्रीवत्स चिह्न को देखकर स्तनरस-कणों के निपातविन्यास को समझकर मृदुल अञ्चल से पोंछती हैं, परन्तु पोंछने पर भी जब वह न मिटा तब यह कोई 'महापुरुष-लक्षण है' ऐसा चिन्तन करने लगीं। पुनः वक्षःस्थल के वामभाग में स्वर्ण सरीखे वामावर्त रोमराजीरूप लक्ष्मीचिह्न को देखकर कल्पना करती हैं, क्या यह सुकोमल नवल तमाल-पल्लव पर बैठी हुई अतिसूक्ष्म पीतवर्ण को कोई विहङ्गी है, या अति सुन्दर स्निग्ध नीलाम्बुद के अङ्कुर पर शोभायमान सुन्दर विद्युत कलिका है, या किसी दिव्य कसौटी पर रञ्जित कनक रेखा है। अरुण-कमल के सदृश मुख, श्रीहस्त और चरण सहित दीप्यमान श्यामल सर्वाङ्ग को देखकर समझती हैं कि यह चार पाँच अरुण कमल-कोश से संयुक्त सुन्दर यमुना-तरङ्ग हैं।

अमृतमय मुखचन्द्र और सुन्दर अलकावलियों को देखकर श्रीनन्दरानी कल्पना करती हैं कि यह क्या सौन्दर्य्य माधुर्य्यमय मादक मधु का अधिक पान कर लेने से उन्मदान्ध अतएव भ्रमण में असमर्थ निश्चल मधुकरसमूह है, किंवा स्निग्ध श्यामल गाढ़ान्धकार के अङ्कुर-समूह ही अलक-समूह रूप में भासमान

हो रहे हैं! नयनों को देखकर उनमें मुकुलित नीलोत्पल की कल्पना और सुन्दर युगल कपोलों में दिव्य नीलमणिमय जल के विशाल बुद्बुद की कल्पना करती हैं। और अति-सुभग युगल श्रवण को देखकर उनमें श्यामल महो(तेजो)मयी लतिका के अभिनवोन्मिषित युगल पल्लव की कल्पना करती हैं। तिमिर-द्रुम के अङ्कुर के समान नासाशिखर, यमुना के बुद्बुद के समान दोनों नासापुट, द्विदल जवाकोरक के समान अधर, ओष्ठ परिपक्व तथा छोटे-छोटे यमल (सहजात या युग्म) जम्बूफल के समान चिबुक (ठोढ़ी) को निरीक्षण कर नयनों के फल को पाकर व्रजरानी ने आनन्द-जलधि में अपनी आत्मा को अवगाहन कराया।

इतने ही में श्रीमन्नन्दराय के समीप जाकर व्रजपुरपुरन्ध्रियों ने पुत्रजन्म का मङ्गल सन्देश सुनाया। ग्रीष्म से सूखे हुए सरोवर को अमृत-धाराओं से सरस करते हुए अद्भुत मधुर घन-गर्जन की तरह पुत्रजन्म श्रवण करते ही श्रीमन्नन्दराय जैसे हर्षवर्षा में स्नान कर, अमृत महार्णव में प्रविष्ट होकर, आनन्द-मंदाकिनी से आलिङ्गित होकर, बालक के अवलोकन के लिये उत्कण्ठित हो उठे। यद्यपि आनन्द-मूर्च्छा के समय सूतिका-भवन में प्रवेश असम्भव था, तथापि स्वयं उपस्थित मूर्तिमान् ब्रह्मानन्द चमत्कार ने ही श्रीव्रजराज के श्रीहस्त को पकड़कर सूतिका-भवन में पहुँचाया। फिर भी स्खलन संभव था, अतः समुचित सुकृतसमूह चातुर्य्य ही आकर्षण करता हुआ सूतिका-भवन की ओर ले चला। इतना ही नहीं, आनन्द-मूर्च्छा के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली उत्कण्ठा ने अपने

दोनों हस्तों से पृष्ठ की ओर से प्रेरित किया। इस तरह इन सब की सहायता से सूतिकाभवन में पहुँचकर यशोदोत्सङ्गलालित श्रीकृष्ण को देखकर वे विचार करने लगे कि क्या यह अखण्ड सान्द्रानन्द का बीज है, किंवा जगन्मङ्गल मङ्गलोदय का अंकुर है, अथवा सिद्धाञ्जनलता का पल्लव है, या चिरतर-समय-समुत्पन्न सुकृत-कल्पमहीरुहाराम का कुसुम है, अथवा समस्त उपनिषत् कल्पलता-श्रेणी का सुन्दर फल है, किंवा श्रीव्रजेश्वरी की श्रीअङ्गरूपा अपराजितालता का ही कुसुम है। इस तरह अभिनव बालक को देखकर श्रीनन्दराय मानों सर्वमनोरथ-सम्पत्ति से सिद्ध हो गये, आनन्द साक्षात्कार चमत्कार से विक्षिप्त हो गये या लिखित चित्र की तरह जड़ीकृत हो गये।

इस प्रकार प्रथम आनन्द-मूर्च्छा में प्रसुप्त होने के बाद श्रीकृष्ण-दर्शन-सुख का अनुभव कराने के लिये चेतनादेवी ने ही इन्हें प्रतिबोधित किया। उज्जृम्भमाण विपुल आनन्द से पुलकावली और आनन्द बाष्पकणनिकर-निपात आदि से लक्षित किसी अलौकिक दशा को प्राप्त होकर सानन्द, उपनन्द, सन्नन्द आदि तथा विप्रगण सहित पुरोधस से जातकर्मादि संस्कार कराकर अपार सम्पत्ति रत्न मणि भूषण वसन गोधनादि का उन्होंने दान दिया। श्रीमन्नन्दराय के दान-काल में चिन्तामणि, कल्पतरु, कामधेनुओं के समुदाय शक्तिहीन से हो गये, रत्नाकरों में नाना मत्स्यादि मात्र ही शेष रह गये, किम्बहुना त्रैलोक्य-लक्ष्मी के भी पास लीला-कमल ही अवशिष्ट रहा। श्रीव्रजराजकुमार श्रीकृष्ण का जन्म हुआ,

यह मङ्गलमय ध्वनि मुखोंमुख मार्गोमार्ग कानों-कान सर्वत्र फैल गई और सब सोचने लगे कि श्रीयशोदा अद्भुत कल्पलता है, कि जिसमें भगवत्प्रकाशरूप दिव्य फल प्रकट हुआ। मूर्तिमती वात्सल्य-रसाधिष्ठात्री महालक्ष्मी के समान तथा चलती-फिरती तेजोमयी मञ्जरी के समान अपने कुल को यश देनेवाली श्रीयशोदा धन्य है।

इस तरह अपने मधुर चरित्रों से अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र आत्मारामों को भक्तियोग में लगाने (प्रवृत्त करने) के लिये और नर-लीला रस की रचना से अपने भक्तों को आनन्दित करने के लिये श्रीव्रजराज के भवन में मूर्त्तानन्द श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हुए। मुक्त मुनियों के अभिलषित परमानन्दसार-सर्वस्व श्रीकृष्ण-फल को श्रीदेवरूपिणी श्रीदेवकी ने उत्पन्न किया, श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी ने उनका प्रकाशन तथा पालन किया और श्रीव्रजाङ्गनाओं एवं तदीय चरणाम्बुजानुरागियों ने उस सुमधुर फल का सम्यक् सम्भोग किया :—

"मुक्तमुनीनां मृग्यं, किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा, प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥"

यथासमय श्री गर्गजी नामकरण संस्कार के लिये पधारे। श्रीकृष्ण की अद्भुत सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सुधा का समास्वादन करके वे मन ही मन सोचते हैं कि अहो! यह यशोदोत्सङ्ग-लालित शिशु मृगमद-अनुलेप के समान मेरे अंगों को तथा कर्पूरवर्ती के समान मेरे नेत्रों को शीतल करता है और अगर-धूम-गन्ध के समान घ्राण को

तृप्त करता है। यह तो आनन्द-कन्द के समान मेरे हृदय में प्रविष्ट हो रहा है।

"कर्पूरवर्तिरिव लोचनमङ्गकानि
पङ्को यथा मृगमदस्य कृतेन्दुलेपः।
घ्राणं धिनोत्यगुरुधूप इवायमुच्चै-
रानन्दकन्द इव चेतसि च प्रविष्टः॥"

इतना ही नहीं, यह तो अपने प्रेम से मेरे धैर्य्य को हिलाये देता है और शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च उत्पन्न करता है। हन्त! मैं तो इस बालक का नामकरण करने को आया था परन्तु इसने तो मेरे ही नाम को विलोपित कर दिया।

"धैर्यं धुनोति बत कम्पयते शरीरं
रोमाञ्चयत्यतिविलोपयते मतिञ्च।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोह-
मालोपितं पुनरनेन ममैव नाम॥"

यदि मैं इसके सुन्दर चरण-कमलों को अपने हृदय में धर लूँगा तो लोग मुझे उन्मत्त कहेंगे और यदि मैं ऐसा नहीं करता तो वह उत्कट औत्कण्ठ्य ही मेरे धैर्य्य-बन्धन को तोड़ देगा।

"पादौ दधामि यदि मां हृदये जनोऽय-
मुन्मत्तमेव बत वक्ष्यति चेत्करोमि।
तच्चातिचापलमहो न करोमि वा चे-
दौत्कण्ठ्यमेव हि लविष्यति धैर्य्यबन्धम्॥"

परन्तु चाहे कुछ भी हो, आज जन्म सफल हो गया, नयन सफल हो गये; विद्या, तपस्या, कुल भी सफल हुए और यदुवंश की भगवती आचार्य्यता भी सफल हो गई।

"जन्माद्य साधु सफलं सफले च नेत्रे
विद्या तपः कुलमहो सफलं समस्तम्।
आचार्य्यता भगवती हि यदोः कुलस्य
मामद्य हन्त नितरामकरोत्कृतार्थम्॥"

इस तरह प्रेम से श्रीमुनिराज आनन्दसिन्धु में निमग्न हुए से, पीयूष को पिये हुए से, जागते हुए भी सोते से, सुनते हुए भी बधिर से और बोलते हुए भी मूक के समान रह गये।

व्रजदेवियों सहित श्रीनन्दरानी और रोहिणी, श्रीबलराम और कृष्ण इन दोनों शिशुओं को चलना सिखलाती हैं। रोहिणी अपने ललन कृष्णचन्द्र का हस्तकमल पकड़कर चलाती हैं। हस्त छोड़ने पर श्रीबालकृष्ण दो चार पग चलकर लड़खड़ाते हुए गिर पड़ते हैं और रोने लगते हैं तब माता उठाकर चुम्बन करती है, फिर किञ्चित् दूर खड़े होकर कृष्ण माँ का मुख विलोकन करते हैं। नेक दूर जाने पर गति मन्थर हो जाती है और समीप पहुँचने पर किलकते हुए दौड़ने लगते हैं। धीरे-धीरे दोनों भाई तोतरे शब्दों में 'माँ माँ ता ता' वचनामृत वितरण करने लगते हैं। अर्द्धोदित दन्तों की श्रेणी और मधुर अक्षरों की चित्र-श्रेणी ने माँ को चित्र सा कर दिया। शुक के समान बाल भगवान् धात्रीजनों से

बोलना सीखते हैं और तर्जनी से प्रश्न करते हैं। शनैः शनैः बलराम 'कृष्ण' और कृष्ण बलराम को 'आर्य्य' कहने लगते हैं। जब माता कहीं जाने से मना करने के लिये डराती हैं, तब दोनों वहाँ जाने के लिये कौतुकवशात् प्रवृत्त होते हैं। "चञ्चल चल ना ना" माता के ऐसे वाक्य को सुनकर छद्म से हँसते हुए लौटकर दोनों माता को निवृत्त करते हैं और फिर उसी वाञ्छित कार्य्य में लग जाते हैं।

"नैव नैव चल चञ्चल रे रे वाक्यमेतदवकर्ण्य जनन्याः,
मायया स्म परिवृत्य हसित्वा तां निवर्त्य ललिते वरिवर्ति।"

अत्यन्त आसक्ता माता कभी हँसते कभी रोते हुए दोनों शिशुओं को पकड़कर घर में लाती है और उबटन अभ्यङ्ग वेष-परिवर्तनादि शृङ्गार करके सुलाती है।

कभी दोनों जानु तथा हस्तों से चलते हुए शुभ्र पाषाणमय स्थल में अपने अङ्ग का प्रतिबिम्ब देखकर बालक चकित होते हैं और उसे पकड़ने दौड़ते हैं, पर जब प्रतिबिम्ब-मूर्ति भी उन्हें पकड़ना चाहती है, तब आप संकुचित होकर साशंक माँ के अंक में छिप जाते हैं। कभी स्फटिक तथा महेन्द्र नीलमणि के समान श्यामगौर-दिव्य तेजवाले चन्द्रमा और नवनील नीरदाङ्कुर की तरह, पुण्डरीक, नीलोत्पल की तरह, ज्योत्स्नाशकल और तिमिरसार-शकल के समान राम तथा कृष्ण दोनों व्रजकर्दम में आनन्द से खेलते हैं। एक दूसरे की दिव्य-दीप्ति से श्याम गौर दोनों तेजों का विनिमय होने लगता है। कभी दृप्त वृषभादिकों के सामने निःशंक दौड़ते हैं, कभी व्यालों को

पकड़ना चाहते हैं, तो कभी अग्निशिखा पर आक्रमण करना चाहते हैं।

एक दिन अपने ही भवन में श्रीश्यामघन नवनीत चुरा रहे थे। इतने में ही मणिमय स्तम्भ के भीतर अपनी ही साँवली सलोनी मङ्गलमयी मूर्त्ति को देखकर उसी से कहते हैं कि "मेरी माँ से चोरी न बताना, बराबर हिस्सा भले ही बँटवा लो।" इन वचनों को माता एकान्त में चुपके सुन रही थी। कौतुकात् जननी के पास आ जाने पर कृष्ण अपने अङ्ग-प्रतिबिम्ब को दिखलाकर कहते हैं "माँ यह कौन है ? लोभ से नवनीत चुराने के लिये घर में घुसा है। मेरे मना करने पर भी नहीं मानता, डाँटने पर यह भी बिगड़ने लगता है। माँ, तू तो जानती है कि मुझे माखन अच्छा नहीं लगता।" किसी दूसरे दिन माँ को किसी और काम में व्यग्र देखकर फिर आप नवनीत चुराने पहुँच गये। माँ आकर देखती और पूछती है कि कृष्ण कहाँ है ? यह सुनकर आप कहते हैं कि "मैया, कङ्कण के पद्मराग-तेज से मेरा हाथ जल रहा है, इसी लिये उसे नवनीतभाण्ड में छोड़कर शीतल कर रहा हूँ।" ऐसे मनोहर कर्णरम्य वचनों को श्रवण करके माता कहती है "आओ, वत्स आओ, देखूँ तो तेरा हाथ कैसे तप रहा है।" कृष्ण हाथ फैलाते हैं। उसका चुम्बन करके माता कहती है—"सचमुच हाथ जल रहा है, यहाँ से पद्मराग को दूर करो।"

एक दिन पूर्ण-चन्द्रिका से धौत अपने मणिमय प्राङ्गण में व्रजदेवियों के साथ गोष्ठी करती हुई व्रजरानी विराजमान थीं। वहाँ

श्रीकृष्ण ने चन्द्रमा को देखा और पीछे से आकर शिर से खिसके हुए पट पर माता की स्खलित वेणी को पकड़कर कहने लगे कि "माँ, मैं इसको लूँगा"। बालक को गद्गद-कण्ठ देखकर माँ स्नेहार्द्र-चित्त हो गई और अपने पास बैठी हुई सखियों पर दृष्टि डालकर कहने लगी कि "तुम्हीं पूछो, यह क्या माँगता है।" विनय, प्रणय, स्नेहसहित वे पूछती हैं "बेटा, क्या क्षीर चाहते हो?" कृष्ण 'नहीं'। तब फिर क्या 'सुन्दर दधि'? 'नहीं'। 'फिर क्या कूर्चिका[1]'? "नहीं नहीं"। 'तब क्या आमिक्षा'[2]? 'अरे नहीं'। 'तब बेटा क्या नवनीत[3] लोगे'? 'उँहूँ'। 'तब फिर क्यों मचलते हो और माँ को कुपित करते हो'? श्रीकृष्ण अँगुली उठाकर चन्द्र को दिखलाते हुए कहते हैं कि "मैं तो वह नवनीत-खण्ड लूँगा।"

"किं क्षीरं न किमुत्तमं दधि न ना, किं कूर्चिका वा न ना-
ऽऽमिक्षा किं न न किं तवेप्सितमहो! हैयङ्गवीनं घनम्।
दास्यामो न विषीद वत्स न तरां कुप्यस्व मात्रे गृहो-
त्पन्नेनारुचिरित्युदङ्गुलिदलः शीतांशुमालोकयन्॥"

व्रजदेवियाँ कहती हैं कि अरे बेटा यह नवनीत नहीं है, व्योम-वीथी-तड़ाग में यह कलहंस है। कृष्ण—"तब तो फिर इसी के साथ खेलूँगा, देखो कहीं भाग न जाय" ऐसा कहकर भूमि पर चरण युगलों को नचाते हुए, बड़ी उत्कण्ठा से व्रजदेवियों के कण्ठ में लिपट जाते हैं और कहते हैं 'मेरे लिये इसे ला दो'। जब वे बाल्यावेश से रोने लगते हैं तब कुछ व्रजदेवियाँ कहती हैं

१ मलाई। २ छेना। ३ मक्खन।

"बेटा! इन लोगों ने प्रतारण किया है। यह कलहंस नहीं किन्तु पीयूष-रश्मि चन्द्रमा है।" इस पर कृष्ण फिर कहते हैं "मैं उसी को खेलने के लिये माँग रहा हूँ।" बालक को जोरों से रोते देखकर माँ गोद में उठा लेती है और कहती है "लाल यह न राजहंस है, न चन्द्रमा; वह नवनीत ही है, पर दैवात् उसमें विष मिल गया है, उसे कोई खाता नहीं है।" कृष्ण ने उत्सुक होकर पूछा "माँ, विष क्या होता है? वह इसे कैसे लग गया?"

पूर्व आवेश छोड़कर रसान्तर को प्राप्त श्रीकृष्ण की कथा-श्रवण में जिज्ञासा देखकर माता सोचती है कि चलो अच्छा ही हुआ। फिर आलिङ्गन करके मधुर स्वर में कहती है "बेटा, एक क्षीरसागर है।" झट कृष्ण पूछ बैठते हैं "वह कौन है?" माता उत्तर देती है "जैसे यह दूध दिखाई देता है, वैसे ही वह दूध का समुद्र है।" पर बालकृष्ण को इस उत्तर से सन्तोष कहाँ? वे फिर पूछते हैं "माँ, कितनी गौओं के स्तनों से इतना दूध निकला कि समुद्र बन गया?" यशोदा उत्तर देती हैं 'वत्स, यह गो-दुग्ध नहीं है।' यह बात बालक की समझ में नहीं आती है। वह कहता है "बस रहने दे माँ, झूठी बातें मत बना। भला बिना गौओं के भी कहीं दूध होता है?" इस पर हँसते हुए माँ कहती है "बेटा, जिसने गौओं में दूध रचा है वही बिना उनके भी क्षीरसागर रच सकता है।" कृष्ण "माँ, वह कौन है?" माता "वह भगवान् हैं जो सब संसार के कारण हैं।" कृष्ण "माँ, फिर भगवान् कौन हैं?" माता "वत्स, वे अजन्मा हैं।" इस पर कृष्ण चुप हो जाते हैं और यशोदा कथा

आगे बढ़ाती है। "बेटा, एक बार देवताओं और असुरों के विवाद में असुरों को मोहन करने के लिये उन्हीं भगवान् ने क्षीर-सागर का मन्थन किया था। वहाँ मन्दराचल मथानी का दण्ड और नागराज वासुकि रज्जु बने थे, जिसको एक ओर से देवता और दूसरी ओर से असुर खींचते थे।" इस पर कृष्ण बीच ही में बोल उठे "जैसे गोपाङ्गनाएँ दधि मथती हैं।" 'हाँ' कहकर माता फिर कथा सुनाती है "क्षीर सागर मथने पर उसमें से काल-कूट नाम का विष निकला।" कृष्ण "दूध में कहीं विष होता है? वह तो माँ सर्प में होता है।" माता 'अरे सुन तो बेटा, देवताओं की प्रार्थना पर उस कालकूट विष को भगवान् शङ्कर ने पान किया। उस समय विष के जो बिन्दु गिर पड़े थे, उन्हीं को पीकर भुजङ्ग विषधर बन गये। यह उसी भगवान् की शक्ति है जिससे दुग्ध में भी विष हो गया। यह नवनीत-खण्ड (चन्द्र) भी उसी क्षीर सागर के मन्थन से निकला था, इसी लिये इसमें विष का अंश है। तभी तो लोग इसमें कलङ्क मानते हैं। इसके लिये हठ न करके घर का नवनीत खा लो बेटा।" यह कथा समाप्त भी न होने पाई थी कि भगवान् कृष्ण 'हूँ' 'हूँ' करते सो गये।

कभी व्रजदेवियाँ कहती हैं "हे कुलेश लाल, रे मोहन, बलि-हारी जाऊँ नेक थि, थि, थि, नाचो तो।" यह सुनकर ताल व लय से भगवान् नाचते हैं।

> "निर्मञ्छनं तव भजाम कुलेश लाल्य
>
> बाल्यातिमोहन बलानुज नृत्य नृत्य।

इत्यङ्गनाभिरसकृत्थि थि थीत्थि थीति
क्लृप्तेन तालवलयेन हरिर्नर्नर्त ॥"

मुग्ध होकर जब व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं कि "वाह वाह, कितना सुन्दर नाच है," तब और नाचते हैं। परन्तु जब वे सौष्ठव तथा स्खलन में मुदित होकर हँसने लगती हैं, तब लज्जित होकर श्यामसुन्दर माँ की गोद में भाग जाते हैं। कभी वे गोपियों के कहने पर माता के समीप वेणु बजाते हैं।

"निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात,
वेणुं पुनर्ललन वादय वादयेति ।
ऊचुयदा स जननीजनकोपकण्ठे,
तं वादयन्नथ तदा सरसी करोति ।"

श्रीकृष्ण भगवान् की बाल-लीलाएँ अनन्त हैं। उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय। यह सारा विश्व-प्रपञ्च उनकी लीला ही तो है।

४

व्रजाङ्गना-प्रेम

श्री वृन्दारण्य-धाम के कवियों ने 'श्वेत द्वीप' के नाम से गाया है। वहाँ चिन्तामणियों के सुन्दर मनोहर विशाल भवन बने हुए हैं। कहीं सुन्दर कुञ्ज अपनी दिव्य सुन्दरता, मधुरता तथा दीप्ति से मणिमय भवनों की शोभा बढ़ा रहा है, कहीं विचित्र सदन अपनी विचित्रता से कुञ्जों की शोभा का विस्तार कर रहे हैं, कहीं कमलादिवलित जल, स्थल की शोभा और कहीं स्थल अपनी अद्‌भुत रचना से जल का भ्रम उत्पन्न करते हैं। यहीं मणियों एवं नाना प्रकार की दिव्य धातुओं से पूरित श्री गोवर्धनाद्रि विराजमान है, और सरित्‌श्रेष्ठ श्रीयमुनाजी प्रवाहित हो रही हैं, जिनके दोनों तट रत्नों से बँधे हुए हैं। यहाँ की समस्त कान्ताएँ लक्ष्मीरूपा हैं और समस्त कान्त परम पुरुष रूप हैं। यहाँ साधारण द्रुम भी कल्पतरु हैं। यहाँ की भूमि चिन्तामणिमयी और जल शुद्ध अमृत है। यहाँ की साधारण कथा भी अद्‌भुत गान और गमन नाट्य है। यहाँ का आस्वाद्य चिदानन्दघन परम ज्योति है। ऐसे शुभ कल्प-वृक्षों के अरण्य में आनन्दकन्द व्रजचन्द्र सुरभि-वृन्द का पालन करते हैं। उनके

दर्शन तथा स्पर्श से तरुलताओं में भी पुलकावलि हो रही है। श्रीगोवर्धन मणिमय शिलाओं का आसन प्रदान करते हैं।

वहाँ वृक्षों को अङ्कुरित करनेवाली, पाषाण-पर्वतों को पिघलानेवाली, जल में स्तब्धता किंवा घनीभाव सम्पादन करनेवाली तथा सरिताओं के प्रवाह को भी विपरीत करनेवाली लोकोत्तर प्रभावशालिनी वंशी का अद्‌भुत नाद होता है। जिस समय श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र से विनिःसृत सुमधुर अधरामृत ही मुरली के छिद्रों से गीत-पीयूष रूप में प्रकट होता है, उस समय उसकी माधुरी में विभोर गौओं के स्तनों से अति सुगन्धित दुग्ध के गिरने से चारों ओर क्षीर ही क्षीर भरपूर हो जाता है। अतः परमानन्दमय स्वच्छन्द शुद्ध दुग्धाब्धि के मध्य स्थित श्रीमद्‌वृन्दावन धाम श्वेतद्वीप के समान ही प्रतीत होता है।

समस्त प्रवाह अपने से संसृष्ट पदार्थ को गन्तव्य स्थल की ओर ले जाते हैं, परन्तु वेणु-ध्वनि का विलक्षण प्रवाह अपने में संसृष्ट तत्त्व को अपने उद्‌गम-स्थान श्रीकृष्ण की ओर ही ले जाता है—

"सर्वः प्रवाहः सर्वत्र स्वानुकूल्येन कर्षकः।
वेणुध्वनिप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति॥

आश्चर्य से सब का ही आकर्षण होता है, फिर जब स्वयं माधव ही उस पर मोहित हो जाते हैं, तब फिर औरों का कहना ही क्या?

श्री हरि के प्रेम से श्री व्रजाङ्गनाओं की गान-सम्मिलित मधु-मधुर राग-प्रणयिनी मूर्च्छा को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि वे सुखिनी हैं या दुःखिनी। कहीं गान हो रहा है, कहीं वाद्य, कहीं प्रेम-गोष्ठी और कहीं महाकेलि-कलह। इस तरह श्रीहरि के प्रेममय विहरण का ध्यान करते हुए कवि के चित्त में नाना प्रकार की व्याकुलताएँ उत्पन्न होती हैं, प्रेम भी कामना करता है, प्रेम-क्रिया कलह करती है और स्तम्भादि भावावली असंख्य रूपों में प्रकट होती है। श्रीहरि उन व्रजाङ्गनाओं में अकुण्ठ उत्कण्ठा करते हैं और वे भी व्रजराजकुमार में अद्भुत प्रेम करती हैं।

श्रीव्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण-सम्मिलन-मनोरथ मनोमय रथ पर आरूढ़ होता है, रति अत्यन्त दीर्घ और लज्जा पारशून्य हो जाती है, जनों की आशंकाएँ भी बहुत होने लगती हैं, अति तिग्म अरति अनुत्साह दुश्चिकित्स्य हो जाता है, राग साठी धान की तरह भीतर ही परिपाक को प्राप्त होता हुआ भी किसी को विदित नहीं होता है, परिजनों के प्रश्नों पर भी अनुराग छिपाया जाता है। अनुभव मात्र गोचर रस की तरह अनिर्वचनीय, मुख्यार्थ के समान दुस्तवर्य, निरूढ़ लक्ष्यार्थ के समान अव्यङ्ग्य हो जाता है और अन्तर में विघूर्णमान होकर भी स्थिर रहता है।

वे श्रीकृष्ण से मिलने के लिये व्याकुल हो उठती हैं और स्पष्ट कहती हैं कि "ऐसे पुरुष-भूषण से जो सुभ्रू अपने हृदय को नहीं भूषित करतीं उनका कुल, शील, यौवन और रूप, सम्पत्ति व्यर्थ है। सखि ! मैंने तो जीवन की बाजी लगा दी है। अब

गुरुओं और सुहृदों से क्या डर! यदि प्रियतम मिलें तो फिर भला किससे डर और यदि न मिलें तो भी किसी से डर नहीं। यदि माधव मेरा हनन करना चाहें तो करें, यदि बान्धव मुझे त्यागते हों तो त्यागें और यदि साधुजन हँसते हों तो हँसें। मैंने तो श्यामसुन्दर को स्वीकार कर लिया है। सखि! उसका नाम कानों के पास आते ही लज्जा को विलोड़न, धैर्य्य का भङ्ग, आर्य्यभीति का भेदन और चित्तवृत्ति को छिन्न कर देता है।"

"इहशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥
जीवितं सखि पणीकृतं मया किं गुरोश्च सुहृदश्च मे भयम्।
लभ्यते स यदि कस्य वा भयं लभ्यते न यदि कस्य वा भयम्॥
माधवो यदि विहन्तु हन्यतां बान्धवो यदि जहाति हीयताम्।
साधवो यदि हसंति हस्यतां माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥
व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्य्य-
भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे,
हृष्टः स किन्न कुरुतां सखि मद्विधानाम्॥

व्रजाङ्गनाओं के अङ्ग में अनङ्ग तो अवस्था-क्रम से ही प्रविष्ट होता है, साङ्ग पर श्यामाङ्ग तो उनके हृदय में प्रथम ही से प्रविष्ट हो जाता है।

"हृदयमनङ्गस्तासामविशद्वयसः क्रमादेव।
श्यामाङ्गः स तु साङ्गो विवेश सहसा ततः पूर्वम्।"

श्रीकृष्ण के दर्शन एवं श्रवण बिना ही व्रजदेवियों में उनकी स्फूर्ति उसी तरह होती है जैसे अन्तःपुर में सम्यक् संरक्षित कन्याओं में मदन का सञ्चार होता है। अतएव नवयौवन-विकाश के प्रथम ही श्रीकृष्ण में व्रजाङ्गनाओं की जो प्रीति है, वह अतिशयोक्ति नहीं किन्तु स्वभावोक्ति ही है।

प्रभु-सम्मिलन की उत्कण्ठा से समस्त पृथिवी ध्वज कमलादि विलक्षण-लक्षणों से लक्षित चिह्न से युक्त होकर उपलब्ध होती है, समस्त-जल कृष्ण सदृश यमुनाजल के समान हो जाता है, व्रजकुमार की श्यामल दीप्ति से समस्त तेज रँग जाता है, उनके शरीर-सौगन्ध्य से सारा वायु सुगन्धित हो जाता है, और उनके मुख-चन्द्र की चन्द्रिका से समस्त आकाश जगमगाने लगता है। नयनों में उन्हीं का श्यामस्वरूप, रसना में उन्हीं का अधर-रस, नासिका में उन्हीं के सौगन्ध का घ्राण, श्रवण में उन्हीं का मधुर गान, त्वचा में उन्हीं के श्री अङ्ग का स्पर्श, उनके ही दर्शन की क्षण-गणना में संख्या, उनके प्रेम-परीक्षण में परिणाम, गुरुजनों से ही पृथक्त्व, तदाकार में ही मन का संयोग, गुरुजनों में परत्व, कृष्ण-सम्बन्धियों में ही अपरत्व, जीवन में गुरुत्व, चित्त में द्रवत्व, प्रेम में ही स्नेहत्व, संयोगचिन्ता ही में बुद्धि, संयोग-प्रत्याशा में ही सुख, विप्रयोग में ही दुःख, तत्सम्बन्ध में ही इच्छा, गुरु आदि में ही द्वेष, कृष्णोपसर्पण में ही प्रयत्न, तदुपसत्ति में ही धर्म, तदन्यथाभाव में ही अधर्म और तत्प्रेमकरण में ही संस्कार प्रतीत होते हैं।

व्रजाङ्गनाएँ अपने प्रियतम के वियोग-जन्य तीव्र ताप को प्रशान्त करने के लिये अपने श्रोत्रों में नीलेन्दीवर रूप से, नेत्रों में अञ्जन रूप से, हृदय में महेन्द्र नीलमणि रूप को, भूषण और मृगमद तथा नील-निचोल रूप में अपने प्रियतम श्यामसुन्दर को ही धारण करती हैं।

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां, मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

पर वे ही प्रेम के उद्रेक में अपने परम सौभाग्य को भूलकर अपने प्रियतम के भूषणों से ईर्ष्या करने लगती हैं और अपना दैन्य व्यक्त करती हुई कहती हैं कि "हे कुण्डलमकरि, तू हमारे प्रियतम के कपोल का चुम्बन करती है। हे वंशि, तू हमारे प्रियतम के अधरामृत का पान करती है। हे माले, तू तो उनका आलिङ्गन करती है, युक्त ही है; क्योंकि तुम लोगों ने तो समस्त विधियों का अतिलङ्घन कर डाला है और हम तो उन-उन विधि-विचारों के कारण ही स्वाभीष्ट से वंचित हैं।"

"गण्डञ्चुम्बसि कुण्डलस्थमकरि त्वं तस्य वंशित्वम-
प्यास्यं लेक्षि तथाङ्गमेवमसकृन्माले त्वमालिङ्गसि॥
तद्युक्तं यदतीतसर्वविधिका यूयं वयन्तु स्फुटं,
हा ! तत्तद्विधिना विचारहतकेनाभीप्सिताद्वञ्चिताः॥"

"अहो, यह पुण्य मुक्ता और रत्न भी जब श्रीहरि के उरः-स्थल को नहीं छोड़ते तो फिर स्मरपीड़ित हम स्त्रियों का कहना ही क्या है?"

"अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुरः ।
न त्यजन्ति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः ।।"

"सखि ! प्रियतम यदि दूसरों का सङ्गम न करें तब तो हमें कोई सन्ताप नहीं होता, परन्तु वे अपने सङ्गी-सखाओं को निःशङ्क होकर अङ्कमाल भरते हैं, यह सब हम कैसे देखें ?"

"चेन्न सङ्गम परस्य विधत्ते श्याम एष न तु तर्हि दुनोमि ।
अङ्कमालयति हा गतशङ्कः संगिनः कथमहं कलयानि ।।"

प्रेममयी व्रजाङ्गनाओं की लोकोत्तर प्रेमदशा में श्रीकृष्ण की दृष्टि भी विलक्षण रूप से प्रस्फुरित होती है। अन्यत्र श्रीकृष्ण के दृक्प्रान्त को सत्पुरुषों ने शास्त्र का फल कहा है; परन्तु व्रजाङ्गनाओं में वह शस्त्र का ही फल है।

"कृष्णस्यान्यत्र दृक्प्रान्तः सद्भिः शास्त्रफलं स्मृतम् ।
हन्त तासु पुनः सोऽयमेभिः शस्त्रफलं मतम् ।।"

श्रीकृष्ण और उनकी प्रियतमाओं के हृदयों में भाव-ज्वाला रात-दिन प्रज्वलित रहती है। वे प्रातः-सायं पारस्परिक विलोकन-जन्य सुख रूप आज्य से सिक्त होती हैं।

"रात्रिं दिवं वसति चेतसि हन्त भाव-
ज्वाला हरेरुत तदीयरमागणानाम् ।
सन्ध्याद्वये व्यतिविलोकसुखाज्यसिक्ता
साग्निद्विजालय इवाग्निततिः समिद्धा ।।"

श्री वृषभानुनन्दिनी में तो ऐसा अद्भुत प्रेम का सञ्चार है, जिसको कृष्ण स्वयं भी नहीं समझ पाते हैं। वे ही ललिता प्रभृति

सखियों से कहते हैं कि "यह तो मेरे पूर्वानुराग में ही गलित हो चुकी है और मेरे सम्मिलन में भी लोकापवाद से दलित होती है। विप्रयोग में तो यह दावानल-ज्वलित जातिवनी के समान हो जाती है, इसे मैं कैसे सान्त्वना दूँ।"

"पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि,
लोकापवाददलितामथ मद्वियुक्तौ।
दावानलज्वलितजातिवनीसदृक्षा-
मेतां कथं कथमहो वत सान्त्वयामि॥

सखियों के पूछने पर स्वयं वृषभानुनन्दिनी कहती हैं कि "हे सखि! न मैं मूढ़ ही हूँ, न मुझमें किसी प्रकार दुराग्रह है और न शारीर-सम्भोग में कोई लालसा है। किन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर में कोई ऐसे अद्भुत गुण ही हैं जो मुझे बलात् अपस्मार दशा को प्राप्त कर देते हैं।"

"न मूर्खधीरस्मि न वा दुराग्रहा,
शारीरभोगेषु न चातिलालसा।
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा,
बलादपस्मारदशां नयन्ति माम्॥"

राधा-माधव दोनों ही आदर्श तल के समान अत्यन्त स्वच्छ हैं, अतः परस्पर के भाव परस्पर में सम्यक् व्यक्त होते हैं। दोनों की दृष्टि प्रतिबिम्ब के व्याज से अन्योऽन्य नेत्रों में प्रविष्ट होती है। शोभा के व्यतिमिश्रण से मानों दोनों ही परिवर्तन चाहते हैं।

"सुभ्रु वो मुररिपोश्च दृग्द्वयं विम्बदम्भमविशत्परस्परम् ।"

श्रीकृष्ण-लीलाओं का गान करती हुई भावावेश में गोपाङ्गनाएँ तत्तद्भाव को प्राप्त हो जाती हैं, पर श्री वृषभानुनन्दिनी तो कृष्णावेश में गौराङ्गी होकर भी कृष्णवर्ण प्रतीत होती हैं।

"लीला गायंस्तत्तदावेशवश्य-
स्तत्तद्भावं प्राप गोपीनिकायः ।
चित्रं कृष्णे वेशिता मायया या
गौराङ्गी सा कृष्णवर्णा प्रतीता ॥"

श्रीराधा के रूप-लावण्य का कहना ही क्या है। अरुणचन्द्र का उदय देखकर श्रीकृष्ण उत्प्रेक्षा करते हैं—क्या यह क्रुद्ध हुए कामदेव का मुख है? नहीं, नहीं, यह तो क्षण क्षण में शुभ्रता को प्राप्त हो रहा है। फिर क्या यह राधा का वियोगी मुख है? नहीं, यह भी नहीं; चन्द्र में कलंक है, पर राधा का मुख तो परम निष्कलंक है। हे चन्द्र, 'मैं अनुपम दीप्तिमान् हूँ', ऐसा अभिमान मत कर, क्योंकि तू तो वृषभानुनन्दिनी के चरण-नखों की भी उपमा देने योग्य नहीं है।

श्रीराधा के प्रेम में गद्गदकण्ठ, सजलनयन और अंग-पुलकावलियों तथा कम्प से युक्त होकर माधव मधुर वेणु बजाने लगते हैं।

"साश्रुकण्ठनयनं सकण्टकं कम्पसम्पदयनं स माधवः ।
राधिकाविरहजाधि बाधितः श्रव्यवेणुकलभव्यमाजगौ ॥"

वे ऐसे राग का सञ्चार करते हैं कि अपनी प्रेयसी के हृदय में राग के समान स्थिर हो जाते हैं।

वे वंशी द्वारा अपनी प्रेयसी का आह्वान करते हैं—"हे सुधांशु-सुधामुखि राधिके, हे दयिते, मुझ पर सदा दया करनेवाली, तुम्हारे गुणों से मेरा हृदय चिरकाल से उत्कण्ठित और पीड़ित है।"

"अयि सुधांशुसुधामुखि राधिके,
मयि सदा दयिते दयि ते चिरम्।
मधुरभावधुरामधु माधवि,
तव गुणैर्हृदयं मम दीर्यति ॥

कभी तड़ित् को मेघ के अंक में देखकर श्रीवृषभानुनन्दिनी उत्प्रेक्षा करती हैं—"अयि सखि तड़ित्, तूने कैसी तपस्या की थी, जो तू हमारे प्रियतम कृष्ण के समान अम्बुद के अंक में सदा रमण करती है।"

"अयि तडित्त्वमसौ क्व नु किं तपः,
कियदहो कृतवत्यसि तद्वद।
यदिदमम्बुधरं हरिवक्षस-
स्तुलितमालिगता रमसे सदा ॥"

अहह, देखो तो कृष्ण घन के साथ इस चपला का खेलना! इस पर कोई सखी पूछती है "राधे, क्या कृष्ण की काम-क्रीड़ा का स्मरण कर रही हो?" राधा कहती हैं "नहीं, नहीं, यह तो ऋतु-गुण का वर्णन है।"

"अहह पश्यत कृष्ण घनाघनं,
प्रसजतो चपला खलु खेलति ।
स्मरसि किन्तु हरेः स्मरकौतुकं,
नहि नहीदमृतोगुणवर्णनम् ॥"

फिर मन ही मन सोचती है, यह तड़िन् बड़ी पुण्यशालिनी है, जो सदा घन के आश्रित ही जीवन धारण करती है और विना उसके कभी दिखाई भी नहीं देती। हम ऐसी पुण्यशालिनी क्यों न हुई ?

"तड़ितः पुण्यशालिन्यः सदा या घनजीवनाः ।
तेन सार्द्धं व्यदृश्यन्त नादृश्यन्त च तं विना ॥"

हे तड़ित्, जिसके अन्तर में, तू निवास करती है, यदि वह जलद तुझे नहीं जानता तो फिर क्यों थोड़ी सी भी व्यक्ति को प्राप्त होते ही वह तुझे छिपा लेता है ?

"अन्तरे वसति यस्य चञ्चला ज्ञायते न जलदेन तेन चेत् ।
व्यक्तिमीषदपि तर्हि संगता गोप्यते किमिति सा मुहुः ॥"

नील जलद पर विद्युत् का विलास देखकर भीरुओं के हृदय भयभीत होते हैं। सखि, क्यों परिहास करती हो ? क्या यह आश्चर्य नहीं देखती ?

"जलदे विलसति विद्युद्बिभेति हृदयानि भीरूणाम् ।
किं परिहससि सखि त्वं किं नहि पश्यसि पुरश्चित्रम् ॥"

फिर वंशी के सौभाग्य को देखकर अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, हम वंशजन्म की याचना करती हैं, कुलवधू होना

नहीं चाहतीं, क्योंकि वंशजन्म में श्रीकृष्ण स्वयं ही आसक्ति से सदा मिले रहेंगे परन्तु कुलवधू होने में तो उनका मिलना दुर्लभ हो जायगा।

"याचेऽहं वंशदेहं न तु कुलजवधूदेहमाद्ये हि कृष्ण-
स्तृष्णग्भावेन सज्जन् बहुरुचि विहरन्दुर्लभः स्यात्तरत्र।"

कभी किसी तरुण-तमाल पर सुवर्णवर्ण वल्लीश्रेणियों को उलझी हुई देखकर व्रजाङ्गनाएँ कृष्ण का और कृष्ण राधा का आश्लेष करके अद्भुत विश्रान्ति को प्राप्त होते हैं।

श्रीराधा को श्रीकृष्ण-सम्मिलन के पूर्व में ही कोई ऐसा अद्भुत तृष्णाजनक हृद्विकार उत्पन्न हो जाता है, जो अपक्व तथा अरसभावित वंश को घुन की तरह सतत निकृन्तन करता है। कपोलतल पाण्डु, अधर आतपशुष्यमाण किसलय सदृश और युगल नयन ओसकणयुक्त नलिनदल के समान हो जाते हैं। श्वास ग्रीष्म दिन के समान दीर्घ और उष्ण होने लगता है। अन्तःसार-शून्य अवलोकन अशक्त हृदय के समान, गमन आत्माराम प्रस्थान के समान उद्देश्यशून्य और सभी आचार ग्रहग्रस्त समाचार के समान जान पड़ने लगते हैं। श्रीराधा निरन्तर सर्वशून्य ही देखती हैं। अहर्निशि अश्रुधारा बहाती हैं। कभी स्वेदयुक्त एवं गद्गदकण्ठ होकर कभी जड़ता को और कभी ग्लानि को प्राप्त होती हैं। बुलाने पर भी नहीं बोलतीं। उनकी यह दशा देखकर सखियाँ यद्यपि यह समझ लेती हैं कि यह श्रीकृष्ण-विषयक राग का ही लक्षण है श्रीकृष्णरूप नवाम्बुद श्रीराधा के हृदय में प्रविष्ट

होकर विलसित होता है। यदि ऐसा न होता तो पुलकावलि के साथ दोनों लोचनों से जल कैसे गिरता ?

तथापि विशेष रूप से आशय जानने के लिये श्रीकृष्ण की अङ्ग-कान्ति के समान श्यामल नीलेन्द्रमणि के अलंकारों तथा अश्रु, रोमाञ्च आदि विकार करनेवाले अञ्जन और अति सौरभ-सम्पन्न कुवलयों को लाकर सखियाँ कहती हैं कि 'हे सखि, नयनों के असारस्य को दूर करो और इन कृष्णाङ्ग-दीप्ति के समान आभूषणों तथा अञ्जनों को धारण करो।' श्रीवृषभानुनन्दिनी उनको देखकर और 'कृष्ण' नाम सुनकर प्रेम से विह्वल हो जाती हैं, अङ्गों में पुलकावलि होने लगती है, अश्रुधाराएँ नयनों के कज्जल को धोने लगती हैं और दीर्घ उष्ण श्वास चलने लगता है। सखियाँ प्रणय-परिहास करती हुई कहती हैं कि यह अञ्जन जब दर्शन से ही नयन-कमल को जल के वेग से आर्द्र कर देता है, पुरन्दरमणीन्द्र के आभरण विना धारण किये ही अङ्गयष्टि को विपुल पुलकावलियों से युक्त कर देते हैं और नीलेन्दीवर विना घ्राण किये ही नासिका में स्फूर्ति और सरसता कर देते हैं, तब फिर इन सबका उपयोग होने पर क्या होगा ?

वस्तुस्थिति ऐसी है कि अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधा-सिन्धुसार-सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान् श्रीव्रजाङ्ग-नाओं के अन्तरात्मा अंतःकरण प्राण, इन्द्रिय, किंबहुना रोम-रोम में ऐसे भरपूर हैं, जैसे तरङ्ग में जल। उनमें भी श्रीवृषभानुकुमारी, कृष्णहृदयेश्वरी श्रीराधा तो ऐसी अन्तरङ्ग हैं, जैसे अमृत में मधुरिमा। वे तो उनकी माधुर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी हैं।

उत्कण्ठा और सम्मिलन श्लेषादि केलि व्रजाङ्गनाओं तथा कृष्ण में वैसे ही होती है जैसे प्राकृत तरुण-तरुणियों में; परन्तु प्राकृतों में ये सभी भाव आत्मतृप्ति मात्र के लिये होते हैं पर श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं में वे सभी निरुपाधिक शुद्ध प्रेम-मूलक हैं।

उत्कण्ठा प्राप्तियोगः प्रतिपदमिलनाश्लेषचुम्बादिकेलिः,
श्रीगोपीकृष्णयोरप्यवरतरुणयोरप्यमी तुल्यरूपाः।
किन्तु प्राचोर्मिथः स्युर्निरवधिहिततामात्रशर्मप्रधाना-
स्तेऽर्वाचोरात्मतुष्टिप्रवलनपरतामात्रक्लृप्ताः प्रथन्ते ॥

———

४

व्रज-भूमि

श्रीव्रजराज-किशोर के प्रेम में विभोर भावुकों का सर्वस्व श्री-व्रजतत्त्व अपार, महामहिम, वैभवशाली तथा प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्चातीत है। साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द वृन्दावनचन्द्र के ध्वज-वज्राङ्कुशादियुक्त, परमपावन, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि-वन्द्य पादारविन्द से अङ्कित व्रजतत्त्व के सम्बन्ध से भूमि ने अपने को परम सौभाग्यशालिनी समझा है। अहो! जिसके कृपा-कटाक्ष की प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते रहते हैं, वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री सर्वसेव्या महालक्ष्मी ही जहाँ सेविका बनकर रहने के लिये लालायित है, उस सर्वोच्च-विराजमान व्रजभूमि के अद्भुत वैभव का कौन वर्णन कर सकता है?

परमाराध्यचरण श्रीव्रजदेवियों ने वृन्दावन-नव-युवराज नन्दनन्दन के प्रादुर्भाव से व्रज का सर्वाधिक विजय बतलाया है:—

"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि॥"

लोक और वेद से अतीत दिव्य-प्रेमवती व्रजयुवतीजन वहाँ प्राणपण से अपने प्राणनाथ प्रियतम परप्रेमास्पद के अन्वेषण में प्रेमोन्माद से उन्मत्त होकर इधर-उधर डोल रही हैं। लोक तथा

वेद में यह प्रसिद्ध ही है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' अर्थात् संसार भर की समस्त वस्तुएँ स्वात्म सम्बन्ध से ही प्रेमास्पद होती हैं। स्वदेह, स्वपुत्र, स्वकलत्र एवं गेह-ग्राम नगर राष्ट्र यहाँ तक कि, इष्ट देवता भी स्वात्म-सम्बन्धी ही प्रिय होते हैं। परमात्मा के स्वरूपान्तरों में भी वैसा प्रेम नहीं होता, जैसा स्वात्म-सम्बन्धी इष्टदेव में होता है। जब शर्करादि मधुर पदार्थों के सम्बन्ध से अमधुर चूर्णादि भी मधुर प्रतीत होते हैं तब शर्करादि स्वयं निरतिशय माधुर्य से सम्पन्न हो—यह बात जैसे निर्विवाद सिद्ध है, वैसे ही जिस स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध से अनात्मा भी प्रेमास्पद होता है, वह स्वात्मतत्त्व स्वयं निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है—यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है। परन्तु, ये व्रजसीमन्तिनियाँ तो अपने जीवनधन अशेषशेखर नट-नागर के लिये ही अपने स्वात्मा से भी प्रेम करती हैं।

उनका भाव है कि "हे दयित! हे चपल! आपके सुख के लिये ही हम इन प्राणों को धारण करती हैं। हृदयेश्वर! यदि यह देह, प्राण, आत्मादि आपके उपयोग में न आयें तो ये किस काम के? हम लोग तो आपके लिये ही इन सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि गुणों की रक्षा करती हैं। हे प्राणवल्लभ! नन्दलाल! समस्त सौख्यजात तथा तच्छ्रेषी आत्मा—ये सभी आपके लोकोत्तर मनोहर मन्दहास-माधुर्य-सुधासिन्धु पर न्योछावर हैं। किंवा, पादारविन्दगत नखमणि-ज्योत्स्ना पर राई-नोन के समान वारन योग्य हैं।"

धन्य है वह मङ्गलमय व्रजधाम जो ऐसी व्रजराजकुमार-प्रेयसी व्रजदेवियों के पादपद्म से समलंकृत है; जहाँ नयनाभिराम घनश्याम मनमोहन की मोहिनी मुरलिका की मधुर ध्वनि से त्रिलोकी के चराचर चकित हो रहे हैं; जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र-मुखपङ्कज-निर्गत वेणु-गीत-पीयूष से पाषाण द्रवीभूत होकर बह चले, तथा प्रेमार्त होकर कलिन्द-नन्दिनी महेन्द्र-नीलमणि के सदृश घनीभूत हो गई; जहाँ गौएँ छविधाम घनश्याम के परम कमनीय माधुर्य का अनिमीलित नयन-पुटों से अधैर्य के साथ पान कर रही हैं, और श्रोत्रपुटों से वेणुगीत पीयूष का आस्वादन कर रही हैं; जहाँ प्रेमविभोर वत्सवृन्द सुतवत्सला जननी के प्रेमप्रस्नुत स्तन्यामृत-पान के लिये प्रवृत्त हुए, परन्तु वंशी-निनाद-मन्त्र से मुग्ध हो गये और उनके मुख से दुग्ध बाहर गिरने लगा, अन्दर ले जाने की क्रिया को वे भूल गये; जहाँ के मृग-विहङ्ग भी विविध प्रकार के उपचारों से प्रियतम की प्रसन्नता के लिये व्यग्र हैं।

जिस परम-पावन धाम में तरु-लता गुल्मादि भी वेणुछिद्र-निर्गत शब्द-ब्रह्मरूप में परिणत भगवदीय अधर-सुधा का पानकर कुड्मल-पुष्प-स्तवकादिरूप रोमाञ्चोद्गम छद्म से, तथा मधुधारारूप हर्षाश्रुविमोक से, अपने दुरन्त भाव का व्यक्तीकरण कर रहे हैं; जिस धाम में प्रेमातिशय से प्रभु-पादपद्माङ्कित व्रजभूमिगत ब्रह्मा-दिवन्द्य-रज के स्पर्श के लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं; अथवा मनमोहन के दिये हुए निर्भर प्रेम के भार से ही विनम्र हो रही हैं; जिस व्रज की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक परमाणु,

बलात्कार से जावन-धन की स्मृति उत्पन्न कर प्रियतम के सम्मिलन की उत्कण्ठा को उत्तेजित करते हैं, जिस व्रज में निवास करनेवाले सौभाग्यशाली महापुरुषधौरेयों के ऋणी अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक को भी होना पड़ा, उस व्रज का महत्त्व किन शब्दों में, किस लेखनी द्वारा व्यक्त किया जाय ?

सत्यलोकपति ब्रह्मा ने कहा कि "हे नाथ ! आप इन लोकोत्तर-सौभाग्यशाली व्रजवासियों को क्या देकर इनसे उऋण होंगे", इस बात को सोचता हुआ मेरा मन निश्चय करने में असमर्थ हो व्यामोह को प्राप्त होता है ।

प्रभु ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक हूँ । मेरे पास दिव्यातिदिव्य अनन्त वस्तुएँ हैं जिन्हें देकर मैं इनके ऋण से उन्मुक्त हो सकता हूँ । फिर तुम्हें ऐसा व्यामोह क्यों ?"

इस पर ब्रह्मा ने कहा—"प्रभो ! इन अनन्तानन्त दिव्य वस्तुओं के प्रदान से आप इन घोष-निवासियों से उऋण नहीं हो सकते । क्योंकि, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत सब दिव्यातिदिव्य तत्त्व तो केवल सुख के अभिव्यञ्जक होने से ही उपादेय हो सकते हैं, पर उन अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत व्यक्त सौख्य-बिन्दु के परम-उद्गम-स्थल अचिन्त्यानन्तसौख्यसिन्धु आप ही हैं । फिर, भला जिनके प्राङ्गण में साक्षात् अनन्त परमानन्द-सुधासिन्धु ही कन्दर्पकामित परम-कमनीय कान्तिमय मूर्तिमान् धूलि-धूसरित होकर विहरण करें और रसिकेन्द्रवर्ग नन्दप्राङ्गण में जिस अप्रमेय सबाह्याभ्यन्तर तत्त्व को उलूखल-निबद्ध दारुयंत्रवत् व्रजसीमन्तिनी-वर्ग-विधेय बतलाते

हैं, उन्हें तुषार-विन्दु-स्थानीय सौख्याभिव्यञ्जक वस्तु के प्रदान से आप कैसे प्रसन्न कर सकते हैं ? जैसे कृतसंज्ञक चतुरङ्क द्यूत के विजित होने पर त्र्यङ्क-द्व्यंक-एकांक द्यूत भी उसके अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंवा सर्वतः संप्लुतोदक स्थानीय महासमुद्र को प्राप्त कर लेने पर वापी-कूप-तड़ागादिगत जल की अपेक्षा नहीं रह जाती, वैसे ही सौख्य-सुधानिधि सर्वफलात्मास्वरूप प्रभु के स्वायत्त होने पर फल्गु फलों की अपेक्षा कौन विवेकी कर सकता है ? अतः हे गोपाल-चूड़ामणे ! आप व्रजनिवासी वर्ग के ऋण से कैसे उन्मुक्त हो सकते हैं ?"

चतुर-चूड़ामणि व्रजवन-नवयुवराज बोले :—"ब्रह्मन्, तब तो मैं स्वात्म समर्पण द्वारा इनके ऋण से उऋण हो जाऊँगा। जब मैं ही सर्व फलात्मा हूँ तो मैं इनको स्वात्म-समर्पण से भी प्रसन्न कर सकता हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"नाथ ! वह स्वात्म-समर्पण तो आपने सर्व-फल-समर्हणीय श्रीचरणों की जिघांसा से विषलिप्त-स्तन्यपान करानेवाली द्वेषवती उस पूतना के लिये भी किया है। आप यदि यह कहें कि कुल-कुटुम्ब समेत व्रजवासियों को स्वात्म-समर्पण कर उऋण हो सकूँगा तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूतना का भी कोई कुल-कुटुम्ब आपकी प्राप्ति से वञ्चित नहीं रहा। भला जब आपका स्वात्म-समर्पण इतना सस्ता है कि बालघ्नी पूतना को भी आपने स्वात्मप्रदान कर दिया, तब जो धरा-धन-धाम-सुहृत्-प्रिय-तनय तथा आत्मा को भी आपके पादारविन्द-माधुर्य पर न्यौछावर

करनेवाले व्रजवासी जन हैं, उनसे आप स्वात्म-समर्पण मात्र से कैसे उऋण हो सकते हैं? यद्यपि कहा जा सकता है कि, बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ स्वात्म-समर्पण उनके लिये पर्याप्त है, परन्तु विज्ञजनों की दृष्टि में व्रजधाम-निवासियों की पदवी योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी दुर्लभ है; क्योंकि यम-नियम-प्राणायाम-प्रत्याहारादि द्वारा बाह्य-विषयों से मन को संयत कर योगीन्द्र अनुक्षण जिस तत्त्व के अनुसन्धान का प्रयत्न करते हैं उसी तत्त्व में इन व्रज-निवासियों की स्वारसिकी प्रीति है। राग यद्यपि प्राणियों के निःसीम स्वात्मसौख्य का अपहरण करनेवाला होने के कारण शत्रुवत् परिहार्य है, परन्तु, परम-सौभाग्यशाली इन घोषनिवासियों का राग तो प्रियतम-परम-प्रेमास्पद आपके मङ्गलमय स्वरूप में ही है। मोह भी प्राणियों की स्वाभाविकी स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाला होने से साक्षात् शृङ्खलारूप है; परन्तु इनका तो मोह भी आप में ही है। अतः इनके तो रागमोहादि दूषण भी भूषणरूप हैं। कारण, भगवत्तत्त्व-व्यतिरिक्त प्रापञ्चिक पदार्थ-विषयक ही रागादि त्याज्य हैं। भगवद्विषयक रागादि की प्रेप्सा तो प्रत्येक प्रेक्षावान् को ही होती है। कथञ्चित् वैराग्य से भी विराग हो सकता है, पर प्रेममय भगवान् से नहीं। तात्पर्य यह कि सर्वविषयक राग-त्याग से यद्विषयक राग की उत्कट प्रेप्सा सम्पादन की जाती है, तद्विषयक उत्कट-राग-सम्पन्न इन घोष-निवासियों के माहात्म्य की एक कला की भी बराबरी कौन कर सकता है?"

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति, न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवाऽऽपिता,
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥"

"प्रभो! अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक स्वयं आप जिनके ऋणी हैं, उन घोषनिवासियों की महिमा कौन वर्णन करे। सत्यलोकाधिपति जगत्पितामह श्रीब्रह्माजी भी व्रज के रजःस्पर्शलाभार्थ व्रज-वृन्दाटवी के तृण-गुल्मादि के रूप में जन्म लेने के सौभाग्य की अभिलाषा रखते हैं। उनको आशा है कि यहाँ के तृण-गुल्मादि होने से भी व्रजवासियों के चरण-रज का अभिषेक उन्हें प्राप्त होगा। उस व्रज के अन्तर्गत भगवान् की अनेक लीला-भूमि हैं, जो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रविषयिणी प्रीति का उद्दीपन करनेवाली हैं। यमुना-पुलिन, गोवर्द्धनाद्रि, गह्वरवन, कदम्बखण्डियाँ, नन्द-ग्राम, वरसाना, उद्धवक्यार, चरणाद्रि आदि ऐसे ऐसे मनोहर स्थान हैं जहाँ के परमाणु परमाणु में श्रीकृष्ण-प्रीति का सञ्चार करने की अद्भुत शक्ति देखी जाती है। वज्र-सदृश कठोर चित्त भी वहाँ हठात् द्रवीभूत हो जाता है।"

श्रीवृन्दावन-धाम तो व्रजभूमि का सर्वस्व है। श्रीव्रजभक्तों की पद-पङ्कज-रज के संस्पर्श-लाभ से, "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" के अनुसार, साक्षात् श्रीकृष्ण से भी अन्यून महाभागवत

उद्धव भी वृन्दावन-धाम के तृण-गुल्मादि होने की स्पृहा प्रकट करते हैं।

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥"

श्रीमत्प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभृति महानुभाव तो वृन्दावनधाम-वहिभू त अनन्त चिन्तामणियों की ही नहीं वरञ्च श्री हरि की भी उपेक्षा करने की सलाह देते हैं—

'मिलन्तु चिन्तामणिकोटिकोटयः,
स्वयं हरिर्द्वारमुपैतु सत्वरः।'

"विपिन-राज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहारौं" आदि।

वेदान्तवेद्य परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म निरतिशय होने के कारण, तारतम्य-विहीन होने पर भी वृन्दावनधाम में जैसा मधुर अनुभूयमान होता है वैसा और स्थलों में नहीं। अतएव भावुकों ने

"व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्"

के अनुसार द्वारकास्थ मथुरास्थ श्रीकृष्ण-व्यतिरिक्त श्रीकृष्ण में भी व्रजस्थ वृन्दावनस्थ निकुञ्जस्थ भेद से तारतम्य स्वीकृत किया है।

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकार का स्वाति-विन्दु स्थल-वैचित्र्य से विचित्र परिणामवाला होता है, शुक्तिका में पड़कर मोती के रूप से, बाँस में वंशलोचनरूप से, गोकर्ण में गोरोचनरूप से, गजकर्ण में गजमुक्तारूप से परिणत होता है, वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एकरूप होता हुआ भी अभिव्यञ्जक स्थल की स्वच्छता के तारतम्य से, अभिव्यक्ति-तारतम्य होने से, तारतम्योपेत होता है।

जैसे सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्य आदि अस्वच्छ पदार्थों पर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल, काँच आदि पर होती है, वैसे ही राजस-तामस स्थलों में ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलों में।

यह निर्मलता जैसे पार्थिव-प्रपञ्च में स्पष्ट अनुभूयमान है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्च में गुण-विमर्द-वैचित्र्य से क्वचित् प्रत्यक्षानुमान द्वारा, क्वचित् आगम तथा श्रुतार्थापत्ति द्वारा तारतम्योपेत होकर ज्ञात होती है। इसी लिये किसी स्थल में जाने से वहाँ अकस्मात् चित्तप्रसाद और किसी स्थल में चित्तक्षोभ आदि चिह्नों द्वारा भी स्थल-वैचित्र्य की अनुभूति होती है। व्रज-वन-निकुञ्जों में क्रमशः एक की अपेक्षा दूसरे में वैचित्र्य है। अतएव, वहाँ पूर्ण-पूर्णतर-पूर्णतमरूप से एक ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का प्राकट्य होता है।

तीर्थों की यह विशेषता प्रत्यक्ष है कि जिस तीर्थ में जितनी अद्भुत सात्त्विकता एवं शक्ति है, वहाँ उतनी ही सरलता से प्रभु की विशेषता की अनुभूति होती है। परन्तु जैसे कामिनी का रूप कामुकों पर ही प्रभावकारी होता है और सर्प-व्याघ्रादि-दर्शन से अधिक उद्वेग भीरु को ही होता है, वैसे ही सात्त्विक तथा भगवत्परायण को तीर्थगत विलक्षण शक्तियाँ प्रभावान्वित करती हैं; यद्यपि वैसे कुछ न कुछ प्रभाव तो सभी तरह के पुरुषों पर होता है, तथापि वह व्यक्त नहीं होता। परन्तु श्रुतार्थापत्ति द्वारा तीर्थों में शक्ति-वैलक्षण्य अवश्य ज्ञात है।

भावुकों ने व्रजतत्त्व को हिततम वेदवेद्य प्रेमतत्त्व का स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्व के व्रजधाम-स्वरूप देह में श्रीव्रजनवयुवतिजन इन्द्रियरूपिणी हैं। मनःस्वरूप रसिकेन्द्रवर्ग-मूर्धन्यमणि श्री व्रजराज-किशोर हैं तथा प्राणरूपा-प्रज्ञा के स्थान में श्रीव्रजनवयुवति-कदम्ब-मुकुटमणि कीर्तिकुमारी श्रीराधा हैं। यहाँ—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

इस श्रुति के अनुसार जैसे देह इन्द्रियों के, इन्द्रियाँ मन के और मन प्राणरूपा प्रज्ञा के परतन्त्र होता है, (यहाँ पर "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा" इस श्रुति-वाक्य के अनुसार क्रिया-शक्ति-प्रधान प्राण और ज्ञानशक्ति-प्रधान प्रज्ञा का ऐक्य विवक्षित है) एवं पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर में ही सम्मिलन होने से तद्रूपता ही होती है, उसी तरह व्रज श्रीकृष्णप्रेयसी व्रजाङ्गनाओं से विभूषित तथा उन्हीं के अधीन है। व्रजवनिताजन का जीवन श्रीव्रजेन्द्रकुमार हैं तथा श्रीकृष्ण-हृदय की अधीश्वरी प्राणाधिका राधिका हैं और वह केवल प्रेमसुधा-जलनिधि में ही पर्यवसित होती हैं।

प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेक में व्रजाङ्गनारूप ही हो जाता है और व्रजाङ्गनाएँ 'असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः', 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्' इत्यादि वचनों के अनुसार, श्रीकृष्ण-भावरस-भरिता होकर नन्द-नंन्दन-स्वरूपा हो जाती हैं। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में निजप्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी-स्वरूप हो जाते हैं तथा श्री

राधिका प्रेमस्वरूप में ही साक्षात् अपने प्रियतम के साथ निमग्न होती हैं।

इस प्रकार साक्षात् वेदान्तवेद्य परम-रसात्मक-सुधाजलनिधि के ही दिव्य-विकास-प्रेममय तत्त्व उसी में पर्यवसित होते हैं। इसी तरह अनाद्यनन्त रससागर में रसमय प्रिया-प्रियतम और उनके परिकर की रसमयी लीला का धाम अप्राकृत श्रीव्रज भी रसमय ही है।

यद्यपि व्रज में माधुर्य-शक्ति का प्राधान्य है, तथापि क्वचित् ऐश्वर्य-शक्ति का भी विकास होता ही है। क्योंकि माधुर्य-शक्ति का ही अधिक आदर होने पर भी, ऐश्वर्य-शक्ति मूर्तिमती होकर प्रभु की सेवा करने के सुअवसर की प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं करते हैं। इसी से मृद्भक्षण आदि लीलाओं में मुखान्तर्गत-ब्रह्माण्ड-प्रदर्शन आदि ऐश्वर्य-शक्ति के कार्य देखे जाते हैं। अतः, विशुद्ध माधुर्य-भाव का प्राकट्य श्रीवृन्दावनधाम में ही माना जाता है।

भावुकों का कहना है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सौख्य-विन्दुओं का परम उद्गम-स्थान जो अनन्त सौख्य-सुधा-सिन्धु है, उसका मन्थन करने पर सार से भी सारभूत नवनीत-स्थानीय जो तत्त्व हो, उसका भी पुनः सहस्रधा-कोटिधा मन्थन करने पर जो परम दिव्य-तत्त्व निःसृत हो वही वृन्दावनधाम का स्वरूप है। कारण-रूप जो अक्षर-ब्रह्म है, वही व्यापी वैकुण्ठ वृन्दावन है।

कार्य-कारणातीत वेदान्त के परम-तात्पर्य के विषयीभूत परम-तत्त्व श्रीकृष्ण के प्राकट्य का स्थल कारणात्मा अक्षर ही है। "पादो-

ऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि", "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार मायाविशिष्ट कारण-ब्रह्म एकपाद है। उसके ऊपर त्रिपाद्विभूति अमृत है।

जो महानुभाव वेदान्त-वेद्य, कार्य-कारणातीत परमतत्त्व को ही वृन्दावन मानते हैं, उनके सिद्धान्त में वहाँ का निवासी कृष्ण-तत्त्व अवैदिक ही होगा। इतना ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि एक ही में आश्रयाश्रयित्व असम्भव है।

"अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितम्" इस उक्ति के अनुसार भी अनन्तसंज्ञक अव्याकृत ही भगवान् का आसन है। उन्हीं का नाम शेष भी है। "शिष्यते-अवशिष्यते इति शेषः" अर्थात् जो अवशिष्ट रहे वही शेष कहा जाता है। कार्य के प्रलयानन्तर कारण ही शेष रहता है। उसका कोई कारणान्तर नहीं है जिसमें उसका प्रलय हो। कारण सप्रपञ्च है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म का वही निवासस्थल है। "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इस भगवदुक्ति के अनुसार सगुण कारण-ब्रह्म को, एकपादस्थानीय की, प्रतिष्ठा "त्रिपादूर्ध्वमुदैत्" ऊर्ध्व अर्थात् कार्य-कारणानन्तभूत ब्रह्म परमात्मा ही है।

किन्हीं महानुभावों के सिद्धान्त में यह प्रकट वृन्दावन ही अक्षर ब्रह्मव्यापी वैकुण्ठ है। परन्तु उसका वह स्वरूप अभावितान्तःकरण पुरुष को उपलब्ध नहीं होता है। अद्वैतसिद्धान्त में समस्त प्रपञ्च ही ब्रह्मस्वरूप है परन्तु शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कारों से संस्कृतान्तःकरण पुरुषधौरेय को ही वह उपलब्ध होता है। इसी लिये अद्वैतसिद्धान्त-परिनिष्ठित प्रबोधानन्द

सरस्वती* तदनुसार ही श्रीवृन्दावन को सच्चिदानन्दमय बतलाते हुए लिखते हैं :—

"'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति" ।

---

* कुछ महानुभाव कहते हैं कि इन्होंने अद्वैतसिद्धान्त का त्याग कर, चैतन्य महाप्रभु के शिष्य बनकर, गौड़ सम्प्रदाय स्वीकृत कर लिया था। कुछ लोगों का कथन है कि ये श्रीहितहरिवंशजी के शिष्य हुए थे। कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि इन बातों में कोई प्रामाणिक मूल उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि उनके बनाये ग्रन्थों में सर्वत्र ही अद्वैत-सिद्धान्ताभिमत तत्त्व का ही प्रतिपादन देखने में आता है। वृन्दावन-शतक आदि ग्रन्थों की उक्तियाँ ऐसी हैं जो अद्वैत-सिद्धान्त के सिवा अन्यत्र संघटित नहीं हो सकतीं। जैसे वृन्दावनधाम की आनन्दस्वरूपता, सन्निविष्ट जीवों की आनन्दस्वरूपता आदि अब्रह्म की ब्रह्मता होनी अत्यन्त असम्भव है। अतः, सुतरां, नित्य सिद्ध ब्रह्म-स्वरूप में ही आविद्यिक देशादि-संसर्ग से जीवभाव है। वस्तुतः वे अद्वैत-सिद्धान्तानुमत प्रेम-तत्त्व में ही आसक्त थे; भगवत्प्रेमियों से प्रेम करते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु भी अद्वैत सम्प्रदाय के ही संन्यासी थे और भगवान् के अनन्य उपासक थे। उनके द्वारा भी स्वसम्प्रदाय-त्याग की कथा केवल कल्पना ही है। उनके कोई ग्रन्थ ऐसे नहीं हैं जिनमें अद्वैत-सिद्धान्त का विरोध किया गया हो। वस्तुतः वे उत्कृष्ट कोटि के प्रेमी थे। खण्डन-मण्डन या नवीन सम्प्रदाय-प्रवर्तन उनको अभिमत ही न था। यथार्थ बात क्या है इसे तो भगवान् ही जाने।

"जिस वृन्दावन-धाम में प्रविष्ट होते ही कीट-पतङ्गादि भी आनन्द सच्चिद्घन स्वरूप हो जाते हैं", परन्तु, तादृशी प्रतीति तब तक नहीं होती जब तक प्राकृत-संसर्ग का बिलकुल अभाव नहीं होता।

यद्यपि जीव स्वभाव से ही "चेतन अमल सहज-सुख राशी" है, परन्तु आविद्यिक अनात्म संसर्ग से अनेकानेक अनर्थ-परिप्लुत प्रतिभासित होते हैं। अविद्या का विद्या द्वारा अपनयन होने पर उनका स्वाभाविक स्वरूप व्यक्त होता है। अतएव, कुछ लोग कहते हैं कि, भगवान् की अभिव्यक्ति का स्थल ही वृन्दावन है।

भगवदाकार से आकारित वृत्ति पर भगवत्तत्त्व का प्राकट्य होता है उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसी लिये जो महानुभाव वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्ध-वश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी-वैकुण्ठ, कारण-तत्त्व-स्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से, तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्ति-बल से कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।

भावुकों की दृष्टि में नित्य-निकुञ्ज श्रीवृन्दावन से भी अन्तरङ्ग समझा जाता है। नित्य-निकुञ्ज में वृषभानुनन्दिनी स्वरूप महाभाव-परिवेष्टित शृङ्गार-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रिया प्रियतम का सार्वदिक् सर्वाङ्गीण सम्प्रयोग का भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपात-ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय शीतल मधुर जल का पान करता

है ठीक उसी समय में पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है, वैसे ही नित्य निकुञ्ज-धाम में जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भण-जन्य रस में निमग्न होते हैं, उसी काल में तीव्रातितीव्र वियोग-जन्य ताप का भी अनुभव करते हैं।

सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रस का ही अनुभव करती है और चक्रवाकी विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग-काल में सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वञ्चित रहती है। किन्तु नित्य-निकुञ्ज में श्री निकुञ्जेश्वरी को अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद श्री व्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटि-गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य रस की अनुभूति होती है, और साथ ही चक्रवाकी की अपेक्षा शतकोटि-गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रस की भी अनुभूति होती है। ऐसे ही विषय में भावुकों ने कहा है —

"मिलेइ रहैं मानों कबहुँ मिले ना"

जैसे भावुकों के भावना-राज्यवाले शून्य निकुञ्ज में ही प्रियतम संकेतित समय में पधारते हैं, किसी अन्य के सान्निध्य में नहीं, वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी भगवान् से व्यतिरिक्त जो सब दृश्य-पदार्थ हैं उनके संसर्ग से शून्य निर्वृत्तिक और निर्मल अन्तःकरण में ही 'तत्पदार्थ' का प्राकट्य होता है।

जैसे सर्व-व्यापारों से रहित होकर पूर्ण प्रतीक्षा ही प्रियतम के सङ्गम का असाधारण हेतु है, वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी पूर्ण प्रतीक्षा अर्थात् कायिकी, मानसी आदि सर्व चेष्टाओं के निरोध होने पर ही 'त्वं पदार्थ' को 'तत्पदार्थ' का सङ्गम प्राप्त होता है। सर्व दृश्य-संसर्गशून्य निवृत्तिक निर्मल अन्तःकरणरूप निकुञ्ज में पूर्ण प्रतीक्षा-परायण व्रजाङ्गना-भावापन्न 'त्वं पदार्थ' श्रीकृष्ण स्वरूप 'तत्पदार्थ' के साथ यथेष्ट तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करता है। यही संक्षेप में व्रजधामतत्त्व तथा उसका रहस्य है।

५

श्रीरासलीलारहस्य *

इस अपार संसार-समुद्र में जिन लोगों के मन निरन्तर गोते लगा रहे हैं, उन्हें सब प्रकार के दुःखों से मुक्त कर अपने परमानन्द-मय स्वरूप की प्राप्ति कराने के लिये अहैतुक करुणामय दीनवत्सल श्री भगवान् ही स्वयं धर्मावबोधक वेद रूप में अवतीर्ण होते हैं। जिस समय कालक्रम से सर्वसाधारण के लिये वेद का तात्पर्य दुर्बोध हो जाता है उस समय श्रीहरि ही पुराणादि रूप में आविर्भूत होते हैं। पुराणों का मुख्य प्रयोजन वेदार्थ का निरूपण करना ही है। किन्तु यह सब रहते हुए भी परस्पर मतभेद रहने के कारण वेदार्थ-सम्बन्धी विरोध का निराकरण भगवान् की उपासना के द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण से ही हो सकता है। जिन लोगों की विवेकदृष्टि पारस्परिक विवाद के कारण नष्ट हो गई है उन्हें वेदार्थ का बोध कराकर परम कल्याण की प्राप्ति करने के लिये ही श्रीमद्भागवत का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि कहा है —

---

* इस विषय पर काशीजी में बहुत दिनों तक प्रवचन होता रहा। उसका यह सार मात्र है, जिसका कुछ अंश 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुका है।

कृष्णे स्वधामोपगत धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥

अर्थात् धर्म एवं ज्ञानादि के सहित भगवान् के स्वधाम सिधारने पर जिन मनुष्यों की दृष्टि कलियुग के कारण नष्ट हो गई है उनके लिये इस समय इस पुराण रूप सूर्य का उदय हुआ है। वस्तुतः, यह ग्रन्थ वेदार्थ-विरोध की निवृत्ति में सूर्य के ही समान है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि ।
गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ ग्रन्थोऽष्टादशसंज्ञितः ॥

अर्थात् यह श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदों का तात्पर्य है, तथा यह अष्टादशसंज्ञक ग्रन्थ गायत्री का भाष्य-स्वरूप है।

प्राचीन आर्षग्रन्थों में श्रीमद्भागवत एक अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल ग्रन्थरत्न है। इसके दशम और एकादश स्कन्धों में परमानन्दघन लीला-पुरुषोत्तम भगवान् कृष्णचन्द्र की दिव्यातिदिव्य लीलाओं का वर्णन है। लीलाविहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वथा रसमय हैं। उनकी कोटि-कोटि कन्दर्प-कमनीय मनोहर मूर्ति भावुक भक्तों के लिये जैसी मनोमोहिनी है वैसी ही उनकी लीलाएँ भी हैं। यों तो भगवान् की सभी लीलाएँ लोकोत्तर आनन्दातिरेक का सञ्चार करनेवाली हैं तथापि उनकी ब्रजलीलाएँ तो महाभाग भक्तों एवं कविपुङ्गवों का सर्वस्व ही हैं। उनमें भी, जिसका आविर्भाव एकमात्र रसाभिव्यक्ति के लिये ही हुआ था, वह महा-

रास तो मानो सर्वथा माधुर्य का ही विलास था। प्रभु की रासक्रीड़ा जैसी मधुर है वैसी ही रहस्यमयी भी है। उसके भीतर जो गुह्यातिगुह्य रहस्य निहित है वह आपाततः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। वह इतना गूढ़ है कि उसमें जितना प्रवेश किया जाता है उतना ही अधिकाधिक दुरवगाह्य प्रतीत होता है। हम यथामति उसका विचार करने का प्रयत्न करते हैं।

इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के अध्याय उनतीस से तैंतीस तक है। ये पाँच अध्याय 'श्रीरासपञ्चाध्यायी' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। ये श्रीमद्भागवतरूप कलेवर के मानों पाँच प्राण हैं; अथवा यदि इन्हें श्रीमद्भागवत का हृदय कहा जाय तो भी अयुक्त न होगा।

रासपञ्चाध्यायी के आरम्भ में 'श्रीवादरायणिरुवाच' ऐसा पाठ है। इस पाठ का भी एक विशेष अभिप्राय है। यहाँ 'वादरायणिः' शब्द से वक्ता का महत्त्व द्योतित कर उसके द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले विषय की महत्ता प्रदर्शित की गई है। लौकिक नीतियों के विषय में तो प्रायः इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उनका वक्ता कौन है; वहाँ केवल उस उक्ति की महत्ता का ही विचार किया जाता है।

'ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः'

किन्तु धार्मिक अंशों में यह नियम नहीं है। वहाँ तो वक्ता की योग्यता का विचार सबसे पहले किया जाता है। जिस प्रकार गायत्री मन्त्र है। उसका अर्थ किसी भी भाषा में कितने ही

सुन्दर ढंग से कर दिया जाय, जापक की उसमें श्रद्धा नहीं हो सकती और न मूल गायत्री के जप से होनेवाला महान् फल ही उससे प्राप्त हो सकता है। अतः धर्म के विषय में मनुष्य को 'वक्तृविशेष-सस्पृह' होने की आवश्यकता है। यहाँ वक्ता के कथन की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व का प्रामाण्य ही अधिक अपेक्षित है।

यदि देखा जाय तो लौकिक विषयों में भी यही नियम अधिक काम कर रहा है। हमें एक साधारण पुरुष की ऊँची-से-ऊँची बात उतनी मूल्यवान् नहीं जान पड़ती जितनी कि किसी गण्य-मान्य व्यक्ति की साधारण-सी बात जान पड़ती है। जिस पुरुष के प्रति हमारी श्रद्धा है उसकी बहुत मामूली बात पर भी हम बहुत ध्यान देते हैं। इससे निश्चय होता है कि लौकिक विषयों में यद्यपि प्रायः 'वक्तृविशेषनिःस्पृहता' होती है; वहाँ 'बालक से भी शुभ ज्ञान ग्रहण करने चाहिये'—यही नीति काम करती है तथापि सर्वांश में नहीं। कभी-कभी वक्ता की आप्तता का मूल्य वहाँ भी बढ़ जाता है।

यही बात वेद के विषय में है। वेद बहुत युक्ति-युक्त अर्थ को कहता है, इसी लिये वह माननीय हो—ऐसी बात नहीं है; बल्कि बात तो ऐसी है कि वेद का कथन होने के कारण ही वेदार्थ माननीय है। चोर अच्छी बात कहे तब भी उसमें आस्था नहीं हो सकती।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। रासपञ्चाध्यायी के वक्ता श्रीबादरायणि हैं।

बदराणां समूहो बादरं[1] नरनारायणाश्रमोऽयनमाश्रयो यस्य स बादरायणः तस्यापत्यं बादरायणिः ।

'बदर' बेर को कहते हैं, यहाँ उससे नरनारायणाश्रम उपलक्षित है। वही जिनका अयन—आश्रय—निवासस्थान अर्थात् तपोभूमि है वे भगवान् व्यासजी ही बादरायण हैं। उन्हीं के पुत्र श्रीबादरायणि हैं। यहाँ भगवान् शुकदेवजी को जो 'बादरायणि' कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उनका महत्त्व अपने व्यक्तित्व के कारण ही नहीं है बल्कि पिता और पिता की निवास-भूमि से भी उनकी पवित्रता द्योतित होती है। अर्थात् भगवान् श्रीशुकदेवजी स्वयं ही पवित्र हों, ऐसी बात नहीं है, उन्हें तो उनके पिता ने परम-पवित्र बदरिकाश्रम में तप करके उस तप के फलस्वरूप से ही प्राप्त किया था। बदरिकाश्रम ज्ञानभूमि है; अतः वहाँ जो तप होगा वह भी अत्यन्त विलक्षण ही होगा। उसके फलस्वरूप श्रीभगवान् या भगवान् के परमान्तरंग निकुञ्जमन्दिरस्थ लीलाशुक ही श्रीशुकदेवरूप में प्रादुर्भूत हुए हैं।

भगवान् व्यासजी में भी केवल तप से ही तेज आया हो—ऐसी बात नहीं है, वे तो वेदार्थ का निरूपण करने के लिये अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीनारायण ही थे। 'केशवं बादरायणम्'। यों तो वे स्वयं ही नारायण हैं; तिसपर भी उन्होंने बदरिकाश्रम में विविध प्रकार का तप किया है। उन्हीं से जिनका जन्म हुआ है वे श्रीशुकदेव जी ही इस तत्त्व के वक्ता हैं।

---

१ बादरं बदरीवनम्।

इससे सिद्ध होता है कि उनका कथन भी कोई साधारण बात नहीं है। महापुरुष कोई ग्राम्य-कथा नहीं कहा करते। उनके सामने तो ग्राम्य-कथाओं का विघात हो जाया करता है—किसी दूसरे को भी ऐसी बात कहने का साहस नहीं होता, फिर वे स्वयं तो ऐसी बात कहेंगे ही क्यों? वे अवश्य किसी दिव्यातिदिव्य रहस्य का ही उद्घाटन करेंगे। यह तो रही वक्ता की बात; उनके सिवा श्रोता भी कैसे हैं? महाराज परीक्षित! 'गर्भदृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह' अर्थात् जिन्होंने जन्म लेते ही इधर-उधर देखकर लोगों में यह परीक्षा करनी चाही थी कि जिस मनोमोहिनी मूर्ति को मैंने गर्भ में देखा था वह यहाँ कहाँ है, जो गर्भ में ही भगवान् का दर्शन कर चुके थे। ध्रुवादि ने साधन द्वारा योगमाया का निराकरण करके भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार किया था, किन्तु इन्हें तो भगवान् की अनुकम्पा से ही उनका दर्शन हो गया था। उनके वंश का महत्त्व भी सुस्पष्ट ही है। इस प्रकार जैसे भगवान् बादरायणि मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् हैं वैसे ही पार्थ-पौत्र महाराज परीक्षित भी हैं।

वे यद्यपि स्वभाव से ही तत्त्वज्ञ, शास्त्रज्ञ, ऐहिक, आमुष्मिक विषयों से विरक्त एवं सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करने के इच्छुक थे, तथापि राजा होने के कारण किसी शृङ्गाररसप्रधान कथा के श्रवण में उनकी अभिरुचि होनी सम्भव थी। किन्तु इस समय तो उन्हें अनिवार्य विप्र-शाप हो चुका था; इसलिये सात दिन में उनकी मृत्यु निश्चित हो जाने के कारण वे परम उपरत हो

गये थे। यदि साधारण मनुष्य को भी अपनी मृत्यु का निश्चय हो जाय तो वह किसी ग्राम्य-कथा के श्रवण में प्रवृत्त नहीं हो सकता; फिर महाभागवत महाराज परीक्षित-जैसे सर्वसाधनसम्पन्न पुरुषों की प्रवृत्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है ?

वस्तुतः श्रीमद्भागवत कोई साधारण ग्रन्थ नहीं है। श्रीशुकदेवजी का तो मिलना ही बहुत दुर्लभ था; फिर जिस ग्रन्थ का वे वर्णन करें उसका महत्त्व क्या कुछ साधारण हो सकता है ? जिस समय शौनकादि महर्षियों ने यह सुना कि इस ग्रन्थ का वर्णन श्रीशुकदेवजी ने किया है तो वे आश्चर्यचकित हो गये और बोले कि—

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥

'वे व्यासनन्दन तो महायोगी, समदर्शी, विकल्पशून्य, एकान्तमति और अविद्यारूप निद्रा से जगे हुए थे। वे तो प्रच्छन्न भाव से मूढवत् विचरते रहते थे। वे किस प्रकार इस बृहत् आख्यान का श्रवण कराने में प्रवृत्त हो गये ?'

उनकी महिमा को द्योतित करनेवाला एक अन्य श्लोक भी है—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

अर्थात् जिन्होंने उपनयनसंस्कार के लिये विधिवत् गुरूपसदन नहीं किया और जैसे-तैसे पिता के उपनयन-संस्कार कर देने पर भी

जो उपनयनसम्बन्धी क्रिया-कलाप से उपरत थे* उन शुकदेवजी को जाते देखकर उनके विरह से आतुर होकर जिस समय 'हे पुत्र! हे पुत्र!' इस प्रकार पुकारते हुए श्रीव्यासजी उनके पीछे गये तो प्रत्येक वृक्ष में से जो 'पुत्र' शब्द की प्रतिध्वनि आ रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वृक्ष भी तन्मयभाव से 'पुत्र-पुत्र' चिल्ला रहे हैं। भगवान् शुकदेवजी परम तत्त्वज्ञ और महायोगी होने के कारण सर्वभूतहृदय हैं।

'सर्वभूतानां हृत् तद्विकारांश्च अयते विजानाति।'

जो सम्पूर्ण भूतों के हृत् और उसके विकारों को जानते हैं अथवा 'सर्वभूतानां हृत् अयते नियमयति'—जो समस्त प्राणियों के हृत् का† अयन—नियमन—करते हैं, इन व्युत्पत्तियों के अनुसार श्रीशुकदेवजी सर्वभूतहृदय हैं। उनके सिवा अन्य तत्त्वज्ञ भी

---

* जो लोग अत्यन्त विरक्त होते हैं उनकी अभिरुचि भगवद्-व्यतिरिक्त कर्म और उनके फलों में नहीं होती। उनकी निष्ठा सर्व-संन्यासपूर्वक एकमात्र भगवत्स्वरूप में ही होती है। अतः श्रीशुकदेवजी इस प्रकार की उपरति के अधिकारी ही थे, किन्तु अनधिकारियों के लिये तो ऐसी उपरति अकल्याण की ही हेतु होती है।

† 'हृत्' शब्द यद्यपि पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड का वाचक है, तथापि जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में 'मञ्चाः' शब्द से मञ्चस्थ पुरुष अभिप्रेत है उसी प्रकार यहाँ 'हृत्' शब्द से हृत्स्था बुद्धि का ग्रहण करना चाहिये।

यद्यपि अपने पारमार्थिक स्वरूप से सर्वान्तरात्मा ही हैं तथापि दूसरे के चित्त के नियन्त्रणादि की शक्ति विना योग के नहीं हो सकती; इसीसे 'हृत् अयते नियमयति' यह दूसरी व्युत्पत्ति उनके महायोगित्व का परिचय देती है। इससे उनका परमतत्त्वज्ञ और महायोगी होना सिद्ध होता है। इस प्रकार सबके हृदय होने के कारण वे वृक्षों के भी अन्तरात्मा हैं। अतः उस समय वृक्षों से 'पुत्र' शब्द की जो प्रतिध्वनि हो रही थी उससे जान पड़ता था कि वह वृक्षों के द्वारा मानो स्वयं ही श्रीव्यासजी को 'पुत्र' कहकर सम्बोधन कर रहे थे। ऐसा करके वे उन्हें उपदेश कर रहे थे कि "पिताजी! आप जो हमें पुत्र-पुत्र कहकर पुकार रहे हैं यह आपका व्यामोह ही है। हमारा आपका जो पिता-पुत्रसम्बन्ध है वह तात्त्विक नहीं है। कभी हम आपके पुत्र होते हैं तो कभी आप भी हमारे पुत्र हो जाते हैं; अतः आपको इस मायिक सम्बन्ध के मोह में न फँसना चाहिये।"

उस समय एक दूसरी घटना भी हुई। उससे भी उनकी निर्विकार समदृष्टि का पता चलता है। उस घटना का वर्णन इस श्लोक द्वारा किया गया है—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥

श्रीशुकदेवजी के पीछे-पीछे भगवान् व्यास जा रहे थे। मार्ग में एक जलाशय पर कुछ देवाङ्गनाएँ स्नान कर रही थीं। श्रीव्यासजी यद्यपि वस्त्र धारण किये हुए थे तथापि उन्हें देखकर उन अप्सराओं ने लज्जावश अपने वस्त्र धारण कर लिये; किन्तु बाल-योगी दिगम्बर-वेष शुकदेवजी को देखकर ऐसा नहीं किया। भगवान् शुकदेवजी परम सुन्दर थे। वे श्यामवर्ण होने के कारण साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र के समान मनोमोहक थे। उनकी मनोहर मूर्ति को देखकर कुल-कामिनियों के अन्तःकरणों में भी क्षोभ हो जाता था; तथा बहुत-से बालक उनके पीछे लगे रहते थे। ऐसे होने पर भी उन्हें देखकर देवाङ्गनाओं ने वस्त्र धारण नहीं किये किन्तु वृद्ध और विकलेन्द्रिय व्यासजी को देखकर बड़ी फुर्ती से वस्त्र पहन लिये। यह देखकर जब व्यासजी ने उनसे इसका कारण पूछा तो वे कहने लगीं—"महाराज! आपको तो स्त्री-पुरुष का भेद है किन्तु आपके पवित्र-दृष्टि पुत्र को ऐसा कोई भेद नहीं है। इसका आत्म-भाव शुद्ध परब्रह्म में सुस्थिर है, दृश्य पर तो इसकी दृष्टि ही नहीं है। हम लोग अप्सराएँ हैं। हम से लोगों की मनोवृत्ति छिपी नहीं रह सकती। महर्षियों की तपस्या भङ्ग करने के लिये हमारी ही नियुक्ति की जाती है। अतः 'ताँत बाजी और राग बूझा', हम महर्षियों को देखते ही उनके हृदय को परख लेती हैं।"

वस्तुतः दृश्य संसर्ग ही दृष्टि के मालिन्य का हेतु है। जहाँ वह दृश्य संसर्ग से निवृत्त हुई कि उसका मालिन्य भी निर्मूल हो

गया। ऐसी स्थिति प्राप्त होते ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यही स्थिति श्रीशुकदेवजी की थी।

भला जो गोदोहन-वेला से अधिक कहीं खड़े नहीं होते थे उन श्रीशुकदेवजी ने किस प्रकार श्रीमद्भागवत सुनाई? ऐसी शङ्का होने पर श्रीसूतजी ने कहा—'यह महाराज परीक्षित का सौभाग्य ही था।'

स गोदोहनवेलां वै गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥

यहाँ एक दूसरी शङ्का भी हो सकती है। महाभारत के कथनानुसार श्रीशुकदेवजी अपने तप के प्रभाव से ब्रह्मभावापन्न हो गये थे। उन्हें वाह्य प्रपञ्च का अनुसन्धान भी नहीं रहा था। फिर इस महासंहिता के स्वाध्याय में उनकी किस प्रकार प्रवृत्ति हुई?

इसका उत्तर श्रीसूतजी महाराज ने इस प्रकार दिया है—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

सूतजी कहते हैं—ठीक है, यद्यपि श्रीशुकदेवजी ऐसे ही निर्विशेष परब्रह्म में परिनिष्ठित थे, शास्त्र, शिष्य आदि सम्बन्धों में उनकी प्रवृत्ति होनी सर्वथा असम्भव थी; तथापि उन्हें एक व्यसन था। उससे आकृष्ट होकर ही उन्होंने इस महान् आख्यान का अध्ययन किया था। व्यास-सूनु भगवान् शुकदेवजी की बुद्धि श्रीहरि के गुणों से आक्षिप्त थी—वह हरिगुणगान की मनोमोहिनी माधुरी में फँसी हुई थी। 'हरते इति हरिः' जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-

मुनीन्द्रों के मन को भी हर लेते हैं उन दिव्य मङ्गलमूर्ति भगवान् का नाम ही 'श्रीहरि' है। भगवान् के परम दिव्य नाम, गुण, चरित्र एवं स्वरूप ऐसे ही मधुर हैं। उन्हीं के गुणों ने श्रीशुकदेवजी के शुद्धब्रह्माकारवृत्तिसम्पन्न मन को भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसी से उन्होंने इस बृहत् संहिता का स्वाध्याय किया था।

अहा ! उन श्रीव्यासनन्दन की हरिभक्तिप्रवणता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? यद्यपि निरन्तर आत्मसुख में विश्रान्त रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर नहीं जाती थी; उनके हृदय से द्वैतप्रपञ्च का सर्वथा तिरोभाव हो गया था; तथापि परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की ललित लीलाओं ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया। इसी से उन्होंने भगवल्लीला के निगूढ़-तम रहस्यभूत इस महाग्रन्थ का आविर्भाव किया।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नमामि ॥

'स्वसुखनिभृतचेताः*'—स्वानन्द से ही पूर्ण है चित्त जिनका। यद्यपि प्राणियों का चित्त विषयों से पूर्ण देखा जाता है तथापि स्वभावतः वह आत्मानन्द से ही पूर्ण है। जिस प्रकार घट की आकाश द्वारा स्वाभाविक पूर्णता जलादि द्वारा होनेवाली अस्वा-

* स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य असौ।

भाविक पूर्णता से निवृत्त-सी हो जाती है, उसी प्रकार चित्त की स्वाभाविक ब्रह्माकाराकारिता उसकी अस्वाभाविक विषयाकाराकारिता से निवृत्त हुई-सी जान पड़ती है। किन्तु श्रीशुकदेवजी का चित्त तो विषयव्यामोह से निवृत्त होकर आत्मानन्द में ही विश्रान्त हो गया था। इसी से उन्हें 'स्वसुखनिभृतचेताः' कहा है। इस प्रकार 'तद्व्युदस्तान्यभावः*' आत्मानन्द में विश्रान्त होने के कारण अन्य पदार्थों से जिनकी सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो गई है ऐसे जिन शुकदेवजी ने 'अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः†'—जिनकी ब्रह्माकार-वृत्ति की निश्चलता भगवान् अजित की रुचिर‡ लीला से अपहृत हो गई है; ऐसे होकर कृपावश इस तत्त्वप्रदर्शक पुराण का विस्तार किया, उन निखिलपापापहारी श्रीव्यासनन्दन को मैं प्रणाम करता हूँ।

यद्यपि ऐसे महानुभावों की प्रवृत्ति ग्रन्थाध्ययन में नहीं हुआ करती तथापि भगवल्लीलाओं से आकृष्टचित्त होने के कारण ही उन्होंने इस महासंहिता का अध्ययन किया था।

---

* तेनैव स्वसुखपूर्णचेतस्त्वेनैव व्युदस्ता निरस्ता अन्यस्मिन् ब्रह्मातिरिक्ते पदार्थे भावना अस्तित्वबुद्धिरपि यस्य सः।

† अजितरुचिरलीलया आकृष्टः अपहृतः सारः धैर्य्यं ब्रह्माकारवृत्ति-नैश्चल्यं यस्य सः।

‡ 'हठात् स्वविषये रुचिं राति ददाति'—जो हठात् स्वविषयिणी रुचि दे देती है, अथवा 'इतरेभ्यो विषयेभ्यो रुचिं राति आदत्ते'—जो अन्य विषयों से रुचि को खींच लेती है, जैसा कि श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर कहा है—'इतररागविस्मारणं नृणाम्'।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं संहितामिमाम् ॥

इस सम्बन्ध में एक इतिहास भी प्रसिद्ध है। एक बार श्रीशुकदेवजी संसार से उपरत होकर वन में चले गये और वहाँ ध्यानाभ्यास में तत्पर होकर समाधिस्थ हो गये। उनकी बुद्धिवृत्ति निखिल दृश्य प्रपञ्च का निरास कर अशेष-विशेष-शून्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्म में लीन हो गई और उन्हें बाह्य जगत् का कुछ भी भान न रहा। इसी समय भगवान् व्यासदेव के कुछ शिष्यगण उधर आ निकले। उन्होंने उन बालयोगीन्द्र को देखकर कुतूहलवश श्रीव्यासजी से जाकर कहा कि 'भगवन्! हमने वन में एक परम सुन्दर बालक को देखा है। वह बहुत दिनों से पाषाण-प्रतिमा के समान निश्चल भाव से एक ही आसन से बैठा हुआ है। उसे बाह्य जगत् का कुछ भी भान होता नहीं जान पड़ता।'

तब भगवान् व्यासदेव ने सारी परिस्थिति समझकर उन्हें एक श्लोक कण्ठ कराया और कहा कि तुम उस बालयोगी के पास जाकर इसे सुमधुर ध्वनि से गाया करो। तदनन्तर शिष्यगण वन में जाकर इस श्लोक का गान करने लगे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥

शिष्यों के निरन्तर गान करने से भगवान् शुकदेवजी के अन्तः-करण में इस श्लोक के अर्थ की स्फूर्ति हुई। यह नियम है कि जितना ही चित्त शुद्ध होगा उतना ही शीघ्रतर उसमें भगवत्तत्त्व का अनुभव होगा। इसी से किन्हीं-किन्हीं उत्तम अधिकारियों को, जिनकी उपासना पूर्ण हो चुकी होती है, महावाक्य का श्रवण करते ही स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है।

उस श्लोकार्थ की स्फूर्ति होने पर भगवद्विग्रह की अनुपम रूपमाधुरी ने उनके चित्त को क्षुभित कर दिया। उनकी समाधि खुल गई और उन्होंने श्रीश्यामसुन्दर की स्वरूपमाधुरी का वर्णन करनेवाले इस श्लोक को कई बार उन बालकों से कहलाया और कितनी ही बार आनन्दविभोर होकर स्वयं भी कहा। शिष्यों ने भगवान् व्यासदेव के पास आकर उन्हें यह सारा वृत्तान्त सुनाया। श्रीव्यासजी सोचने लगे कि इसे सुनकर भी वह आया क्यों नहीं। जब उन्होंने ध्यानस्थ होकर इसके कारण का अन्वेषण किया तब उन्हें मालूम हुआ कि उसे यह सन्देह है कि जिसका सौन्दर्यमाधुर्य ऐसा विलक्षण है वह मेरे-जैसे अकिञ्चन पुरुष से स्नेह क्यों करेगा। तब व्यासजी ने इस शंका की निवृत्ति करने के लिये भगवान् की दयालुता को प्रकट करनेवाला यह श्लोक उन बालकों को पढ़ाया और पूर्ववत् उन्हें श्रीशुकदेवजी के पास जाकर इसे गाने का आदेश किया।

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।

लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(भाग० ३ । २ । २३)

इस श्लोक को सुनकर श्रीशुकदेवजी को आश्वासन हुआ और उन्होंने बालकों से पूछा कि तुमने यह श्लोक कहाँ से याद किया है। बालकों ने कहा—'हमारे गुरुदेव श्रीव्यास भगवान् ने एक अष्टादश सहस्र श्लोकों की महासंहिता रची है। ये श्लोक उसी के हैं।'

यह सुनकर वे भगवान् व्यासदेव के पास आये और उनसे उस महाग्रन्थ का अध्ययन किया। अध्ययन करने में एक दूसरा हेतु और भी था। 'नित्यं विष्णुजनप्रियः' भगवान् शुकदेवजी को सर्वदा विष्णुभक्तों का संग प्रिय था। श्रीमद्भागवत वैष्णवों का परम-धन है। अतः इसके कारण उन्हें सदा ही वैष्णवों का सहवास प्राप्त होता रहेगा, इस लोभ से भी उन्होंने उसका अध्ययन किया।

इससे शौनकजी के प्रश्न का उत्तर हो जाता है। वे हरिगुणा-क्षिप्तमति थे, इसी लिये आत्माराम होने पर भी उन्होंने इस महासंहिता का अध्ययन किया। वस्तुतः भगवान् के गुणगण ही ऐसे हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(भाग० १ । ७ । १०)

यहाँ 'निर्ग्रन्था:' इस पद के दो अभिप्राय हैं—(१) 'निर्गता ग्रन्थयो येभ्यस्ते' अर्थात् ब्रह्म में परिनिष्ठित होने के कारण जो आत्मानात्मसम्बन्धी ग्रन्थियों से मुक्त हो गये हों वे निर्ग्रन्थ हैं। अथवा (२) 'निर्गता ग्रन्था येभ्यस्ते'—परब्रह्म में परिनिष्ठित होने के कारण जिनका ग्रन्थावलोकन छूट गया हो। वास्तव में योग की सिद्धि तो होती ही उस समय है जिस समय कि शास्त्रोक्त विविध वादों से विचलित हुई बुद्धि उन सब विवादों से ऊपर उठकर निश्चल भाव से एक तत्त्व में स्थित हो जाय।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ५३)

जिस समय बुद्धि मोहातीत हो जाती है उस समय वह श्रोतव्य और श्रुत से भी उपरत हो जाती है; फिर तो एकमात्र ब्रह्मवीथि में ही उसका विचरण हुआ करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

(गीता २। ५२)

श्री विद्यारण्य स्वामी तो ऐसी अवस्था में शास्त्रसंन्यास की व्यवस्था भी करते हैं—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥

भगवती श्रुति भी कहती है—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ।

(मु० उ० २ । २५)

यहाँ यह विरोध प्रतीत होता है कि जब श्रुतिस्मृति और आचार्य सभी का यह मत है कि स्वरूप-साक्षात्कार होने के पश्चात् शास्त्राभ्यास में प्रवृत्ति नहीं होती और नहीं होनी चाहिये तो श्रीशुकदेवजी की ही इस महाग्रन्थ के अध्ययन में कैसे प्रवृत्ति हुई ? इसका एकमात्र हेतु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यही था कि वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे। वे यद्यपि स्वयं उसमें प्रवृत्त नहीं हुए थे तथापि भगवान् के गुणों की मधुरिमा ने उन्हें स्वयं उस ओर खींच लिया था।

वेदान्तसिद्धान्त में भी यह युक्तियुक्त ही है। इस विषय में आचार्यों का ऐसा मत है कि जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है उस समय आवरण नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्धभोगोपयोगी विक्षेप तो बना ही रहता है। ब्रह्मज्ञान से केवल मूलाविद्या का नाश होता है, लेशाविद्या तब भी रह जाती है। उसकी निवृत्ति प्रारब्ध क्षय होने पर होती है। इसी से श्रीनारद, सनकादि, शुकदेव और वसिष्ठादि परमसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की लोक में भी नाना प्रकार की चेष्टाएँ देखी जाती हैं। जिस प्रकार परम ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी श्रीनारदजी को हरिनामसङ्कीर्तन और सनकादि को हरिगुणगान का व्यसन था, उसी प्रकार श्रीशुकदेवजी को भी हरिकथामृत के पान का व्यसन था। जिस प्रकार स्वरूपानुभव

हो जाने पर भी प्रारब्धभोग के लिये इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार हरिगुणगान में भी प्रीति हो ही सकती है। वास्तव में भगवान् में आत्माराम चित्ताकर्षकत्व एक गुण है। उसी से आकृष्ट होकर भगवान् शुकदेवजी ने इस शास्त्र का अध्ययन किया था।

इससे सिद्ध हुआ कि ऐसे पूर्ण परब्रह्म में परिनिष्ठित महामुनि शुकदेवजी की इस कारण से इस भागवत-शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्ति हुई तथा इसके वर्णन में इसलिये प्रवृत्ति हुई कि जिससे विष्णुजन स्वयं ही आकर उन्हें मिल जाया करें। इस भागवत-शास्त्र में भगवान् का दिव्यातिदिव्य रहस्य निहित है; अतः जिस प्रकार वशीकरणमन्त्र से लोगों को अपने अधीन कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस परम मन्त्र के कारण भक्तजन स्वयं ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा भगवान् के गुण, चरित्र और स्वरूप की माधुरी स्वयं भी ऐसी मोहिनी है कि बड़े-बड़े सिद्ध मुनीन्द्र भी उनके कीर्तन में प्रवृत्त हो जाया करते हैं। भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने नृसिंहतापिनीय उपनिषद् के भाष्य में कहा है—

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते'

अर्थात् मुक्तजन भी लीला से देह धारण कर भगवान् का गुणगान किया करते हैं। यही बात सनकादि के विषय में भी कही जा सकती है।

जिस समय महाराज परीक्षित गङ्गातट पर आकर बैठे उस समय बहुत-से ऋषि, मुनि, सिद्ध एवं योगीन्द्रगण उनके पास आये।

उन सबसे उन्होंने यही प्रश्न किया कि 'भगवन्! मैं मरणासन्न हूँ; अतः मुमूर्षु पुरुष के लिये जो एकमात्र कर्तव्य हो वह मुझे बतलाइये।' इस विषय में उस मुनीन्द्रमण्डली में विचार हो रहा था; भिन्न-भिन्न महानुभाव अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट कर रहे थे; अभी कुछ निश्चय नहीं हो पाया था कि इतने ही में शुकदेवजी आ गये। उनसे भी यही प्रश्न हुआ। राजा ने पूछा, 'भगवन्! अब मेरी मृत्यु में केवल सात दिन शेष हैं; अतः कोई ऐसा कृत्य बतलाइये जिसके करने से मैं धीरों की प्राप्तव्य गति को प्राप्त कर सकूँ।'

तब श्रीशुकदेवजी बोले, 'राजन्! अन्य अनात्मज्ञ लोगों के लिये तो सहस्रों साधन हैं, परन्तु भक्तों के लिये तो एकमात्र श्रीहरिश्रवण ही परमावलम्ब है।' इसके तीन भेद हैं—श्रीहरि का स्वरूपश्रवण, गुणश्रवण और नामश्रवण। इसी प्रकार श्रीहरि-कीर्तन भी तीन प्रकार का है—स्वरूपकीर्तन, गुणकीर्तन और नामकीर्तन। उपनिषदादि से भगवान् का स्वरूपकीर्तन होता है, इतिहास-पुराणादि से रूप-गुणकीर्तन होता है और विष्णुसहस्र-नामादि से नामकीर्तन होता है। कर्मकाण्ड भी भगवान् का ही स्वरूप है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

कर्म ही क्या, यह सारा प्रपञ्च एकमात्र भगवान् ही तो है; भूत, भविष्यत्, वर्तमान जो कुछ है भगवान् से भिन्न नहीं है—

पुरुष एवेद ँ सर्वं यत्किञ्च भूतं यच्च भाव्यम्।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सबके आदि, अन्त और मध्य में श्रीहरि का ही कीर्तन किया गया है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(अनुस्मृतेः)

इस प्रकार श्रीशुकदेवजी ने भगवच्छ्रवण ही उस समय मुख्य कर्त्तव्य बतलाया और इसी के लिये श्रीमद्भागवत श्रवण कराया। श्रीमद्भागवत में दस प्रकार से भगवान् का कीर्तन किया गया है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें भी दशम की विशुद्धि के लिये ही शेष नौ का कीर्तन किया गया है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

इसका तात्पर्य यही है कि दशम स्कन्ध में जो दशम तत्त्व का निरूपण किया गया है उसकी विशुद्धि के लिये ही उससे पूर्ववर्ती नौ स्कन्ध हैं।

वह दशम तत्त्व आश्रय है। श्रीमद्भागवत में आश्रय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परब्रह्म भगवच्छब्दसंज्ञितः॥

यहाँ 'आभास' और 'निरोध' इन दो शब्दों से ही उपर्युक्त नौ तत्त्वों का निरूपण किया है। अतः 'निरोध' शब्द से यहाँ मुक्ति अभिप्रेत है। आभास अध्यारोप को कहते हैं और निरोध अपवाद को। इन अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ही उसके अधिष्ठानभूत निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

अध्यारोप के द्वारा ब्रह्म को निखिल प्रपञ्च का चरम कारण मानकर उससे सृष्टि का क्रम बतलाया जाता है और अपवाद के द्वारा दृश्यमात्र का अनात्मत्व प्रतिपादन करते हुए साक्षी चेतन का शोधन किया जाता है। इसी क्रम से शुद्ध परब्रह्म लक्षित हो सकता है। जीव को स्वभावतः तो शुद्धतत्त्व का बोध है नहीं; अतः इस दृश्य-प्रपञ्च के कारण के अन्वेषणपूर्वक ही उसका बोध कराया जाता है। इसी से मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति ने भी यही कहा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत॥

—इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्म को प्रपञ्च का कारण प्रतिपादन करने में श्रुति का केवल यही तात्पर्य है कि जिसमें लोग परमाणु; प्रकृति आदि जड़ वस्तुओं को इसका कारण न मान लें।

इसमें यह शङ्का हो सकती है कि दृश्य तो असत्, जड़ एवं दुःखस्वरूप है; उसका कारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्य में सर्वदा कारण के गुणों की अनुवृत्ति हुआ करती है।

कारण और कार्य की विजातीयता प्रायः देखने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है, परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता भी होती देखी गई है। देखो, जड़ गोबर से बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से जड़ प्रपञ्च की उत्पत्ति भी हो ही सकती है।

इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में तो ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन किया जाता है तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपञ्च की उत्पत्ति ही नहीं हुई। इसलिये यह जो कुछ प्रतीत होता है, बिना हुआ ही दिखाई देता है। इसी से यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात् बन्ध और मोक्ष अज्ञानजनित ही हैं—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥

श्रुति कहती है—

न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।

यहाँ 'प्रेत्य' का अर्थ है 'मरना'। जिस समय तत्त्वज्ञ देहेन्द्रियाद्याकार में परिणत भूतों से उत्थान करता है उस समय वह मानो मर जाता है। फिर उसका कोई नामरूप नहीं रहता। जैसे नमक का डला समुद्र का जल ही है। वह वायु आदि के संयोग से लवण-खण्ड के रूप में परिणत हो गया है। उसे यदि समुद्र में डाल दिया जाय तो वह फिर उपाधि के संसर्ग से शून्य होकर

समुद्ररूप ही हो जायगा। उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों में परिणत जो उपाधि है, उससे सम्बन्ध छूट जाने पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

मोक्ष क्या है? श्रीमद्भागवत कहता है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

अर्थात् आत्मा जो देहेन्द्रियादिरूप उपाधि के तादात्म्याध्यास से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनेकानर्थयुक्त सा प्रतीत होता है, उसका सब प्रकार के सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदों को छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्म का नित्य दास है; अतः भगवद्विप्रयोग को छोड़कर उसका भगवत्सान्निध्य में स्थित होना ही मुक्ति है। तथा जो मधुर भाववाले हैं, वे ऐसा मानते हैं कि जीव जो प्राकृत स्त्री-पुरुषादि भावों को प्राप्त हो गया है, उसका इनसे छूटकर गोपीभाव में स्थित होना ही मुक्ति है।

जीव सत्य भी है और मिथ्या भी। ऐसा होने पर ही उसमें बन्ध और मोक्ष की भी सिद्धि हो सकती है। जीव स्वरूप से तो नित्य है किन्तु अन्तःकरणादि विशेषणविशिष्ट होने के कारण अनित्य भी है, जिस प्रकार घटाकाश आकाशरूप से तो नित्य है किन्तु घटरूप विशेषण के नाशवान् होने के कारण अनित्य भी है, क्योंकि विशेषण के अभाव से भी विशिष्ट का अभाव माना जाता है। विशिष्ट वस्तु का अभाव तीन प्रकार से माना गया है—(१) विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; (२) विशेष्यभावप्रयुक्त विशिष्टा-

भाव और (३) उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; अर्थात् विशेषण, विशेष्य और उन दोनों के अभाव के कारण होनेवाला अभाव; जिस प्रकार दण्डी पुरुष का अभाव दण्डाभाव, पुरुषाभाव अथवा इन दोनों का ही अभाव होने पर भी माना जाता है; जिस तरह घटाकाश का परिच्छिन्नत्व घटरूप उपाधि के ही कारण है, उसी प्रकार उपाधिसंसर्ग के कारण ही पूर्ण परब्रह्म में जीव भाव है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

एकमपि सन्तमात्मानमनेकमिव अकर्तारं सन्तं कर्तारमिव अभोक्तारं सन्तं भोक्तारमिव मन्यन्ते इत्येव जीवस्य जीवत्वम् ।

अतः उपाधि के मिथ्यात्व के कारण जीवत्व भी मिथ्या है और उपाधि के असम्बन्ध से वह सत्य भी है। यह अवच्छेदवाद की प्रक्रिया है।

इस प्रकार आभास और निरोध दोनों ही मिथ्या हैं तथा ये दोनों जिसमें अधिष्ठित होने से सिद्ध होते हैं वह परब्रह्म ही आश्रय नामक दसवाँ तत्त्व है। इसका दशम स्कन्ध में निरूपण किया गया है। 'दशमे दशमो हरिः' पहले नौ स्कन्ध इसी की परिशुद्धि के लिये हैं। दशम स्कन्ध के आदि, अन्त और मध्य में बहुत सी ऐश्वर्यपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार एक सुधासिन्धु में नाना प्रकार के तरङ्गों का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार दशम स्कन्ध में जितनी लीलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है वे सब भगवान् की नित्य लीला की ही अभिव्यक्तिमात्र हैं। अतः भगवल्लीलासम्बन्धी जितना विषय है, वह सब भगवद्रूप ही है।

आचार्यों का ऐसा मत है कि सम्पूर्ण भागवत में दशम स्कन्ध सार है, उसका भी सारातिसार रासपञ्चाध्यायी है। सम्पूर्ण शास्त्र भगवान् के वाङ्मय विग्रह हैं; भिन्न-भिन्न शास्त्र उस वाङ्मय भगवद्विग्रह के ही स्वरूप हैं। उनमें श्रीमद्भागवत भगवान् का सविशेष-निर्विशेष सम्मिलित स्वरूप है। उसमें सर्ग-विसर्गादि दसों तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन है। किन्तु दशम स्कन्ध में केवल आश्रय नामक दशम तत्त्व का ही वर्णन है। अतः दशम स्कन्ध मानो आश्रय नामक दशम तत्त्व का ही वाङ्मय विग्रह है तथा उसमें जो रासपञ्चाध्यायी है वह उसका प्राण है। इस रासपञ्चाध्यायी के अनेक प्रकार अर्थ किये जाते हैं। आचार्यगण जो एक ही वाक्य की अनेक प्रकार व्याख्या किया करते हैं उसमें उनका यही तात्पर्य होता है कि किसी न किसी प्रकार जीवों का भगवान् में प्रेम हो। देवर्षि नारद को संक्षेप में श्रीमद्भागवत का उपदेश करके उनसे भी ब्रह्माजी ने यही कहा था कि—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥

श्रीमद्भागवत में यद्यपि शुद्ध निर्विशेष सच्चिदानन्दघन तत्त्व ही वर्णित है तथापि यह आग्रह भी उचित नहीं है कि उसमें द्वैत का वर्णन है ही नहीं, और न निर्गुणवादियों का यह कथन ही उचित है कि उसमें सगुणवाद नहीं है। वास्तव में भागवत में प्रेमविघातक वेदान्त नहीं है। इसमें तो भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध तीनों ही का वर्णन है।

पहले कहा जा चुका है कि रासपञ्चाध्यायी श्रीमद्भागवत का प्राण है। इसमें सर्वान्तरतम वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। याज्ञिकों के यहाँ इसका बड़ा अच्छा क्रम है। वेदी के सबसे निकट यूप होता है। पात्र उसकी अपेक्षा भी अन्तरतम है। देवताओं का अन्तरङ्ग हविष्य है और पात्र उसकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं, तथा अध्वर्यु उनकी अपेक्षा भी बहिरङ्ग हैं। इसलिये यदि ऋत्विक्गण कोई पात्र लाते हैं तो स्वयं यूप के बाहर होकर निकलते हैं, किन्तु पात्र को यूप और वेदी के बीच में होकर निकालते हैं।

यद्यपि यह दशम स्कन्ध समग्र ही आश्रयरूप है, तथापि लीलाविशेष के विकास के लिये इसमें भी अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग की कल्पना की गई है। जिनका भगवान् से जितना ही अधिक संसर्ग है वे उतने ही अधिक अन्तरङ्ग हैं। इसका वर्णन 'उज्ज्वल-नीलमणि' नामक ग्रन्थ में बहुत स्पष्टतया किया गया है। मथुरा-वासियों की अपेक्षा गोकुल-निवासी अधिक अन्तरङ्ग हैं, उनसे भी श्रीदामादि नित्यसखा अन्तरङ्ग हैं, उनकी अपेक्षा गोपाङ्गनाएँ अन्तरङ्ग हैं, गोपाङ्गनाओं में ललिता-विशाखा आदि प्रधान यूथेश्वरियाँ अधिक अन्तरङ्ग हैं और उन सभी की अपेक्षा श्रीवृषभानु-नन्दिनी अन्तरतम हैं। इस क्रम से, क्योंकि रासलीला में सर्वान्तरतम व्रजाङ्गनाओं का ही प्रसङ्ग है, यह सर्वान्तरतम लीला है।

इससे पूर्व भगवान् ने गोपों को अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराया था। यद्यपि कालियदमन, गोवर्धनधारण, अघासुरादि के

वध तथा अन्य अनेकों अतिमानुष-लीलाओं के कारण गोपगण यह समझ चुके थे कि कृष्ण कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। फिर वरुणलोक में उनका ऐश्वर्य देखकर तो गोपों को यह निश्चय हो ही गया था कि ये साक्षात् भगवान् हैं, तथापि अन्त में भगवान् ने अपने योगबल से उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराया और फिर वैकुण्ठलोक में ले जाकर अपने सगुणस्वरूप का भी दर्शन कराया। इस प्रकार उन्होंने गोपों को रासदर्शन का अधिकारी बनाया। यह अधिकार बिना स्वरूप-साक्षात्कार के प्राप्त नहीं होता। आजकल व्रज में इसे छठी भावना कहते हैं—'छठी भावना रास की'। पहली पाँच भावनाओं को क्रमशः पार कर लेने पर ही रासदर्शन का अधिकार प्राप्त होता है। पाँचवीं भावना में देह-सुधि भूल जाती है—'पाँचे भूले देह-सुधि'। अर्थात् इस भावना में ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रासदर्शन का अधिकारी नहीं होता।

श्रीमद्भागवत में जहाँ गोपों को वैकुण्ठधाम में ले जाकर अपने सगुण-स्वरूप का साक्षात्कार कराने की बात आती है वहाँ उनके प्रत्यावर्तन के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इससे कुछ लोगों का ऐसा मत है कि यह भगवान् के नित्यधाम की नित्यलीला का ही वर्णन है। इस लोक में यह लीला हुई ही नहीं थी। यदि ऐसी बात हो तब तो भगवान् की इस लोकोत्तर लीला के विषय में कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि इस लोक में न होने के कारण इसमें इस लोक के नियमों की रक्षा करना आवश्यक नहीं हो सकता।

किन्तु यदि भगवान् ने इस लोक में ही यह लीला की हो तब भी उनके—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

इस कथन से जो विरोध प्रतीत होता है वह ठीक नहीं, क्योंकि भगवान् के विषय में ऐसा नियम नहीं है कि वे लोकमर्यादा का अतिक्रमण करते ही न हों। जब उनके अनन्य भक्त और तत्त्व-निष्ठ मुनिजन भी मर्यादातिलङ्घन करते देखे गये हैं तो साक्षात् भगवान् के विषय में तो कहना ही क्या है। उनके पादपद्ममक-रन्द का सेवन करनेवाले मुनिजनों की गति-विधि भी सर्वसाधारण के लिये सुबोध नहीं हुआ करती।

यत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि आत्मतत्त्व सभी प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से शून्य है। जब कि उस आत्मतत्त्व को जाननेवाले महा-पुरुषों की अविलुप्त महिमा भी कर्मों से न्यूनाधिक नहीं होती तो श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण साक्षात् परमात्मतत्त्व का किसी भी शुभा-शुभ कर्म से किस प्रकार संश्लेष हो सकता है? कूटस्थ स्वयंप्रकाश परब्रह्म में अध्यस्त देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियों के व्यापारयुक्त होने से ही उस निर्व्यापार आत्मतत्त्व में व्यापार-वत्ता की कल्पना होती है। इस प्रकार के कल्पित गुणों या दोषों से अधिष्ठान में कोई गुण या दोष नहीं हो सकता। 'न कर्मणा

वर्धते नो कनीयान्', 'घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति भी परमात्मा को सब प्रकार के कर्मों से असंस्पृष्ट बतलाती हैं। अतः प्रकृति और प्राकृत सब प्रकार के प्रपञ्च से अतीत परमात्मा सब प्रकार की शृङ्खलाओं से शून्य है।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्या-जनित मायामय शोकमोहादि सन्तापों से सन्तप्त प्रत्येक प्राणी को दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिये अनेक उपायों का अन्वेषण करना ही पड़ता है; इसी से मायामय देहादि की चेष्टारूप कर्मों में उनके शुभाशुभ भेद से विधि या निषेध किया जाता है। जिस प्रकार विष की निवृत्ति विष से ही की जाती है उसी प्रकार मायामयी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों के निराकरण के लिये वैदिक और स्मार्त्त शृङ्खलाओं को स्वीकार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रपञ्च के हेतुभूत अनादि अज्ञान की निवृत्ति परमात्मतत्त्व के ज्ञान के विना नहीं हो सकती। परमात्मा के ज्ञान के लिये मनःसमाधान की आवश्यकता है, क्योंकि उस परमतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार निवृत्तिक चित्त द्वारा ही हो सकता है और मनोनिरोध के लिये देह तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओं का निरोध होना चाहिए। इनका निरोध सहसा नहीं हो सकता। पहले उनकी प्रवृत्ति को नियमित करना होगा और उन्हें नियमित करने के लिये ही विधि-निषेधात्मक वैदिक-स्मार्त्त कर्मों का विधान किया गया है। इसी से कहा है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधि-निषेध की अपेक्षा अज्ञानियों को ही है; जो जन्म-मरणरूप संसार से अतीत, मृत्युञ्जय तत्त्वदर्शी हैं उन्हें इस प्रकार की शृङ्खला अपेक्षित नहीं है; फिर जो उन मुक्तात्माओं के भी गन्तव्य हैं उन श्रीभगवान् के लिये तो ऐसी कोई शृङ्खला हो ही कैसे सकती है? भगवान् में तो दो विरुद्ध धर्मों का आश्रयत्व देखा ही जाता है। वे 'अणोरणीयान्' भी हैं और 'महतो महीयान्' भी। भगवान् में ही नहीं, यह बात तो कारण मात्र में रहा करती है। देखो, एक ही पृथिवीतत्त्व में दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों ही रहते हैं। अतः भगवान् एक ही साथ दोनों प्रकार के आचरण दिखलायेंगे। वे योगारूढों के लिये समस्त वैदिक और स्मार्त्त शृङ्खलाओं का उच्छेद करके एक मात्र भगवान् में ही स्वारसिकी प्रीति का उपदेश करेंगे, तथा आरुरुक्षुओं के लिये अपने वर्णाश्रमधर्म का यथावत् पालन करने की आवश्यकता प्रदर्शित करेंगे।

जो भगवच्चरणानुरागी हैं वे भी अपने वर्णाश्रमधर्म का तिरस्कार नहीं किया करते। हाँ, यह अवश्य है कि उनकी मुख्य लगन भगवत्प्रेम के लिये ही होती है। उनकी यह भावना रहती है कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

वे यह भी चाहते हैं कि उनकी लौकिक-वैदिक प्रवृत्ति यथावत् बनी रहे। तथापि भगवत्प्रेम का अतिरेक होने पर उसमें विशृङ्खलता हो ही जाती है। यही बात आत्माराम तत्त्वज्ञों के

विषय में भी समझनी चाहिए। भगवान् के दिव्य मङ्गलमय रूप में प्रादुर्भूत होने के जो मुख्य उद्देश्य हों सबसे पहले उन्हीं का निश्चय करना उचित भी है; इसलिये अब हमें यह विचार करना है कि भगवान् के अवतार का प्रधान प्रयोजन क्या है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

परन्तु यह बात ऐसी है जैसे मच्छर को मारने के लिये तोप लगाई जाय। भला जो भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जिनके सङ्कल्पमात्र से सम्पूर्ण प्रपञ्च बन गया है तथा जिनके विषय में यह कहा जाता है कि—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि स्मितमेतस्य चराचरम् अस्य च सुप्तं महाप्रलयः।

उन्हें क्या इस तुच्छ कार्य के लिये अवतार लेने की आवश्यकता है? अतः इसका तो कोई ऐसा कारण होना चाहिये जहाँ भगवान् की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती हो और जिसके लिये उन्हें दिव्य-मङ्गल-विग्रह धारण करना अनिवार्य हो जाता हो।

हमें इसका उत्तर महारानी कुन्ती के इन शब्दों से मिलता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥

कुन्ती कहती हैं–"भगवन्! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं उनको भक्तियोग का विधान करने के लिये आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्य को कैसे समझ सकती हैं।"

अब हम इस हेतु की महत्ता का विचार करते हैं। यहाँ भगवान् के अवतार का प्रयोजन अमलात्मा मुनियों के लिये भक्तियोग का विधान करना बतलाया गया है। जैसे कर्म का स्वरूप द्रव्य और देवता हैं उसी प्रकार भक्ति का स्वरूप भजनीय है। भजनीय के बिना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमलक्षणा भक्ति का आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्चातीत परमतत्त्व में परिनिष्ठित हैं उनके मन का आकर्षक भगवान् के सिवा प्राकृत पदार्थों में तो कोई नहीं हो सकता। अतः इस बात की आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमयी मङ्गलमूर्ति में अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीयरूप से अपना स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग का सम्पादन करें, क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्मा के अवतीर्ण हुए बिना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादन में उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाय उसी के लिये उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

वस्तुतः उन महात्माओं के लिये भजनीय स्वरूप समर्पण करने में भगवान् की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि ये शक्तियाँ शुद्ध परब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं हैं, ये उन्हीं के

अन्तर्गत हैं। अतः जो लोग शुद्ध परब्रह्म में ही निष्ठा रखनेवाले हैं उनपर इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि हम वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार स्पष्टतया कहें तो यों समझना चाहिये कि ये सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकृति और प्राकृत अंश को लेकर ही हैं। ये मायाविशिष्ट ब्रह्म के गुण हैं। इसी से तत्त्वज्ञ पर इनका प्रभाव नहीं होता, क्योंकि वह गुणातीत होता है; इसलिये गुण उसे अपनी स्थिति से विचलित नहीं कर सकते। 'गुणैर्यो न विचाल्यते।'

किन्तु फिर भी कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञ का प्रारब्ध तो शेष रह ही जाता है। इसीसे प्रारब्धभोग के निर्वाहक पदार्थ उसके भी मन और इन्द्रियादि को अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार प्रारब्धभोग के लिये उसकी विषयों में प्रवृत्ति होती है उसी तरह विलक्षण कोई रूपमाधुरी उसे अपनी ओर खींच ले सकती है। तत्त्वज्ञ को भी क्षुधातुर होने पर अन्नभक्षण में प्रवृत्त होना ही पड़ता है तथा तृषित होने पर उसे जल की इच्छा भी होती ही है, क्योंकि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस भाष्य के अनुसार भोजनाच्छादनादि में तो पशु आदि से उनकी समानता ही है। फिर भगवान् के अवतरण की क्या आवश्यकता है और उनकी सर्वशक्तिमत्तादि क्यों कुण्ठित होंगी? इसका निराकरण करने के लिये उपर्युक्त श्लोक में 'अमलात्मनां परमहंसानां मुनीनाम्' ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार हंस परस्पर मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है उसी तरह जो आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-

प्रकृति का विवेक कर सकता है, वह हंस कहलाता है। यह योग्यता सांख्यवादियों में भी देखी जाती है। इसलिये वे भी 'हंस' कहे जा सकते हैं। वे क्षीर-नीर-विवेक के समान दृक्-दृश्य अथवा आत्मा-अनात्मा का विवेक कर सकते हैं; किन्तु उनकी दृष्टि में वे दोनों ही तत्त्व सत्य रहते हैं। वेदान्तियों की दृष्टि में दृश्य की सत्ता नहीं रहती, इसलिये उन्हें परमहंस कहा जाता है। इस प्रकार जिसकी दृष्टि में सम्पूर्ण दृश्य का बाध होकर केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह गया है उसे परमहंस कहते हैं। ऐसी स्थिति में भी विचारदृष्टि से तो दृश्य का अत्यन्ताभाव निश्चित हो जाता है किन्तु उसकी प्रतीति तो बनी ही रहती है। कहा है—

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥'

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञ को भी कभी-कभी भगवान् की विश्वविमोहिनी माया के अधीन हो जाना पड़ता है। दुर्गा-सप्तशती में कहा है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सो ग्यानिहुकर मन अपहरई। बरियाईं विमोहबस करई।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रारब्धवश तत्त्वज्ञ का भी पतन हो जाता है। मनुजी ने भी कहा है 'ज्ञानं क्षरति' अर्थात् ज्ञान वह जाता है। इसी लिये ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वज्ञ होने पर भी सदा सावधान रहना चाहिये। अतः यहाँ 'अमलात्मनाम्' ऐसा पद और दिया है। अर्थात् जो मल-विक्षेप यानी रजोलेश-तमोलेश से निर्मुक्त हैं, जिन महानुभावों के चित्तों को खींचनेवाली कोई भी लौकिक सत्ता नहीं है और जो सदा ही दृश्यातीत शुद्ध चेतन में ही परिनिष्ठित रहते हैं उनका आकर्षण किसी लौकिक पदार्थ से नहीं हो सकता। अतः उन्हें अपनी परमानन्दमयी अहैतुकी भक्ति प्रदान करने के लिये उनके परमाराध्य और एकमात्र ध्येय-ज्ञेय शुद्ध परब्रह्म ही अपनी लीला-शक्ति से सगुण विग्रह धारण करते हैं।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि उन्हें भक्ति प्रदान करने की ऐसी आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ऐसा करके उन्हें परमहंस से श्रीपरमहंस बनाते हैं। तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद-शून्य शुद्ध परब्रह्म का अनुभव करते हैं परन्तु प्रारब्धशेष पर्यन्त निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेन्द्रियादि का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहार-काल में इनकी सत्ता बनी ही रहती है। समाधि-काल में भी निर्वृत्तिक मनरूप उपाधि रहती ही है। इसी से वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। संक्षेपशारीरककार भी अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन को ही मानते हैं। उनका कथन है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।

अर्थात् अज्ञान का आश्रय और विषय अखण्ड शुद्ध चेतन ही है। किन्तु जिस समय शुद्ध चेतन अज्ञान का आश्रय और विषय होता है उस समय वह अज्ञानोपहित तो होना ही चाहिये। अतः इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञान अज्ञानातिरिक्त उपाधिशून्य ब्रह्म को ही विषय करता है। जिस प्रकार संसार का आदि मूलाज्ञान है उसी प्रकार उसका अन्त भी चरमावृत्ति है। वस्तुतः मूलाज्ञान और चरमावृत्ति में कोई अन्तर नहीं है। चरमावृत्ति परब्रह्म को विषय करती है—इसका तात्पर्य यही है कि वह चरमावृत्ति से व्यतिरिक्त उपाधिहीन ब्रह्म को विषय करती है, क्योंकि चरमावृत्ति तो वहाँ मौजूद ही है। निरुपाधिक ब्रह्म का अनुभव तो प्रारब्धक्षय के अनन्तर उपाधि का नाश होने पर ही होता है।

किन्तु जिस समय वे ही शुद्ध परब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से कोटिकामकमनीय महामनोहर श्रीकृष्ण-मूर्ति में प्रादुर्भूत होंगे उस समय उस तत्त्वज्ञ को भी उनका वह दिव्य-दर्शन निर्विशेष ब्रह्मदर्शन की अपेक्षा अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होगा। जिस प्रकार सूर्य को दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर उसमें जो विचित्रता प्रतीत होती है वह केवल नेत्रों से देखने पर प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार लीलाशक्त्युपहित सगुण ब्रह्मदर्शन में जो आनन्दानुभव होता है वह अशेष-विशेषशून्य शुद्ध परब्रह्म के साक्षात्कार में भी नहीं होता। इसी से श्रीरामचन्द्र का दर्शन होने पर तत्त्वज्ञशिरोमणि महाराज जनक ने कहा था—

इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
सहज विराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥

महाराज जनक के इस बरबस ब्रह्मसुखत्याग और रामदर्शनानुराग में क्या कारण था ? केवल यही क अब तक वे शुद्ध परब्रह्म रूप सूर्य को अपने नेत्रों से ही ाते थे, किन्तु इस समय वे उसके लीलाशक्तिरूप दूरवीक्षणोपहित स्वरूप का दर्शन कर रहे थे। केवल नेत्र से दीखनेवाले आदित्य की अपेक्षा दूरवीक्षणोपहित आदित्य-दर्शन में विशेषता है ही।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। आदित्य का वास्तविक स्वरूप कितना वैचित्र्यमय है—यह बात हमारे अनुमान में भी नहीं आ सकती। इसका अनुभव तो आदित्य की पूर्ण सन्निधि प्राप्त होने पर ही हो सकता है। इस समय हमें उसका जो कुछ रूप दिखाई देता है वह किसी-न-किसी उपाधि से संश्लिष्ट ही होता है। जिस प्रकार दूरवीक्षण यन्त्र उसका उपाधि है उसी प्रकार मेघ भी है। किन्तु मेघ उसके स्वरूप का आवरक है, जिसके कारण हमें सूर्य की स्फुट प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार इधर ब्रह्मदर्शन में भी जहाँ भगवान् की लीलाशक्ति भगवद्दर्शन में पटुता प्रदान करनेवाली है, वहाँ मल, विक्षेप और आवरण उसके प्रतिबन्धक हैं। इसी लिये अज्ञजन वस्तुतः ब्रह्मदर्शन करते हुए भी उसे अदृष्ट ही समझते हैं। किन्तु भगवान् के स्वरूप की स्फुट

और यथावत् अनुभूति तो सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त होकर उनके साथ तादात्म्य होने पर ही होगी।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मदर्शी तत्त्वज्ञ-गण जिस निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसकी अपेक्षा भगवान् का सगुण दिव्य-मङ्गलविग्रह अधिक आकर्षक क्यों है। इस विषय में भावुकों का ऐसा कथन है कि जिस प्रकार पार्थिवत्व में समानता होने पर भी पाषाणादि की अपेक्षा हीरा अधिक मूल्य-वान् होता है तथा कपास की अपेक्षा उससे बना हुआ वस्त्र बहु-मूल्य होता है, उसी प्रकार शुद्ध परब्रह्म की अपेक्षा उसी से विक-सित भगवान् की दिव्य-मङ्गलमयी मूर्ति कहीं अधिक माधुर्य-सम्पन्न होती है। इक्षुदण्ड स्वभाव से ही मधुर है किन्तु यदि उसमें कोई फल लग जाय तो उसकी मधुरिमा का क्या कहना है? मलयाचलोत्पन्न चन्दन के वृक्ष में यदि कोई पुष्प आ जाय तो वह कैसा सौरभसम्पन्न होगा? इसी प्रकार भगवान् की सगुण मूर्ति के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् के निर्गुण निर्विशेष स्वरूप में वह परमानन्द है ही नहीं जो कि उनकी सगुण मूर्ति में है। कारण, इक्षुदण्ड की मधुरिमा, पाषाणादि का मूल्य और चन्दनादि की सुगन्धि—ये सब सातिशय हैं। इनमें न्यूना-धिकता हो सकती है। परन्तु भगवान् में जो सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्दादि हैं वे निरतिशय हैं। इसलिये चाहे भगवान् की सगुण मूर्ति हो चाहे निर्गुण, इनमें कोई तारतम्य नहीं हो सकता;

क्योंकि जो तत्त्व निरतिशय बृहत् और निरतिशय आनन्दमय है उसी को तो निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। जहाँ बृहत्ता अथवा आनन्द का तारतम्य है वह तो ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जहाँ यह तारतम्य समाप्त हो जाता है उस अपार संवित्सुखसार ही को तो परब्रह्म कहते हैं। जो तत्त्व देशकालवस्तुकृत परिच्छेद से रहित है वही अनन्त ब्रह्म है; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' तथापि यहाँ जो विलक्षणता बतलाई गई है वह भगवदभिव्यक्ति के तारतम्य को लेकर भावुक भक्तों के हृदय की भावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण पर अभिव्यक्त परब्रह्म के माधुर्यादि की अपेक्षा स्वयं उन्हीं की परमाह्लादिनी लीलाशक्ति पर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूप के सौन्दर्य-माधुर्यादि अत्यन्त विलक्षण हो सकते हैं। किन्तु वास्तव में तो सगुणोपासक के लिये जैसा सगुण स्वरूप परमानन्दमय है वैसा ही निर्गुणोपासक के लिये भगवान् का निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप भी है।

जो लोग निर्विशेष परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुके हैं उन्हें कैवल्य तो ज्ञान से ही प्राप्त होता है; किन्तु वे जीवन्मुक्तिकाल में भी भगवान् की अचिन्त्य लीलामयी शक्ति के योग से दिव्य मङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत हुए परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र की सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा का समास्वादन किया करते हैं। अचिन्त्यानन्द-सुधासिंधु श्रीभगवान् के जिस माधुर्य का समास्वादन केवल वृत्ति-शून्य अन्तःकरण से नहीं किया जा सकता उसे भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान् की दिव्य लीलाशक्ति की सहायता से अनुभव

कर लेते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि केवल नेत्रों से सूर्य की वैसी दीप्तिमत्ता अनुभव नहीं होती जैसी कि स्वच्छ काँच आदि की सहायता से होती है। उपाधि-विशुद्धि के तारतम्य से माधुर्य-विशेष के प्राकट्य का भी तारतम्य रहता है। यद्यपि प्राण और इन्द्रियादि की अपेक्षा तो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्त:करण की स्वच्छता विशेष है, तथापि भगवान् की जो लीलाशक्ति उनके अशेष विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्ध स्वरूप को ही अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सान्दर्य-सुधानिधि, परम दिव्य श्रीकृष्णविग्रह में अभिव्यक्त कर देती है वह उस निर्वृत्तिक अन्त:करण की अपेक्षा भी अनन्त गुण स्वच्छ है; क्योंकि उसमें रजोगुण या तमोगुण का थोड़ा-सा भी संस्पर्श नहीं है। अन्त:करण चाहे कितना भी स्वच्छ हो परन्तु वह रजोगुण-तमोगुण से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह तम:प्रधाना प्रकृति के परिणामभूत पञ्चभूतों का ही कार्य है और कार्य में कारणांश की अनुवृत्ति अनिवार्य है।

अत: सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञगण केवल निर्वृत्तिक अन्त:करण से वैसी मधुरता का अनुभव नहीं कर सकते जैसी कि लीलाशक्ति के योग से आविर्भूत हुए भगवान् के सगुण स्वरूप का साक्षात्कार करने पर होती है। इसी से अमलात्मा तत्त्वज्ञ मुनियों को उनका भजनीय स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग के द्वारा उन्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्य का समास्वादन कराने के लिये ही परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। उन्हें यदि सगुण साकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाय तो भी देह-पात के अनन्तर वे कैवल्यपद ही प्राप्त करेंगे। किन्तु

सगुणोपासक अपने इष्टदेव का नित्यधाम प्राप्त करेंगे; इसीसे भक्ति-रसायनादि ग्रन्थों में तत्त्वज्ञ को सगुण-दर्शन से केवल दृष्ट-फल माना है और उपासक को दृष्ट और अदृष्ट दोनों।

अतः ऊपर जो बतलाया गया है इससे यही निश्चय होता है कि भगवान् के अवतार का प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसों के लिये भक्तियोग का विधान करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अपनी लीलाशक्ति से दिव्य मङ्गलमय देह धारण करते हैं। यह लीलाशक्ति भगवान् की परम अन्तरङ्गा है। जिस प्रकार वृक्ष के बीज में उसके शाखा, पल्लव, पुष्प और फल आदि सभी अङ्गों को उत्पन्न करने की अनेक शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार महाशक्ति में ही विश्वविकास की समस्त शक्तियाँ निहित हैं। अर्थात् वह भगवदीय महामायाशक्ति अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। उसमें जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामक आदि प्रपञ्च को उत्पन्न करने की अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर श्रीभगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत होने के अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरङ्गा शक्ति है और वह भगवान् की अनिर्वचनीया आत्मसंयोगभूता महाशक्ति के अन्तर्गत होने के कारण अनिर्वचनीयता में अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियों के समान होने पर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और दिव्य है।

इसे दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे किसी अत्यन्त दिव्य पुष्प के बीज में अंकुर, स्कन्ध, पत्र और

कण्टकादि उत्पन्न करने की भी शक्तियाँ रहती हैं, तथापि उन सबकी अपेक्षा उसमें जो महामनोहर सुरभित सुमन उत्पन्न करने की शक्ति है वह उन सबकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। यदि एक ही बीज में अनेकों अतीन्द्रिय शक्तियाँ न होतीं तो उससे पत्र, पुष्प, कण्टक और शाखा आदि परस्पर अत्यन्त विलक्षण वस्तुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अतः जिस प्रकार कण्टकादि उत्पन्न करनेवाली शक्तियों की अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करनेवाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है उसी प्रकार प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तियों की अपेक्षा भगवान् की दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति का स्फुरण करनेवाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिये। उसी के द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी मङ्गलमूर्ति धारण करते हैं। इसी से प्रपञ्चातीत प्रत्यगभिन्न परमात्मतत्त्व में निष्ठा रखनेवाले महामुनीन्द्र और योगीन्द्रों के मन भी अनायास ही उस भगवन्मूर्ति की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

इसी विलक्षणशक्ति का निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरङ्गा शक्ति आदि शब्दों से भी किया है। वह शक्ति भी भगवत्स्वरूप में अप्रविष्ट रहती हुई ही उसके प्राकट्य का निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधिविरहित, अतएव दाहकत्व-प्रकाशकत्वरहित अग्नि के दाहकत्व-प्रकाशकत्व-विशिष्ट दीप-शिखादि रूप की अभिव्यक्ति में तेल और बत्ती आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीपशिखा ही है, अथवा जैसे तरङ्ग-विरहित नीरनिधि के तरङ्गयुक्त होने में वायु केवल निमित्त-

मात्र ही है, वास्तव में तो तरङ्गयुक्त समुद्र विलक्षण रूप में प्रतीत होने पर भी सर्वथा वही है जो कि निस्तरङ्गावस्था में था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्ति रूप निमित्त से शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याण गुणगणविशिष्ट सगुण विग्रह में अभिव्यक्त होते हैं; किन्तु वस्तुतः उनका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्ति का भी निवेश नहीं है, वह तो तटस्थरूप से ही उसकी निमित्त होती है। इसी से भगवान् की सगुणमूर्ति के विषय में 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि', 'आनन्दैकरसमूर्त्तयः' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसी से उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध मुनीश्वरों के भी मनों को मोहित कर देती है। जिस समय बालयोगी सनकादि वैकुण्ठ-धाम में भगवान् की सन्निधि में पहुँचे उस समय प्रभु के पादारविन्द-मकरन्द के आघ्राण मात्र से उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया —

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

इसी से बहुत-से सहृदय महानुभाव निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर भी प्रभु के प्रेम-पथ के पथिक होते हैं। श्रीगोसाईंजी उन्हें 'सयाने सन्त' कहते हैं—

अस बिचारि जे सन्त सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

वे भगवान् से भगवत्सेवा के सिवा और कुछ नहीं चाहते; यहाँ तक कि मुक्ति और अपुनर्जन्म को भी अस्वीकार कर देते हैं—

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

वस्तुतः भोग-मोक्षादि की वासना रहते हुए तो भगवद्भक्ति की प्राप्ति ही नहीं हो सकती।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अतः जिनका चित्त केवल भगवान् के सौन्दर्य-सुधा-समास्वादन के लिये ही लालायित हो रहा है उन्हें केवल सङ्कल्पमात्र से भगवान् सन्तुष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि वे तो मोक्ष का भी तिरस्कार कर देते हैं—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

भला, जब उनका सन्तोष कैवल्य भी नहीं कर सकता तो भगवान् क्या करें? उन्हें स्वयं आविर्भूत होना ही पड़ता है। यहाँ गोपाङ्गनाओं को भी भगवद्दर्शन के विना 'त्रुटियुंगायते'—एक-एक पल युग के समान हो रहा था। उन्हें सन्तुष्ट करने में भगवान् का निर्विशेष रूप असमर्थ था। इसलिये ऐसी अवस्था में भगवान् को मूर्तिमान् होकर अवतीर्ण होना ही पड़ा। क्योंकि उनकी तृप्ति तथा जीवन बिना इसके नहीं हो सकते। भगवान् के अवतीर्ण हुए बिना वे कार्य नहीं हो सकते थे। इसी से प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ।

अब, साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

यह श्लोक भी ठीक ही है। यहाँ 'साधु' शब्द से गोपाङ्गना जैसे साधु ही समझने चाहिये, जिनका परित्राण भगवान् के दर्शनों के बिना हो ही नहीं सकता था। तथा दुष्कृती भी साधारण नहीं बल्कि भगवान् के अन्तरङ्ग जय-विजय जैसे दुष्कृती समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान् की लीला-विशेष के विकास के ही लिये था; अन्य दुष्कृतियों को तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा। इसके सिवा धर्म-संस्थापन से भी भक्तियोगरूप धर्म की ही स्थापना समझनी चाहिये, जो कि ऐसे भजनीय के बिना नहीं हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकारादि ने भगवान् के अवतार का प्रयोजन सर्वसाधारण के कल्याणोपयुक्त धर्म की स्थापना ही बतलाया है। इस प्रकार यद्यपि उनके प्रादुर्भाव का प्रधान प्रयोजन अमलात्माओं के भक्तियोग का विधान करना ही है तथापि अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओं की रक्षा और वैदिक-स्मार्त्तादि कर्मों की स्थापना भी हो सकता है। आगे के कथनानुसार भगवान् में लोक-शिक्षादि भी देखे ही जाते हैं। भगवान् तो सर्वनियन्ता हैं; इसलिये उनका प्रादुर्भाव योगारुरुक्षुओं के लिये भी था और योगारूढ़ों के लिये भी। योगारुरुक्षुओं को वैदिक-स्मार्त्त कर्मों में प्रवृत्त करना था और योगारूढ़ों को सर्वकर्म-

संन्यासपूर्वक केवल भगवन्निष्ठा में नियुक्त करना था। अतः भगवान् की यह उक्ति उचित ही है—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

वस्तुतः भगवान् तो विधि-निषेधातीत हैं। वे केवल लोक-शिक्षा के लिये ही शास्त्रीय शृङ्खला का अवलम्बन करते हैं, क्योंकि शास्त्रादि लोगों को मर्यादापालन में वैसा परिनिष्ठित नहीं कर सकते जैसा कि उस मर्यादा का पालन करनेवाले महापुरुष कर सकते हैं। अतः शास्त्र के अर्थज्ञान के साथ शास्त्रार्थ के अनुष्ठान में परिनिष्ठित व्यक्तियों के सहवास की भी बहुत आवश्यकता है। अतः लोगों को वैदिक-स्मार्त्त कर्मों में प्रवृत्त करने के लिये ही भगवान् स्वयं भी उनका यथाविधि अनुष्ठान किया करते थे—

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

इस प्रकार वे लोकसंग्रह के लिये ही इन सारी वैदिक एवं स्मार्त्त मर्यादाओं का पालन किया करते थे। जो बन्दर बहुत चञ्चल होता है उसे संयत करने के लिये बहुत लंबी शृङ्खला बाँधी

१४

जाती है। फिर वह जैसे-जैसे शान्त होता जाता है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला छोटी कर दी जाती है। यहाँ तक कि अन्त में उसे खुला छोड़ देने पर भी वह चुपचाप बैठा रहेगा। इसी प्रकार अत्यन्त चञ्चल चित्त के निरोध के लिये विधि-निषेधरूप लंबी शृङ्खला की आवश्यकता है। कारण, शास्त्रीय शृङ्खलाशून्य पुरुष के देहेन्द्रियादिकों की चेष्टाओं का भी नियमन अशक्य है फिर उनके मन की चेष्टाओं का निरोध कैसे हो सकता है ? इसी से मन को सर्वथा निश्चेष्ट करने के लिये पहले देहादि की शास्त्रीय शृङ्खलानिबद्ध चेष्टा सम्पादन करनी चाहिये परन्तु पीछे जैसे-जैसे उसकी उच्छृङ्खलता कम होती जाती है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला भी छोटी होती जाती है। वह पहले तो काम्य कर्म द्वारा स्वाभाविक काम और कर्म का निराकरण करता है, फिर पारलौकिक महत्फलवाले कर्मों से क्षुद्रफलदायक काम्य कर्मों को त्यागता है। तत्पश्चात् निष्काम कर्मद्वारा सभी काम्य कर्मों को छोड़ देता है और फिर ध्यान-समाधि आदि से सब प्रकार की चेष्टाओं का निरोध कर ठीक-ठीक नैष्कर्म्य को प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम-साधन का अभ्यास करते-करते अन्त में समाधिस्थ होता है। उस समय कोई आलम्बन न रहने पर भी उसका मन सर्वथा निश्चेष्ट रहता है; और फिर उसे किसी प्रकार की शृङ्खला की अपेक्षा ही नहीं रहती।

इसका तात्पर्य यही है कि जो लोग आरुरुक्षु हैं, जो संसार-सागर से पार नहीं हुए हैं उनके उपदेशार्थ तो भगवान् लौकिक-

वैदिक मर्यादाओं का पालन करते हैं। इसलिये जिन्हें संसाररूप स्वाभाविक मृत्यु को पार करना है उन्हें तो मर्यादापालनरूप महौषधि का सेवन करना चाहिये। उनके लिये तो भगवान् भी मर्यादापालन करते हैं; किन्तु जो योगारूढ़ हैं उनके लिये ऐसी कोई विधि नहीं है; उन्हें एकमात्र भगवन्निष्ठा में ही स्थिर करने के लिये भगवान् मर्यादा का उल्लङ्घन कर देते हैं, क्योंकि वे स्वयं तो समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय ही हैं। उनके लिये मर्यादापालन और मर्यादातिलङ्घन दोनों ही समान हैं।

जो अमलात्मा परमहंस योगारूढ़ हैं उनके लिये तो मर्यादापालन की अपेक्षा भगवान् का मर्यादातिलङ्घन ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि उन्हें तो भगवत्तत्त्व में स्वारसिकी प्रीति ही अभिलषित है और वह तभी हो सकती है जब किसी प्रकार की शृङ्खला न रहे। जहाँ कोई शृङ्खला होती है अर्थात् जहाँ किसी विधि का बन्धन होता है वहाँ स्वारसिक प्रेम नहीं होता। लोक में यह देखा जाता है कि वैषयिक सुख के अभिव्यञ्जक स्त्री-पुत्रादि में मनुष्यों का जैसा स्वाभाविक राग होता है वैसा श्रौत-स्मार्त्तादि कर्मों में नहीं होता। यही नहीं, जिन्होंने मनोनिरोधपूर्वक अपनी बुद्धि को शुद्ध परब्रह्म में स्थापित कर दिया है, देखा जाता है कि विषय उन्हें भी आकर्षित कर लेते हैं। दृष्ट दुःख उन्हें भी बना ही रहता है। वस्तुतः सुखी तो वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। ऐसे नारायण-परायण महानुभाव विरले ही होते हैं। करोड़ों में कोई एक आध ही भाग्यशाली होता है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

तथापि सुखी वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। वे नारायण कौन हैं ?—

'नारो जीवसमूहस्तस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः'

नार जीवसमूह को कहते हैं उसकी जिससे प्रवृत्ति होती है वह नारायण है; अथवा—

'नारो जीवसमूहः अयनं यस्य असौ नारायणः'

नार यानी जीव-समूह है आश्रयस्थान जिसका अर्थात् जो अन्तर्यामीरूप से समस्त जीवों में बसा हुआ है वह नारायण है।

'नारं जीवसमूहमयते साक्षित्वेन विजानातीति नारायणः'

अर्थात् प्रमात्रादि समस्त प्रपञ्च के साक्षी को नारायण कहते हैं।

इस प्रकार शुद्ध परमात्मा ही नारायण है। वही जिसका परायण—आश्रय है अर्थात् जिसका एकमात्र ध्येय-सेय श्रीनारायण ही हैं वह नारायण-परायण कहलाता है। उसे विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी तो एकमात्र श्रीनारायण में ही स्वारसिकी प्रीति होती है। अतः भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन यही है कि जो अमलात्मा मुनि हैं उनकी श्रीनारायण में स्वारसिकी प्रीति हो।

वस्तुतः, ब्रह्मतत्त्व के चिन्तन में तत्त्वज्ञों की भी ऐसी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है। इस स्वारसिकी प्रवृत्ति के तारतम्य से ही तत्त्वज्ञों की भूमिका का तारतम्य

होता है। चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञों में केवल वाह्य विषयों से उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहने में ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान ही है। जितनी ही प्रयत्न-शून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति, अत्यन्त कामुक की कामिनी-विषयक लालसा के समान, ब्रह्म के प्रति अत्यन्त स्वारसिकी होती है वे ही नारायण-परायण हैं। वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तों से उत्कृष्टतम हैं।

निर्विशेष परब्रह्म में हमारी जो प्रवृत्ति होती है वह तो शास्त्रविधि के कारण है, किन्तु मनोरमा नारी में चित्त स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। हमें शास्त्रविधि के कारण परब्रह्म में तो वलपूर्वक चित्त को लगाना पड़ता है और निषेध के भय से परस्त्री की ओर से उसे बलात्कार हटाना पड़ता है। विधि कहाँ होती है ?—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'—जो वस्तु स्वतः सर्वथा प्राप्त न हो उसके लिये विधि होती है। अग्निहोत्र स्वतः प्राप्त नहीं है; इसी से वेद भगवान् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' ऐसा विधान करते हैं। इसी प्रकार आत्म-दर्शन के लिये भी विधि की गई है—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः'। अतः आत्मदर्शन में स्वारसिकी प्रीति नहीं है और जहाँ स्वारसिकी प्रीति नहीं होती वहाँ निरतिशय प्रेम भी नहीं हुआ करता।*

---

* यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा तो परप्रेम का ही आस्पद बतलाया गया है और इस कथन से वह ऐसा सिद्ध नहीं होता परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहाँ केवल आत्मदर्शन में ही स्वारसिकी

यद्यपि वेदान्तियों ने आत्मदर्शन में विधि नहीं मानी, क्योंकि विधि पुरुषाधीन क्रिया में ही हुआ करती है, जिसके कि करने-न-करने में पुरुष की स्वतन्त्रता होती है, जिस प्रकार अमुक पुरुष घोड़े पर चढ़कर जाता है, पैदल जाता है अथवा नहीं जाता। किन्तु वस्तु या प्रमाणाधीन ज्ञान में विधि नहीं हुआ करती, क्योंकि वह तो विधि की अपेक्षा न रखकर केवल प्रमाण के अधीन है। यदि प्रमाण को अपने प्रमेय के प्रकाशन में किसी विधि की अपेक्षा मानी जाय तो विधि को भी अपने अर्थ का बोध कराने के लिये दूसरी विधि की आवश्यकता होगी। अतः आत्मदर्शन तो प्रमाण से ही होता है, उसके लिये विधि की आवश्यकता नहीं है। तथापि तत्त्वदर्शन के लिये प्रमाण के

प्रीति का अभाव बतलाया गया है, आत्मा में नहीं। वस्तुतः अज्ञानी पुरुषों की भी जो शब्दादि विषयों में स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है वह अज्ञानवश आत्मारूप से माने हुए देहेन्द्रियादि की तुष्टि के ही लिये होती है। वे अपने परमार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं इसलिये देहेन्द्रियादि मिथ्यात्मा के ही परितोष का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वस्तुतः उस समय वैसा करके भी वे अपने सत्यात्मा की ही प्रीति का सम्पादन करते हैं, क्योंकि देहेन्द्रियादि मिथ्यात्मा की प्रसन्नता का साक्षी तो शुद्ध चेतन ही है। शास्त्र तो केवल इतना ही करता है कि उन्हें सत्यात्मा का ज्ञान करा देता है; इसी से फिर वे मिथ्यात्मा की प्रसन्नता के लिये उद्विग्न नहीं होते।

व्यापार की अपेक्षा तो है ही और वह प्रमाण-व्यापार पुरुषाधीन है; इसलिये केवल उसी की विधि मानी गई है। अतएव भगवान् भाष्यकार ने वहिर्मुखतादि का व्यावर्तन करनेवाले द्रष्टव्य आदि वचनों को 'विधिच्छाय' (विधि की छायामात्र) कहा है।

वास्तव में यही कारण है कि प्राणियों की मनोवृत्ति शब्द-स्पर्शादि में समासक्त है; वह शुद्ध परब्रह्म की ओर जाती ही नहीं। अतः भगवान् उनकी स्वारसिकी प्रवृत्ति सम्पादन के लिये ही, शब्द-स्पर्श-रूप-रसादिविरहित होने पर भी उनके मन और इन्द्रियों को आकर्षण करने के लिये दिव्य रूप, दिव्य गन्ध और दिव्य स्पर्शवान् होकर अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि परमपुरुषार्थ तो यही है। जब तक भगवान् के प्रति जीव की स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती तब तक तो वह अकृतार्थ ही है। जिस प्रकार रसना के पित्तादि दोष से दूषित हो जाने पर जब किसी बालक को मधुरातिमधुर पदार्थ भी, जो उसकी रोग-निवृत्ति के भी हेतु होते हैं, अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं तो उसकी माता उन्हें उसी वस्तु में मिलाकर देती है, जो कि उसे रुचिकर होती है उसी प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा मधुरातिमधुर है, जिससे बढ़कर और कोई मधुर नहीं है, उसमें जीवों को मोह-वश प्रेम नहीं होता; बल्कि विष के समान कटु विषयों में आसक्ति हो जाती है। अतः अपने तत्त्वज्ञ भक्तों को प्रेमानन्द प्रदान करने के लिये ही वे अशब्द एवं रूपरसादिविरहित होने पर भी महामनोहर दिव्यमङ्गलमयी मूर्ति धारण कर अवतीर्ण होते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य रहता है कि प्राकृत रूप-रसादि वस्तुतः

विषरूप ही हैं; किन्तु भगवदीय रूपादि स्वरूप से भी निरतिशय माधुर्यसम्पन्न परमानन्द ही हैं। अतः उनके प्रति अमलात्मा मुनिजन एवं अन्य साधारण प्राणियों की भी समान रूप से स्वारसिकी प्रीति हो जाती है।

देवताओं के प्रति स्वाभाविक प्रेम नहीं होता, क्योंकि वे अदृष्ट होते हैं। इसी लिये उनमें प्रेम करने के लिये शास्त्र का विधान करना पड़ा है। गुरु दृष्ट हैं, इसलिये देवताओं की अपेक्षा उनके प्रति अनुराग होना अधिक सुगम है। परन्तु उनमें आत्मीयता का अभाव है, इसी से स्वारसिक प्रेम उनमें भी नहीं होता। इसी प्रकार पिता, माता और पत्नी में उत्तरोत्तर आत्मीयता की अधिकता होने के कारण प्रेम की भी अधिकता होती है; तथापि स्वारसिकी प्रीति उनके प्रति भी नहीं होती; इसी से उनके प्रति प्रेम करने के लिये भी विधि है। यहाँ तक कि विधिनियन्त्रित सर्वापेक्षया अधिक कामुक की कामिनी-विषयिणी प्रीति भी शृङ्खलाशून्य परकीया कामिनी में होनेवाली प्रीति से न्यून ही है। यह बात प्रायः देखी जाती है कि जहाँ-जहाँ विधि है वहाँ-वह स्वारसिकी प्रीति की न्यूनता होती है।

इस दृष्टि से, यदि भगवान् की प्रवृत्ति वैदिक अथवा स्मार्त्त शृङ्खलाओं से नियन्त्रित हो तो वह स्वारसिकी प्रीति को बढ़ानेवाली नहीं होगी और ऐसा न होने पर उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यह ठीक है कि वे मर्यादापालन करते हुए आरुरुक्षुओं को तो मार्ग प्रदर्शन कर देंगे परन्तु अमलात्मा

परमहंसों को अपने निरपेक्ष अनन्य प्रेम का पथ न दिखला सकेंगे।

व्यवहार में देखा जाता है कि कितने ही स्थलों में चाञ्चल्य ही रस की अभिव्यक्ति करनेवाला है। जैसे बालक की तो चञ्चलता ही माता-पिता की प्रसन्नता को बढ़ानेवाली है। यदि वह समाहित मुनियों के समान शान्तभाव से बैठा रहे तो यह माता-पिता के मोद में बाधक ही होगा। अतः जो रसज्ञ हैं उनसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि बहुत स्थानों में तो अचाञ्चल्य रस का विघातक ही है।

इसलिये यदि भगवान् की चेष्टाएँ वैदिक-स्मार्त्त शृङ्खलाओं से बँधी हुई होंगी तो वे अमलात्मा परमहंसों का परप्रेम से छादन न कर सकेंगी। उन महात्माओं को मर्यादा-पालन का आदर्श अपेक्षित ही नहीं है क्योंकि ऐसा तो वे पहले ही कर चुके होते हैं। उन्हें तो भगवान् में विशुद्ध प्रेम ही अपेक्षित है। किन्तु जहाँ भगवान् अपने ऐश्वर्ययोग से सम्पन्न होंगे वहाँ उसका आविर्भाव होना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार शिशु का अद्भुत चाञ्चल्य माता-पिता के हृदय को आकर्षित कर लेता है, प्रियतमा के मर्यादातीत रसमय हाव-भाव-कटाक्षादि प्रियतम का मोद बढ़ाते हैं, उसी प्रकार यदि भगवान् परमदिव्य मङ्गलमय विग्रह धारण कर रसमयी उच्छृङ्खल चेष्टाएँ करें तो उन्हीं से उनके प्रति उनकी स्वारसिकी प्रीति होनी सम्भव है। इस दृष्टि से विचार करें तो यही निश्चय होता है कि भगवान् का शास्त्रातिलङ्घन दूषण नहीं प्रत्युत भूषण है।

वहुत-से भाव ऐसे होते हैं जो ऊपर से तो अन्य प्रकार के जान पड़ते हैं किन्तु भीतर से उनका और ही रहस्य होता है। यह वात स्पष्ट ही है कि भगवान् प्राकृत नहीं हैं। वे शुद्ध परब्रह्म ही उस रूप से आविर्भूत हुए हैं तथा ये मुनिजन भी पञ्चकोशातीत होने के कारण प्राकृत प्रपञ्च से परे हैं।

इस प्रकार घटाकाश और महाकाश के समान स्वरूप से उनका सम्मिलन है ही। उनका ऐक्य सभी को अभिमत है। किन्तु इस समय वह तत्पदार्थ परमात्मा ही दिव्य मङ्गलमय भगवद्विग्रह-रूप से आविर्भूत हुए हैं और उसी प्रकार त्वं पदार्थ अमलात्मा परमहंसों के रूप में स्थित है। ऐसी स्थिति में, जैसे अव्यक्त रूप से उनका तादात्म्य है उसी प्रकार, यदि व्यक्त रूप से भी तादात्म्य हो तो क्या अभिज्ञों की दृष्टि में वह प्राकृत सम्भोग होगा? स्वरूप से तो उनका नित्य सम्भोग है ही। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि वाक्यों स यह वात कही गई है।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तत्पदार्थ हैं और गोपाङ्गनाएँ त्वं पदार्थ हैं। यदि इन दोनों का परस्पर संश्लेष हो तो क्या वह कामक्रीड़ा कही जायगी? स्थूल दृष्टि से तो अवश्य यह कामक्रीड़ा-सी मालूम होती है, परन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि से तो यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत संयोग ही है।

श्रीमद्भागवत में यह कई स्थानों में देखा जाता है कि गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग में सन्तप्त रहती थीं और हर समय

उनके दर्शनों के लिये लालायित रहतीं थीं। और इसी प्रकार भगवान् भी व्रजसुन्दरियों की विरह-व्यथा से व्याकुल रहते थे। उन दोनों ही को पारस्परिक संयोग बहुत अभीष्ट था। प्रेम का यह स्वभाव है कि प्रेमी परस्पर गाढालिङ्गन के लिये उत्सुक रहा करते हैं। माता अपने सुकुमार शिशु को हृदय से लगाने में कितना सुख अनुभव करती है। जो जितना अधिक प्रेमास्पद होता है उसका व्यवधान उतना ही अधिक असह्य होता है। यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि जिस समय व्रजाङ्गनाएँ भगवान् का आलिङ्गन करती थीं उस समय उन्हें अपने हार, आभूषण और कञ्चुकी का व्यवधान तो असह्य था ही, प्रत्युत प्रेमातिरेक के कारण जो रोमाञ्च होता था वह भी अत्यन्त अप्रिय जान पड़ता था। अतः सिद्धान्त यही है कि प्रेम का पर्यवसान अभेद में ही होता है, भेद में नहीं होता।

बात क्या है? भगवान् गोपाङ्गनाओं के आत्मा हैं; आत्मा का व्यवधान भला कैसे सह्य हो? द्वारका में जो भगवान् की पट्टमहिषी थीं उनके विषय में कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दीर्घकालीन प्रवास के पश्चात् हस्तिनापुर से आये उस समय उन्हें देखकर वे तुरन्त आसन और शय्या से उठीं। किसलिये?—देशकृत व्यवधान को दूर करने के लिये। किन्तु उस समय उन्हें यह विचार हुआ कि हम तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कञ्चुकों को पहिनकर अपने प्रेमास्पद से मिल रही हैं। अतः हमारा यह सम्मिलन समुचित

आनन्दवर्द्धक नहीं हो सकता। इसलिये वे उन सब कञ्चुकों को उतारकर सच्चिदानन्द रूप से भगवान् को मिलीं।

यहाँ गोपाङ्गनाएँ और भगवान् दोनों ही सच्चिदानन्द-स्वरूप थे। अतः उनकी लीला प्राकृत है ही नहीं। इसलिये इसमें मर्यादातिलङ्घन का प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह तो वह स्थिति है जिसकी प्राप्ति के लिये सारी मर्यादाओं का पालन किया जाता है।

अतः जिस समय भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पहले अवतार के प्रधान प्रयोजन की ही पूर्ति करनी चाहिये। इसी से पहले उन्होंने अमर्यादित दिव्य लीलाएँ कीं और पीछे मर्यादित लोक-संग्रहमयी। लोक में भी यह प्रायः देखा जाता है कि उपनयन-संस्कार से पूर्व उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रहती है और उसके पीछे मर्यादानुसार आचरण किया जाता है। यही बात भगवान् के विषय में भी देखी जाती है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजन की पूर्ति के लिये स्वीकार की हुई भगवान् की उच्छृङ्खलता में भी एक प्रकार की सुश्रृङ्खलता ही है; इस मर्यादातिलङ्घन में भी एक प्रकार का मर्यादापालन ही है।

वेद जो कहता है कि 'जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणैः ऋणवान् जायते'—उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है—सो इन तीन ऋणों में स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण की निवृत्ति होती है, प्रजोत्पादन से पितृ-ऋण का अपाकरण होता है और यज्ञ-यागादि से देव-ऋण का शोधन होता है। यहाँ यदि 'जायमान' शब्द का अर्थ 'जन्म लेते ही' किया जाय तो बालक प्रत्यवायी

सिद्ध होगा, क्योंकि उपनयन होने से पूर्व वह इनमें से न तो कोई क्रिया करने में समर्थ ही है और न इनका अधिकारी ही। इसलिये इसका अर्थ 'गृहस्थः सम्पद्यमानः'—गृहस्थावस्था को प्राप्त होने पर—ऐसा करना चाहिये। अतएव भगवान् ने संस्कारादि से पहले अमलात्मा परमहंसों के प्रेम-रसाभिवर्धन के लिये उच्छृङ्खल लीलाओं का ही प्रदर्शन किया तथा संस्कारादि के पश्चात् मर्यादित लीलाओं का प्रदर्शन किया।

इस प्रकार यद्यपि इस मर्यादातिक्रमण में भी मर्यादा की रक्षा हो है तथापि भगवान् तो समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। इसलिये वे एक काल में भी दोनों प्रकार के कार्य कर सकते हैं। जिस प्रकार सर्वाधिष्ठान होने के कारण आत्मा एक ही समय में एक (अपवाद) दृष्टि से तो अकर्ता-अभोक्ता है किन्तु दूसरी (अध्यारोप) दृष्टि से सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है उसी प्रकार भगवान् में एक ही साथ दो विरुद्ध धर्म रहा करते हैं। निर्व्यापार रहते हुए व्यापार करना और व्यापार करते हुए भी निर्व्यापार रहना—ये यद्यपि परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं तथापि तत्त्वज्ञ महापुरुषों की तो यही दृष्टि है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

यहाँ 'पश्येत्'—देखे यह भी क्रिया ही है। ध्यानयोगी जो सम्पूर्ण इन्द्रियों की गति को रोककर निश्चल भाव से अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार करता है वह भी तो एक प्रकार की

क्रिया ही है। जो भगवान् अपने भावुक भक्तों के लिये रस-स्वरूप हैं, जिनका 'रसो वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इस श्रुति द्वारा प्रतिपादन किया गया है, वे ही अज्ञानियों के लिये भय के स्थान हैं 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' जो आत्मज्ञों के लिये परम सन्निकृष्ट हैं वे ही अज्ञों के लिये दूर से भी दूर हैं। अतः भगवान् में तो स्वभाव से ही सम्पूर्ण विरुद्ध धर्म रहते हैं इसलिये यदि एक काल में ही वे विरुद्ध प्रकार के आचरण करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यही नहीं, जिस प्रकार भगवान् के अवतार मर्यादा-पालन के लिये अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार कर्म-संन्यास के लिये भी उनकी अपेक्षा हुआ करती है। भगवान् राम का अवतार मर्यादापालन के लिये था और ऋषभदेवजी का सर्वकर्म-संन्यास के लिये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही भगवान् ने दो प्रकार की चेष्टाएँ क्यों कीं? इस विषय में यही कथन है कि वे भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिये थीं। जो मर्यादापालन का अधिकारी है उसके आदर्श श्रीरामचन्द्र हैं और जो सर्वकर्म-संन्यास के अधिकारी हैं उनके पथ-प्रदर्शक भगवान् ऋषभदेव हैं।

सर्वकर्म-संन्यासी तत्त्वज्ञ महानुभावों की भी दो प्रकार की चर्या देखने में आती है। उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जो कामिनी-काञ्चनादि भोग्य पदार्थों का स्वरूप से त्याग कर देते हैं और सर्वदा अलक्षित गति से एकान्त सेवन किया करते हैं, उनमें साधकों के आदर्श तो बदरिकाश्रमनिवासी भगवान् नर-नारायण हैं और

सिद्धों के भगवान् ऋषभदेव। वे लोग स्वप्न में भी स्त्री आदि भोग्य विषयों का सङ्ग नहीं करते। उनका नियम होता है कि—

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।

किन्तु कोई-कोई महानुभाव ऐसी विलक्षण धारणावाले होते हैं कि अनेकविध भोग्य सामग्रियों के सान्निध्य में रहकर भी वे उनसे अक्षुण्ण रहते हैं।

ऐसे सिद्धकोटि के महानुभावों के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं। किन्तु वे लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं, उनके द्वारा तो इस कोटि के महापुरुषों की उच्चतम स्थिति का केवल दिग्दर्शनमात्र होता है।

यद्यपि साधकों के लिये स्त्रियों का चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थ का हेतु होता है, तथापि भगवान् ने तो कामजय के लिये ही यह अद्भुत लीला की थी।

टीकाकार श्री श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों को जीत लेने के कारण जो अत्यन्त अभिमानी हो गया था उस कामदेव के दर्प को दलित करनेवाले गोपियों के रासमण्डल के भूषणस्वरूप श्रीलक्ष्मीपति की जय हो। वस्तुतः रासक्रीड़ा में प्रवृत्त होकर भगवान् ने मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया, बल्कि उन्होंने तत्त्वज्ञों की निष्ठा की दृढ़ता ही प्रदर्शित की है। अहो! जो साक्षात् शृङ्गाररस की अभिवृद्धि करनेवाले

हैं उन अनेकविध दिव्य हाव-भाव कटाक्षों का सम्प्रयोग होने पर भी उनका चित्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ। भगवान् की इस स्थिति का श्रीशुकदेवजी ने भिन्न-भिन्न शब्दों में कई जगह वर्णन किया है, जैसे—'साक्षान्मन्मथमन्मथः', 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः', 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' इत्यादि।

भगवान् सर्वेश्वर हैं; उनकी यह लीला कामजय के लिये ही हुई थी। काम ने ब्रह्मादि को जीत लिया था। इससे उसका अभिमान बहुत बढ़ गया और अब उसने उन सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण से भी युद्ध करने का निश्चय किया। भगवान् ने उसका यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। कन्दर्प ने भी श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रभाव को जानकर विजय की लालसा से श्रीव्रजाङ्गनाओं के अङ्गरूप काञ्चन-मय कामग दुर्ग का आश्रयण किया और वहाँ प्रधान प्रधान अवयवों को अपना ख़ास निवासस्थान चुना और अपने मित्र वसन्त की सहायता से नाना प्रकार कुसुमों का ही धनुष-बाण तथा अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वाधीन व्रजाङ्गनाओं के काञ्चनमय अङ्ग रूप का-मग दुर्ग में स्थित होकर युद्ध की पूर्ण तैयारी कर ली। इतने पर भी श्रीकृष्ण ने उसे दुर्बल ही देखा। यह नियम है कि बड़े-बड़े योद्धा दुर्बल शत्रु से युद्ध करना उचित नहीं समझा करते। इसलिये युद्ध करने से पूर्व वे उसे सबल कर देते हैं। अपूर्ण चन्द्र पर राहु भी आक्रमण नहीं करता। जब एक राक्षस की भी ऐसी नीति है तो सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही ऐसा कैसे कर सकते थे? अतः भगवान् ने पहले तो श्रीमहादेवजी के कोपानल से दग्ध हुए

कन्दर्प को पुष्ट किया। वह गोपाङ्गनाओं के हृदय में स्थित था। उसे वेणुनाद-द्वारा अपनी दिव्य अधर-सुधा का पान कराकर भगवान् ने सबल कर दिया। परन्तु गोपाङ्गनाओं के हृदय में तो मन भी रहता है और वह भगवान् श्रीकृष्ण का परम भक्त है तथा कामदेव मनोज होने के कारण उसका पुत्र है। अतः अपने पिता के विरुद्ध वह कोई चेष्टा कैसे कर सकता था और वृद्ध पिता के सामने उससे कोई धृष्टता भी कैसे बन सकती थी? इसलिये उसे निःसंकोच करने के लिये भगवान् ने वेणुनाद-द्वारा उस मन को अपने पास बुला लिया। अब कामदेव स्वतन्त्र हो गया। गोपाङ्गनाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों ने उसके अस्त्र-शस्त्र होकर भी सहायता की तथा चन्द्रमा, वसन्त, यमुनापुलिन, निकुञ्ज और मलय-मारुत भी उसके सहकारी हो गये। इस प्रकार पहले सर्वसाधन-सम्पन्न करके फिर उसे परास्त करने के लिये ही भगवान् ने यह ललित लीला की; इसी से यहाँ उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' कहा गया है।

सृष्टिमात्र का प्रयोजक काम ही है। सृष्टि के आरम्भ में जैसा भाव रहता है उत्तरकालीन प्रपञ्च भी उसी का अनुसरण किया करता है। जैसे सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को एकाकी रहने पर रमण नहीं हुआ वैसे ही अब भी अकेले रहने पर लोगों को भय और अरमण हुआ करता है। सर्गारम्भ में पर-मेश्वर कामप्रयुक्त (सङ्कल्पद्वारा प्रेरित) प्रकृति से संयुक्त होकर प्रपञ्च की रचना करते हैं; इसीलिये लौकिक पुरुष भी कामप्रयुक्त

प्रकृतिरूपा पत्नी से संयोग करके प्रजा की रचना करते हैं। श्रुति भी कहती है—'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्'—भगवान् ने इच्छा की कि मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।

वह भगवदिच्छा हा आदि-काम है। आगे यह वतलाया जायगा कि जिस प्रकार एक सत्तत्त्व ही सुख-दु:खादि शुभाशुभविशेषणविशिष्ट होकर हेय और उपादेय होता है उसी प्रकार लौकिक और अलौकिक आलम्बन के कारण काम भी हेय और उपादेय हो जाता है। शुभाशुभ-विशेषण-शून्य सत्तत्त्व तो निर्विशेष ब्रह्म ही है; वह न हेय है न उपादेय। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि विशेषण भी विशेष्य से अभिन्न ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिका का परिणाम अतएव उससे अविभिन्न घट मृत्तिका के विशेषण रूप से व्यपदिष्ट होता है तथा जैसे घटाकाश का अवच्छेदक और उसका विशेषणभूत घट भी आकाश से अभिन्न ही है, क्योंकि वायु, तेज और जलादि के क्रम से आकाश ही घटरूप हो जाता है और कार्य तथा कारण में अभिन्नता होती है—यह प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार शुभाशुभ विशेषण भी सत्तत्त्व से अभिन्न ही हैं, तथापि व्यवहार में उसके विशेषण होने से उसके भेदक भो हैं।

इस प्रकार प्रपञ्चोत्पादन के लिये प्रकृति के संसर्ग में प्रवृत्त करनेवाली इच्छा या रस ही काम है। यही साक्षात् काम (साक्षान्मन्मथ) है। इस काम का एक बिन्दु ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। यह साक्षात्काम रसात्मक ब्रह्म का ही औपाधिक

या विकृत रूप है। यह कारणब्रह्म के मायावृत्तिरूप मन में क्षोभ उत्पन्न करता है। फिर जिस प्रकार पुरुष कामक्षुब्ध होकर प्रजोत्पादन के लिये स्त्री से संसर्ग कर उसमें गर्भाधान करता है उसी प्रकार इससे क्षुब्ध हुआ कारणब्रह्म प्रकृतिरूप अपनी योनि से संसृष्ट होकर उसमें गर्भाधान कर देता है। जिस प्रकार स्त्री का गर्भाशय पुरुष का वीर्य प्राप्त होने पर ही प्रजोत्पादन में समर्थ होता है उसी प्रकार पुरुष के चैतन्य-प्रतिबिम्बरूप वीर्य के प्राप्त होने पर ही अर्थात् पुरुष के सान्निध्य से प्राप्त हुए चैतन्य-सामर्थ्य से ही प्रकृति महदादि प्रजाओं को उत्पन्न कर सकती है। जिनका हृदय पाशविक संस्कारों से दूषित है उन नरपशुओं को जिस चर्म-खण्ड में योनिबुद्धि है वह वस्तुतः योनि नहीं कही जा सकती। योनितत्त्व तो अतीन्द्रिय है। जिस प्रकार इन्द्रियगोलक से इन्द्रिय-तत्त्व सर्वथा भिन्न और अतीन्द्रिय है उस प्रकार योनितत्त्व भी योनिगोलक से सर्वथा भिन्न है। जो योनितत्त्व का उद्गमस्थल जागतिक सृष्टि का मूल कारण है वही मूलयोनितत्त्व है और उसी को 'प्रकृति' भी कहते हैं। पुरुष का अंशभूत चैतन्य-प्रतिबिम्ब ही वीर्य है। अतः यह नियम है कि प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होने पर ही सृष्टि हुआ करती है। अस्तु।

इस प्रकार प्राथमिक काम साक्षान्मन्मथ है। वह विकृत रस-स्वरूप है। उस विकृत रस का याथात्म्य या अधिष्ठान अविकृत रसात्मक परब्रह्म ही है। विकृत रस में जो मन्मथत्व या मोहकत्व है वह अपने अधिष्ठान से ही आता है। अतः उसका अधिष्ठान-

भूत परब्रह्म ही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है। जिस प्रकार भगवान् को चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन कहा जाता है उसी प्रकार वे काम के काम अर्थात् मन्मथमन्मथ हैं। वे अव्यक्त मन्मथमन्मथ ही इस समय अत्यन्त मधुमयी मनोहर माधवमूर्ति में विराजमान हैं। इसलिये वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' हैं।

भगवान् जो चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, मन के मन और प्राण के प्राण कहे गये हैं उसका क्या रहस्य है? श्रोत्र किसे कहते हैं? जो इन्द्रिय शब्द-प्रकाशन में समर्थ है उसका नाम 'श्रोत्र' है। भगवान् उसे शब्द-प्रकाशन का सामर्थ्य प्रदान करते हैं, इसलिये वे श्रोत्र के श्रोत्र हैं। इसी प्रकार वे चक्षु के चक्षु, मन के मन और प्राण के प्राण भी हैं तथा वे ही साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं। मन्मथ काम को कहते हैं। नायक-नायिका के पारस्परिक स्नेहविशेष का नाम 'काम' है। वह एक प्रकार का रस है और भगवान् भी रसस्वरूप हैं; 'रसो वै सः'। भगवान् सम्पूर्ण रसों के अधिष्ठान हैं; वे निर्विशेष रसस्वरूप हैं तथा संसार में जितने रस हैं वे उन रसमय के ही विशेष विकास हैं।

सिद्धान्तदृष्टि से देखा जाय तो शुद्ध सत् अशेषविशेष-निर्मुक्त परब्रह्म ही है। इसी प्रकार शुद्ध चित् भी वही है। सत् और चित् में भी कोई भेद नहीं है। जिसकी सत्ता होगी उसका भान भी अवश्य होगा और जिसका भान होगा उसकी सत्ता भी अवश्य होगी। अतः जो सत् है वही चित् है और जो चित् है वही सत् है। जिस प्रकार सच्चित् सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण है उसी प्रकार

आनन्द भी है। 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'। जिस प्रकार सर्वविशेषणनिर्मुक्त सत् ब्रह्म है उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। वह हेयोपादेय से रहित है; पुण्य या अपुण्य विशेषण से युक्त होने पर ही वह हेयोपादेय होता है। जो आनन्द किसी उत्तम वस्तु को आलम्बन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बन्धनकारी निकृष्ट पदार्थों के आलम्बन से होता है उसे काम या मोह कहा जाता है। भगवान् विष्णु, शिव एवं गुरुदेव आदि उत्तम आलम्बन हैं। भगवान् तो स्वयं ही रसस्वरूप हैं; उनमें तन्मय हुआ चित्त भी पूर्णतया रसमय हो जाता है। श्रीमधुसूदन स्वामी कहते हैं—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम् ॥

प्रेमी के द्रुत चित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर जतु (लाक्षा) पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादिरूप अग्नि से भी प्रेमी का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलम्बन सात्त्विक हैं; इसलिये जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुत चित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे 'प्रेम' कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्यस्वरूप है, तथा काम दुःख और अपुण्यस्वरूप है। इस प्रकार यदि

मूल में देखें तो सत् का ही रूपान्तर सुख और पुण्य हैं तथा उसी का रूपान्तर दुःख और अपुण्य हैं एवं इन सब प्रकार के विशेषणों से शून्य जो सत् है वही परब्रह्म है। ठीक इसी प्रकार जो सर्वविशेषणशून्य रस है वह भी ब्रह्म ही है, वही साक्षान्मन्मथ-मन्मथ हैं और वही श्रीकृष्ण हैं। इसी से काम को वासुदेव का अंश कहा है—'कामस्तु वासुदेवांशः'।

यह तो हुआ आध्यात्मिक विवेचन। आधिदैविक दृष्टि से देखें तो भी भगवान् का रूपमाधुर्य ऐसा मोहक था, कि जो काम संसार के प्रत्येक प्राणी को मोहित करने में समर्थ है, वही जिस समय अपने दल-बल सहित भगवान् की परम सुन्दर दिव्य मङ्गल-मयी मूर्ति के सामने आया तो उनका लावण्य देखकर मानों धूलि में मिल गया। इसी से उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका की एक रश्मि के माधुर्य्य का अनुभव करके कन्दर्प का दर्प प्रशान्त हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं लक्षों जन्म कठिन तपस्या करके श्रीव्रजाङ्गनाभाव को प्राप्त कर श्रीकृष्ण के पादारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका का यथेष्ट सेवन करूँगा, फिर साक्षात् श्रीकृष्ण-रस में निमग्न व्रजाङ्गनाओं के सन्निधान में काम का क्या प्रभाव रह सकता था? यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकों के लिये चित्रलिखित स्त्री को भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं उनके लिये मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जब तक तुम ऐसी परिस्थिति में भी

अविचलित न रह सको तब तक अपने को सिद्ध मत मान बैठना। अहो! जिनके नखमणि की ज्योत्स्ना से भी अनन्तकोटि कन्दर्पों का दर्प दलित हो जाता था, उन परम सुन्दरी व्रजसुन्दरियों को भी जिन्होंने रमाया, उन श्रीहरि के दिव्यातिदिव्य योग का माहात्म्य कहाँ तक कहा जा सकता

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कामुकों के लिये तो नर-नारायण का आदर्श भी अनुपयुक्त है। उन्हें तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिये। श्रीनर-नारायण का आदर्श साधकों के लिये है; उन्हें ऋषभदेवजी के आदर्श का अनुकरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि सवकर्मसंन्यास का अधिकार सबको नहीं है। उनका आचरण तो परमोत्कृष्ट तत्त्वज्ञों के लिये ही है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्यातिदिव्य आचरणों का तो यदि कोई मन से भी अनुकरण करेगा तो पतित हो जायगा, 'नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः' क्योंकि वे तो निरतिशय ऐश्वर्यवान् साक्षात् भगवान् की ही अलौकिक लीलाएँ हैं। कोई भी जीव इस स्थिति पर नहीं पहुँच सकता। भला भगवान् के सिवा ऐसा कौन है जिसने सम्पूर्ण जगत् को मोहित करनेवाले कामदेव का मान मर्दन किया हो। मदनमोहन तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। करना तो दूर, हर किसी को तो-इसे सुनना भी नहीं चाहिये, क्योंकि 'छठीं भावना रास की', इसे सुनने-देखने का अधिकार तो देहाध्यास से ऊपर उठे बिना प्राप्त ही नहीं होता।

भगवान् ने जो कहा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

उसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषों के सभी आचरणों का अनुकरण करना चाहिये; बल्कि जो अपनी योग्यता के अनुसार हो उसी का आचरण करना उचित है। भगवान् शंकर हलाहल विष का पान कर गये थे, इसलिये क्या सभी को विष-पान करना चाहिये ? तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य अपने शिष्यों से कहते हैं—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।

यह बहुत सम्भव है कि कोई चरित्र महापुरुषों के लिये उचित हो, किन्तु साधारण पुरुषों के लिये उचित न हो। संन्यासी लोग सन्ध्योपासन नहीं करते, इसलिये क्या गृहस्थों को भी उसे छोड़ देना चाहिये ? फिर यहाँ तो अलौकिक लीलाकारी भगवान् की बात है, जिसका अनुकरण करना तो दूर रहा, समझना भी महा-कठिन है।

इस प्रकार भगवान् की यह रासलीला उच्चकोटि के योगारूढों के लिये ही एक उच्च आदर्श है। इसके श्रवणमात्र से पुण्य होता है। सो कैसे ?—उत्तरमीमांसा में ब्रह्म की उपासना कई प्रकार से बतलाई गई है। वहाँ कहा है—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषणात् ।

इस सूत्र पर ऐसा विचार हुआ है कि ब्रह्म तो एक ही है फिर किस प्रकार की उपासना को किस उपासना में समन्वित करना

चाहिये। वहाँ वतलाया गया है कि यद्यपि उपास्य ब्रह्म तो एक ही है, तथापि गुणगण के भेद से उसमें भेद हो जाता है और उपासना का फल तत्तद्गुणविशिष्ट उपास्य के अनुरूप ही मिलता है। जैसे यदि हमारा उपास्य सत्यकामादिगुणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो वह हमें सत्यकामादिरूप फल देगा और यदि वामनीत्वादिगुण-गणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो उसमें हमें वामनीत्वादि फल प्राप्त होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि एक ही ब्रह्म की अनेकविध उपासना क्यों वतलाई गई है? इसका उत्तर यही है कि यह उपास्य का भेद उपासक की योग्यता और कामना के अनुसार है। यहाँ रासलीला में उपास्य कामविजयी है, इसलिये इसके द्वारा कामविजयरूप फल प्राप्त होगा। इसी से यहाँ कहा गया है कि—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेच।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

अर्थात् 'जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजवालाओं के साथ की हुई भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप काम से मुक्त हो जायगा।'

किन्तु, यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि कामलीला वर्णन या श्रवण करने से कामविजय कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि यह कामलीला नहीं, बल्कि कामविजयलीला है। इसके श्रवण

और कीर्तन द्वारा कामविजयी भगवान् ध्येय होंगे; इसलिये उपासक का चित्त कामविजयी हो जायगा।

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' अर्थात् विरक्त पुरुषों के विरक्त चित्त का चिन्तन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है। इसका क्या तात्पर्य है? यही कि विरक्त पुरुषों का ध्यान करनेवाले पुरुषों का चित्त भी क्रमशः उनकी आकृति और भाव का आलम्बन करता हुआ विरक्त हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् की माया का वर्णन करने से माया से उद्धार होना बतलाया गया है; जैसे—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया राजन् माययात्मा न मुह्यति ॥

इसका कारण यही है कि यहाँ माया का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं है, अपितु माया के नियन्तारूप से ईश्वर का ही वर्णन है। अतः मायाधीश भगवान् का चिन्तन होते रहने से हम भी माया से मोहित न होंगे। इसी प्रकार यद्यपि काम-वर्णन से काम की वृद्धि ही हुआ करती है, तथापि यहाँ काम-वर्णन के व्याज से कामविजयी भगवान् का ही वर्णन होने के कारण कामविजय-रूप फल ही प्राप्त होगा।

किन्तु, इस लीला के श्रवण और कीर्तन के अधिकारी सभी लोग नहीं हो सकते। उनमें कुछ विलक्षणता होनी चाहिये। उनमें भी, वर्णन करनेवाला तो बहुत ही विलक्षण होना चाहिए; क्योंकि भगवान् की जो दिव्यातिदिव्य लीलाएँ हैं उनके श्रवण-मनन

से अधिकारियों पर प्रभाव पड़ता ही है। जिस प्रकार वीररसपूर्ण काव्य पढ़ने पर चित्त में वीरता का सञ्चार होता है तथा करुणरस-प्रधान ग्रन्थ का अनुशीलन करने पर चित्त करुणार्द्र हो जाता है, उसी प्रकार इस शृङ्गाररसप्रधान लीला के श्रवण या कीर्तन से चित्त में शृङ्गाररस का उद्रेक होना भी स्वाभाविक ही है। हम देखते हैं कि यह जानते हुए भी कि, भगवान् श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, उनपर किसी प्रकार की सम्पत्ति या विपत्ति का कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस समय उनके वनगमन आदि का वर्णन सुनते हैं तो हठात् नेत्रों में जल आ ही जाता है। अतः भगवान् की इस मधुरातिमधुर लीला के श्रवण-कीर्तन के मुख्य अधिकारी तो वे ही हैं जो संसार की समस्त वासनाओं को जीतकर मनोनिरोधपूर्वक परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं।

किन्तु यहाँ जो ऐसा कहा है कि 'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः' इससे यह भी सिद्ध होता है कि कामरूप हृद्रोग के रोगी भी इसका श्रवण कर सकते हैं। परन्तु वे कम-से-कम उस हृद्रोग से मुक्त होने के पूर्ण इच्छुक तो होने ही चाहिये, विषयी होने पर तो उनका उद्धार हो नहीं सकेगा। उन्हें भी इसे ऐसे वक्ता से श्रवण करना चाहिये जो पूर्ण तत्त्वनिष्ठ हो तथा जो श्रोता के कामभाव की निवृत्ति करने में सर्वथा समर्थ हो। तब तो अवश्य इसके द्वारा भगवान् के प्रति स्थायी रति का आविर्भाव होगा और उस भगवद्रति के कारण काम का कदापि प्रभाव न होगा।

पहले यह कहा जा चुका है कि इस प्रकरण के आरम्भ में जो 'श्रीबादरायणिरुवाच' है उसका क्या रहस्य है। किन्तु किसी-किसी प्रति में इसके स्थान पर 'श्रीशुक उवाच' भी है। भगवान् शुक की तत्त्वज्ञता सुप्रसिद्ध है और इधर श्रोता भी सर्वसाधन-सम्पन्न कुरुकुल-भूषण महाराज परीक्षित हैं। यदि ऐसे श्रोता-वक्ता हों, तो अवश्य इसका महान् फल हो सकता है।

'शुक उवाच' इस वाक्य का एक और भो तात्पर्य हो सकता है। प्रायः शुकतुण्ड से सम्बन्धित होने पर फल में और भी अधिक मधुरिमा आ जाती है। इसी से कहा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्रूप गौओं का अमृतमय दुग्ध होने से ही परम आदरणीय है उसी प्रकार यह भागवतपुराण भी वेदमूलक होने के कारण ही प्रमाण है। यह साक्षात् कल्पवृक्ष का फल है और वह कल्पवृक्ष भा प्राकृत नहीं, बल्कि स्वयं शब्द-ब्रह्मरूप वेद है। और यह उससे तोड़ा हुआ भी नहीं है, इसलिये इसके विषय में कच्चे या अम्ल होने की भी आशंका नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं पककर गिरा हुआ है। इसलिये इसमें अत्यन्त मधुरता और सुगन्ध आ गई है। इसपर भी शुक के मुख का संयोग हो जाने से तो यह और भी अधिक सरस हो गया है। इसीसे कहा है 'पिबत', इसे पिओ। यद्यपि फल खाया जाता है, परन्तु इसे तो पीने के लिए कहा है। इसका तात्पर्य यही

है कि अन्य फलों के समान इसमें गुठली या छिलका आदि कोई हेय अंश नहीं है, क्योंकि यह तो एकमात्र सुमधुर रसस्वरूप ही है। इसलिये इसका पान ही करना चाहिये। कब तक पान करें? 'आलयम्' अर्थात् मोक्ष पाकर भी।

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ।
हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥

इस प्रकार जब शुकतुण्डच्युत श्रीमद्भागवत ही पेय है, तो उसकी सारातिसारभूता रासपञ्चाध्यायी के विषय में तो कहना ही क्या है? यही 'शुक उवाच' का गूढ़ रहस्य है।

इसके सिवा व्रज में हमने एक और बात भी सुनी थी। वहाँ के लोग कहा करते हैं—'महाराज, महल की बात माहिलिहि जाने।' अर्थात् महल के भीतर क्या-क्या होता है? इस रहस्य को तो महल के भीतर रहनेवाले ही जान सकते हैं; बाहर जो घास खोदनेवाला है उसे अन्तःपुर की बातों का क्या पता लग सकता है? यह रासक्रीड़ा भगवान् की परम अन्तरंग लीला है। इसका मर्म तो वे ही जान सकते हैं जो श्रीराधारानी और नन्दनन्दन के अत्यन्त कृपापात्र हैं; अन्य निष्ठावाले इसका रहस्य नहीं समझ सकते। अतः इसका वक्ता भी वही हो सकता है, जो परम अन्तरंग हो। अतः यह देखना चाहिये कि इसका वक्ता कौन है। कोई कितना ही आत्मनिष्ठ हो, किन्तु यदि वह इस रस से अनभिज्ञ हो तो कम-से-कम रसिकों की प्रवृत्ति तो उसके वाक्य-श्रवण में हो नहीं सकती। अतः यह देखना चाहिये कि इसके वक्ता का रस में प्रवेश

है या नहीं। इस पर वे कहते हैं—'श्रीशुक उवाच' यहाँ जो शुक हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी के क्रीड़ाशुक हैं। जिस समय श्रीनन्द-नन्दन उनके पास से चले जाते थे उस समय श्रीरासेश्वरीजी इन्हें पढ़ाया करती थीं—'कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे'। वे अपने अमृतमय अधरपुट से इनकी चंचु को चुम्बन कर इन्हें भगव-ल्लीलाओं का पाठ पढ़ाया करती थीं। भावुकों का ऐसा कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र वही होता है जिस पर श्रीवृषभा-नुसुता की कृपा होती है; उनकी कृपा, ललितादि प्रधान यूथेश्वरियों के कृपापात्रों पर हुआ करती है और ललितादि की कृपा, अपनी नित्य-सहचरियों के कृपापात्र आचार्यों के कृपाभाजनों पर होती है। फिर जिनका चञ्चु स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनी की अधर-सुधा से चुम्बित होता था उन श्रीशुक के मुखारविन्द से निःसृत इस लीला के माधुर्य का तो कहना ही क्या है। अहो! जिनके अधरामृत का संयोग होने के कारण उनका किया हुआ वेणुनाद सम्पूर्ण चराचर जीवों को मन्त्रमुग्ध कर देता था, वे रसराजशिरोमणि श्रीमाधव भी जिसके लिये लालायित रहते थे उस श्रीवृषभानुनन्दिनी की अधरसुधा की माधुरी का वर्णन कौन कर सकता है? फिर उन श्रीवृषभानुनन्दिनी के अधरसुधा से पोषित परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजी से अधिक रसिक और कौन होगा?

आनन्द-वृन्दावन-चम्पू में एक बड़ी सुन्दर कथा है कि श्रीवृष-भानुनन्दिनी के सन्निधान में एक कलवाक् नामक शुक रहता था। श्रीरासेश्वरीजी मणिपञ्जर से उस शुक को निकालकर अपने श्रीहस्ता-

रविन्द पर बिठलाकर उसे दाड़िमी-बीज खिलाती थीं। एक दिन शुक को दाड़िमी-बीज खिला रही थीं कि दुष्प्राप्य श्रीकृष्णचन्द्र में उत्कट प्रीति और भूयसी लज्जा और गुरूक्ति-विषवर्षणों से मति की विकलता, अपने वपु की परवशता और कुलीनवंश में जन्म आदि सोचते सोचते श्री रासेश्वरी के मुखारविन्द से यह श्लोक निकल पड़ा—

दुरापजनवर्त्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी-
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये,
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः॥

शुक ने इस श्लोक को धारण कर लिया और श्रीवृषभानुदुलारी के श्रीहस्तकमल से उड़कर जहाँ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण खेल रहे थे, वहीं एक वृक्ष की शाखा पर बैठकर 'दुरापजनवर्त्तिनी रतिः' इसी श्लोक को पढ़ा। श्रीकृष्ण ने शुक के मुख से विनिःसृत श्लोक को श्रवण कर आश्चर्य से यह किसी 'महानुरागवती' का शुक है, यह जानकर बड़े मधुर शब्दों में शुक से अपने समीप आने का अनुरोध किया। शुक शाखा पर से उड़कर श्रीकृष्ण के श्रीहस्तकमल पर बैठ गया। श्रीश्यामसुन्दर ने पुनः श्लोक पढ़ने को कहा, शुक ने फिर उसी श्लोक को सुनाया। अपनी प्रेयसी श्रीवृषभानु-दुलारी के प्रिय शुक द्वारा उनकी विरह-व्यथा से समन्वित भावमय श्लोक को धारण करके श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और शुक को धन्यवाद देने लगे। शुक ने कहा—श्रीव्रजराजकुमार गाढ़ानुराग के भार से

निर्भरभंगुरा, बड़े स्नेह से "श्रीकृष्ण" "श्रीकृष्ण" इस मधुमय नाम को पढ़ाती हुई अपनी स्वामिनी के कराम्बुरुह से मैं तो चञ्चलता-वश च्युत हो गया हूँ, मुझ अधन्य को आप कैसे धन्य कहते हैं।

गाढानुरागभरनिर्भरभङ्गुरायाः,
कृष्णेतिनाम मधुरं मृदु पाठयन्त्याः।
धिङ्मामधन्यमतिचञ्चलजातिदोषा-
त्तस्याः कराम्बुरुहकोरकतश्च्युतोऽस्मि॥

इतने ही में श्रीकृष्ण का सखा कुसुमासव आ गया। वह भी शुक की वाग्मिता पर मुग्ध हुआ। इसी समय वृषभानुनन्दिनी की सहचरी मधुरिका शुक को ढूँढ़ती हुई वहाँ आई और कुसुमासव के पूछने पर कहने लगी कि अपनी स्वामिनी का क्रीड़ाशुक ढूँढ़ने के लिये मैं आई हूँ। कुसुमासव ने झगड़ते हुए कहा कि यह शुक तो हमारे सखा श्रीव्रजराजकुमार का ही है, तुम्हारी स्वामिनी का यह तब समझा जायगा, जब तुम्हारे बुलाने से तुम्हारे हाथ पर आ जाय। मधुरिका ने हँसते हुए कहा कि कुसुमासव, तुम्हारे सखा के श्रीहस्त-कमल के संस्पर्श-सुख का अनुभव करके शुष्क वंश की वंशी भी सङ्ग त्याग नहीं करती, फिर यह चेतन पक्षी श्यामसुन्दर के श्रीहस्तारविन्द के स्पर्श-सुख को कैसे त्याग सकता है? इसी समय श्री व्रजेन्द्रगेहिनी ने आकर कहा—ललन, भोजन को देर हो रही है क्यों नहीं आते? कुसुमासव कहने लगा—अम्बा! देखो, यह मधुरिका व्यर्थ ही झगड़ती है। हमारे सखा के शुक को अपनी स्वामिनी का बतलाती है। मधुरिका ने नन्दरानी को अभिवादन

किया। यशोदा ने स्नेह से मधुरिका का स्पर्श करते हुए कहा—क्यों बेटी, क्या है? मधुरिका ने कहा—देवि, कोई बात नहीं। यह शुक मेरी स्वामिनी वृषभानुकुमारी का है। इसके बिना वे व्याकुल हैं। मैं तो यही कह रही थी। श्रीव्रजेश्वरी ने कहा—बेटी, तुम जाओ। कुमार के खेलने जाने पर मैं भेज दूँगी। यह सुनकर मधुरिका प्रणाम कर चली गई। श्रीकृष्ण और कुसुमासव दोनों ने ही प्रसन्न होकर शुक को दाडिमी-बीज आदि दिव्य पदार्थ खिलाये और फिर कुछ भोजन कर खेलने चले गये। इधर श्रीयशुमति ने अपनी दूती से शुक को भेजवा दिया। शुक ने अपनी स्वामिनी से उनके प्रियतम का सब समाचार सुनाया था।

अतः यहाँ जो 'श्रीशुक' कहा गया है, उसका तात्पर्य 'श्रियः शुकः' श्री जी का शुक, समझना चाहिये। ये वे श्री जी हैं जिनके दिव्यातिदिव्य स्वरूप पर मुग्ध होकर सौन्दर्य माधुर्य आदि गुणगण सर्वदा उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। 'श्रीयते सर्वैर्गुणैरिति श्रीः' अतः ये शुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजी के अत्यन्त स्नेह-भाजन और उनके परम अन्तरंग हैं।

हमने ऐसा सुना है कि श्रीराधिकाजी तो उन्हें श्रीकृष्णनाम का ही पाठ पढ़ाती थीं, किन्तु जब वे चली जातीं तो श्रीश्यामसुन्दर प्रेमपूर्वक अपने मधुमय अधर-रसामृत से पोषितकर उन्हें 'राधाकृष्ण राधाकृष्ण' ऐसा युगल नाम का पाठ पढ़ाया करते थे। उस समय यदि राधिकाजी आ जातीं तो उन्हें बड़ा संकोच होता, और

वह फिर यही कहतीं—'कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे'। इससे जान पड़ता है कि वे दोनों ही के कृपापात्र थे।

'श्री' शब्द का अर्थ भगवान् भी है। 'श्रीयते सर्वैर्गुणैर्यः स श्रीः' अर्थात् जो सम्पूर्ण गुणों द्वारा आश्रित हैं वे श्री हैं। अतः वे जैसे श्रीराधिकाजी के लीलाशुक हैं वैसे ही भगवान् के भी हैं। इसलिये वे इस रहस्य से खूब अभिज्ञ हैं और उसका वर्णन करने में भी पटु हैं, क्योंकि शुक की बोली स्वभावतः ही मधुर होती है। इसी से किसी प्रति में 'श्रीबादरायणिरुवाच' है और किसी में 'श्रीशुक उवाच' है।

जब श्रीशुकदेवजी इस कथा का वर्णन करने लगे तो उन्होंने सोचा कि यह तत्त्व तो परम दुरवगाह्य है, क्योंकि यह भगवत्स्वरूप है। परन्तु यह है परम श्रेयस्कर। और श्रेय में बहुत विघ्न हुआ करते हैं 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'। तिसपर भी यह तो परम श्रेय है, इसलिये इसमें और भी अधिक विघ्नों की सम्भावना है। अतः इसके आरम्भ में कोई ऐसा मंगल करना चाहिये जो सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति करनेवाला हो। भगवान् मङ्गलों के भी मङ्गल और देवों के भी देव हैं—

मङ्गलं मङ्गलानां च दैवतानां च दैवतम्।

उनके द्वारा मङ्गल को भी मङ्गलत्व प्राप्त होता है तथा सारे संसार का मङ्गल उस मङ्गलसिन्धु का एक विन्दु है। मङ्गल में देवता का अनुस्मरण किया जाता है परन्तु वे तो देवताओं के भी

देवता का स्मरण करते हैं। इसीसे वे मङ्गलों का भी मङ्गल करते हुए इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

यद्यपि 'भगवान्' शब्द का अर्थ आगे किया जाता है तथापि यह श्रवण मात्र से मङ्गलकारक है, इसलिये यहाँ मङ्गल के लिये भी है। जैसे दूसरे प्रयोजन के लिये लाया हुआ भी जलपूर्ण घट अपने दर्शन मात्र से यात्री के लिये मङ्गलप्रद होता है उसी प्रकार जिसमें नित्य-ऐश्वर्य का योग हो उसे 'भगवान्' कहते हैं। ऐश्वर्य छः हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः गुणों का नाम 'भग' है। ये छः जिसमें हों वही भगवान् है। ये सब-के-सब जीव में तो अल्प मात्रा में हुआ करते हैं किन्तु भगवान् में निरतिशय होते हैं। यहाँ 'भगवान्' शब्द में जो मतुप् प्रत्यय है वह नित्ययोग या अतिशायन में है*। तात्पर्य यह है कि भगवान् में जो भग है वह आगन्तुक नहीं है, बल्कि उनका नित्ययोग है और वह निरतिशय है।

---

* भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अच्छा यदि भगवान् में नित्य निरतिशय ऐश्वर्य हो भी तो तुम्हें क्या लाभ ? इस पर हमें यही कहना है कि यह हमारे ही काम तो आवेगा। और इसका प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? वस्तुतः भगवान् को तो इसकी कोई अपेक्षा है नहीं, क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। ऐश्वर्य का काम क्या होता है ? यही न कि वह अपने आश्रय में महत्त्वातिशय या सौख्यातिशय का आधान करे। जितने गुण हैं उनकी सफलता तभी होती है जब वे अपने आश्रय में सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय का आधान करें; अतः भगवान् का ऐश्वर्य भी यदि उनमें इस प्रकार के किसी अतिशय का आधान नहीं करते तो वे भले ही अप्राकृत हों, व्यर्थ हैं। ये गुणगण शेष हैं और भगवान् उनके शेषी हैं; तथा शेष शेषी के लिये हुआ ही करता है।

अतः अब यह देखना है कि जिसमें ये गुण हैं वह निरतिशय है या सातिशय ? यदि सातिशय है तब तो ऐश्वर्यादि गुण उसमें कुछ अतिशयता का आधान कर सकते हैं और यदि निरतिशय ज्ञान और आनन्द ही भगवान् का स्वरूप हैं तो किसी अतिशयता का आधान करने में असमर्थ होने के कारण इन गुणों का कोई प्रयोजन ही नहीं हो सकता। वेदान्तप्रक्रिया के अनुसार महत्त्वातिशय का भी आधान ब्रह्म में नहीं हो सकता, क्योंकि 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति है 'बृहत्त्वाद्ब्रह्म'--बड़ा होने के कारण वह ब्रह्म है। बृहत्, अनल्प, भूमा ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है वहाँ तो

अनल्पत्व सातिशय होता है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' इस वाक्य के अनुसार समस्त ब्राह्मणों को भोजन कराना सम्भव न होने के कारण 'सर्व' शब्द का सङ्कोच करके केवल समस्त निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराना ही समझा जाता है। यहाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे ब्रह्म का अनल्पत्व सातिशय निश्चय किया जाय। अतः सङ्कोचकप्रमाण का अभाव होने के कारण यहाँ वही अर्थ करना चाहिये कि जो निरतिशय बृहत् है अर्थात् जिससे बड़ा और कोई नहीं है वह भूमा ब्रह्म है। जो देश, काल या वस्तु से परिच्छिन्न हो, अर्थात् अन्योन्याभावादि चार प्रकार के अभावों में से किसी का प्रतियोगी हो वह अपरिच्छिन्न (निरतिशय) अनल्प नहीं हो सकता। अतः सब प्रकार के परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्द तत्त्व ही ब्रह्म है। ऐसा अपरिच्छिन्न तत्त्व सब प्रकार के बाध का अधिष्ठान होने के कारण अबाध्य सत् है। यदि वह अबाध्य जड़ हो तो उसके भान के लिये किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा होगी और ऐसा होने पर द्वैत होने के कारण वस्तुपरिच्छेद अनिवार्य होगा। इसके सिवा अभिज्ञों की दृष्टि में जड़ वस्तु निरतिशय बृहत् हो भी नहीं सकती! अतः ब्रह्म सत् और स्वयंप्रकाश है अर्थात् वह अपने से भिन्न किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप है। इस प्रकार अपने से भिन्न द्वैतादि उपद्रव-शून्य होने के कारण वह निरुपद्रुत परमानन्दस्वरूप है और अनन्त भी है। इससे भी ब्रह्म की निरतिशयता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म, परमात्मा और

भगवान्—ये एक ही तत्त्व के नाम बतलाये हैं। 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।' श्री श्रीधर स्वामी का भी यही मत है। किन्तु कुछ लोगों का इससे मतभेद है। श्री जीव गोस्वामी ने तत्त्वसन्दर्भ का आरम्भ इसी श्लोक से किया है। उन्होंने ब्रह्म से परमात्मा को और परमात्मा से भगवान् को उत्कृष्ट माना है। उनका अभिप्राय कविवर माघ के इस श्लोक से स्फुट होता है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

अर्थात् दूर से नारदजी आ रहे थे। पहले तो समझा कि कोई तेजःपुञ्ज आ रहा है; फिर आकृति का भान होने पर मालूम हुआ कि कोई शरीरी है। उसके पश्चात् अवयव-विभाग की प्रतीति होने पर जाना कि कोई पुरुष है और फिर क्रमशः निश्चय हुआ कि नारदजी हैं। अतः श्री जीव गोस्वामी कहते हैं कि जब तक ब्रह्म दूर रहता है तब तक लोग उसे निर्गुण निर्विशेष समझते हैं। फिर उसका विशेष अनुभव होने पर उसे परमात्मरूप से जाना जाता है, किन्तु जो उसकी नित्यसन्निधि में रहते हैं उन्हें वह अचिन्त्यानन्त-कल्याणगुणगणोपेत जान पड़ता है। इस प्रकार अनुभव के उत्कर्ष के साथ उत्तरोत्तर ब्रह्म के निर्विशेष, सविशेष और साकार स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

यहाँ अपने सिद्धान्त का पोषण करने के लिये उन्होंने यह भी कहा है कि ये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् क्रमशः ज्ञानी, योगी और भक्तों की अपेक्षा से हैं तथा इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है। परन्तु इससे पूर्व तत्त्व का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।' अर्थात् जो सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वय ज्ञान है वही तत्त्व है। अतः यह बतलाना चाहिये कि लोग जो विशेषता दिखलाते हैं वह तत्त्व में है या केवल नामों में ही। यदि तत्त्व में कोई भेद न हो तो नामान्तर होने से ही उसके लक्षण में क्या अन्तर आ सकता है ? जिस प्रकार यदि घट का यह लक्षण कर दिया कि 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' तो 'कलश' कहने से भी उसमें क्या अन्तर आ सकता है ? अतः यदि तत्त्व का लक्षण 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्' ऐसा है तो नाम के भेद से उसमें क्या भेद हो सकता है ?

कोई लोग 'अद्वय' शब्द का अर्थ उपमारहित करते हैं। अतः उनके मत में उपमारहित ज्ञान ही अद्वय ज्ञान है। किन्तु 'अद्वय' शब्द का ऐसा अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं है। अद्वय का अर्थ तो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य ही है "नेहनानास्ति किञ्चन, नात्र-काचन भिदास्ति" इन वचनों में नाना और भिदा के साथ किञ्चन और काचन शब्द का प्रयोग सर्व प्रकार के नानात्व और भेद का निषेध करता है।

अब यदि युक्ति से विचार किया जाय तो भगवान् को अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगणसम्पन्न मानने पर उन गुणों के

कारण उनके शेषी में कोई उपकार होना भी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि आप शेषी को सातिशय मानते हैं तब तो सिद्धान्त-विरुद्ध होगा—ब्रह्म का सातिशयत्व तो किसी भी आस्तिक को मान्य नहीं हो सकता। आप जो कहते हैं कि उत्तरोत्तर सान्निध्य के बढ़ने पर भगवान् के उत्तरोत्तर विशेष रूपों का अनुभव होता है उन विशेषताओं का यही तात्पर्य है न कि वे अपने आश्रय में किसी अतिशय का आधान करें। किन्तु यदि परब्रह्म स्वरूप से ही निरतिशय है तो सान्निध्य से उसमें क्या अन्तर पड़ेगा? यदि सान्निध्य को केवल उसकी विशेषताओं की अभिव्यक्ति का कारण मानोगे तो यह बतलाओ कि तुम्हारा वह सान्निध्य क्रियाकृत है या ज्ञानकृत। यदि क्रियाकृत है तो ब्रह्म में परिच्छिन्नता आ जायगी और यदि ज्ञानकृत है तो मायावाद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा जो आपको अभीष्ट नहीं है।

ब्रह्म निरतिशय बृहत् है। बृहत्ता की कल्पना करते-करते जहाँ तुम शान्त हो जाओ वह ब्रह्म है। और सान्निध्य के द्वारा तुम जिस अतिशयता का आधान करना चाहते हो उसे तो हम सर्व-देशी मानते हैं। यदि कहो कि जिस प्रकार 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः'—समस्त ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये इत्यादि वाक्यों में समस्त पद से केवल निमन्त्रित ब्राह्मण ही ग्रहण किये जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी कुछ सङ्कोच कर लिया जायगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ संसार के सम्पूर्ण ब्राह्मणों को भोजन कराना अभिप्रेत ही नहीं है; अतः सङ्कोच तो केवल वहीं

किया जाता है जहाँ कोई सङ्कोचक प्रमाण होता है। जो वस्तु देश-परिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न, अथवा वस्तुपरिच्छिन्न होती है उसी में सङ्कोच किया जाना सम्भव है। निरतिशय वस्तु में कोई परिच्छेद नहीं होता, इसलिये उसमें सङ्कोच भी नहीं किया जा सकता—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्।

अतः ये 'भग' निरतिशय भगवान् में किसी सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय का आधान नहीं कर सकते। भगवान् में किसी प्रकार के अनर्थ की सम्भावना नहीं अतः अनर्थ-निवृत्ति में भी गुणों का उपयोग नहीं हो सकता। भगवान् ने यह ऐश्वर्य भक्तों के लिये ही धारण किया है। उनकी यह काम-विजयलीला भी भक्तों के ही लिये थी। इसलिये भगवान् जो अचिन्त्यानन्त-कल्याणगुणगण धारण करते हैं वे उपासकों के लिये ही हैं, जिससे कि उनकी उपासना द्वारा वे उन गुणों को प्राप्त कर सकें।

हमने यह विचार इसी लिये किया है कि जो लोग भगवान् को निरतिशय बृहत् आनन्दस्वरूप नहीं मानते उनके मत में वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म, भूमा इन शब्दों का एक ही अर्थ है। इनका तात्पर्य एक ही वस्तु में है। अतः भूमा कौन है?—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति' जहाँ न कोई और देखता है, न सुनता है और न जानता है, जहाँ कोई अन्य है वह तो अल्प ही है 'यदल्पं तन्मर्त्यम्'। इसलिये जहाँ भूमा है वहाँ

द्वैत नहीं, क्योंकि द्वैत तो वस्तुकृत परिच्छेद में ही हो सकता है। इस प्रकार जहाँ द्वैत का अभाव है वहीं अद्वैत है, इसीसे कहा है—

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्र केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' इत्यादि।

अब यदि आप ब्रह्म को अनल्प मानते हैं तो गुणगण कैसे? और यदि गुणगण हैं तो गुणगण और उनके आश्रय का तथा गुणों का स्वगतभेद है या नहीं? यदि उनमें भेद है तो ब्रह्म परिच्छिन्न सिद्ध होगा और इससे उसका ब्रह्मत्व ही बाधित हो जायगा।

यदि कहो कि हम ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् में भेद मानते हैं; हमारे मत में भगवान् परम अन्तरङ्ग सात्वतों के प्राप्य हैं; परमात्मा योगियों के प्राप्तव्य हैं तथा ब्रह्म अत्यन्त बहिरङ्ग ज्ञानियों का ध्येय है। इसीसे भगवान् ने भी योगी को ज्ञानियों से भी बड़ा माना है 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' और भक्तों को समस्त योगियों से उत्कृष्ट माना है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—तो ऐसा मानने से भी उनकी अल्पता सिद्ध होती है क्योंकि तीन होने के कारण उनमें वस्तुकृत परिच्छेद तो है ही। इसलिये ऐसा मानना उचित नहीं।

हम यह तो पहले कह ही चुके हैं कि लक्ष्य का भेद लक्षण-भेद से होता है, नाम से नहीं होता। जैसा कम्बुग्रीवादि

पृथुवुध्नोदरत्वादि लक्षण एक होने से घट, कलश—इन नामों का भेद होते हुए भी वस्तु का भेद नहीं होता, ठीक वैसे ही जब लक्षण में भेद नहीं है तो ब्रह्म या भगवान् आदि नामों के भेद से लक्ष्य का भेद कैसे होगा ? यहाँ तत्त्व का लक्षण 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्' ऐसा किया है। इसलिये उसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। अतः आश्रय, जो कि तत्त्व है, अनन्त है, निरतिशय है और अद्वय है; गुणगण उसमें किसी प्रकार के अतिशय का आधान नहीं कर सकते। वे तो अपनी सिद्धि के लिये ही भगवान् का आश्रय लिये हुए हैं। भगवान् कहते हैं—

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।

इस प्रकार गुणों ने यद्यपि अपनी सिद्धि के लिये ही भगवान् का आश्रय लिया है और भगवान् ने भी उन पर कृपा करके उन्हें स्वीकार कर लिया है तथापि इसका कोई अन्तरङ्ग प्रयोजन भी होना ही चाहिये। वह प्रयोजन यही है कि जो लोग उन अचिन्त्य-गुणगणविशिष्ट भगवान् की आराधना करेंगे उन्हें उन गुणों की प्राप्ति होगी।

इसी से श्रीशुकदेवजी ने इस लीला के विघ्नों की निवृत्ति के लिये 'भगवान्' शब्द से मङ्गलों का भी मङ्गल किया है। इसके सिवा उन्होंने यह भी सोचा होगा कि यह लीला अत्यन्त दुरवगाह्य है, हम इसका अवगाहन करने में समर्थ नहीं हैं; परन्तु भगवान् का स्मरण करने से हम इस दुरवगाह्य का भी अवगाहन कर सकेंगे। भगवत्स्मरण से हमें भगवदैश्वर्य की प्राप्ति होगी और

उससे हम इसके वर्णन का सामर्थ्य प्राप्त होगा तथा लोक में यह भी देखा जाता है कि वक्ता की रूक्षता के कारण एक अत्यन्त मधुर-प्रसङ्ग भी रूखा जान पड़ता है और वक्ता के माधुर्य से ही किसी रूखी बात में भी सरसता आ जाती है। इसीसे कहा है— 'कवीनां रसवद्वचः।'

हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् शुकदेवजी को स्वयं श्री वृष-भानुदुलारी और भगवान् श्यामसुन्दर ने अपनी अधर-सुधा का पान कराकर पढ़ाया था। उस युगलमूर्ति के अधरामृतपान से उनकी वाणी में कितना माधुर्य आ गया था, इसका कौन वर्णन कर सकता है? फिर भी इस प्रसङ्ग को दुरवगाह्य समझ कर उन्होंने भगवान् का स्मरण किया।

इस प्रकार 'भगवान्' शब्द से यह तो मङ्गल और वक्ता का तात्पर्य-सूचन हुआ। परन्तु 'भगवान्' शब्द का यह अर्थ तो ऐसा है जैसे किसी अन्य कार्य के लिये लाये हुए जल के घड़े को देखकर उसे शुभ शकुन का सूचक मानकर देखनेवाले को आनन्द होता है। इसका मुख्य प्रयोजन तो दूसरा ही है। अब हम रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक की व्याख्या आरम्भ करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

सरलार्थ—उन रात्रियों में शरत्कालीन मल्लिका को विकसित हुई देखकर भगवान् ने भी योगमाया का आश्रय ले रमण करने के लिये मन किया।

विचार करने पर मालूम होता है कि इस श्लोक का तात्पर्य विरोधद्योतन में है। रमण करने की इच्छा तो अनाप्तकामों को हुआ करती है। किन्तु जब कि भगवान् के चरणारविन्दमकरन्द का रसास्वादन करनेवाले तत्त्वज्ञ भी आत्माराम हुआ करते हैं अर्थात् वे भी रमण के लिये आत्मातिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं करते तो भगवान् को रमण करने की इच्छा होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि भगवान् ने रमण करने की इच्छा की तो अवश्य यह बहुत विरुद्ध बात है। रमणकर्ता की भगवत्ता और भगवान् का रमण करना—दोनों ही सर्वथा अनुपपन्न हैं।

यदि कहो कि स्वरूप से तो सभी जीव आप्तकाम हैं—वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो जितना भोक्तृ-भोग्य-वर्ग है सब ब्रह्म ही है; परन्तु जीव तो रमण करने की इच्छा करता ही है। परमात्मा से विमुख होने के कारण इसका ऐश्वर्य तिरोहित हो रहा है, भगवदुन्मुख होने पर उसका ऐश्वर्य अभिव्यक्त हो जाता है। ब्रह्मादि भी तो वस्तुतः जीव ही हैं। अतः यदि भगवान् ने भी रमण की इच्छा की तो क्या आश्चर्य है ?—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें 'भग' है। उनमें समग्र ऐश्वर्य है, समग्र ज्ञान है, समग्र वैराग्य है और समग्र श्री है। जिनमें ऐश्वर्य एवं ज्ञानादि की कमी होती है उन्हीं में वासना होनी सम्भव है। किन्तु जिसमें इनकी पूर्णता है उसमें किसी प्रकार की वासना का प्रादुर्भूत होना सम्भव नहीं मालूम होता। इसके सिवा 'भगवान्' का एक दूसरा लक्षण भी है—

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

अर्थात् जो उत्पत्ति, नाश, आना, जाना तथा ज्ञान और अज्ञान को जानता है उसे 'भगवान्' कहना चाहिये ।

अतः जीव और भगवान् में तो बड़ा अन्तर है । इसीसे ऐसा माना गया है कि जीव ब्रह्म तो हो जाता है परन्तु भगवान्* नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपतः निर्विशेष ब्रह्म से तो उसका अभेद है ही किन्तु निरतिशय ऐश्वर्य तो केवल ईश्वर में ही है, यह उसमें नहीं हो सकता । संसार में दो ईश्वर नहीं हो सकते । अतः भगवान् ने रमण करने की इच्छा क्यों की, यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है ।

देखो, एक ही पदार्थ के लिये पङ्कज, जलज, अरविन्द एवं कमल आदि कई शब्दों का प्रयोग होता है । उसके ये नाम गुण-विशेषों की अपेक्षा से हैं । जैसे तापापनोदकरूप से उसे 'जलज' कहेंगे तथा उद्भवस्थान से वैलक्षण्य प्रदर्शित करना होगा तो पङ्कज कहेंगे । इसी प्रकार अन्य शब्दों के प्रयोग के विषय में समझो । यही बात भ्रमर, मधुप, मधुकर, अलि एवं षट्पद आदि शब्दों के विषय में भी कही जा सकती है । ये भी यद्यपि एक ही व्यक्ति के वाचक हैं तथापि 'भ्रमर' शब्द से उसकी अस्थिरता का द्योतन

* यहाँ 'भगवान्' शब्द परम-ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का बोधक है ।

होता है और 'मधुप' शब्द से मिष्टप्रियता का। इसी तरह यद्यपि भगवान् ब्रह्म एवं परमात्मा स्वरूपतः तो एक ही हैं, परन्तु इन शब्दों से उसके विशेष-विशेष पक्षों का द्योतन होता है। यहाँ 'भगवान्' शब्द अवश्य रमण के साथ विरोध प्रदर्शन के लिये ही है।

'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान् ने भी रमण करने के लिये मन किया—यह बात उनके औत्सुक्यातिशय का द्योतन करती है। अर्थात् भगवान् को रमण करने की ऐसी उत्सुकता हुई कि उन्होंने मन बना डाला; वस्तुतः तो वे 'अप्राणो ह्यमना शुभ्रः' ही थे।

किन्तु रमण तो बिना मन के हो ही नहीं सकता। भगवान् का रमण क्या था? यही न कि, अपने सौन्दर्य-माधुर्य को गोपाङ्गनाओं की इन्द्रियों से उपभोग कराना और गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्यातिशय को अपनी इन्द्रियों से भोगना। परन्तु यदि भगवान् सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित हों तो यह भोग कैसे बन सकता है? उसका मुख्य साधन तो मन है। इसी से गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणों का समास्वादन करने के लिये भगवान् ने मन बनाया।

यदि कहो कि उन्होंने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही मन बनाया था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'चक्रे' इस क्रिया में आत्मनेपद है। आत्मनेपद वहीं हुआ करता है जहाँ क्रिया का फल अपने लिये होता है। जहाँ क्रिया-फल दूसरे के लिये होता

है वहाँ परस्मैपद हुआ करता है। इसलिये यदि भगवान् का यह कर्म भक्तों के लिये होता तो यहाँ 'चक्रे' के स्थान में 'चकार' होता।

परन्तु भगवान् को रमण की उत्सुकता होना तो सर्वथा असम्भव है। क्योंकि 'भगवान्' तो कहते ही उस हैं जिसमें ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि की निरतिशयता हो। इस प्रकार जिसमें नित्य और निरतिशय ऐश्वर्यादि हैं और जो अपने नित्य-स्वरूप में सर्वथा तृप्त है उसे ऐसी रमणेच्छा होना तो अनुपपन्न ही है। इस अनुपपत्ति को सूचित करने के लिये ही यहाँ 'अपि' शब्द दिया है। अर्थात् यद्यपि ऐसा करना था तो अयुक्त ही परन्तु ऐसा हो ही गया। इसका अनौचित्य हम भी स्वीकार करते हैं। यह गोपाङ्गनाओं के सौभाग्यातिशय की ही महिमा है।

यदि कहो कि इसका हेतु क्या है तो हमारा यही कथन है कि हेतु कुछ भी नहीं है। यह देखा ही जाता है कि आत्माराम मुनिजन भी भगवान् की माधुरी पर आकर्षित हो जाया करते हैं। वास्तव में तो उन्हें भी कोई कर्त्तव्य नहीं हुआ करता।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

तथापि वे भगवच्चर्चा में लगे ही रहते हैं। उन्हें स्वयं भी इस बात का पता नहीं लगता कि हमारा चित्त उसमें क्यों आसक्त है। बहुत हुआ तो कह देंगे—'इत्थंभूतगुणो हरिः'—भाई, भगवान् हैं ही ऐसे गुणवाले। किन्तु युक्तियुक्त विचार से तो यही सिद्ध होता है कि आत्माराम को किसी भी गुण से आकर्षित नहीं होना

चाहिये। यदि कहो कि वे इसलिये भजन-ध्यान में लगे रहते होंगे जिससे कोई ग्रन्थि न रह जाय तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वे निर्ग्रन्थ होते हैं 'निर्ग्रन्था अपि'। यद्यपि लोक में ऐसा देखा जाता है कि विना प्रयोजन के कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि इनका कोई प्रयोजन भी नहीं होता। वस्तुतः भगवान् में यह गुण ही है। जिस प्रकार लोहे को आकर्षित करना अयस्कान्तमणि का स्वभाव है उसी प्रकार भगवान् भी आत्मारामों के चित्तों को अपनी ओर खींच लिया करते हैं। अयस्कान्तमणि यद्यपि सभी प्रकार के लोहे को खींच लेता है तथापि जो लोहा जितना निर्दोष होता है उतना शीघ्र आकृष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी तत्त्ववेत्ताओं के निर्मल चित्तों को अधिक आकर्षित करते हैं। यह भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य का महत्त्वातिशय है।

इसी प्रकार यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्ण हैं, निरतिशय हैं; तथापि यह गोपाङ्गनाओं का प्रेमातिशय ही था कि जिसने भगवान् को भी आकर्षित कर लिया, इससे भगवान् के माधुर्य एवं सौन्दर्यातिशय की अपेक्षा भी व्रजाङ्गनाओं के प्रेमातिशय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। सनकादि और शुकादि भी आत्मरत थे और भगवान् भी आत्मरत हैं; परन्तु भगवान् की आत्मरति में और उनकी आत्मरति में अन्तर है। क्योंकि समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य और समग्र ऐश्वर्य तो एकमात्र भगवान् में ही है और किसी में नहीं है तथापि भगवान् ने तो अपने सौन्दर्यातिशय से असमग्र ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सनकादि को ही मोहित किया परन्तु गोपाङ्गनाओं

१७

ने अपने प्रेमातिशय से समग्रज्ञान-वैराग्यसम्पन्न भगवान् को भी मोहित कर लिया। इसी से यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'चक्रे' में आत्मनेपद और अपि तथा भगवान् पद का स्वारस्य प्रदर्शित करने के लिये ही 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' ऐसा कहा गया है। 'तद्' पद प्रायः प्रसिद्ध अर्थ का द्योतक हुआ करता है। यहाँ 'ताः' ऐसा विशेषण देने से मालूम होता है कि वे रात्रियाँ कोई विलक्षण ही थीं। ये वे रात्रियाँ थीं जिन्हें गोपाङ्गनाओं ने 'मयेमाः रंस्यथः क्षपाः' इस वरदान से प्राप्त किया था, जिन्हें उन्होंने व्रताचरण द्वारा कात्यायनी देवी को प्रसन्न करके और फिर उनकी कृपा से श्रीकृष्णचन्द्र की प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे वरदानरूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार भगवान् और कात्यायनी देवी इन दोनों की प्रसन्नता से प्राप्त हुई वे रात्रियाँ अवश्य कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये थीं।

जैसे श्रीकृष्ण-सम्मिलन के लिये व्रजाङ्गनाओं को श्रीकात्यायनी का अर्चन करना पड़ा था, वैसे ही श्रीकृष्ण को भी अपनी प्रेयसियों के मिलने के लिये महारुद्ररूपा वंशी का आराधन युक्त ही था। श्रीकृष्ण, उस रुद्ररूपा वंशी को अपने अमृतमय मुखचन्द्र में अधर-पल्लव पर लिटा, अधरसुधा का भोग लगाकर सुकोमल अंगुलिदलों से उसका पादसंवाहन करते हैं। सुन्दर मुकुट का छत्र और कुण्डलों की आभा से उसकी आरती करके श्रीकृष्ण रुद्र-रूपा वंशी का साङ्गोपाङ्ग आराधन करते हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् की यह लीला कामवश नहीं थी, क्योंकि यदि भगवान् कामुक होते तो इतने दिन पीछे की रात्रियों का निर्देश क्यों करते ? कामुकों को तो एक-एक क्षण युग के समान बीता करता है, वे तो दैवकृत काल-व्यवधान को भी सहन करने में असमर्थ होते हैं फिर स्वयं अपनी इच्छा से ही एक वर्ष की अवधि बढ़ाना तो उनके लिये सम्भव ही कैसे होता ?

किन्तु भगवान् ने ऐसा किया क्यों ? इसका उत्तर यही है कि उनका यह अवधिनिर्देश व्रजाङ्गनाओं की निष्ठा के परिपाक के लिये था। अभी तक तो उन्हें भगवान् की प्राप्ति ही बहुत दुर्लभ जान पड़ती थी, क्योंकि यदि वे भगवान् को सुलभ समझतीं तो कात्यायनी-पूजन और व्रतादि तपस्या का कष्ट सहन क्यों करतीं ? तपस्या तो सर्वदा दुर्लभ वस्तु के लिये ही की जाती है और जो वस्तु दुर्लभ होती है उसके प्रति विशेष प्रेम नहीं हुआ करता। देखो, साधारण मनुष्यों को मोक्ष और साम्राज्यादि की प्राप्ति के लिये भी इतनी इच्छा नहीं होती जितनी दस-बीस रुपये और स्त्री-रमणादि प्राकृत भोगों की हुआ करती है, क्योंकि वे तो उन्हें अपने सामर्थ्य से बाहर जान पड़ते हैं। जिस वस्तु के मिलने की सम्भावना नहीं होती उसके लिये उत्कट इच्छा भी नहीं हुआ करती। अतः जब तक उन्हें भगवान् दुर्लभ प्रतीत होते थे तब तक उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम नहीं था और भगवत्प्राप्ति का साधन एकमात्र उत्कट प्रेम ही है। अब, जब भगवान् ने प्रकट होकर उन्हें वरदान दिया तो उनको भगवद्दर्शन की योग्यता तो प्राप्त हो गई थी परन्तु रमण

की योग्यता नहीं थी। रमण की योग्यता तो तभी होगी जब भगवान् को सुलभ समझकर उनके प्रति उत्कट प्रेम हो। अतः भगवान् ने उन्हें वही साधन दिया जिससे कि वे उन्हें सुलभ समझने लगें। भगवान् के वर देने से उन्हें भगवान् की सुलभता अनुभव होने लगी और उन्हें विश्वास हो गया कि अब तो भगवान् अवश्य रमण करेंगे। जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है तो उसकी प्रतीक्षा असह्य हो जाया करती है। अतः भगवान् के इस वरदान से उनका प्रेम इतना उत्कट हो गया जितना कि अब तक कभी न हुआ था। इसी लिये भगवान् ने एक वर्ष का व्यवधान रक्खा था।

इसका एक और भी कारण है। यह सिद्धान्त है कि प्राकृत गुणमय शरीर भगवान् के साथ रमण करने की योग्यता नहीं रखता। इसके लिये अप्राकृत रसमय शरीर होना चाहिये। किन्तु इसकी प्राप्ति कैसे होती है? उसका प्रकार यह है। जिस दिन से प्राणी करुणासिन्धु श्रीभगवान् की कृपा का अनुसन्धान करता है उसी दिन से उसका अप्राकृत रसमय शरीर बनना आरम्भ हो जाता है। इसे स्पष्टतया समझने के लिये एक बात पर ध्यान देना चाहिये। लोक में यह देखा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहक भावों में साजात्य रहा करता है। तैजस नेत्र से तैजस रूप का ज्ञान होता है तथा आकाशीय श्रोत्र से ही आकाशीय शब्द का ज्ञान होता है। मन पाँचों भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य है इसी लिये उससे पाँचों भूतों के गुणों का ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार

यहाँ भी देखना चाहिये। भगवान् प्राकृत हैं या अप्राकृत ? वे तो सत्यज्ञानानन्तानन्दमूर्ति ही हैं।

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

उनके महान् माहात्म्य को समझने में तो वेदान्तविद् भी असमर्थ हैं। उनमें प्राकृत भाव का लेश भी नहीं है। दीपकलिका क्या है ? वह शुद्ध अग्निमात्र ही तो है। जिस प्रकार वत्ती और तैल को निमित्त वनाकर अग्नि ह: दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्टरूप में परिणत हुआ करता है उसी प्रकार परमान्तरङ्ग अचिन्त्य-दिव्याति-दिव्य लीलाशक्ति को ही निमित्त बनाकर वह शुद्ध परमानन्दघन परब्रह्म ही भगवान् कृष्णरूप में प्रकट होता है।

जिस समय भगवान् ऊखल में बँध गये थे उस समय ऐसा कहा गया है—'वबन्ध प्राकृतं यथा'। यहाँ 'प्राकृतं यथा' इस उक्ति का क्यां तात्पर्य है ? इसका यही रहस्य है कि भगवान् प्राकृत-भिन्न हैं। गीता में भगवान् ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

इस प्रकार जब स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं कि—जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानता है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता; तो भगवान् की अप्राकृतता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश ही कहाँ है ? वामनपुराण का वचन है—

सर्वे देहाः शाश्वताश्च नित्यास्तस्य महात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

इसी प्रकार की और भी बहुत-सी उक्तियों से सिद्ध होता है कि भगवान् का दिव्य मङ्गल-विग्रह अप्राकृत ही है। जो लोग युक्तिवाद से उसे अनित्य या भौतिक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं उन्हीं से श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं---'ये तु भगवतो विग्रहं लक्ष्यीकृत्य युक्तिशरानादित्सवस्ते घोरे नरके निपतिष्यन्ति अलं तैः सहालापेन।' अर्थात् जो लोग भगवान् की दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति को लक्ष्य करके युक्तिरूप बाणों को ग्रहण करना चाहते हैं वे घोर नरक में गिरेंगे, उनके साथ बात करने की भी आवश्यकता नहीं है।

ऐसा क्यों है ? जिस प्रकार 'परदारान्नाभिगच्छेत्' इत्यादि निषेध वाक्यों का अतिलङ्घन करने से जीव नरकगामी होता है उसी प्रकार भगवदीय रहस्य के विषय में कुछ भी वाद-विवाद करनेवाले पुरुष को अवश्य उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, क्योंकि भगवान् की गति अचिन्त्य है और अचिन्त्य विषयों के सम्बन्ध में तर्क करना सर्वथा निन्दनीय है---'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।' अतः भगवद्विग्रह के अप्राकृतत्व के विषय में किसी प्रकार की शङ्का न करनी चाहिये। उसमें, उसका अनित्यत्व सिद्ध करनेवाले, सावयवत्वादि हेतुओं का अभाव है, क्योंकि वह प्राकृतत्व आदि दोषों से रहित है।

इस क्रम से देखें तो भगवान् अप्राकृत होने के कारण नित्य हैं। यदि कहो कि भगवद्विग्रह को अप्राकृत और नित्य मानने पर

तो अद्वैतवाद भी सिद्ध न हो सकेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति की सत्ता वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार नहीं बल्कि सांख्यमतसम्मत है। वेदान्तियों ने तो 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से उसका खण्डन किया है।

यहाँ सांख्यवादी यह आपत्ति करता है कि 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' इस उक्ति के अनुसार जब कि चेतन को सत्त्वगुण के संसर्ग से ही ज्ञान होता है तो सत्त्वगुणवाली प्रकृति को भी ज्ञान हो ही सकता है; अतः 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्र के अनुसार भी वही जगत् का उपादान कारण होनी चाहिये। यदि कहो कि सत्त्व की अपेक्षा से रहित चेतन में ही ज्ञान (ईक्षण) होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होता है कि चेतन में नित्य ज्ञान है या अनित्य ? यदि नित्य कहें तब तो पुरुष की स्वतन्त्रता का व्याघात होगा। कारण, नित्य वस्तु का कर्ता के अधीन होना असम्भव है और तुम्हारे कथनानुसार ज्ञान चेतन कर्त्ता के अधीन होना चाहिये; इसके विपरीत यदि उसमें अनित्य ज्ञान माना जाय तो वह सहेतुक ही होना चाहिये। ऐसी अवस्था में हेतु के सम्बन्ध में भी ऐसा विकल्प होगा कि वह नित्य है या अनित्य। यदि हेतु नित्य है तो उससे नित्य ज्ञान होना चाहिये और यदि अनित्य है तो उसका भी कोई अन्य हेतु होना चाहिये, इससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

इन सब आपत्तियों का वेदान्ती इस प्रकार उत्तर देते हैं।— प्रकृति में ज्ञान (ईक्षण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जिस

प्रकार ज्ञान का हेतु सत्त्वगुण है उसी प्रकार उसका निरोध करनेवाला तमोगुण भी है। अतः केवल चेतन में ही ईक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार यद्यपि उसमें नित्य-ज्ञान ही सिद्ध होता है तथापि आगन्तुक विषय के संसर्ग से उसका आगन्तुक होना भी सम्भव है ही जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य में आगन्तुक प्रकाश्य के संसर्ग से सूर्य प्रकाशित करता है, इस प्रकार आगन्तुक प्रकाशन का व्यपदेश होता है। यहाँ जो प्रकाश्य है वह अनादि और अनिर्वाच्य तत्त्व है। सांख्यवादी की गुणमयी प्रकृति भी उसी के अन्तर्गत है। परन्तु भगवच्छक्ति परम दिव्य और शुद्ध है तथा मूलप्रकृति त्रिगुणमयी एवं जड़ है। देखो, एक वृक्ष के बीज में कितनी शक्तियाँ रहती हैं। उसमें अति कठोर कण्टकजनन की भी शक्ति है और अत्यन्त मनोज्ञ सौन्दर्य-माधुर्य-मय पुष्प उत्पन्न करने की भी। इन दोनों प्रकार की शक्तियों में कोई विलक्षणता है या नहीं ? जिस प्रकार इन दोनों शक्तियों में महान् अन्तर है, उसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् की उत्पत्ति करनेवाली गुणमयी शक्ति और अति अलौकिक दिव्य मङ्गलविग्रह को व्यक्त करनेवाली लीलाशक्ति में भी बहुत बड़ा अन्तर है। यदि उनमें अन्तर नहीं था तो जिन सनकादिकों को प्रपञ्च की कारणभूता कोई भी शक्ति मोहित नहीं कर सकती थी, उन्हें भगवान् के चरण-कमलों से लगी हुई तुलसी की दिव्य गन्ध ने क्यों मोहित कर दिया ? अतः सिद्ध यह हुआ कि दिव्य भगवद्विग्रह को प्रकट करनेवाली लीलाशक्ति परा है और जगदुत्पादिनी गुणमयी शक्ति अपरा है।

इससे अद्वैतवाद में भी कोई भेद नहीं आता। जिस प्रकार जल में तरङ्गें रहती हैं और उनका जल से अभेद रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी पराशक्ति अभिन्नरूप से रहती है। यह बात शुद्धाद्वैतियों को भी अभिमत है। जब उनसे पूछते हैं कि भला, शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, तो वे कहते हैं कि भगवान् में एक अघटितघटनापटीयान् आत्मयोग है, उसी से प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिये वे श्रीयशोदाजी के इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। जिस समय माता को यह दिखाने के लिये कि—मैंने मिट्टी नहीं खाई, भगवान् ने अपना मुँह खोलकर दिखलाया तो उसमें नन्दरानी को सारा ब्रह्माण्ड दिखाई दिया। यह देखकर वे बड़ी आश्चर्यचकित हुईं और सोचने लगीं कि यह क्या भेद है। क्या मुझे ही कोई भ्रम हो गया है, अथवा कोई राक्षसों का उपद्रव है? ऐसी कोई बात तो है नहीं; अतः मालूम होता है यह मेरे इस बालक का ही कोई विलक्षण आत्मयोग है। उस जगह उन्होंने कहा है—

अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः।

यहाँ जो 'यः कश्चन' पद है, वह उस आत्मयोग की अनिर्वचनीयता द्योतित करने के लिये है।

ठीक यही बात अद्वतवादी भी मानते हैं। यहाँ 'यः कश्चन' कहने का क्या तात्पर्य है? हम पूछते हैं कि यह आत्मयोग भगवान् से भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है, तब तो अद्वैत न

रहा और यदि अभिन्न है तो भगवान् की तरह यह कूटस्थ होगा। और कूटस्थ होने पर प्रपञ्चोत्पादन में समर्थ नहीं होगा। इसलिये इसे, न भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न ही। अतः वह भगवान् से अव्यतिरिक्त होने पर भी भगवान् के दिव्यातिदिव्य विग्रह के प्रादुर्भाव का कारण है। इसलिये इस विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् ने जो उसी समय रमण करने की अनुमति न देकर एक वर्ष का व्यवधान किया, उसका यही तात्पर्य था कि—वे एक साल मेरी प्रतीक्षा में रहकर रसमय विग्रह प्राप्त करें। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्यादि अप्राकृत हैं; अतः प्राकृत इन्द्रियाँ उन्हें ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें ग्रहण करने के लिये तो अप्राकृत देह और इन्द्रियों की आवश्यकता है।

किन्तु उस अप्राकृत रसमय शरीर की क्रमशः अभिवृद्धि होती है। प्राणी जितनी ही मात्रा में भगवदनुसन्धान में तत्पर होता है, उतनी ही उसके रसमय शरीर की पुष्टि होती जाती है और प्राकृत शरीर का क्षय होता जाता है। जिस समय वह पूर्णतया भगवन्निष्ठ हो जाता है, उस समय उसे पूर्णतः रसमय शरीर की प्राप्ति हो जाती है और भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। कात्यायनी-पूजन से गोपाङ्गनाओं के रसमय शरीर का आरम्भ तो हुआ, किन्तु उसकी ठीक पूर्णता नहीं हुई थी। इसी लिये भगवान् ने ऐसा नियम किया। जिस समय इष्ट वस्तु सुलभ मालूम होने लगती है उसी समय उसकी प्राप्ति की उत्सुकता बढ़ती है। कात्यायनी-पूजन के

समय गोपाङ्गनाओं को भगवान् सुलभ नहीं जान पड़ते थे; इसीसे उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम भी नहीं था।

यह नियम है कि पहले जिस वस्तु का संयोग होता है उसी के वियोग में दुःख हुआ करता है। बिना संयोग के तो प्रेम ही नहीं होता, फिर उसके अभाव में दुःख ही क्या होगा? मनुष्य का जितना जिसके प्रति अधिक प्रेम होगा उतना ही उसके वियोग में दुःख होगा।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

अतः जब गोपाङ्गनाओं को श्री भगवान् के श्री अङ्ग से संस्पृष्ट-वस्त्र द्वारा भगवान् का संयोग हो गया, तो उसी ने, वियोग होने पर, उनके हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित कर दी। वे जब कभी भगवान् की झाँकी करती थीं तो उनके हृदय में परमानन्द की बाढ़ आ जाती थी और उनके आँखों से ओझल होते ही विरहानल धधक उठता था।

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

जिस प्रकार सुवर्णादि के शोधन के लिये अग्निसंयोग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गोपाङ्गनाओं का रसमय शरीर भी तभी पुष्ट होगा जब वह भगवद्विरहाग्नि में सन्तप्त हो लेगा। इसीसे जब से भगवान् ने यह वर दिया कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' तबसे उनके प्रति उनका जो प्रेमातिशय हुआ उसके कारण उनकी

वियोगाग्नि से उनका रसमय शरीर पुष्ट होने लगा तथा उनका जो प्राकृत शरीर था, वह उस वियोगकृत सन्ताप से दग्ध हो गया। इस प्रकार एक वर्ष में वे पूर्णतया परिपक्व हो गईं।

किन्तु, ये सभी गोपाङ्गनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान् की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री वृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता-विशाखा आदि हैं, वे तो नित्य-सिद्धा हैं। वे तो भगवान् की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्र में माधुर्य होता है, उसी प्रकार भगवान् के साथ उनका अभेद ही है। यह बात श्रुतिरूपा मुनिचरी और देवकन्या आदि अन्य गोपाङ्गनाओं के विषय में समझनी चाहिये, जो कि साधनसिद्धा थीं। वे ही इस प्रकार भगवद्विप्रयोगरूप अग्नि से रसमय शरीर का सम्पादन करती थीं। नित्यसिद्धा तो केवल लोक-संग्रह के लिये ही ऐसा करती थीं। उन्हें स्वयं इसकी कोई अपेक्षा नहीं थी। उनमें भी कोई-कोई गोपाङ्गनाएँ ऐसी थीं, जो साल भर में भी सिद्धा नहीं हुईं; उन्हीं के विषय में ऐसा कहा गया है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥

जिस समय भगवान् ने अपनी मधुमय वेणु का वादन किया, उस समय उस वेणुनादरूप उद्दीपन-विभावद्वारा जब रससिन्धु भगवान् कृष्ण उन व्रजाङ्गनाओं के अन्तःकरणों में प्रस्फुरित हुए तो

उनका मनोमल सर्वथा नष्ट हो गया और उन्हें भगवान् के वियोग में एक-एक पल असह्य हो गया। किन्तु उस समय उनके पतियों ने उन्हें घर में बन्द कर दिया था। इससे उनके हृदय में जो सन्ताप हुआ, उसे देखकर संसार के सारे अशुभ काँप उठे; उन सबने मिलकर भी किसी को उतना कष्ट पहुँचाने में अपने को असमर्थ पाया। किन्तु साथ ही उन्होंने जो ध्यानयोग द्वारा भगवान् का एक क्षण के लिये आश्लेष किया उससे उनके हृदय में जो परमानन्द का उद्रेक हुआ उसे देखकर भी अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत प्राणियों के समस्त पुण्यार्जित सुख क्षीण हो गये। उन्होंने किसी को इतना सुख पहुँचाने में अपने को असमर्थ पाया। इस प्रकार जिन गोपाङ्गनाओं के अप्राकृत रसमय शरीर की पुष्टि अभी नहीं हुई थी, वह अच हो गई। भगवान् के विप्रयोग-जनित सन्ताप से उनका गुणमय शरीर दग्ध हो गया, इसी से कहा है—'जहुर्गुणमयं देहम्'।

इससे सिद्ध हुआ कि, गुणमय शरीर का त्याग किये बिना भगवदाश्लेष प्राप्त नहीं हो सकता। यही वेदान्त का भी सिद्धान्त है। वहाँ भी गुणमय शरीर में अनासक्त होने पर ही ब्रह्मसंस्पर्श की प्राप्ति होती है और उसी से परमानन्द का अनुभव होता है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

पुरुष का ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करना क्या है? जिस समय श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जीव अन्नमयादि कोशों से मुक्त

होकर स्वरूपस्थ होता है, उसी समय उसे ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव होता है। इसी लिये महावाक्य के तात्पर्य्यार्थ में 'तत्' और 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ लिया जाता है, वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। यदि अवच्छेदवाद की दृष्टि से देखें तो उपाधिपरिच्छिन्न चेतन ही जीव है और उपाधिनिर्मुक्त ही ब्रह्म है तथा उपाधि के रहते हुए उनकी एकता का अनुभव नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बवाद में भी, जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान बुद्धिरूप उपाधि में प्रतिबिम्बित चेतन ही जीव है। उसका महाकाशरूप ब्रह्म से जलरूप उपाधि के कारण ही भेद है और उपाधि की निवृत्ति होते ही दोनों की एकता हो जाती है। इस प्रकार उपाधिकृत परिच्छिन्नता आदि दोषों का आरोप करने से ही एक अनन्त पूर्ण तत्त्व दोषवान्-सा प्रतीत होता है। इसीसे कहा है—

'एकमपि सन्तमनेकमिव भन्यते।'

अतः जब तक जीव गुणमय शरीर से संसक्त है, तब तक वह ब्रह्म-संस्पर्श का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। जिसने उपाधि का बाध करके त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है, वही तत्पदार्थ से अपना अभेद अनुभव करने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ गोपाङ्गनाओं को भी अपने प्राकृत शरीर का अपनोदन कर शुद्ध रसमय शरीर प्राप्त करने के लिये भगवान् ने एक वर्ष का व्यवधान रखा।

उस समय भगवान् ने जो कहा था कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' अर्थात् तुम इन्हीं रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी—इसमें

भी एक संदेह होता है। वह यह कि, चीरहरण-लीला तो दिन के समय हुई थी और 'इमाः' (इन) शब्द प्रस्तुत अर्थ का द्योतक है; फिर भगवान् ने 'इमाः क्षपाः' इन रात्रियों में ऐसा निर्देश कैसे किया? यदि कहो कि वे रात्रियाँ भगवान् की बुद्धि में स्थित थीं, इसलिये यह उक्ति अयुक्त नहीं है तो ठीक है। परन्तु गोपियों को तो इनका प्रत्यक्ष नहीं था। इससे मालूम होता है कि गोपियों को वर देने की इच्छा करने पर भगवान् की सत्यसङ्कल्पता शक्ति से प्रेरित योगमाया ने इन रात्रियों को भगवान् के सामने उपस्थित कर दिया था। जैसे यदि कोई सम्राट् किसी को कोई वस्तु देना चाहता है, तो उसका भाव समझनेवाले सेवकगण उस वस्तु को लाकर सामने उपस्थित कर देते हैं।

इसके सिवा एक शङ्का यह भी होती है कि रासलीला तो केवल एक रात्रि में ही हुई थी, फिर यहाँ तथा चीरहरण-लीला के अनन्तर वर-प्रदान करते समय भी बहुवचन (इमाः) का प्रयोग क्यों किया गया?

उत्तर—भगवान् अनन्त-गुणमय हैं, उनके अचिन्त्य और अनन्त गुणों का आस्वादन अल्प काल में नहीं हो सकता। व्रजाङ्गनाओं ने भी किसी क्षुद्र फल के लिये कात्यायिनी-पूजन आदि कठोर तपस्या का अनुष्ठान नहीं किया था। अतः यदि उन्हें थोड़े समय के लिये ही भगवत्सुखास्वादन का अवसर प्राप्त होता तो यह उनकी तपस्या का पूरा फल हुआ न समझा जाता। भगवान् के स्वरूप-रसास्वादन के विषय में ही श्रीवृषभानुनन्दिनी का कथन था

कि—अरी सखियो ! भगवान् के समग्र सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादन की बात तो दूर है, यदि हमें उसके एक कण का भी आस्वादन करना हो, तो हमारे प्रत्येक रोम में कोटि-कोटि नेत्र होने पर भी हम उसका सम्यक् आस्वादन करने में असमर्थ हैं। जिस समय ये नेत्र भगवान् के एक अङ्ग के दर्शन में लग जायँगे, उस समय इनका सामर्थ्य नहीं कि वहाँ से आगे बढ़ सकें।

इस विषय में ऐसी ही बात अन्यत्र कही गई है। जिस समय भगवान् रामचन्द्र का विवाहोत्सव हुआ, उस समय उस अपूर्व शोभा को निहारने के लिये ब्रह्मा, शिव, षडानन एवं इन्द्रादि सभी देवगण वहाँ उपस्थित हो गये। भगवान् का वर-वेष देखकर वे अपने को अत्यन्त बड़भागी मानने लगे। उस रूप-माधुरी का पान करने के लिये उन्हें अपने नेत्र पर्याप्त न जान पड़े; उस समय जिसके जितने अधिक नेत्र थे, उसने अपने को उतना ही अधिक भाग्यशाली समझा। ब्रह्मादि सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक नेत्र होने के कारण, देवराज इन्द्र को सबसे अधिक आनन्द हुआ और उन्होंने गौतम ऋषि के शाप को, जिसके कारण उन्हें सहस्र भग प्राप्त हुए थे और जो पीछे मुनि के प्रसन्न होने पर सहस्र नेत्र हो गये थे, अपने लिये परम हितकर माना। उनकी मनोवृत्ति को व्यक्त करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराज ने कहा है—

रामहिं चितव सुरेस सुजाना।
गोतम साप परम हित माना॥

यह बात तो इन्द्रादि देवताओं की है। परन्तु गोपाङ्गनाएँ तो प्रेममार्ग की आचार्या हैं, उनमें भी श्रीराधिकाजी तो साक्षात् भगवान् की आह्लादिनीशक्ति ही हैं; उनके प्रेम की तुलना देवताओं के साथ क्या की जा सकती है? इसी से इन्द्रादि तो भगवान् की रूपमाधुरी का अधिक से अधिक सहस्र नेत्रों से ही पान करके तृप्त हो गये, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो कहती हैं कि हमारे प्रत्येक रोमकूप में कोटि-कोटि नेत्र हों तब भी हम श्रीश्यामसुन्दर के सौन्दर्य के एक कण का भी यथेष्ट रसास्वादन नहीं कर सकतीं। भला प्रेम में कभी तृप्ति होती है?

यह नियम है कि वस्तु चाहे एक ही हो; किन्तु उसका जो जितना अधिक रसज्ञ होगा उसे वह उतनी ही अधिक सरस प्रतीत होगी। अरसिकों को रसमय पदार्थ भी उतना सरस प्रतीत नहीं होता। देखो, ब्रह्म सर्वत्र ही है, तथापि उसके परमानन्द की सबको समान अनुभूति नहीं होती। उसकी स्फुट प्रतीति तो भावुक भक्तगण तथा आत्माराम मुनिजन को ही होती है।

एक चित्रकार ने एक चित्र तैयार किया और उसे वह किसी राजा के यहाँ ले गया। परन्तु राजा ने उसका कोई विशेष रहस्य नहीं समझा; केवल उदासीन भाव से उसका १००००) मूल्य देने को कहा। किन्तु चित्रकार ने इस मूल्य में चित्र देना स्वीकार न किया। जिस समय वह उसे लौटाकर ले जा रहा था, बीच में उसे एक राजसेवक मिला। उसने आग्रहपूर्वक वह चित्र दिखाने को कहा। जब चित्रकार ने उसे खोलकर दिखलाया तो

वह राजसेवक उसका हस्तकौशल देखकर दङ्ग रह गया। किन्तु उसके पास उस चित्र को मोल लेने योग्य द्रव्य नहीं था। उस समय वह केवल एक धोती बाँधे हुए था। उसने उसमें से लँगोटी भर फाड़कर वह धोती उस चित्रकार को दे दी। चित्रकार ने भी उस धोती के बदले में ही वह चित्र उसे दे दिया।

धीरे-धीरे यह समाचार राजा के कानों तक पहुँचा। राजा ने उसे बुलाकर पूछा कि तुमने जो चित्र हमें १००००) में भी नहीं दिया वही हमारे एक साधारण सेवक को केवल उसकी धोती लेकर ही कैसे दे दिया? तब चित्रकार ने कहा—राजन्! आपने उसका महत्त्व नहीं समझा था; इसलिये आप जो कुछ देते थे वह भी इसका पर्याप्त मूल्य नहीं था; किन्तु आपके सेवक ने उसका महत्त्व जाना और जो कुछ अधिक-से-अधिक वह दे सकता था वही दे भी दिया। इसलिये मैंने आपके १००००) की अपेक्षा भी उसकी धोती का अधिक मूल्य समझा था।

एक दिन हमने भी एक चित्र देखा था। उसमें बिल्कुल एक ही रूप की दो स्त्रियाँ बनाई गई थीं। उन दोनों के आकार-प्रकार एवं वेश-भूषा में कोई भी अन्तर नहीं था। दोनों ही आमने-सामने शोकमुद्रा में बैठी थीं। उस चित्र को देखकर समझ में नहीं आता था कि इसका क्या रहस्य है। बहुत विचार करने पर मालूम हुआ कि इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—एक दिन श्रीवृषभानुनन्दिनी अपने मणिमय प्राङ्गण में बैठी थीं; उस समय उन्हें अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उसे कोई अन्य नायिका

समझकर उन्हें बड़ा खेद हुआ और उसका रूप-लावण्य देखकर वे सोचने लगीं कि यदि श्रीश्यामसुन्दर ने इस नायिका को देख लिया तो वे हमसे क्यों प्रीति करेंगे। वस्तुतः यह बात जो कही जाती है ठीक ही है कि श्रीभगवान् और वृषभानुदुलारी परस्पर एक-दूसरे के सौन्दर्यातिशय का तो समास्वादन कर सकते हैं परन्तु वे अपने-अपने सौन्दर्य का भोग करने में असमर्थ हैं। 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः' उनका सौन्दर्य स्वयं उन्हीं को विस्मय में डाल देनेवाला है। यही भाव उस चित्र में व्यक्त किया गया था। किन्तु जिस प्रकार इस रहस्य को समझने से पूर्व हमें वह चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता था उसी प्रकार उस राजा को भी उस चित्रकार के लाये हुए चित्र में कोई विशेषता नहीं जान पड़ी।

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो एक ही होती है; किन्तु जो रसज्ञ हैं उन्हें उसकी विशेष रसानुभूति होती है; अरसिकों को तो आपात-दृष्टि से उसका कोई विशेष महत्त्व दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्यातिशय की सबसे बड़ी रसज्ञा थीं; इसलिये उससे दीर्घकाल में भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती थी। वे कात्यायनी-पूजन और विविधविध व्रताचरण रूप तपस्या करके योगारूढ़ हुई थीं। उससे यदि उन्हें एक रात्रि के लिये ही भगवत्सान्निध्य की प्राप्ति होती तो वह उन्हें किसी प्रकार सन्तुष्ट न कर सकता। उन्हें जो महान् फल प्राप्त होनेवाला था वह तो पूर्ण ब्रह्मसंस्पर्श था और ब्रह्मसंस्पर्श ही पूर्ण योगारोहण है। किन्तु यदि यह अल्पकाल के लिये होता तो उससे कैसे

तृप्ति हो सकती थी ? अतः उन्हें उनकी तपस्या का पूर्ण फल प्रदान करने के लिये भगवान् की योगमाया ने एक ही रात्रि में अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियों का समावेश किया था। इसी से 'इमाः क्षपाः' और 'ताः रात्रीः' इन बहुवचनों का प्रयोग किया गया है। वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि अल्पकाल में अनन्त काल का और अल्प देश में अनन्त देश का समावेश किया जा सकता है। स्वप्न में हम देखते ही हैं कि एक क्षण में ही वर्षों के प्रसङ्ग का अनुभव हो जाता है। योगवाशिष्ठ में पाषाणोपाख्यान में एक शिला के भीतर ही ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन कराया गया है तथा राजा लवण के उपाख्यान में भी दो-ढाई घड़ी के भीतर ही वर्षों के प्रसङ्ग का अनुभव कराया गया है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रहरचतुष्टयवती एक ही रात्रि में अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियों का समावेश किया गया है, जिससे उनकी चिरकालीन भगवत्सम्भोगलालसा की पूर्णतया पूर्ति हो।

भगवान् के आलिङ्गन का कितना महत्त्व है ? इसका वर्णन हम कहाँ तक कर सकते हैं। हनुमान्जी की अद्भुत सेवाओं से सन्तुष्ट होकर भगवान् ने कहा था—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥

अर्थात् हे कपे ! मैं तुम्हारे एक-एक उपकार के बदले अपने प्राणों का समर्पण कर सकता हूँ; फिर भी वे बच ही रहेंगे और उनके लिये हमें ऋणी रहना पड़ेगा। उन्हीं हनुमान्जी को उन्होंने अपना अद्भुत आश्लेष प्रदान करते हुए कहा था—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गोऽयमद्भुतः ।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तो ह्यस्य महात्मनः ॥

भक्तों का सर्वस्वभूत यह भगवदाश्लेष वस्तुतः अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो ब्रह्मा एवं सनकादि को भी प्राप्त होना कठिन है। इसी को ब्रह्म-संस्पर्श भी कहते हैं।

किन्तु यदि यह ब्रह्मसंस्पर्श बाह्यस्पर्शों के समान क्षणिक ही हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या हुई। भगवत्सम्मिलन कभी अस्थायी नहीं हुआ करता; भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर तो फिर पुनरावृत्ति ही नहीं होती 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।' इसी दृष्टि से भगवान् ने एक रात्रि में ही अनन्त ब्राह्म रात्रियों का समावेश करके उन्हें अगणित रात्रियों का अनुभव कराया।

'रात्रीः' शब्द का अर्थ निशा तो है ही, किन्तु इसके सिवा इसका दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। 'रा दाने' इस कोश के अनुसार 'रा' धातु का अर्थ 'देना' है, उसमें 'तृन्' प्रत्यय जोड़ने पर 'रात्री' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ 'देनेवाली' है। अर्थात् गोपाङ्गनाओं को अभीष्ट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य-समास्वादन, उसे देनेवाली रात्रियाँ। 'रात्रीः' शब्द के पहले जो 'ताः' विशेषण है वह उन रात्रियों की विलक्षणता द्योतित करता है। 'ताः रात्रीः' अर्थात् जिनके चरणों का आश्रय लेनेवाले योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी अपने अभीष्ट तत्त्व की प्राप्ति होती है उन्हीं गोपाङ्गनाओं की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली होने के कारण वे रात्रियाँ विलक्षण थीं ही।

यह दानशीला रात्रियाँ इसलिये अत्यन्त विलक्षण हैं क्योंकि पात्र और देय के महत्त्व से दान का महत्त्व होता है श्री व्रजाङ्गना जैसे सर्ववन्द्य पात्रों के लिये निखिल रसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्ण तत्त्व का प्रदान करनेवाली हैं और श्रीकृष्ण जैसे परमपावन पात्र के लिये उन श्रीवृषभानुनन्दिनी का प्रदान किया जिनके लिये श्रीकृष्ण उत्सुक और लालायित थे। अन्न, वस्त्र, रत्न, भूमि आदि समस्त दानों से ब्रह्मदान सर्वोत्कृष्ट है, समस्त पात्रों में ब्रह्मवित् ही सर्वश्रेष्ठ पात्र है। इसके सिवा जो अधिकारी भी हो और जिसके लिये लालायित हो उसके लिये उस वस्तु का दान बहुत प्रशस्य होता है। यहाँ व्रजाङ्गना सर्वोत्कृष्ट पात्र हैं और श्रीकृष्ण रस के लिये उत्कण्ठित हैं अतः उन्हें श्रीकृष्ण जैसे दिव्य-रस का प्रदान करने-वाली वे रात्रियाँ धन्य हैं। उनसे भी उत्कृष्ट पात्र सर्वाराध्य श्रीकृष्ण हैं और वे श्रीरासेश्वरी-सम्मिलन के लिये लालायित भी हैं अतः उनके लिये भी यह दान बड़े महत्त्व का है।

'ताः' का तात्पर्य 'तदात्मिकाः' अर्थात् भगवद्रूपा भी हो सकता है, क्योंकि भगवान् का रमण और रमणसामग्री जो कुछ भी होगा अप्राकृत ही होगा; प्राकृत पदार्थों से उनका रमण होना असम्भव है। जैसे वृन्दावन भगवद्रूप है वैसे ही वहाँ की रात्रियाँ भी भगवद्रूपा हैं।

वे रात्रियाँ कैसी हैं? 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'—

'शरदायामपि उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि अशेषपुष्पाणि यासु ताः।'

अर्थात् शरत्काल में जिनमें मल्लिका से उपलक्षित समस्त पुष्प खिले हुए हैं वे रात्रियाँ। नियम तो ऐसा है कि कई तरह के पुष्प दिन में खिलते हैं, कई रात्रि में तथा कई ग्रीष्म में खिलते हैं और कई शरद् ऋतु में। किन्तु उस शरद् ऋतु की रात्रि में सभी पुष्प अपने नियमों को छोड़कर खिल गये थे। इसी प्रकार चित्रकूट पर भगवान् राम के निवास करते समय वहाँ के फलों ने अपनी ऋतुओं का नियम छोड़ दिया था। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सब फल फल्यो रामहित लागी।
रितु-अनरितुहिं कालगति त्यागी॥

उसी प्रकार इस समय मानो सभी पुष्पों ने यही सोचा था कि हमारी शोभा और सुगन्ध की सार्थकता इसी में है कि हम श्री भगवान् की प्रसन्नता सम्पादन करने में समर्थ हो सकें। जहाँ सारी प्रकृति अपनी प्रजाओं के साथ प्रभु की सेवा में उपस्थित होना चाहती है वहाँ ये पुष्पादि उद्दीपन विभाव भी प्रभु की प्रसन्नता सम्पादन करने को उत्सुक हो रहे हैं। अतः मानो अपनी सार्थकता के लिये ही वे भावोद्दीपन में सहायक हो रहे हैं।

ऐसी रात्रियों को देखकर भगवान् ने रमण करने को मन किया। अर्थात् उचित काल और उद्दीपन सामग्री देखकर ही भगवान् ने अपनी प्रियतमाओं के साथ रमण करने के लिये उनका स्मरण किया। यहाँ 'वीक्ष्य' शब्द से साभिलाष दर्शन अभिप्रेत है, क्योंकि ये सब सामग्रियाँ भावोद्दीपन करनेवाली थीं। अतः

इसका यह तात्पर्य भी हो सकता है—'शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रीः ताश्च वीक्ष्य' अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और उन्हीं के द्वारा प्रियतमा गोपाङ्गनाओं को देखकर (उन्होंने रमण करने को मन किया)।

'ताः' अर्थात् 'स्वस्वरूपभूता व्रजाङ्गनाः'। इनके दो भेद हैं—एक तो वे जो नित्यसिद्धा हैं और दूसरी वे जो भृङ्गीकीट-न्याय से भगवद्रूपा हो गई थीं। जिस प्रकार कीट भृङ्गी से व्यतिरिक्त होने पर भी भावनातिशय के कारण भृङ्गीरूप हो जाता है, उसी प्रकार ये गोपाङ्गनाएँ स्वरूपतः भगवान् से भिन्न होने पर भी अनुरागातिशय के कारण भगवद्रूपा हो गई थीं। वे कहाँ थीं? 'मनःसमुपस्थिताः मनसो गोचरीभूताः' अर्थात् वे भगवान् की मानसिक दृष्टि के सामने थीं! उन्हें दयार्द्र दृष्टि से देखकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।

इसके सिवा 'ताः' शब्द बहुवचनान्त होने के कारण 'तत्' पद से निर्दिष्ट होने योग्य अनन्त पदार्थों का वाचक हो सकता है। हम 'ताश्च ताश्च ताश्च ताः' इस प्रकार 'ताः' पद से कही जानेवाली तीन प्रकार की गोपाङ्गनाओं का विचार करते हैं। इनमें पहले 'ताः' से श्रुतिरूपा मुनिचरी और अन्य समस्त साधनसिद्धा गोपाङ्गनाएँ कही गई हैं।

उनमें भी जो श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ वाच्य-वाचक के अभेद रूप से ब्रह्मरूपा ही हैं वे दूसरे 'ताः' से ग्रहण की जाती हैं। ॐकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय

ॐकार का विकार है और सारा प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य है। अतः ॐकार का विकारभूत समस्त वाङ्मय ब्रह्म के कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च का वाचक है। वाच्य और वाचक का अभेद हुआ करता है; इसलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियों के अवान्तर तात्पर्य अन्य होने पर भी उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्म में ही है। शब्द से दो बातों का बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादि प्रत्ययवेद्य जाति भावरूप ही होती है। 'तस्य भावस्त्वतलौ' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार घट की भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भाव-विशेष में स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घट का वाचक 'घट' शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिका का ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थों के मूल कारण परब्रह्म के ही वाचक हैं। अतः अवान्तर श्रुतियों का भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्म में ही है। विचार किया जाय तो वस्तुतः वाच्य-वाचक का भेद भी नहीं है। ये दोनों भी एक ही चेतन के विवर्त्त हैं। अभिधेय-प्रपञ्चजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतन का विवर्त्त अभिधेय है और अभिधानात्मक-प्रपञ्चजनना-नुकूल-शक्त्यवच्छिन्न चेतन का विवर्त्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही समुद्र में अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो जाती हैं उसी प्रकार एक ही परब्रह्म में अभिधान अभिधेय रूप अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो गई हैं। किन्तु 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्' इस न्याय

के अनुसार तरङ्गाभिन्न समुद्र के साथ तरङ्गों का अभेद होने के कारण उनका आपस में भी अभेद है।

यह बात तो तरङ्ग से तरङ्गान्तर के अभेद की रही। किन्तु मूल दृष्टि से तो अभिधानात्मक तरङ्ग जिस समुद्र में है लक्षणा-वृत्ति से वह उस समुद्र का ही बोधन करती है; हाँ, तरङ्गान्तर को वह अभिधावृत्ति से बोधित करती है, क्योंकि किसी की भी शक्ति अपने शक्य में ही सफल हुआ करती है, अपने कारण में नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादि को ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्नि का दहन नहीं कर सकता। किन्तु मूल रूप से तो तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि यह दूसरी बात है कि 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय-प्रपञ्च का अकार में और अकार का उकार में और उकार का मकार में तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का तुरीय में लय होता है।

तात्पर्य यही है कि अभिधानात्मिका श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्दसुधासिन्धु की तरङ्गों के समान हैं और वे अभिधेय रूप उसकी अन्य तरङ्गों के साथ वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं, क्योंकि अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्गमस्थल भूत परमतत्त्व का तो लक्षणा से ही बोध कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टि से 'घट' शब्द का वाच्य घटाकार में परिणत मृत्तिका भी हो सकती है तथापि लोक में 'घट' पद की वाच्य घट व्यक्ति ही समझी जाती है।

इसी प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्मतरङ्ग का वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्मतरङ्ग है, परन्तु है लक्षण से।

फिर मीमांसकों ने तो जाति में ही शक्ति मानी है; जाति घटत्वादि को कहते हैं, जिसे घटभाव भी कहा जा सकता है। घट कार्य है; कार्य का भाव कारण से व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता, समस्त कार्यों का भाव कारण में ही पर्यवसित होता है। अतः समस्त शब्दों की वाच्यता का पर्यवसान कारणपरम्परा-क्रम से सन्मात्र में ही होता है। इसलिये सारे शब्दों का वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचक का अभेद है और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थ से अभिन्न ही हैं। अत: यहाँ 'ता:' शब्द से सभी श्रुतियाँ ग्रहण की जाती हैं।

श्रुतियाँ दो प्रकार की हैं—अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्य-परा श्रुतियाँ वे हैं जो साक्षात् रूप से परब्रह्म में पयवसित होती हैं जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जिनका साक्षात् तात्पर्य तो अन्य देवतादि में है किन्तु परम्परा से उनका महातात्पर्य परब्रह्म में ही होता है। जैसे 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इत्यादि। इन्हें ही ऊढा और अनूढा अथवा अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं। अर्थात् एक तो वे गोपियाँ जो केवल कृष्णपरायणा हैं और दूसरी वे जो श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के साथ विवाही गई हैं। इनके ये दो भेद भी प्रती-तिमात्र के लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओं में श्रुतियों का तात्पर्य तभी तक जान पड़ता है जब तक 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'

इस वाक्य के अनुसार उनका महातात्पर्य एकमात्र परब्रह्म में ही नहीं जान पड़ता। वास्तव में तो जिस प्रकार तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं हैं और घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से समस्त श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म में ही है।

किन्तु फिर भी लीलाविशेष के विकासार्थ वस्तुतः अनन्यपरा श्रुतियों में भी अन्यपरात्व की प्रतीति होती है; अन्यथा यदि भगवान् को झगड़ा मचाकर आनन्द लेना न होता तो ऐसे अस्पष्ट शब्दों में अपने स्वरूप का वर्णन क्यों करते? सीधे-सीधे अपना तात्पर्य व्यक्त कर देते। इससे मालूम होता है कि यह सब भगवान् की लीला ही थी। इसीसे कोई उन्हें निर्गुण मानते हैं, कोई सगुण मानते हैं, कोई निर्गुण-सगुण उभय रूप मानते हैं और कोई नहीं भी मानते। तथापि इन विविध मन्तव्यों में से किसी से भी भगवान् क्षुब्ध नहीं होते। इसीसे कहा है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

अर्थात् जिन भगवान् की अनन्त शक्तियाँ समस्त वादियों की बुद्धियों की आश्रय होती हैं—क्योंकि सम्पूर्ण विरुद्ध भावों के आस्पद भगवान् ही तो हैं—उन्हें भावुक लोग नमस्कार करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वरूप से भी अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं और अनेक शब्द रूप से भी प्रकट होते हैं।

यह सब भगवान् की लोला ही है। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'। एक का अनेकत्व, निष्प्रपञ्च का प्रपञ्चरूपत्व उनका खेल ही है। परन्तु यह खेल निरर्थक नहीं है। प्रत्येक लीला, लीला करनेवाले के तो विनोदार्थ ही होती है; अतः यह भगवल्लीला भी भगवान् के तो विनोदार्थ ही है। परन्तु अन्य जीवों के लिये यह उनके कल्याण का साधन है। वे अनेकविध शब्दों से अपने ही विभिन्न रूपों का बोध कराते हैं। सब जीवों का एक-सा अधिकार नहीं है। कोई सकाम कर्म के अधिकारी हैं, कोई निष्काम कर्म करने योग्य हैं, किन्हीं को भगवान् के सगुण रूप की ही उपासना करनी चाहिये, कोई निर्गुणोपासना में प्रवृत्त हो सकते हैं और कोई अभेदचिन्तन के अधिकारी हैं। अपने-अपने अधिकारानुसार ये सब भगवान् का ही भजन करनेवाले हैं। सब लोगों की गति निष्प्रपञ्च ब्रह्म में ही नहीं हो सकती। अतः भगवत्साक्षात्कार के लिये क्रमशः इन सभी सोपानों का अतिक्रमण करना होता है। यद्यपि यह बात अपने अधीन ही है कि हम कर्म न करें, परन्तु ऐसे कितने आदमी हैं जो बिना कर्म किये रह सकते हों? यही बात मन के विषय में भी है। यद्यपि सभी चाहते हैं कि मन निस्पन्द हो जाय और उसकी निस्पन्दता है भी अपने ही अधीन, तथापि इसमें सफलता पानेवाले कितने लोग हैं? अतः सब जीवों के यथायोग्य साधन की व्यवस्था करने के लिये ही भगवान् प्रपञ्चाकार में परिणत हो जाते हैं। यही उनकी प्राप्ति का क्रम है। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते जब तक जीव निष्प्र-

पञ्च ब्रह्म में परिनिष्ठित नहीं होता तब तक उसे कृतार्थता नहीं हो सकती।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान् ने प्रपञ्च की रचना की ही क्यों? इस पर हमें यही कहना है कि आरोप होने पर ही उसके अधिष्ठान का अनुसन्धान किया जाता है। अधिष्ठान है, इसलिये आरोप की कल्पना नहीं की जाती, जैसे कि कहा है—

'सत्यारोपे निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोपः'।

जिस प्रकार यदि मृत्तिका है तो यह नहीं कह सकते कि घट बनना ही चाहिये; हाँ, घड़े को देखकर उसकी कारणभूता मृत्तिका का अनुमान अवश्य किया जाता है। कार्य तो कारण का व्यभिचारी हो सकता है, किन्तु कारण कार्य का व्यभिचारी नहीं होता। अतः हम प्रपञ्च रूप कार्य की अपेक्षा से उसके कारण-भूत पर ब्रह्म का निश्चय करते हैं; पर ब्रह्म के प्रपञ्चनिर्माण के प्रयोजन का अनुमान नहीं कर सकते। इसी प्रश्न के उत्तर में यह विचार भी आ जाता है कि कार्य में कारण के सर्वांश की अनुवृत्ति नहीं हुआ करती। जिस प्रकार माला में सर्प का अध्यास होने पर जो 'अयं सर्पः' ऐसा बोध होता है उस समय उसमें माला के आकार एवं इदमंश का तो अनुवेध होता है, किन्तु बहुमूल्यत्व का अनुवेध नहीं होता। इसके सिवा इसका दूसरा न्याय यह भी हो सकता है—

विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्।
समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्॥

अर्थात् विषय (अधिष्ठान) के रूप से ही अध्यस्त पदार्थ रूपित होता है किन्तु उसके सभी गुणों की उसमें अनुवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च का महाकारण जो परब्रह्म है वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसके सत् और चिदंश की तो समस्त पदार्थों में अनुवृत्ति होती देखी गई है, परन्तु आनन्दांश का सर्वत्र अनुवेध नहीं होता।

इस प्रकार, क्योंकि लीलाविशेष के लिये भगवान् ही प्रपञ्चरूप से स्थित हुए हैं, भिन्न श्रुतियाँ भी उन्हीं के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन करती हैं। कई श्रुतियाँ भगवान् के निर्विशेष रूप का प्रतिपादन करनेवाली हैं—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' और कई उनके सविशेष रूप का प्रतिपादन करती हैं, जैसे—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

इत्यादि। और कोई अन्नमयरूप से उन्हीं का प्रतिपादन करती हैं—जैसे 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'। इसी प्रकार और भी सब श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न रूप से एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं।

परन्तु एक ही वस्तु में—एक ही सत्ता में—अनेक विकल्पों का होना सम्भव नहीं है। क्रिया में तो विकल्प होना बहुत सम्भव है जैसे, हम घोड़े पर चढ़कर जा भी सकते हैं और नहीं भी जा सकते; परन्तु वस्तु में ऐसा भेद नहीं हो सकता। अतः एक ही ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, यह सत्ताभेद से तो माना जा सकता है, परन्तु एक सत्ता में ऐसा होना सम्भव नहीं है; जिस प्रकार एक ही मृत्तिका उपाधि-भेद से तो घट, शराव और कूँडा

आदि भेदवती प्रतीत होती है, परन्तु निरुपाधिक रूप से उसमें कोई भेद नहीं है। अतः श्रुतियों का परम तात्पर्य भले ही एक ही वस्तु में हो किन्तु उनका अवान्तर तात्पर्य तो अन्य में हो ही सकता है। इन अवान्तर तात्पर्यों को लेकर ही सारे वाद-विवाद होते हैं। परन्तु इससे भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि उन विभिन्न अर्थों का भी महातात्पर्य तो एकमात्र भगवान् में ही है। अतः जो लोग अत्यन्त अश्रद्धालु हैं उनका ईश्वरखण्डन भी अच्छा ही है, क्योंकि उस अवस्था में भी वे खण्डनात्मक रूप से भगवान् का ही चिन्तन करेंगे। भगवान् तो ऐसे कृपालु हैं कि 'भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ' किसी प्रकार उनका चिन्तन किया जाय, वे कृपा ही करते हैं। इसी लिये शिशुपाल और कंसादि को भी अन्त में भगवद्धाम की ही प्राप्ति हुई बतलाई गई है। किन्तु वेन की अधोगति हुई, क्योंकि उसका भगवान् के प्रति वैर भी नहीं था। उसकी तो उपेक्षा-दृष्टि थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्र में सभी प्रकार के अधिकारियों के उद्धार का साधन विद्यमान है। यहाँ तक कि श्रुति में नास्तिकवाद का मूल भी मिलता है; यथा—

'असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते।'

(छां० ६। २। १)

कहीं-कहीं 'असत्' शब्द का अर्थ 'अव्यवहार्य' भी है। जैसे, कहते हैं कि मिट्टी में घट नहीं है, क्योंकि यद्यपि उसमें कारणरूप से घट है तथापि अव्यवहार्य होने के कारण उसे असत् कहा

जाता है। किन्तु यहाँ तो 'असत्' का तात्पर्य शून्य में ही है, क्योंकि आगे—

'कथमसतः सज्जायेत' (छां० ६ । २ । २)

ऐसा कहकर उसका खण्डन कर दिया गया है।

अतः जिस प्रकार भगवान् ही अनेक रूप से प्रकट होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओं में ही लीला-विशेष के विकासार्थ अन्यपूर्विकात्व की प्रतीति होती थी। भगवान् तो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। उनके साथ प्राकृत प्राणियों का संसर्ग कैसे हो सकता था? अतः ये सब व्रजाङ्गनाएँ स्वरूपतः तो सच्चिदानन्दरूपा ही थीं। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि अभिधानरूपा श्रुतियाँ और अभिधेयरूप देवता ये सभी वस्तुतः एक ही हैं। परन्तु मूलतः अभिन्न होने पर भी साधकों के कल्याणार्थ भगवान् को शब्द का आविर्भाव करना ही पड़ता है; अन्यथा महाप्रलय में भी भगवान् ने जीवों को मुक्त क्यों नहीं कर दिया? इसका कारण यही था कि वहाँ कल्याणकारिणी सामग्री का अभाव था। अतः परमदयालु और करुणामय होने पर भी भगवान् कल्याण का क्रम रखते हैं। यदि उन पापी, पुण्यात्मा सभी का अक्रम से उद्धार कर दिया करते तो बात ही बिगड़ जाती। अतः प्रपञ्च के मूलभूत अनादि अज्ञान की निवृत्ति के लिये उन्होंने सभी प्रकार के वाक्यों का आविर्भाव किया है। श्रुतिरूप अभिधान और उनका लक्ष्य ब्रह्म, ये ऐसे ही हैं जैसे तरङ्ग और समुद्र। यह तरङ्ग और समुद्ररूप भेद इसी लिये

है कि इसके बिना उनका ऐक्यबोध नहीं हो सकता। यदि भेद न हो तो लक्षणा कैसे बने ? जीव अपने अनादि अज्ञान का निवारण तभी कर सकता है जब वह परब्रह्म के साथ उसके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभेद अनुभव करे; और उस भेद का निराकरण महावाक्यरूप तरङ्गों से उत्पन्न होनेवाले बोध के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु सब लोग आरम्भ में ही उस अभेद का अनुभव नहीं कर सकते। अतः उस योग्यता की प्राप्ति के लिये अन्यपरा श्रुतियों द्वारा अन्यान्य पदार्थों का निरूपण किया गया है। वास्तव में तो समस्त श्रुतियाँ और उनके प्रतिपाद्य भी अनन्य ही हैं।

यहाँ व्रजाङ्गनाओं में अनन्यपरा श्रुतियाँ ही अनूढा हैं और अन्यपरा हीं ऊढा हैं। परन्तु जिस समय 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस सिद्धान्त का निश्चय हो जायगा उस समय यही निश्चय होगा कि वस्तुतः ब्रह्मपरा श्रुतियों में ही लीलावश अब्रह्मपरात्व की प्रतीति हुआ करती है। अतः गोपियों का दूसरे गोपों के साथ विवाहा जाना भी केवल विभ्रम ही है। वस्तुतः उनके परमपति तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। उनका अन्यपूर्विकात्व तभी तक अनिवार्य रहेगा जब तक भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वात्मकता सुनिश्चित नहीं होगी।

परन्तु इस बात का निश्चय भी शास्त्राधार पर ही हो सकेगा; अन्यथा साधारण पुरुषों को तो अविचारवश रासक्रीड़ा में व्यभिचार की ही गन्ध आवेगी। परन्तु श्रीमद्भागवत में तो कहा है कि जिन गोपों की स्त्रियाँ रासक्रीड़ा में सम्मिलित हुई थीं उन्होंने

भी उन्हें अपने पास ही देखा—'मन्यमाना स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वा-न्दारान्व्रजौकसः।' यदि कहा जाय कि यह उनकी भ्रान्ति थी तो हम कहते हैं कि गोपों को उनके पत्नीत्व की ही भ्रान्ति क्यों न मानी जाय। यह प्रसङ्ग तो श्रीमद्भागवत में आता ही है कि एक वर्ष के लिये सर्वथा भगवान् ही गोपाल और वत्सरूप हो गये थे। सम्भव है, ये व्रजाङ्गनाओं के पति गोपरूप गोविन्द ही हों।

अतः सिद्ध हुआ कि यह अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओं में ही अन्यपूर्विकात्व की प्रतीति थी, जिस प्रकार कि अनन्यपरा श्रुतियों में ही अन्यपरात्व की प्रतीति होती है। यहाँ जिस तरह प्रपञ्च-रचना में दो हेतु बतलाये गये हैं—एक तो भगवान् की लीला और दूसरा जीवों को कल्याण के साधन प्राप्त कराना, उसी प्रकार इस रासलीला के भी दो ही प्रयोजन थे। प्रथम तो भगवान् की यह लीला प्रेमरस के विकास के लिये थी। यहाँ एक ही तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीरूप से आविर्भूत हुआ है। यह प्रेमलीला थी, इसलिये यहाँ उसे नायक और नायिकारूप में परि-णत होने की आवश्यकता थी। क्योंकि प्रेम का मुख्य आलम्बन नायक के लिये नायिका है और नायिका के लिये नायक। साहित्यशास्त्र में शृङ्गाररस सबसे उत्कृष्ट माना गया है। वस्तुतः उसके द्वारा परमानन्द की जैसी स्फुट स्फूर्त्ति होती है वैसी और किसी रस से नहीं होती। शृङ्गार अथवा प्रेमरस स्वतः निर्विशेष है। जिस समय उसका आलम्बन भगवान् होते हैं तो वह परम-पवित्र प्रेम माना जाता है और जिस समय उसका आलम्बन

अस्थि-मांसमय नायक या नायिका होते हैं तो उसे अत्यन्त अधोगतिमूलक काम कहते हैं। किन्तु यहाँ नायक-नायिका-रूप में भी शुद्ध सच्चिदानन्दघन ही हैं। अतः रसवृद्धि के साथ यहाँ निकृष्ट आलम्बनजनित मलिनता की तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इन नायिकाओं में जो अनन्यपूर्विका थीं उन्हें स्वकीया कहा गया है और जो अन्यपूर्विका थीं उन्हें परकीया। स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किन्तु परकीया में स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक-वैदिक अड़चनों के कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रियतम से नहीं मिल सकती, इसलिये उस व्यवधान के समय उसके हृदय में जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। इसी लिये कुछ महानुभावों ने स्वकीया नायिकाओं में भी परकीया-भाव माना है; अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओं का-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजाङ्गनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; परन्तु उनमें से कई अन्य-पुरुषों के साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता। अतः स्वकीया-परकीया या ऊढा और अनूढा कहना उचित है। इस प्रकार प्रेमोत्कर्ष के लिये ही भगवान् ने यह विलक्षण लीला की थी।

इस लीला का दूसरा प्रयोजन जीवों का कल्याण है। यहाँ जो अनन्यपूर्विका नायिका हैं उनका जो भगवान् के प्रति अतिशय अनुराग है उससे होनेवाली लीला आगे चलकर लोगों को ध्येय

होगी। यह बात पहले कही जा चुकी है कि इस प्रकार की काम-विजय-लीला का चिन्तन करने से लोगों को कामजयरूप फल प्राप्त होगा। इसके सिवा यह भी देखना है कि इस प्रकार के उपासकों का ध्येय क्या होगा? भगवान् श्रीकृष्ण या गोपियाँ? सो कोई नहीं, बल्कि उन दोनों का जिस प्रेमपाश से बन्धन है वह प्रेम-शृङ्खला ही उनकी ध्येय होगी, क्योंकि उसके अधीन तो वे दोनों ही हैं। जिस प्रकार यदि किसी ऊँट या बैल को पकड़ना होता है तो उसकी नकेल या नाथ ही पकड़ते हैं, उसी प्रकार इस प्रेम-बन्धन को पकड़ने से श्रीकृष्ण और गोपियाँ दोनों ही स्वाधीन हो जायँगे। इसके सिवा इस लीला से सर्वसाधारण को यह भी उपदेश मिलेगा कि इस प्रकार के नायक-नायिकाओं में जैसा उत्कट स्नेह होता है वैसा ही उन्हें भी अपने इष्टदेवों के प्रति रखना चाहिये।

इन व्रजाङ्गनाओं में जो अन्यपूर्विका हैं उनसे यह उपदेश भी मिलता है कि जिस प्रकार वे लौकिक-वैदिक शृङ्खलाओं का विच्छेद करके भगवत्परायणा रहती थीं, उसी प्रकार साधकों को भी सारे व्यवधानों को छोड़कर अपने ध्येय में संलग्न होना चाहिये। साधारण पुरुषों को इससे भगवान् की उदारता और करुणा का भी ज्ञान होता है। प्राणियों में सदा ही कोई-न-कोई त्रुटि तो रहा ही करती है। उस समय अपनी हीनता को देखकर अनाश्वास हो जाना स्वाभाविक ही है। जहाँ ऐसा नियम है कि प्राणी वैदिक एवं स्मार्त उपासना करके ही भगवान् को प्राप्त करने की योग्यता पा सकता है, वहाँ जो सर्वसाधनहीन स्थूलदर्शी लोग हैं उन्हें ऐसी

आशा होना कि भगवान् हम पर भी उन गोपाङ्गनाओं के समान कृपा करेंगे, बहुत बड़ा आश्वासन है।

आगे चलकर कहा है कि वे गोपियाँ जारभाव से भगवान् को प्राप्त हुईं 'जारबुद्ध्यापि सङ्गता:'। अहो! जो गोपाङ्गनाएँ वैदिक और स्मार्त-शृङ्खलाओं का उल्लङ्घन करके भगवत्परायणा हुईं और जिन भगवान् का सर्वथा शुद्ध-भाव से आश्रय लेना चाहिये था उनका ऐसे दूषित भाव से आश्रय लिया, उन गोपाङ्गनाओं का भी भगवान् ने कल्याण कर दिया। यह ऐसी ही बात हुई जैसे पूतना ने विषलिप्त-स्तनपान कराकर भी परमपद प्राप्त किया; जिन भगवान् का सर्वस्व समर्पण करके अर्चन करना चाहिये था उन्हें विषपान कराना महान् अपराध था, तो भी विषय के माहात्म्य से उसने सद्गति प्राप्त की। उसी प्रकार यद्यपि कामबुद्धि से भगवान् का आश्रय लेना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि यह सोपाधिक प्रेम है—काम-वासना की पूर्ति तक ही रहनेवाला है—और भगवान् सर्वभूतान्तरात्मा होने के कारण निरुपाधिक प्रेम से ही अभ्यर्चित होने चाहियें, तथापि उनका परम हित ही हुआ। इसके सिवा इसमें एक दोष यह भी हो सकता था कि जो भगवान् उनके वास्तविक परमपति थे उनमें तो उन्होंने जारबुद्धि की और जो अस्वाभाविक प्राकृत पति थे उनमें पति-बुद्धि की। जिस प्रकार तरङ्गों का मुख्य पति तो समुद्र ही है, तरङ्गान्तरों से तो उनका आगन्तुक-सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीव का स्वाभाविक-सम्बन्ध तो अपने आश्रयभूत परब्रह्म से ही है, अन्य जीवों से तो केवल आगन्तुक-सम्बन्ध है, इसलिये वह

अनित्य भी है, अतः सर्वान्तर्यामी भगवान् का जारबुद्धि से आश्रय लिया गया—यह भी एक बड़ा दोष था। ये सारे अनौचित्य 'अपि' शब्द से सूचित होते हैं। किन्तु ये सब दोष होने पर भी भगवान् से सम्बन्धित होने के कारण गुण हो गये। यह आलम्बन का ही माहात्म्य था। उस जारबुद्धि से यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हें भी भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकों को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटिपूर्ण होने पर भी उन्हें भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है। और प्रेममार्ग में आशा बहुत बड़ा अवलम्बन है, क्योंकि जीव, आशा होने पर ही प्रपन्न हो सकता है। इस प्रकार भगवान् ने अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका दोनों की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेममार्ग को सबके लिये सुलभ कर दिया है। यह द्वितीय 'ताः' का तात्पर्य हुआ।

अब तृतीय 'ताः' का अर्थ करते हैं। इस 'ताः' का अर्थ है 'तदात्मिकाः' अर्थात् भगवत्स्वरूपा। पहले 'ताः' से तो वे गोपाङ्गनाएँ विवक्षित थीं जिनका भगवान् के साथ भृंगीकीट-न्याय से साधन द्वारा अभेद हुआ था। दूसरे 'ताः' से वे गोपाङ्गनाएँ कहीं गईं जो समुद्र और तरङ्ग के समान मूलतः अभिन्न थीं। यह समुद्र अचिन्त्यानन्द-सुधा-सिन्धु है। इससे एक तो तरङ्गों का अभेद और दूसरा जैसे उसकी सुधा से सुधागत माधुर्य

का अभेद। यह बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकार की स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाएँ ही तीसरे 'ताः' से कही गई हैं।

जिस प्रकार जल में मधुरता, शीतलता आदि कई गुण हैं उसी प्रकार भगवान् में भी कई शक्तियाँ हैं। भगवान् की परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उन्हीं की अवान्तर विकासरूपा ललिता-विशाखा आदि तीसरे 'ताः' से अभिप्रेत हैं। उन श्रीवृषभानुनन्दिनी की पदनख-चन्द्रिका की जो विभिन्न दीप्तियाँ हैं उन्हीं के अन्तर्गत ये ललिता-विशाखा आदि हैं। भगवान् की सर्वान्तरतम दिव्यातिदिव्य शक्ति तो श्रीराधिका ही हैं, उन्हीं की अंशभूता उनकी प्रधान सहचरी हैं। यद्यपि उनमें तारतम्य है तथापि वे हैं सब-की-सब परमान्तरङ्गा ही।

यहाँ जो 'अपि' शब्द आया है उसका अर्थ 'च' 'और' समझना चाहिये। अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और उन त्रिविध गोपाङ्गनाओं को देखकर भगवान् ने रमण करने को मन किया। किन्तु उन्होंने मन किया कैसे? इस पर कहते हैं कि स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म भगवान् ने आप्तकाम होकर भी योगमाया का आश्रय लेकर मन बनाया। योगमाया का आश्रय लेने से क्या अभिप्राय है? 'योगाय स्वेन सह तासां संश्लेषाय या माया कृपा तामुपाश्रित्य' अर्थात्—योग यानी अपने साथ संश्लेष करने के लिये जो माया—कृपा, उसका आश्रय लेकर। यहाँ 'माया' शब्द का अर्थ कृपा है, 'माया कृपायां दम्भे च'। अतः कृपापरतन्त्र भगवान् ने स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म होकर भी केवल कृपावश मन किया।

दूसरी बात यह भी हो सकती है कि—

युज्यते-सदा संश्लिष्यत इति योगा, महालक्ष्मीः परमान्तरङ्गशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी, तस्या माया कृपा योगमाया, तामुपाश्रित्य।

अर्थात्—जो युक्त यानी सदा संश्लिष्ट रहती हैं वे परमान्तरङ्गशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी ही योगा हैं, उनकी माया—कृपा ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर रमण की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि अपनी कृपा के अधीन होकर नहीं बल्कि जो श्रीवृषभानुसुता की कृपापात्रभूता तथा उनके चरणकमल-मकरन्द का आस्वादन करनेवाली व्रजाङ्गनाएँ हैं उनकी प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये ही भगवान् ने रमण की इच्छा की, क्योंकि ऐसा करने से ही वे अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजी को प्रसन्न कर सकते थे। जो मधुरभाव के उपासक हैं उनकी यह पद्धति है कि वे पहले अपने आचार्यों का आश्रय लेते हैं, फिर उनके द्वारा गोपाङ्गनाओं की प्रसन्नता लाभ करते हैं, उनकी प्रसन्नता से उन्हें प्रधान-प्रधान यूथेश्वरियों का प्रसाद प्राप्त होता है और तत्पश्चात् श्रीहरि की चिरसङ्गिनी श्रीराधिकाजी की कृपा होती है। इस प्रकार श्रीप्रियाजी के कृपापात्र होने पर ही भगवान् का अनुग्रह होता है। इसमें यह भी भेद है कि शुद्ध परब्रह्म का पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं होता 'असङ्गो न हि सज्जते'। अतः यह मानना पड़ता है कि वृत्त्युपहित चेतन ही पदार्थों का प्रकाशक होता है। यदि शुद्ध चेतन ही पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होता तो उसकी सत्ता तो सर्वत्र है परन्तु घटकुड्यादि में पदार्थों को प्रकाशित करने का

सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवा चेतन की सत्तामात्र से ही पदार्थों की प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि चेतन का संश्लेष तो सन्निकृष्ट-असन्निकृष्ट सभी वस्तुओं के साथ है। परन्तु प्रकाश केवल उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनके साथ प्रमाणजन्य-वृत्त्यभिव्यक्त चेतन का संसर्ग होता है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बन्ध सभी व्रजाङ्गनाओं से है तथापि जिस प्रकार स्वप्रकाश चेतन अन्तः-करणादिवृत्त्युपहित होकर ही वस्तुओं के प्रकाश का हेतु होता है वैसे ही भगवान् भी अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजी के कृपापात्रों पर ही अनुग्रह करते हैं। जिस प्रकार मङ्गलमय सुधासिन्धु में जो मधुरिमा है वह उसका स्वरूप ही है उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु भगवान् की जो आह्लादिनी शक्ति है वह भगवान् से अभिन्न ही है।

जिस प्रकार घटादि का प्रकाश अन्तःकरणवृत्त्युपहित चेतन से ही होता है किन्तु अन्तःकरण के प्रकाश के लिये किसी अन्य अन्तःकरण की आवश्यकता नहीं होती; तथा अन्तःकरणादि तो स्वतन्त्रता से चेतन के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु घटादि अन्तःकरणवृत्त्युपहित होने पर ही उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकते हैं, उसी प्रकार यहाँ जो वृषभानुनन्दिनी हैं वे तो परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के साथ निरपेक्षभाव से असाधारण रमणरूप सम्बन्ध का भोग कर सकती हैं किन्तु अन्य गोपाङ्गनाएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। अतः उनमें भी भगवान् का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये श्रीवृषभानुदुलारी का सम्बन्ध सम्पादन करना पड़ता है।

अतः पहले वे इनसे तन्मय हो लेती हैं उसके पश्चात् भगवान् से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं। इसी लिये भगवान् ने योगमाया का आश्रय लिया।

अथवा "योगाय सम्बन्धाय या माया वञ्चना तामुपाश्रितोऽपि ताः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे"—योग जो असाधारण सम्बन्ध उसके लिये भी माया यानी वञ्चना का आश्रय लेकर उन्होंने रमण के लिये मन किया। भगवान् रमण के लिये भी माया का आश्रय लिया करते हैं। इसी से जब ऋषि-पत्नियाँ गई थीं उस समय भी उन्होंने माया का ही आश्रय लिया था, और उन्हें भी पातिव्रत का ही उपदेश किया था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो परब्रह्म हैं। उनका सम्बन्ध भला किसको अभीष्ट न होगा? उनका संसर्ग ही तो परम कल्याण है। उसमें लौकिक भावों का आरोप करना अर्थात् पारमार्थिक तत्त्व में अपारमार्थिक भावों का निवेश करना माया ही है। अतः 'योगे सम्बन्धे या माया वञ्चना सा योगमाया' ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये। अथवा 'अयोगमाया' ऐसा पद मानें तो 'अयोगाय असम्बन्धाय या माया वञ्चना सा अयोग-माया' अयोग यानी असम्बन्ध के लिये जो माया—वञ्चना उसी का नाम अयोगमाया है। अर्थात् अपने साथ सम्बन्ध न होने देने के लिये जो माया उसका उन्होंने आश्रय लिया।

'ताः वीक्ष्य' वे जो पूर्वोक्त प्रकार की गोपाङ्गनाएँ थीं, जो इस प्रकार स्वस्वरूपानुसन्धान में तत्पर थीं उन्हें दयार्द्र-दृष्टि से देख वञ्चना को भूलकर उन्होंने रमण करने के लिये मन किया। अथवा—

'युज्यते इति योगा सदासंश्लिष्टरूपा या वृषभानुनन्दिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे'—

अपनी स्वस्वरूपभूता जो वृषभानुनन्दिनी उनकी प्रसन्नता करने के लिये रमण करने को मन किया। अर्थात् उन्हें जो रासाभिलाषा हुई उसकी पूर्ति के लिये उन व्रजाङ्गनाओं को देखकर रमण करने की इच्छा की।

अथवा 'न गच्छतीति अगा अगा चासौ मा इति अगमा, अगमायां उपाश्रितः यः स भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे' अर्थात् जो अचला (नित्यसंगिनी) लक्ष्मीरूपा वृषभानुनन्दिनी हैं उनमें अनुरक्त जो भगवान् उन्होंने रमण करने की इच्छा की। क्योंकि यह रासलीला श्रीराधिकाजी की ही प्रसन्नता के लिये है। भावुकों का ऐसा मत है कि भगवान् के जितने कृत्य हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी की प्रसन्नता के लिये हैं और श्रीवृषभानुसुता के जितने कृत्य हैं वे श्रीहरि की तुष्टि के लिये हैं। यहाँ जो अन्यान्य गोपाङ्गनाएँ हैं वे सब श्रीराधिकाजी की ही अंशांशभूता हैं।

यहाँ जो 'अपि' है उसका तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि व्रजदेवियों को तो पहले ही से भगवान् के साथ रमण की इच्छा थी। इस समय मानो परीक्षित के चित्त में इस बात का सन्ताप था कि अहो! व्रजाङ्गनाओं ने कात्यायिनी-अर्चनादि कठोर तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया और भगवान् ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्ट वर दिया; किन्तु अब, जब कि प्रेमातिशय के कारण भगवत्-सम्भोग की प्रतीक्षा में गोपाङ्गनाओं को एक-एक

पल युग के समान हो रहा था, भगवान् क्यों उपेक्षा कर रहे थे ? इस समय भगवान् की उदासीनता देखकर मानो महाराज परीक्षित मन-ही-मन उनकी निन्दा कर रहे थे, इतने ही में श्रीशुकदेवजी कहने लगे—'भगवानपि ता रात्रीः' अर्थात् व्रजाङ्गनाएँ तो पहले ही से अभिलाषा रखती थीं, परन्तु आज भगवान् ने भी उनके साथ तादात्म्यापत्तिरूप रमण की इच्छा की ।

इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् की इच्छा भक्तों की भावना का अनुसरण किया करती है । कहा भी है—

यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि..........................।।

भावुक लोग अपनी-अपनी भावनामयी वुद्धि से उन अरूप, अनाम, अप्रमेय परब्रह्म का जिस-जिस रूप से ध्यान करते हैं वैसा ही रूप भगवान् को धारण करना पड़ता है । इसी से यद्यपि अभी तक भगवान् को रमण की इच्छा नहीं थी, तथापि गोपाङ्गनाओं की भावना के अधीन होने से उनमें भी रमणेच्छा का प्रादुर्भाव हो गया ।

किन्तु इन व्रजाङ्गनाओं का भाव तो 'तत्सुखसुखित्व' है । इन्हें अपने सुख की कुछ भी इच्छा नहीं है । संसार में तो अपने सुख की कामना से ही सबसे प्रीति की जाती है— 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' । तथापि गोपाङ्गनाओं का प्रेम तो लोक तथा वेद से अतीत ही है । अतः उन्हें अपने लिये भगवान् में प्रेम नहीं था, बल्कि वे तो भगवान् के ही

लिये प्राण धारण करती थीं। उनका तो यही लक्ष्य था कि हे मनमोहन! ये प्राण और देह आपके काम आते हैं इसी से हम इन्हें धारण करती हैं, नहीं तो हमें इनकी क्या आवश्यकता है? भगवान् का वियोग होने पर भी उन्होंने इसी लिये अपने शरीरादि को रख छोड़ा था कि वे भगवत्सेवा के साधन थे। उनका कहना था कि श्रीकृष्ण से वियुक्त होकर भी जो हम जीवित हैं इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे प्राण हमारे अधीन नहीं हैं। विधाता ने शरीर तो हमें दिया है; किन्तु प्राण श्रीकृष्ण के अधीन कर दिये हैं। उनका कथन था 'भवदायुषां नः' अर्थात् आप ही हमारी आयु हैं। अतः उनका जीवन भगवान् के सुख के लिये ही था। हाँ, उन्हें सुख पहुँचाने में उनको भी सुख मिलता ही था। जो पुरुष भगवान् को सुगन्धित माला और पुष्प समर्पण करता है उसे भी सान्निध्यवश उनका सुवास मिलता ही है। किन्तु यह सुखानुभव आनुषङ्गिक है, उसमें अपना सुख अभिमत नहीं होता।

इस प्रकार जैसे गोपाङ्गनाएँ भगवान् के ही सुख में सुख माननेवाली हैं वैसे ही भगवान् भी उन्हीं को सुख पहुँचाने के लिये सारी लीलाएँ करते हैं। यह तो उनका पारस्परिक भाव है किन्तु इसका पर्यवसान कहाँ होता है? इस सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह लोककल्याण के ही लिये है।

परन्तु यदि वे दोनों ही निरपेक्ष हैं, दोनों को ही आप्त-काम होने के कारण सुख की अपेक्षा नहीं है तो फिर यह लीला किसे सुख पहुँचाने के लिये है? ठीक है, सिद्धान्त भी यही है कि जब

भगवान् श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं के रूप में एक ही परमानन्द-सुधासिन्धु प्रस्फुटित हुआ है तो दोनों ही आप्तकाम हैं। इससे लीला का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। और लीला हुई ही थी, यहाँ यह भो प्रश्न हो सकता है कि यह विभाग ही क्यों हुआ? वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो इसका प्रयोजन कुछ भी नहीं है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह विभाग केवल आत्मसुख के ही लिये है।

किन्तु यह विभाग चाहे लोककल्याण के लिये हो और चाहे 'एकाकी न रेमे'—अकेला रममाण नहीं होता, इसलिये 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस प्रकार के सङ्कल्पपूर्वक हो, तथापि जब तक लोला, लीलानायक और दर्शकों को लीला में आसक्ति न हो तब तक तो लीला व्यर्थ ही है। माना कि यह त्रिविध विभाग एक में ही हुआ है तथापि यदि वह स्वस्वरूप में ही परितृप्त है तो लीला का कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता।

अतः यहाँ स्वस्वरूपभूत परमानन्द का आवरण अपेक्षित है। किन्तु उसका आवरण करने में कौन समर्थ है? माया आवरण कर सकती है, परन्तु भगवान् का आवरण करने में वह भी समर्थ नहीं है। अतः भगवान् के आश्रित रहनेवाली उनकी परमान्तरङ्गा मोहिनी शक्ति, जो कि अनिर्वचनीयता में अन्य समस्त शक्तियों के समान ही होने पर भी शुद्धता में उनसे उत्कृष्ट है, भगवान् के शुद्ध स्वरूप का आच्छादन करती है और उसी से स्वरूपभूत परमानन्द का आवरण हो जाने पर यह लीला और लीलापात्रों की कल्पना

हो जाती है। जिस प्रकार स्वेच्छा से भाँग पीकर अपने को मोहित किया जाता है उसी प्रकार भगवान् का यह व्यामोहन भी स्वेच्छा से होता है। यदि इस प्रकार अपने स्वरूपभूत परमानन्द का आवरण न होता तो अपने से भिन्न रमणसामग्री की अपेक्षा क्यों होती? अतः पहले आवरण हुआ, उससे अतृप्ति हुई और फिर लीला हुई। इसीसे उनकी चेष्टाएँ एक दूसरे की परितृप्ति करनेवाली हुईं। इसमें अन्योन्याश्रय-दोष भी नहीं है, रमण की भी व्यवस्था ठीक हो जाती है और 'अपि' शब्द का तात्पर्य भी बन जाता है।

इस श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है—'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान् ने भी रमण करने की इच्छा की। किसलिये? 'ताः वीक्ष्य'—अज्ञानिजनरूपा जो प्रजा है उसे देखकर उसका कल्याण करने के लिये। वह प्रजा कैसी है—'रात्रीः'—रात्रि के समान अज्ञानरूप तम से व्याप्त। ये सब प्रजाएँ अनादि हैं; अतः भगवान् का रमण उनके कल्याण के ही लिये है। इसके सिवा वह प्रजा 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' भी है—

शरदायां जाड्यमय्यां व्यवहारभूमौ उत्फुल्लमल्लिकास्विव सुखबुद्धयः।

अर्थात्—सुखदुःखमोहात्मिका जो जाड्यमयी व्यवहारभूमि, जो कि उत्फुल्लमल्लिका के समान आपात-रमणीय है उसमें सुखबुद्धि करनेवाली। तात्पर्य यह है कि दुःखमयी व्यवहारभूमि में सुखबुद्धि करनेवाली प्रजा को स्नेहार्द्र-दृष्टि से देखकर रमण की इच्छा की; क्योंकि अज्ञानी प्रजा की सुखदुःखमोहातीत परब्रह्म में स्थिति

होना अशक्य है। अतः जो प्राकृत लीलाएँ उनकी अभिरुचि के अनुकूल हैं, उनके कल्याण के लिये भगवान् ने उन्हीं के समान रमण करने की इच्छा की। इसलिये—

'अयोगमायामुपाश्रितः'—'अयोगेषु चित्तवृत्तिनिरोधादिनिःश्रेयस-साधनशून्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य'

अर्थात् योग—चित्तवृत्तिनिरोधादि निःश्रेयस के साधनों से शून्य जो प्रजा उस पर जो कृपा वही माया है। उसका आश्रय लेकर रमण करने का विचार किया। क्योंकि जो शुद्ध परब्रह्म अशेष-विशेषशून्य है उसका साक्षात्कार तो निरोधादि द्वारा ही किया जा सकता है।

इसलिये इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है—

'अयोगेषु सर्वथा अयोग्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य'—

—जो प्राणी अत्यन्त निकृष्ट कोटि के हैं उनके ऊपर जो कृपा उसका आश्रय लेकर रमण करने का विचार किया। भगवान् पतितपावन हैं, इसी से भावुक भक्त अपने को सर्वसाधनशून्य देखकर भी भगवत्कृपा के भरोसे निश्चिन्त रहते हैं।

हौं पतित, तुम पतितपावन दोउ बानक बने।

अतः यह भगवान् की लीला मानो अत्यन्त अयोग्य पुरुषों के ऊपर कृपा करने के ही लिये है; क्योंकि भगवान् के जो वात्सल्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि गुण हैं उनकी सफलता तो बिना पतितों के हो ही नहीं सकती। वस्तुतः उदारता और दीनवत्सलता ये सब तो इन्हीं अंशों को लेकर होते हैं कि स्वयं परमोत्कृष्ट होकर

भी अत्यन्त निम्न-कोटि के पुरुषों के साथ मिलकर उनके साथ पूर्ण आत्मीयता का बर्ताव करे। किन्तु निर्विशेष परब्रह्म या गोलोकवासी भगवान् के साथ ऐसे पतितों का सहवास कैसे हो सकता है? वहाँ उन निकृष्टातिनिकृष्ट पुरुषों के आत्मीय होकर भगवान् कैसे विहार कर सकते थे?

अथवा—

'अयोगेषु स्वस्मिन्नयुज्यमानेषु या माया कृपा तामुपाश्रितः'

—जिनकी मनोवृत्ति स्वप्न में भी भगवान् की ओर नहीं जाती ऐसे अपने में अयुक्त पुरुषों के प्रति जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की; क्योंकि यह लीला अत्यन्त साधन-शून्यों को भी अपनी ओर आकर्षित करने-वाली है। अतः भगवान् ने बहिर्मुख पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये ही यह लीला की थी। निर्विशेष भगवान् में तो प्राकृत पुरुषों की वृत्ति पहुँचनी अत्यन्त कठिन है; इसी से भगवान् ने यह लोकमनोभिरामा लीला की थी, जिससे विषयी और पशुप्राय जीवों का चित्त भी भगवान् की ओर लग जाय। अहो! भगवान् का यह खेल कैसा मनोमोहक था?

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरूणाम्।

उसे देखकर जो गतिमान् थे उनमें निस्पन्दता आ जाती थी और वृक्षों की रोमावली खड़ी हो जाती थी। अर्थात् चेतन पदार्थों में जड़ता आ जाती थी और जड़ों में चेतन की क्रिया होने लगती थी। अतः भगवान् ने बहिर्मुख पुरुषों को अपनी

ओर आकृष्ट करने के लिये ही यह अति अद्भुत मनोरम लीला की थी।

ऐसा कहा जाता है कि प्राणियों के पतन का जो प्रधान हेतु है वह भगवद्विमुखता ही है; तथा भगवदुन्मुखता ही सर्वानन्द का साधन है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

अर्थात्—जो पुरुष भगवान् से विमुख है, जो नामरूपक्रियात्मक प्रपञ्च में ही आसक्त है उसे ही भगवान् की माया से मोहित होने के कारण भगवद्विस्मृति हुआ करती है। स्वरूपविस्मृति के पश्चात् विभ्रम होता है, जो असङ्ग आत्मा में सङ्ग का, अकर्ता में कर्तृत्व का और एक में अनेकत्व की भ्रान्ति करा देता है। उस विभ्रम से द्वैतबुद्धि होती है, द्वैतबुद्धि से ही भय होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहियें कि अनन्यबुद्धि से उस पूर्ण परब्रह्म परमात्मा का ही भजन करे। इससे माया इस प्रकार भाग जाती है जैसे क्रुद्ध तपोधनों के सामने से वेश्या।

माया से ही स्वरूप की विस्मृति हुआ करती है और भगवदुन्मुख होने पर वह भाग जाती है तब स्वरूपसाक्षात्कार हो ही जाता है और फिर विभ्रम का उच्छेद हो जाने के कारण निर्भयता की प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवान् ने अज्ञानीरूपा प्रजा का उद्धार

करने के लिये ही यह मार्ग निकाला था, क्योंकि भगवान् की माया बड़ी प्रबल है, उससे वे ही बच सकते हैं जो एकमात्र भगवान् का ही आश्रय लेते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अतः भगवान् ने सर्वसाधनशून्य पामर प्राणियों पर कृपा करने के लिये ही यह लीला की थी, जिससे कि किसी भी प्रकार उनका चित्त भगवान् में लगे।

अथवा 'ताः' शब्द से मुमुक्षुरूपा प्रजा समझनी चाहिये। उस पर कृपा करने के लिये भगवान् ने रमण की इच्छा की। वह मुमुक्षुरूपा प्रजा कैसी है? 'रात्रीः'—'रा दाने' इस स्मृति के अनुसार दान करनेवाली अर्थात् दानोपलक्षित यज्ञादि कर्म करनेवाली। जैसा कि कहा है—'तमेतं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसा ब्रह्म विविदिषन्ति'। अथवा 'भगवति स्वरूपेण सह सर्वसमर्पयित्री' जो भगवान् में अपने स्वरूप के सहित सर्वस्व समर्पण करनेवाली है तथा जो 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' है।

'शरादिवत् द्यन्ति अवखण्डयन्ति उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासां ताः।'

अर्थात् उत्फुल्ल मल्लिकाओं के समान जो स्त्री-पुत्रादिरूप सांसारिक सुख हैं वे शरादि अस्त्र-शस्त्र के समान जिनका खण्डन करती हैं उन मुमुक्षुरूपा प्रजाओं को देखकर। इससे उन मुमुक्षुओं की पूर्ण योग्यता दिखाई गई है; क्योंकि पूर्ण मुमुक्षु तभी होता है जब

कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सांसारिक सुख भी उसे दुःखरूप दिखाई देने लगे। वास्तव में तो मुमुक्षुता होती ही उस समय है जब संसार भयानक दिखाई देने लगे। जिसे सांसारिक सुख शरादि के समान छेदन करनेवाले दिखलाई देते हैं वही मुमुक्षु हो सकता है। ऐसी प्रजाओं को देखकर—

'योगमायामुपाश्रितः—योगाय स्वेन सहासम्बन्धविच्छेदाय'

अपने साथ उनके असम्बन्ध का छेदन करने के लिये, अर्थात् अपने साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करने के लिये भगवान् ने रमण की इच्छा की, क्योंकि यहाँ केवल व्रजदेवियों के साथ ही क्रीड़ा नहीं करनी थी, वल्कि श्रुतियों का आवाहन करके उनका भी अपने में तात्पर्य दृढ़ करना था।

भगवान् की यह लीला ओषधिरूपा होगी। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषों के लिये यह श्रोत्रमनोभिरामा है वैसे ही मुमुक्षुओं के लिये यह भवौषधिरूपा है। अतः—

'ताः मुमुक्षुरूपाः प्रजाः वीक्ष्य, ताश्च श्रुतीः आहूय, ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे'—

उस मुमुक्षुरूपा प्रजा को देखकर और उन श्रुतियों का भी आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। अर्थात् मुमुक्षुओं को संसार से निर्विण्ण देखकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। मुमुक्षु लोग संसार से निर्विण्ण क्यों हैं? इसका हेतु यह है—वे विशुद्धान्तःकरण हैं, इसलिये विवेकसम्पन्न हैं और विवेकी के लिये सब कुछ दुःखरूप ही है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनाम्' उनके लिये

संसार के सारे सुख भाले और बर्छियों के समान हो जाते हैं। उनके उद्धार का उपाय क्या है? यही कि श्रुतियों का परम तात्पर्य एकमात्र परब्रह्म में ही निश्चित हो। किन्तु पहले यह होता नहीं, अतः भगवान् ने उनका आह्वान कर अपने में उनका तात्पर्य दृढ़ किया। यहाँ जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजाङ्गनाओं का आवांहन किया था उसी प्रकार व्यासरूप से उन्होंने ब्रह्मसूत्ररूप वेणुनाद द्वारा समस्त श्रुतियों का आवाहन करके उनका परम तात्पर्य परब्रह्म में निश्चित किया है।

गिरा अर्थ, जल बीचि जिमि, कहियत भिन्न न भिन्न।

यहाँ 'अर्थ' तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा है और 'शब्द' ये श्रुतियाँ हैं। अतः श्रुतिय तरङ्ग हैं और ब्रह्म समुद्र है। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ तरङ्ग हैं और भगवान् श्रीकृष्ण समुद्र हैं। इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध है। उन श्रुतियों का आवाहन कर, अर्थात् अपने में उनका तात्पर्य निश्चय कर, भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

यहाँ भावुकों की दृष्टि से एक और ही अर्थ होता है—

'योगमायामुपाश्रितः'—यः 'अगमायाम् उपाश्रितः'—'न गच्छतीति अगा, अगा चासौ मा अगमा'।

—अर्थात् नित्यश्लिष्टा वृषभानुनन्दिनी। वह कौन है? —यामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे, अर्थात् जिसका आश्रय लेकर भगवान् ने भी रमण करने की इच्छा की। क्यों इच्छा की? शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को देखकर

अथवा यों समझो—

'योगमायामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे—योगाय अघटित-घटनाय या माया इति योगमाया तामुपाश्रितः।'

अर्थात् जो माया अघटितघटनापटीयसी है, उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। यहाँ भगवान् को अपना ऐश्वर्य छिपाना था, क्योंकि यह मधुर लीला है, अतः इसमें ऐश्वर्यभाव रस का विघातक है। इसमें प्राकृतांश ही अधिक उपयुक्त है। इसीसे भगवान् की जिन लीलाओं में प्राकृतांश विशेष है उन्हीं का महत्त्व भी अधिक है, क्योंकि प्राकृत व्यापारों में व्यासक्त प्राणियों को आकर्षित करने में प्राकृतभाव अधिक उपयोगी है।

अतः 'योगमायामुपाश्रितः—योगमायां उप सामीप्येन आश्रितः, न तु साक्षात्'—सामीप्यवश योगमाया का आश्रय लेकर, साक्षात्रूप से नहीं, जिस प्रकार स्वाभाविक होने के कारण सूर्य भगवान् अपनी किरणों का आश्रय लेते हैं। उन्हें किरणें धारण नहीं करनी पड़तीं, बल्कि जहाँ वे रहते हैं वहाँ उनकी किरणें भी रहती ही हैं, इसी प्रकार भगवान् की योगमाया भी उनके साथ रहती ही है। अतः अघटनघटन में समर्थ जो योगमाया, उसका सर्वथा समाश्रयण न करके भगवान् ने प्राकृतवत् लीलाएँ कीं, जिससे प्राकृत प्राणियों का विशेष आकर्षण हो सके।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् की योगमाया सर्वदा उनके साथ रहती है, इसलिये हठात् अपना काम कर देती है। जब

मिट्टी खाने के उपरान्त भगवान् ने श्री यशोदा जी से मुख देखने को कहा तो उन्होंने यह नहीं समझा कि मैया सचमुच मेरा मुख देखेगी। वे यही समझते थे कि ऐसा कहने से मुझे निर्दोष समझकर वह छोड़ देगी। परन्तु जब उसने कहा 'दिखला' तो उनका मुख फैल गया।* भगवान् ने मुख फैलाया नहीं बल्कि जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल खिल जाता है उसी प्रकार माता के कोपरूप सूर्य का ताप पाकर भगवान् का मुखकमल खुल गया। उस समय योगमाया ने देखा कि मुख में मिट्टी देखकर माता हमारे प्रभु को मारेगी; इसीसे उसने उनके मुख में सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया। इसी प्रकार इस लीला में भी योगमाया कई ऐश्वर्यभाव दिखावेगी।

अथवा भगवान् ने उन रात्रियों को देखकर 'योगमाया-मुपाश्रितः—योगाय संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां योगमायां वंशीम्'—ब्रजाङ्गनाओं के योग—संश्लेष के लिये माय† (शब्द) जिसमें रहते हैं उस वंशी का नाम योगमाया है; उसका आश्रय करके भगवान् ने ब्रजाङ्गनाओं को बुलाकर रमण की इच्छा की। यह उचित भी है, क्योंकि जिस प्रकार गिरिराज का आश्रय लेकर भगवान् ने इन्द्र के दर्प का दमन किया था उसी प्रकार कन्दर्पदर्प-

---

* यहाँ अकर्मक 'व्यादत्त' क्रिया का प्रयोग किया गया है।

(देखिये भा० १०।८।३६)

† मीयते वक्ता अनेन इति मायः शब्दः।

दमन इसके द्वारा होगा। वंशी क्या है? यह महारुद्र है और कामदेव के दर्प का दमन महारुद्र ही कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपने संसर्गद्वारा स्वस्वरूप बना लेने पर ही किसी के साथ रमण हो सकता है। वस्तुतः भगवद्व्यतिरिक्त तो कोई पदार्थ है नहीं। भगवद्रूप में ही भिन्नता की प्रतीति हुआ करती है; और भगवत्सम्बन्ध से ही उसकी निवृत्ति होकर भगवद्रूपता की प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध क्या है? व्यवधान की निवृत्ति। व्यवधान के निवृत्त होते ही भगवान् से अभेद हो सकता है। अतः भगवान् ने वंशीध्वनि द्वारा अपनी अधरसुधा का सञ्चार करके समस्त वृन्दारण्य और तद्वर्ती गुल्म, लता एवं गोपाङ्गनादि को स्वस्वरूप बना दिया। इसी से 'योगाय भगवत्संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां वंशीं उपाश्रितः'—योग अर्थात् भगवत्संश्लेष के लिये जिसमें माय अर्थात् शब्द है उस वंशी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। मानों उस वंशी की उपासना करके ही भगवान् व्रजाङ्गनाओं के मनों को आकर्षित करने में समर्थ हुए।

अपि शब्द का आशय यही है कि यद्यपि यह था तो अनुचित, तथापि भगवान् के सम्बन्ध मात्र से उचित ही हो गया, क्योंकि साधारणतया सभी कन्याओं का प्राथमिक सम्बन्ध गन्धर्व आदि के साथ होता है। चन्द्रमा तो वैसे सभी के मन के अधिष्ठाता हैं। मन की आवश्यकता सभी सम्भोगों में है और मन को सर्वत्र ही अपने अधिष्ठातृ-देव चन्द्रमा की अपेक्षा है। अतः चन्द्रमा सर्वभोक्ता हैं।

परन्तु व्यष्टि अभिमान ही पुण्य-पाप का मूल है, चन्द्रमा सभी के मन के अधिष्ठाता हैं अतः उनमें व्यष्टि अभिमान नहीं है। इसी वास्ते उन्हें पुण्य-पाप का संसर्ग नहीं है। जैसे चन्द्रमा सबके मन का अधिष्ठाता है, वैसे ही भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं। जैसे सभी सम्भोगों में मन की अपेक्षा है उससे भी अधिक सभी सम्भोगों में अन्तरात्मा की अपेक्षा है, क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल शब्दस्पर्शादि विषय तथा सुख-दुःखादि का साक्षात्कार अन्तरात्मा के ही अधीन है। शब्दादि-वषयों के आकार से आकारित वृत्तिमान् अन्तःकरण, आत्मचैतन्य-ज्योति से देदीप्यमान हो करके ही शब्दादि-विषय का प्रकाशन करता है। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं, यह बात भी भागवत के निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः—।
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सकलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

जब कि प्राणिमात्र के लिये जल, तेज तथा वायु का सर्वाङ्गीण स्पर्श अनिवार्य है तब ऐसी कौन सी पतिव्रता है जिसके सर्वाङ्ग का स्पर्श वायु, आकाश आदि से न होता हो। फिर भगवान् श्रीकृष्ण तो आकाश और अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्ततत्त्व इन सभी के अधिष्ठान और इन सभी से आन्तर हैं। इस बात का भी

वहीं उल्लेख है जहाँ श्रीकृष्ण की चीरहरण और रासक्रीड़ा प्रभृति लीलाओं का वर्णन है।

"सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु निरूप्यताम्॥"

समस्त वस्तुओं का याथात्म्य उनके कारण में ही पर्यवसित है। उस कारण का भी पर्यवसान जहाँ है वही कार्यकारणातीत सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं। फिर उनसे भिन्न कौन सा तत्त्व है जिसका निरूपण किया जाय? अतः सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण के साथ भेद ही क्या हो सकता है? अतः उनके सन्निधान में निष्कपट और निरावरण होने से ही जीव का परम कल्याण होता है।

भगवान् की अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमाया श्री, भू और लीलारूपा है। इनमें से प्रधानतया लीलाशक्ति का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। पहले जहाँ मुमुक्षुरूपा प्रजा का उल्लेख किया है वहाँ 'योगमायामुपाश्रितः' इस पद का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—'योगाय स्वस्मिन् योजनाय या माया कृपा' अर्थात् योग—अपने में जोड़ने के लिये जो माया (कृपा); अथवा 'योगाय स्वलीलासुखे योजनाय या माया कृपा'—योग अर्थात् अपने लीलासुख में युक्त करने के लिये जो कृपा; अथवा 'यः भगवान् अगमायामुपाश्रितः'—जो भगवान् अगमा में उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की इच्छा की। अगमा क्या है? 'न गच्छति चलति इति अगः कूटस्थं ब्रह्म, तस्य मा प्रमा' अर्थात् जो गमन नहीं करता उस

कूटस्थ ब्रह्म का नाम अग है, उसकी प्रमा यानी अपरोक्ष साक्षात्कार ही अगमा है; 'तस्यां अगमायां तत्सम्पादने मुमुक्षुभिरुपाश्रितः यः सः'—उस अगमा में अर्थात् उसका सम्पादन करने में जो मुमुक्षुओं द्वारा आश्रय किया जाता है, उस परब्रह्म ने मुमुक्षुओं पर अनुग्रह करने के लिये ही रमण करने को मन किया, क्योंकि सच्चिदानन्द रूप श्रीहरि का अपरोक्ष साक्षात्कार उनकी लीला-कथाओं के अनुशीलन से ही होता है।

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥

भाव यह है कि—हे देव! कोई तो आपके कथामृत-पान से बढ़ी हुई भक्ति के कारण विशुद्धान्तःकरण होकर, वैराग्य ही जिसका सार है ऐसा बोध प्राप्त करके आपके निर्द्वन्द्व धाम को प्राप्त होते हैं और कोई आत्मसंयम के द्वारा समाधि लाभकर उससे प्रबल प्रकृति को जीतकर परमपुरुष आपको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन्हें श्रम होता है और आपकी सेवा में कोई कष्ट नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान् ने यह लीला मुमुक्षुओं के कल्याण के ही लिये की थी, जिससे वे उस लीला-कथा का पान करते हुए भगवान् को प्राप्त कर सकें।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पद समझा जाय तो 'न युज्यते उपाधिसङ्गं न प्राप्नोति इति अयोगः तस्य मा प्रमा तस्या-मुपाश्रितः' अर्थात् जो उपाधिसंसर्ग को प्राप्त नहीं होता उसकी प्रमा अर्थात् अपरोक्षानुभव के लिये जो मुमुक्षुओं द्वारा आश्रित है। अथवा 'योगः उपाध्यध्यासः, तस्य अभावः अपवादः अयोगः'— उपाधिजनित अध्यास के अभाव का ही नाम अयोग है, उसकी जो प्रमा है उसका नाम अयोगमा है, उस अयोगमा के लिये जो भगवान् मुमुक्षुओं द्वारा उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की इच्छा की, क्योंकि यह नियम है कि उपाधिजनित अध्यास का निराकरण सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्म के ज्ञान से ही होता है। यह ज्ञान कब होता है? इस विषय में भगवान् स्वयं कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

अर्थात् मेरी पवित्र गाथाओं के श्रवण और कीर्तन द्वारा जैसे-जैसे यह अन्तरात्मा स्वच्छ होता जाता है वैसे-वैसे ही साधक सूक्ष्म-वस्तु का साक्षात्कार करता जाता है, जिस प्रकार कि अञ्जनयुक्त नेत्र।

अतः उपाध्यध्यास की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवल्लीलाओं का अभ्यास ही है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

स त्वं न चेद्धातरिदं निजं वपु-
विंज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।

हे भगवन्! यदि आप यह लीलामय विग्रह धारण न करें तो अज्ञान का भेदन करनेवाले विज्ञान की सफाई ही हो जाय। यदि कोई कहे कि हम अनुमान कर लेंगे, क्योंकि चक्षु, श्रोत्र एवं त्वचा आदि इन्द्रियों द्वारा जो विषयों का ग्रहण हुआ करता है वह आत्मतत्त्व के अस्तित्व का द्योतक है। जिस प्रकार शीतलता और उष्णता से रहित लोहपिण्ड में दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व देखकर वहाँ दाहकत्व-प्रकाशकत्व समर्पण करनेवाले नित्य-दाहकत्व-प्रकाशकत्वगुण-विशिष्ट अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के विषयप्रकाशनसामर्थ्य से चिन्मय आत्मा का अनुमान होता है। साथ ही जिस प्रकार यह देखा जाता है कि लोहपिण्डादि में जो दाहकत्व-प्रकाशकत्व है वह सातिशय है और अग्नि में निरतिशय, उसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियादि का प्रकाशक आत्मा निरतिशय-ज्ञानमय है। परन्तु यह केवल अनुमान ही तो है, इसे साक्षात्कार नहीं कह सकते। अतः यदि साक्षात्कार करना है तो भगवान् की लीला आदि का श्रवण करना चाहिये। इससे प्रेम की अभिवृद्धि होगी। प्रेम से चित्त में

शिथिलता आवेगी, इससे वह निर्वृत्तिक होगा और निर्वृत्तिक चित्त पर ही परब्रह्म का प्रकाश होगा। अतः भगवत्साक्षात्कार के लिये भगवल्लीलाओं का श्रवण-कीर्तन अनिवार्य ही है। इसी से भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अब 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' इस पर कुछ और विचार करते हैं। 'रात्रीः परमरसमर्पयित्रीः' अर्थात् परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं को परमरस समर्पण करनेवाली उन रात्रियों को देखकर। यहाँ 'ताः' शब्द विलक्षणता का द्योतक है। उनमें मुख्य विलक्षणता तो यही थी कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण के विप्रयोग में गोपाङ्गनाओं को एक-एक पल युगों के समान बीतता था उन्हींने इन रात्रियों को अपने सहवास-सौभाग्य के लिये नियुक्त किया था। व्रजाङ्गनाएँ संसार में सबसे बड़ा सौभाग्य क्या समझती थीं? वे कहती हैं—

अक्षिण्वतां फलमिदं न परं विदाम
सख्यः पशूननु विवेशयतो वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥

यहाँ व्रजाङ्गनाओं ने संसार भर में सबसे बड़ा फल यही बताया है कि जिन्हें विधाता ने नेत्र दिये हैं, वे अपने समवयस्क बालकों के साथ पशुओं को गोष्ठ में प्रवेश कराते हुए दोनों नन्दकुमारों के अनुरक्त-कटाक्षमोक्षमण्डित वंशी-विभूषित मुखारविन्द का पान करें इसके सिवा यदि कोई और भी फल हो सकता हो, तो हम उसे

जानती नहीं। स्मरण रहे, ये श्रुतियाँ हैं--साक्षात् श्रुतिदेवियाँ हैं, यदि ये ही नहीं जानतीं तो और कौन जानेगा?

इस श्लोक में 'व्रजेशसुतयोः' यह तो द्विवचन है किन्तु 'वक्त्रम्' एकवचन है। इसका क्या रहस्य है? इसका तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाओं का अभिमत तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण का ही मुख-चन्द्र है; परन्तु परकीया थीं न, इसलिये अपना भाव छिपाने के लिये द्विवचन दिया। किन्तु जब तक वे प्रेमातिशय से विभोर न हुईं तब तक तो भावगोपन कर लिया, पर प्रेमातिरेक होने पर वे अपने को न सम्हाल सकीं और उनके मुख से 'वक्त्रम्'... 'अनुवेणु-जुष्टम्' निकल ही गया।

उस वेणुजुष्ट मुख का विशेषण 'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्' दिया है। यह उसकी मधुरता और लावण्य सूचित करने के लिये है। अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र पर अनुरागिणी गोपाङ्गनाओं के कटाक्षबाण छूटते थे; अथवा जिस मुख में अनुरागिणी व्रजाङ्गनाओं के लिये कटाक्षमोक्ष होता था। अतः भगवान् का रसस्वरूप मुख ही व्रजबालाओं का ध्येय है, इन्हें भगवत्सम्बन्ध ही परम अभिलषित था। इसी के लिये वे दूसरों से ईर्ष्या भी करती थीं। एक जगह वे कहती हैं—

धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

उन्हें इस समय यह भी ध्यान नहीं था कि ये हरिणियाँ चेतन हैं या अचेतन और इन्हें वस्तुतः भगवान् के प्रति अनुराग है या नहीं। इसीसे वे कहती हैं कि इन हरिणियों का जो प्रेमरसप्लुत नेत्रों से निरीक्षण है उसके द्वारा वे मानों भगवान् की पूजा ही करती हैं। यही नहीं, वे वहाँ की भीलनियों के सौभाग्य की भी सराहना करती हैं—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

वृन्दारण्य के जो तृण-गुल्म-लतादि हैं, उनसे भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का संयोग होने के कारण उनमें जो भगवान् के पादपद्मों में लगा हुआ प्रियतमाओं का कुचकुङ्कुम लग गया है, उसके सौगन्ध्य से विमुग्ध होकर कामज्वर से सन्तप्त हुई भीलनियाँ उस कुङ्कुम को अपने हृदय और मुख में लगाकर उस ताप को शान्त करती हैं। वे बड़ी भाग्यशीला हैं।

उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ अनुरागिणी व्रजाङ्गनाओं का संयोग करानेवाली इन रात्रियों की विलक्षणता का वर्णन कौन कर सकता है? जब से भगवान् ने कहा था कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' तभी से गोपाङ्गनाओं की दृष्टि इन्हीं रात्रियों पर लगी रहती थी। इन रात्रियों का सर्वत्र ताः इमाः आदि सर्वनामों से ही वर्णन किया गया है। एक बार भगवान् ने भी उद्धवजी से कहा था—

२१

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥

हे उद्धव ! उन व्रजाङ्गनाओं ने अपने परम प्रियतम मेरे साथ वे अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ आधे क्षण के समान बिता दी थीं। जिस प्रकार समाधिस्थ योगियों को अत्यन्त दीर्घ काल भी कुछ मालूम नहीं होता, उसी प्रकार मेरे साथ उन्हें वे रात्रियाँ कुछ भी न जान पड़ीं। किन्तु अब मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये कल्प के समान हो जाती थीं।

यहाँ 'मया' शब्द में भी विलक्षणता है। इससे अस्मत्प्रत्यय-गोचर शुद्ध परब्रह्म भी ग्रहण किया जा सकता है। उसके साथ योग होने पर भी समय कुछ मालूम नहीं होता। अतः इससे पूर्ण योगीन्द्र भी ग्रहण किये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ अस्मत्-प्रत्ययगोचर शुद्ध ब्रह्म अभिप्रेत नहीं है बल्कि वृन्दावन-गोचर परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही अभिप्रेत हैं। फैली हुई वस्तु यदि इकट्ठी हो जाय तो उसमें कुछ विलक्षणता हो ही जाती है। अतः जो व्यापक पूर्णतत्त्व श्यामसुन्दर-रूप में वृन्दारण्य में गोचर हुआ उसमें विलक्षणता होनी ही चाहिये।

अथवा 'वृन्दावने गाः चारयतीति वृन्दावनगोचरः'—वृन्दावन में गौएँ चराने के कारण ही भगवान् वृन्दावन-गोचर हैं। जो परब्रह्म निर्विशेष है वही यदि वृन्दावन में गौ चरानेवाला हो जाय तो

उसके प्रति प्रेमातिशय होना ही चाहिये; क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वारसिकी प्रीति का विषय नहीं हो सकता। उसका विषय तो यह वृन्दावनस्थ कृष्ण ही हो सकता है। स्वारसिकी प्रीति प्रायः सजातीयों में ही होती है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम तो मनुष्यरूप में अभिव्यक्त हुए; फिर गोप होने के कारण उनके सजातीय ही थे। इसलिये ऐश्वर्यादिशून्य होने के कारण उनके प्रति गोपों का निःसंकोच भाव रहता था। इसी से गोपालरूप से प्रकट हुए भगवान् के प्रति उन गोपालिकाओं की निःशङ्क प्रीति हुई।

अथवा 'वृन्दावने वृन्दावनवर्तिनां गाः इन्द्रियाणि चारयति स्वस्मिन् प्रवर्तयति इति वृन्दावनगोचरः'—

—वे वृन्दावनवर्ती गोप, बालक, गोपाङ्गना, वत्स, पशु, पक्षी और सरीसृप सभी की इन्द्रियों को अपने प्रति प्रवृत्त करते हैं, इसलिये वृन्दावनगोचर हैं। अहो! जो भगवान् ब्रह्मादि की भी इन्द्रियों के अगोचर हैं, जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रों की इन्द्रियों के भी विषय नहीं होते वे ही अपनी असीम कृपा से वृन्दावनवर्ती जीवों की समस्त इन्द्रियों के विषय हो रहे हैं। इसी से कहा है—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यङ्गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

उन परम पुण्यवान् व्रजवासियों ने उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ क्रीड़ाएँ कीं जो सत्पुरुषों के लिये साक्षात् ब्रह्मानन्दमूर्ति,

भावुक भक्तों के परम इष्टदेव और मायामोहित पुरुषों के लिये नरबालक थे। भावुकों का तो ऐसा कथन है कि जो ब्रह्म औपनिषदों के लिये केवल वृत्तिव्याप्य है, बड़े-बड़े भक्तों की भी केवल भावना का ही विषय है और जो अज्ञानियों के लिये केवल एक बालकमात्र है, वही जिन्हें खेलने को मिल गया उन ब्रजवासियों के सौभाग्य की क्या महिमा कही जाय ?

ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितम् ।

उन गँवार ग्वालबालों के साथ वे ग्रामीणों की-सी ही चेष्टाएँ किया करते थे। यह उनके प्रेमातिशय का ही फल था।

यदि कहो कि ऐसा हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि वचनों के अनुसार ब्रह्म तो समस्त इन्द्रियों का अविषय है। वह वृन्दावनवासियों की इन्द्रियों का विषय कैसे हो सकता है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार वह समस्त इन्द्रियों का अविषय होने पर भी 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुति के अनुसार सूक्ष्म बुद्धि का विषय तो है ही। इसी प्रकार वह प्रेमदृष्टि का भी विषय हो ही सकता है। जिस प्रकार 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुति को देखकर आप यह कल्पना करते हैं कि वह संस्कृत बुद्धि का ही विषय होता है, असंस्कृत बुद्धि का विषय नहीं होता, उसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि वह प्रेमदृष्टि का विषय है; क्योंकि इस सम्बन्ध में ये वाक्य प्रमाण हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

... ...

नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः ।

यदि कहो कि नहीं, मन से ब्रह्म नहीं देखा जा सकता। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस वाक्य का अर्थ केवल इतना ही है कि महावाक्य के श्रवण से ब्रह्म का आवरण निवृत्त होता है; फिर तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म का स्वतः ही स्फुरण हो जायगा। तो हम भी यही कह देंगे कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, प्रेमदृष्टि से केवल उसका आवरण निवृत्त हो जाता है। अब यदि तुम्हारा ऐसा विचार हो कि इन्द्रियगोचरत्वरूप हेतु के कारण ब्रह्म मिथ्या है तो ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों की अविषयता तो परमाणुओं में भी है, तथापि वे मिथ्या नहीं माने गये हैं। अतः इन्द्रियगोचरता-रूप हेतु मिथ्यात्व का साधक नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण के सहवास के कारण ही व्रजा-ङ्गनाओं ने अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ क्षणार्ध के समान बिता दी थीं और अब उनके बिना ही उन्हें साधारण रात्रियाँ भी कल्प के समान हो रही हैं। अतः जिन रात्रियों ने उन्हें इतना सुख पहुँचाया वे अवश्य विलक्षण ही थीं।

इसका एक दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। महाराज परी-क्षित को एक बड़ा सन्देह था। उनके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग था कि भगवान् तो बड़े ही भक्तवत्सल हैं, उन्होंने सदा ही

भक्तों के ऊपर बड़ा अनुग्रह प्रदर्शित किया है; नन्द, उपनन्द आदि वृद्ध गोपों को तो उन्होंने अपनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ दिखाकर परमानन्द प्रदान किया, तथा उन्हें ब्रह्महृद और महावैकुण्ठ का भी दर्शन कराया; परन्तु जो गोपाङ्गनाएँ अनेकों जन्मों से उनकी मधुरभाव से उपासना कर रही थीं, जिनमें अन्यपरा श्रुतियाँ, ऋषिचरी और देवकन्या आदि साधनसिद्धा व्रजाङ्गनाएँ सम्मिलित हैं, यहाँ तक कि उनमें से अनेकों ने तो भगवत्संस्पर्श की कामना से ललिता-विशाखा आदि यूथेश्वरियों की ही उपासना की थी—उन सब की ओर से न जाने भगवान् क्यों उदासीन थे ? उनकी मनोकामना भी तो पूर्ण होनी ही चाहिये थी। भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर गोपाङ्गनाओं की मनोकामना कैसे पूर्ण हो ? गोपाङ्गनाओं की तो यह अभिलाषा बहुत समय से थी किन्तु जब तक भगवान् को रमणाभिलाषा न हो तब तक उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है ? परीक्षित को यह सन्देह हो ही रहा था कि श्रीशुकदेवजी बोल उठे—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

तात्पर्य यह है कि 'भगवानपि उपाश्रितः उपासितः मायां वीक्ष्य ता रात्रीश्चक्रे'—उनके द्वारा इस जन्म और पूर्वजन्मों में उपासित हुए भगवान् ने भी माया की ओर देखकर वे विलक्षण रात्रियाँ बनाईं।

इन मुनिरूपा और श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं के भी कई भेद हैं। श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं में जो अनन्यपरा हैं उनमें भी मानिनी और मुग्धा ये दो भेद हैं। जो श्रुतियाँ निषेधमुख से परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं वे मानिनी हैं; जैसे 'नेति नेति', 'अशब्द-मस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि। भावुकों ने इसके बड़े विलक्षण तात्पर्य व्यक्त किये हैं। जिस प्रकार मानिनी नायिका ऊपर से अनभिलाष दिखलाते हुए भी भीतर से सर्वथा नायक का ही अनुसरण करती है उसी प्रकार ये निषेधमुख श्रुतियाँ भी 'न-न' करके ही अपने परम ध्येय परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। 'नेति-नेति वचनामृत बोलति' तथा मुग्धा साक्षात् रूप से परब्रह्म का निरूपण करती हैं; जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यत्साक्षा-दपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादि।

इनके सिवा जो अन्यपरा श्रुतियाँ, मुनिचरी और देव-कन्यारूपा व्रजाङ्गनाएँ हैं उनमें कोई तो सख्यभाववाली हैं और कोई कान्तभाववाली हैं। इनमें सख्यभाववती परिपक्वा हैं और कान्तभाववती अपरिपक्वा हैं। सख्यभाववालियों का नित्यनिकुञ्ज लीला में भी प्रवेश है, क्योंकि उनका व्रत तत्सुखसुखित्व है तथा जो कान्तभाववती हैं वे भी ललितादि की उपासना करके सख्यभाववती हो जाती हैं; जैसा कि कहा है—

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥

अर्थात् जो मेरे में जारभाव रखनेवाली और मेरे स्वरूप को नहीं जानती थीं वे भी यूथेश्वरी आदि के सङ्ग से मुक्त परब्रह्म को प्राप्त हो गईं।

इसका यह भी तात्पर्य है कि जो पहले कान्तभाववाली थीं वे पीछे सख्यभाववाली हो गईं। तब इसी श्लोक का दूसरे प्रकार से अर्थ किया जायगा। 'मम इमाः मत्काः'—जो मेरी ममता की आस्पद हैं; मैं स्वयं बड़े-बड़े योगीन्द्रों की ममता का आस्पद हूँ और उनमें मेरी भी ममता है। और अबला हैं; 'बलं आत्मनिष्ठा-दार्ढ्यं तच्छून्याः' अर्थात् आत्मनिष्ठा की परिपक्वता से रहित हैं; और मेरी प्राप्ति आत्मनिष्ठों को ही होती है, क्योंकि श्रुति कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। इसी से यह भी कहा है—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से श्रुतियों का परम तात्पर्य ब्रह्म में निश्चित कर फिर बाल्य से—बालभाव से यानी संशय-विपर्यय-रहित होकर स्थित हो। इस प्रकार जो मदीया होने पर भी मेरे में पूर्णतया परिनिष्ठिता नहीं हैं अथवा मेरे प्रति पूर्ण आत्मीयता का भाव नहीं रखतीं। और कैसी हैं? 'अस्वरूपविदः' अर्थात् मैं शुद्ध-बुद्ध-परब्रह्म हूँ ऐसा नहीं जानतीं अथवा जिन्हें मेरी परम प्रेमास्पदता। का ज्ञान नहीं है; क्योंकि भगवान् के साथ प्रेम सम्बन्ध हो जाने पर तो भक्त उन पर अपना अधिकार समझने लगता है; तब तो भक्तवर बिल्वमङ्गल की तरह वह भी कहने लगता है—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

फिर तो विवश हो जाने के कारण उसके हृदय से हरि कभी हटते ही नहीं ।

विसृजति न यस्य हृदयं हरिरित्यवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

जिस प्रकार पिघली हुई लाख में यदि हल्दी मिला दी जाय तो फिर उन दोनों का पार्थक्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्त के द्रवीभूत मन से जब भगवान् के स्वरूप का तादात्म्य हो जाता है तो उनका कभी विप्रयोग नहीं होता । फिर भक्तहृदय भगवान् को नहीं भूल सकता और भगवान् भक्त के हृदय को नहीं छोड़ सकते । उन गोपाङ्गनाओं का भाव इतना प्रौढ़ नहीं हुआ था; इसी से वे अबला और अस्वरूपविद् थीं; किन्तु उन्होंने भी 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः'--मुक्त परब्रह्म को प्राप्त कर लिया । कौन ब्रह्म ? 'परमम्'--परा उत्कृष्टतमा अभिमता मा श्रीराधा यस्य तम् । अर्थात् जिसको पराशक्ति मा* --श्रीराधिकाजी ही अभिमत हैं उस परम ब्रह्म को प्राप्त कर लिया । यह अर्थ सख्यभाववती गोपाङ्गनाओं के लिये अनुकूल ही है, क्योंकि श्रीवृषभानुसुता स्वाधीनभर्तृका होने के कारण मुख्य नायिका हैं; अतः वे ही भगवान् की परम-प्रेयसी हैं । शेष सब सखियाँ कान्तभावशून्य सख्यभाववाली हैं; इसलिये वे उन सबकी भी सेव्य हैं ।

---

* मीयते सेव्यते प्राप्यते ज्ञायते योगीन्द्रमुनीन्द्रैर्वेदैश्च या सा मा ।

वह परब्रह्म कैसा है ? 'मा रमणम्—मायां रमणं यस्य' अर्थात् जिसका ब्रह्माकार-प्रमा अथवा श्रीवृषभानुनन्दिनी में रमण है; और कैसा है 'जारम्' अर्थात् जो जारबुद्धि से वेद्यमात्र है, वस्तुतः जार नहीं; क्योंकि परमात्मा है। अथवा 'जरयति कामवासनाम् इति जारम्' कामवासना को जीर्ण कर देता है इसलिये ब्रह्म जार है। ऐसे मुग्ध परब्रह्म को 'ताः शतसहस्रशः संगात्प्रापुः'—उन सैकड़ों-हजारों गोपाङ्गनाओं ने (ललितादि के) सङ्ग से प्राप्त कर लिया। अर्थात् पहले वे कान्तभाववाली थीं किन्तु इनके सहवास से सख्य-भाववाली हो गईं।

'ताः' शब्द विलक्षणता का द्योतक है—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। उन रात्रियों की विलक्षणता का यद्यपि पहले भी वर्णन किया जा चुका है तथापि यहाँ हम फिर उनकी कुछ विलक्षणताओं का विचार करते हैं। उनमें एक तो यह बहुत बड़ी विलक्षणता थी कि अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियों का एक ही समय में निर्माण हुआ और वे सब की सब पूर्णचन्द्रसम्पन्ना थीं। यद्यपि दक्ष प्रजापति के शाप के कारण चन्द्रमा की पूर्णता स्थायी नहीं है तथापि यहाँ भगवान् ने जो रात्रियाँ बनाईं वे सभी पूर्णचन्द्रसमलङ्कृता थीं। साथ ही एक विशेषता और भी थी। अन्य रात्रियों में चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित होकर जब मध्याकाश में पहुँच जाता है तो फिर वह जैसे-जैसे पश्चिम की ओर जाता है वैसे-वैसे ही उसकी ज्योति क्षीण होने लगती है, परन्तु इन रात्रियों में चन्द्रमा की गति केवल मध्याकाश पर्यन्त ही थी। इसके सिवा एक

विचित्रता यह भी थी कि रात्रियों का अनुभव केवल व्रजाङ्गनाओं को ही हुआ था। और सबके लिये तो वह एक प्राकृत रात्रि ही थी। यदि सब को ऐसा ही अनुभव होता तो इतने समय तक पुत्रप्राणा यशोदा और स्नेहमूर्ति नन्दबाबा किस प्रकार अपने लाड़ले लाल का पार्थक्य सहन कर सकते। यह नियम है कि जब किसी दरिद्र को कोई महामूल्य रत्न मिल जाता है तो वह पल-पल में उसकी सँभाल करता रहता है। इसी प्रकार माता यशोदा और नन्दबाबा भी अचिन्त्यानन्दघन परमानन्दमूर्ति भगवान् कृष्ण को पुत्ररूप से पाकर पल-पल में उनका मुखचन्द्र निहारने को लालायित रहते थे। और रात्रि में भी कई बार उठकर अपने लाल की देख-रेख करते थे। अतः उस रात्रि में ही वे इतनी देर कैसे सोते रह सकते थे? परन्तु वे जब उठे तभी उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने पास ही देखा। इस प्रकार, ये रात्रियाँ बड़ी ही विचित्र थीं। इन्हीं रात्रियों में अनन्तकोटि व्रजाङ्गनाओं की चिरकालीन कामना पूर्ण हुई थी।

इस सम्बन्ध में एक और भी विचार है। किन्हीं-किन्हीं का मत है कि उस रात्रि में शरद्, वसन्त और ग्रीष्म इन तीनों ऋतुओं की १८० रात्रियों का अनुभव हुआ था; और उनमें तीनों ही ऋतुओं की रमणोपयोगी सामग्रियाँ विद्यमान थीं। रात्रियों का नाम दोषा है। उनमें सदा ही कुछ-न-कुछ दोष रहते ही हैं, इसीसे रात्रि में बहुत-से भय भी रहते हैं किन्तु भगवान् ने उन सब दोषों की निवृत्ति के लिये ये निर्दोष रात्रियाँ बनाईं। उनमें

उपर्युक्त तीनों ऋतुओं की रात्रियों के समस्त गुण ते थे, किन्तु दोष कोई न था। कोई ऐसा भी कहते हैं कि तीन ही क्या, उनमें तो सभी ऋतुओं की रात्रियों का निवेश किया गया था, क्योंकि वहाँ सभी ऋतुओं में सेवन करने योग्य भोग्य-सामग्री देखी जाती है।

इसके सिवा 'उत्फुल्लमल्लिकाः' इस विशेषण का भी यही तात्पर्य है कि उन रात्रियों में मल्लिकोपलक्षित सभी पुष्प खिले हुए थे। बहुत-से पुष्प ऐसे हैं जो रात्रि में नहीं खिलते परन्तु वहाँ कुन्द और कुमुद साथ-साथ खिले हुए थे। जैसे—

'रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना।'

और—

'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।'

इससे सिद्ध क्या होता है? सो बतलाते हैं—वसन्त ऋतु कामदेव का मित्र है। वह अभी तक अपने मित्र के वियोग में सन्तप्त था। आज उसने सोचा कि जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सौन्दर्य-सुधा से आत्माराम मुनियों के भी मनों को मोहित करनेवाले हैं आज वे ही श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरियों के सौन्दर्यकण से मोहित हो रहे हैं, 'तद्वशो दारुयन्त्रवत्'। अतः सम्भव है, आज परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और व्रजसुन्दरियों के सम्प्रयोग में हमारे परम मित्र मनोज का उद्भव हो जाय अतः इनके स्वागत के लिये हमें भी खूब तैयारी करनी चाहिये। इसी से मानो मनोजमित्र ऋतुराज ने सारे पुष्पों को एक साथ विकसित कर दिया है। यद्यपि शरद्-ऋतु में पुष्पों का विकास रुक जाता

है, तथापि पुष्पविकास के विरोधी जाड्यमय शरद् ऋतु में भी मल्लिकादि उपलक्षित समस्त पुष्प खिल गये। अर्थात् उस जाड्यमय समय में भी पुष्पों का विकास ही नहीं हुआ प्रत्युत वे अत्यन्त विकसित हो उठे। किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि मल्लिकापुष्प शरद् ऋतु में फुल्लित होते हैं, वसन्त में उन्मुख होते हैं और ग्रीष्म में उत्फुल्ल हो जाते हैं; अतः यहाँ उत्फुल्लमल्लिका कहकर विरोधाभास द्योतित किया है। इससे सूचित होता है कि यहाँ शरद् में वसन्त ऋतु का निवेश किया था।

साथ ही वसन्त ने यह भी सोचा कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे मित्र कामदेव को परास्त करने का आयोजन कर रहे हैं। वह उनका प्रभाव जानता ही था। उसे यह मालूम था ही कि इन्होंने इन्द्र और ब्रह्मा का भी मान मर्दन कर दिया है। यही दशा कुबेर और वरुण की भी हुई थी। अब ये सब पर विजय प्राप्त करके हमारे मित्र को भी जीतना चाहते हैं; परन्तु वे भी किसी से कम नहीं हैं। वे भी ब्रह्मादि-विजय-संरूढदर्प हैं। अतः वसन्त ने सोचा कि यह बड़ा विकट युद्ध होगा। इसलिये हमें मित्रवर मनोज की सहायता करनी चाहिये; क्योंकि—

आपतिकाल परखिये चारी।
धीरज धरम मित्र अरु नारी॥

अच्छा तो, हमें क्या करना चाहिये ? वीरों के लिये सबसे बड़ी सहायता यही है कि उनके पास अस्त्र-शस्त्रों की कमी न रहे। हमारे मित्र पुष्पधन्वा हैं और उनके शस्त्र भी पुष्प ही हैं। अतः

उनकी सहायता के लिये मुझे समस्त वृन्दारण्य को विविध प्रकार के सुन्दर और सुवासित सुमनों से सुसज्जित कर देना चाहिये। इसी से उसने यथायोग्य काल की अपेक्षा न करके सब प्रकार के पुष्पों को विकसित कर दिया है। कामोद्रेक के आलम्बन-विभाव नायक के लिये नायिका और नायिका के लिये नायक हैं तथा पुष्प, चन्द्रज्योत्स्ना, मलयानिल आदि उसके उद्दीपन-विभाव हैं। पुष्प तो साक्षात् कन्दर्प के बाण ही हैं। उनमें कुन्दकुड्मल तो शूल का काम करता है। जो उद्दीपन-विभाव नायक-नायिका के संयोग में रसवृद्धि करनेवाले हैं वे ही उनका वियोग होने पर अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं। उस अवस्था में कुन्दकुसुम शूल हो जाते हैं, केवल (केवड़ा) भाले का काम करता है और किंशुक (पलाशपुष्प) मानो अर्धचन्द्र बाण हो जाता है। किंशुकपुष्प रक्तवर्ण होता है सो मानो वह विरहियों का वक्ष-स्थल विदीर्ण करके उनके रक्त से रञ्जित हो रहा है। इसी प्रकार अन्य पुष्पों में भी विभिन्न शस्त्रास्त्र की कल्पना कर लेनी चाहिये। भगवान् की रची हुई ये रात्रियाँ प्राकृत नहीं थीं। अप्राकृत भगवान् के साथ अप्राकृत गोपाङ्गनाओं की यह अप्राकृत लीला अप्राकृत रात्रियों में ही होनी चाहिये थी। अतः भगवान् ने उन अप्राकृत रात्रियों का निर्माण किया।

इस प्रकार भगवान् ने रात्रियाँ तो बना लीं, परन्तु उनको अपना मन तो है नहीं 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'। इसलिये उन्होंने "मनश्चक्रे" मन भी बनाया। तात्पर्य यह है कि अभी तक तो यही समझा जाता था कि भगवान् देह-देही-विभाग से रहित

हैं; वे केवल भक्तानुग्रह के लिये ही शरीरादिमान्-से प्रतीत होते थे। परन्तु यह लीला इस तरह नहीं होगी। यहाँ तो उन्हें व्यासक्तचित्त होना पड़ेगा। यदि अमना भगवान् रमण करेंगे तो व्रजाङ्गनाओं की कामना पूर्ण न होगी। इसीसे उन्होंने मन भी बनाया।

परन्तु बनाया कैसे? 'योगमायां वीक्ष्य—योगमाया की ओर देखकर। इसमें उन्हें कोई कठिनता नहीं हुई; उन्होंने योगमाया की ओर केवल देख दिया। उस निरीक्षण से सब बात अपने-आप बन गई। वह योगमाया क्या है? 'योगाय रमणाय अथवा अघटितघटनाय या माया कृपा' अर्थात् रमण अथवा अघटित घटना के लिये जो माया यानी कृपा है वही योगमाया है। यह ठीक ही है, क्योंकि अमना का मनोनिर्माण और दोषा रात्रियों को निर्दोष बनाना अघटित घटना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके अनुसार 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' इस पद की व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकार से भी हो सकती है। यथा—

'शरान् ददातीति शरदः वसन्तः तेन उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि सर्वाणि पुष्पाणि यासु ताः।'

अर्थात् जो कामदेव को शर प्रदान करता है वह वसन्त ही शरद् है, उसने जिन रात्रियों में मल्लिका से उपलक्षित समस्त पुष्पों को विकसित कर दिया है वे रात्रियाँ ही शरदोत्फुल्लमल्लिका हैं।

शरद् ऋतु विशेषतया जड़ता की सूचक होती है। अतः इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस लीला के प्रभाव से जाड्यमय—मलविक्षेपादिसमाक्रान्त मन में भी मल्लिका के समान प्रेमतत्त्व का विकास हो जाता है; तथा भगवत्स्वरूप और भगवल्लीलाओं का अनुशीलन ही प्रधानतया प्रेमतत्त्व के आविर्भाव में हेतु है। प्रेम के आविर्भाव में जड़ाजड़ का विचार भी नहीं है। इसी से यहाँ दिखलाया है कि वृन्दावन में जितने भी तृण-लता एवं वृक्षादि हैं वे अचेतन नहीं बल्कि चेतन ही हैं; यदि वे जड़ अर्थात् स्वभाव-परतन्त्र होते तो शरद् ऋतु में असमय ही मल्लिकाओं का विकास कैसे होता? इन्हें अवसर का ज्ञान है और ये अपने स्वभाव का भी विचार रखते हैं, इसी से भगवल्लीला का सुअवसर देखकर असमय में भी वे पुष्पादि-सम्पन्न हो गये। इससे सिद्ध होता है कि व्रज के तरुवर एवं लताएँ भी चेतन ही हैं। इसी से भगवान् ने बलभद्रजी का गुणकीर्तन करते हुए उनसे कहा था—'प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः'—ये तरुवर सम्भवतः आपके प्रधान भक्त मुनिजन ही हैं। ये अपने आत्मभूत आपको किसी भी दशा में छोड़ना नहीं चाहते। अतः जिस प्रकार आप मनुष्याकार होकर गूढ़रूप से लीला कर रहे हैं उसी प्रकार ये भी वृक्षादिरूप होकर आपकी सेवा में उपस्थित हो गये हैं। ये अपनी पुष्पादि-सम्पन्न शाखारूप शिखाओं से आपके पदतलसंस्पृष्ट पृथिवीतल का स्पर्श करना चाहते हैं।

इसके सिवा एक अन्य प्रसङ्ग में यह भी कहा है कि ये वृक्ष मानो वेदद्रुम हैं, इनकी जो शाखाएँ हैं वे मानो माध्यन्दिनी आदि

वेद की शाखाएँ हैं, पल्लव मानो उपनिषदें हैं और उन पर जो पक्षी हैं वे मानो आत्माराम मुनिगण हैं—

'आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
श्रृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ।'

'जो मनोहर-शाखारूप वृक्ष की भुजाओं पर आरूढ़ होकर अन्य किसी प्रकार का शब्द न करते हुए खुले नेत्रों से वंशीध्वनि श्रवण करते रहते हैं।' यहाँ 'अमीलितदृशः' यह पद विशेष रहस्य-पूर्ण है। यद्यपि कानों से मुरलीध्वनि सुनते समय नेत्रों का व्यापार रुक जाता है, क्योंकि जिस समय मन एक इन्द्रिय के विषय का आस्वादन करने में तत्पर है उस समय वह दूसरे इन्द्रिय के विषय को किस प्रकार ग्रहण करेगा ? किन्तु आपके रूप-लावण्य का तो विलक्षण माधुर्य है; वह उनके नेत्रों को बन्द ही नहीं होने देता। अतः मालूम होता है, ये पक्षिगण अवश्य कोई भगवत्कथानुरागी मुनिजन ही हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ भगवत्-प्रकाश होता है वहाँ सभी प्रकार के दोषों का निराकरण होकर समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।'

अर्थात् जहाँ श्रीहरि की अनुरक्ति रहती है वहाँ समस्त गुणों के सहित सम्पूर्ण देव निवास करते हैं और वहाँ समस्त दोषों का अभाव हो जाता है।

'न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥'

जो पुण्यात्मा लोग श्रीपुरुषोत्तम भगवान् के प्रति भक्तिभाव रखनेवाले हैं उनमें न क्रोध रहता है, न मत्सरता रहती है और न लोभ या अशुभ मति ही रहती है। अतः यदि भगवल्लीला के लिये रची हुई उन दिव्य रात्रियों में समस्त गुणों का विकास हुआ तो आश्चर्य ही क्या है?

इसी से यहाँ एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है।

'यः अगमायामुपाश्रितः'—न गच्छन्तीति अगाः तत्रत्याः वृक्षाः तेषां या स्वविषयिणी मा मतिः प्रेमवती बुद्धिः सा अगमा तस्याम् उपाश्रितः तन्निमित्तमेव भगवान् ता आहूय रन्तुं मनश्चक्रे ।

अर्थात् जो विचलित नहीं होते वे वहाँ के वृक्ष ही 'अग' हैं, उनकी जो अपने प्रति प्रेमवती बुद्धि है वही 'मा' है, उस अगमा का आश्रय कर, अर्थात् उसी के लिये भगवान् ने उन गोपाङ्गनाओं को बुलाकर रमण करने की इच्छा की।

इसका सीधा-सादा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि भगवान् ने योगमाया का आश्रय ले, उनके लौकिक-बन्धनों का विच्छेद करने के लिये उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। भगवान् ने देखा कि ये गोपाङ्गनाएँ जन्म-जन्मान्तर से मेरी उपासना करने के कारण मेरे साथ रमण करने योग्य हो गई हैं, ये लोककृत लज्जादि-बन्धन के योग्य नहीं हैं; किन्तु दूसरी ओर उन्होंने यह भी देखा कि वे लौकिक-बन्धनों से बँधी हुई हैं। इस

प्रकार उनका दोनों ओर खिंचाव है। तथापि वे हैं कैसी ?--'रात्रीः' अर्थात् अपने को और अपने सर्वस्व को मेरे ही पादपद्मों में समर्पण करनेवाली हैं। इनके धन, रूप और जीवन सब मेरे ही लिये हैं। इनकी दृष्टि में मेरे बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार उभयतःपाशा रज्जु में बँधा हुआ देखकर भगवान् ने अयोगाय—उनके लोक-कुल-लज्जादिरूप बन्धन के विच्छेद के लिये माया—कृपा का आश्रय लेकर उनके साथ रमण की इच्छा की। इसी से उन्होंने वेणुनाद के द्वारा उनके लोक एवं कुल आदि के बन्धनों को विच्छिन्न करके उन्हें प्रेमाकुल कर दिया।

अथवा—

अयस्कान्तमणिं प्रति अयोवत् गच्छति स्वभक्तान् प्रति या सा अयोगा; अयोगा चासौ माया-कृपा अयोगमाया—

–जो अपने भक्तों के प्रति इस प्रकार आकर्षित हो जैसे लोहा चुम्बक की ओर, उसका नाम अयोगा है, ऐसी जो अयोगा माया—कृपा है उसे ही अयोगमाया समझना चाहिये; क्योंकि भगवान् की कृपा भक्तों के प्रति उसी प्रकार आकर्षित हो जाती है जैसे चुम्बक के प्रति लोहा। यद्यपि भगवान् की कृपा सर्वदा सर्वत्र है तथापि उसका आकर्षण करने में भक्तजन ही समर्थ हैं। अतः भगवान् भी उस कृपा के अधीन होकर उनके साथ रमण करने को उद्यत हो गये, क्योंकि भगवान् की जो ऐश्वर्यशक्ति और मायाशक्ति हैं वे भी अपनी नियन्त्री इस कृपाशक्ति के ही अधीन हैं।

अथवा परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का जो दिव्य मङ्गलमय वपु है वह अयस्कान्तमणि के समान है, उसके प्रति जो अयः—लोहे के समान आकर्षित होती हैं वे व्रजवनिताएँ ही अयोगा हैं। तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाएँ भगवान् के पास अपनी इच्छा से नहीं गईं, बल्कि भगवत्सौन्दर्यरूप अयस्कान्त ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अतः उनपर कृपा करके भगवान् ने वे रात्रियाँ बनाईं। अथवा—

स्वेन सह युज्यन्ते ये ते योगाः गोपदाराः; तेषु या माया—कृपा तामुपाश्रितः योगमायामुपाश्रितः।

अर्थात् जो अपने से युक्त होनेवाली हैं वे गोपवधूटी ही 'योगा' हैं, उनके प्रति जो माया—कृपा है उसी का नाम योगमाया है। उसका आश्रय लेकर उन्होंने रमण करने की इच्छा की। इस प्रकार अयोग और योग दोनों ही पदों से गोपाङ्गनाएँ अभिप्रेत हैं। अतः—

योगानामयोगानाञ्च या मा स्वविषयिणी प्रीतिमती मा* प्रमा स्निग्धा मानसी वृत्तिः सा योगमा।

अर्थात् योग और अयोग इन दोनों की ही जो अपने प्रति प्रेममयी मनोवृत्ति है वह योगमा है।

भक्ति और ज्ञान ये दोनों अन्तःकरण के ही परिणाम हैं। परमप्रेमास्पद भगवान् का जो अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक चिन्तन है

---

*प्रीतिर्द्रुतिः प्रणयो द्रवावस्था इति मधुसूदनस्वाम्युक्तेः।

वही भक्ति है। इसी प्रकार प्रमा भी अन्तःकरण की ही वृत्ति है। परन्तु जो मानसिक द्रवता की अपेक्षा से रहित अन्तःकरण की प्रमेयाकाराकारित वृत्ति है उसका नाम प्रमा है और जो प्रमाण अथवा संस्कारजनित द्रवता की अपेक्षावाली प्रेमास्पदाकारा वृत्ति है उसे भक्ति कहते हैं। वेदान्त में जिन भक्ति और ज्ञान का विचार किया गया है उनके स्वरूप, साधन और फल श्रीमधुसूदन स्वामी ने भिन्न भिन्न वतलाये हैं। वे कहते हैं कि अन्तःकरण की जो सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धा वृत्ति है वह भक्ति है और जो अन्तः-करणद्रवतानपेक्ष महावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति है उसे ज्ञान कहते हैं।

उनके कथनानुसार भक्ति के तीन भेद हैं—प्राकृत, मध्यमा और उत्तमा। उनमें प्राकृत भक्त वह है जो केवल भगवान् की प्रतिमाओं में ही श्रद्धा रखता है और उन्हीं की पूजा करता है, भगवान् के भक्तों तथा अन्य पुरुषों में श्रद्धा नहीं रखता; यथा—

अर्चायामेव हरये पूजां यो श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

जो ईश्वर में प्रेम करता है, भगवान् के आश्रित रहनेवालों के प्रति मित्रता का भाव रखता है, मूर्खों पर कृपा करता है और भगवद्द्वेषियों की उपेक्षा करता है वह मध्यम है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

तथा उत्तम भक्त उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण प्राणियों में अपना भगवद्भाव देखता है, और समस्त प्राणियों को अपने आत्मारूप भगवान् में देखता है, जैसा कि कहा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।

ऊपर के श्लोक का तात्पर्य यह है—'आत्मनः स्वस्य त्वंपदार्थस्य भगवद्भावं तत्पदार्थत्वं सर्वभूतेषु पश्येत्' अर्थात् (जिस प्रकार उपाधि का बाध करने पर घटाकाश की महाकाशरूप से व्यापकता है उसी प्रकार) जो समस्त प्राणियों में तत्पदार्थरूप से त्वंपदार्थ की व्यापकता देखता है एवं भगवदभिन्न आत्मा में समस्त भूतों को कल्पित रूप से देखता है। अथवा 'आत्मनोऽन्तर्यामिणो भगवद्भावमैश्वर्यवत्त्वं नियन्तृत्वं सर्वत्र भावयति तथा भगवति परमैश्वर्यवत्यात्मनि आत्मनियम्यत्वेनाधेयत्वेन च भूतानि पश्येत्' अर्थात् जो सर्वत्र आत्मा यानी अन्तर्यामी का भगवद्भाव—ऐश्वर्यवत्व अर्थात् नियन्तृत्व देखता है और भगवान्—परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा में उसके नियम्य और आधेयरूप से समस्त भूतों को देखता है वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त है।

इनमें जो उत्तमा भक्ति है वह भी तीन प्रकार की है। जहाँ भगवदाकाराकारित अन्तःकरण से समस्त विद्यमान जगत् का भगवद्रूप से ग्रहण किया जाय वह प्रथम कोटि की उत्तमा-भक्ति है। ऊपर जो उत्तमा-भक्ति का लक्षण बतलाया है वह प्रथम कोटि की ही है। दूसरी कोटि की उत्तमा-भक्ति वह है जहाँ

भगवदाकाराकारित द्रुत अन्तःकरण से प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक सबकी भगवद्रूपता का निश्चय किया जाय; जैसे कि कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति ॥

और जहाँ प्रपञ्च के मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों ही भावों से रहित द्रुत चित्त से केवल भगवान् का ही ग्रहण हो वह तीसरी कोटि की उत्तमा भक्ति है; जैसे—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृतचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥

इस प्रकार द्रुतचित्त की भगवदाकारा मानसी वृत्ति को 'मा' कहते हैं; अयोगों की जो मा—प्रीति अर्थात् मति है वही 'अयोगमा' है, उस अयोगमा में उपाश्रित हुए अर्थात् व्रजाङ्गनाओं की ऐसी प्रीतिमती बुद्धि से आकर्षित हुए भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। अर्थात् अपने प्रति जो ऐसी प्रीतिमती बुद्धि है उसके परतन्त्र हुए भगवान् ने उन गोपाङ्गनाओं का आवाहन कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। क्योंकि भगवान् प्रेम-मधु-मधुकर हैं, और जो प्रेम-मधु-आकर सुमनसों के सुमनस हैं उनके प्रति भगवान् का आकर्षण होना उचित ही है। उधर जिनका चित्त समस्त

सुमनाओं के सुमनस श्रीभगवान् के प्रति आकर्षित होता है वे सुमना कहे जाते हैं। श्रीभगवान् के प्रति आकर्षित होना ही उनका सुमनस्त्व है। अतः शोभन स्वभाववालों का सिद्धान्त यही है कि भगवान् से प्रीति करें। वही वाक् सुन्दर है जिससे भगवान् का गुणगान होता है, वे ही कर्णपुट धन्य हैं जिनसे भगवत्कथाओं का श्रवण होता है और वे ही चरण धन्य हैं जिनसे भगवद्धामों में गमन होता है। इसी से अर्जुन से भी भगवान् ने यही कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

यह बात तो अमना भगवान् के विषय में है। ये व्रजाङ्गनाएँ तो सुमनसों की शिरोमणि हैं। अतः उनका जो मन है वह तो प्रेम का आकर ही है। उनके प्रेमकण से ही समस्त संसार प्रेममय हो रहा है। अतः इनके प्रेममधु-आकर—मन का प्रेम-मधु-मधुप भगवान् समाश्रयण करेंगे ही। इसी से भगवान् ने गोपाङ्ग-नाओं का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

अथवा योगमायामुपाश्रितः—इस पद का यह तात्पर्य समझो—'अन्यत्र चञ्चलापि भगवत्यचञ्चला या मा सा अगमा तस्यामुपाश्रितो यः' अर्थात् अन्यत्र चञ्चला होने पर भी जो भगवान् के प्रति अचञ्चला है उस मा—लक्ष्मी को अगमा कहते हैं। उस अगमा में जो भगवान् उपाश्रित हैं उन्हीं ने रमण की इच्छा की। यह बात गोपाङ्गनाओं

के प्रेमसौष्ठव की द्योतक है। इसी के पोषण में यह भी अर्थ किया जाता है—'अगमा दुरवगममाहात्म्या या मा वृषभानुनन्दिनी तस्यामुपाश्रितः'—जिन श्रीवृषभानुनन्दिनी का माहात्म्य अत्यन्त दुर्बोध है उनमें आश्रित जो भगवान् उन्होंने रमण की इच्छा की। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजी का माहात्म्य तो सुज्ञेय है, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी की महिमा अत्यन्त दुर्बोध है। क्योंकि जिन श्रीभगवान् के कृपाकटाक्ष की अपेक्षा समस्त देवगण रखते हैं वे ही इनके कृपाकटाक्ष की बाट निहारा करते हैं। वे वृषभानुनन्दिनी कैसी हैं? 'न गच्छतीति अगा, अगा अचला सदैकरूपा मा अङ्गशोभा सौन्दर्यलक्ष्मीः यस्याः सा' —अर्थात् जिनके अङ्ग की शोभा सर्वथा अक्षुण्ण है उन्हीं श्रीराधिकाजी के अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य से मोहित हुए श्रीभगवान् ने उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

यहाँ तक अज्ञ और मुमुक्षुओं की दृष्टि से अर्थ किये गये; अब मुक्तों की दृष्टि से व्याख्या करते हैं।

ताः ज्ञानीरूपाः प्रजा वीक्ष्य, ता आहूय ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे—

—उन ज्ञानीरूपा प्रजाओं को देखकर उनका आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। वे ज्ञानीरूपा प्रजाएँ कैसी हैं?—'ताः'—तदात्मिका अर्थात् भगवद्रूपा हैं, क्योंकि ऐसा कहा भी है—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यादि। और कैसी हैं? 'रात्रीः' अर्थात् भगवान् में अशेष-विशेष-समर्पण करनेवाली हैं। यहाँ पूर्ण स्वात्मसमर्पण है, क्योंकि अन्य-निष्ठाओं में

अपना पृथक् अस्तित्व रह ही जाता है। अथवा 'रात्रीः' पद का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह आत्मस्वरूपा होने के कारण रात्रियों के समान हैं, क्योंकि ये आत्मस्वरूपा हैं और व्यवहार का अविषय होने के कारण अज्ञानियों के लिये आत्मा रात्रिरूप ही है। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जितना व्यावहारिक प्रपञ्च है वह जिसकी दृष्टि में रात्रिरूप अर्थात् असत् है वह ज्ञानीरूपा प्रजा रात्रि है। अथवा जिस प्रकार रात्रि अस्पष्टप्रकाशवाली होती है उसी प्रकार यह ज्ञानीरूपा प्रजा भी अस्पष्टप्रकाशा अर्थात् अव्यक्त गति है; जैसा कि कहा भी है—

'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचाराः'

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥

पुनः यह ज्ञानीरूपा प्रजा कैसी है?

शरद्यपि जाड्यमये अविद्यालेशावशेषयुक्तेऽपि अन्तःकरणे उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितशान्तिदान्त्याद्यशेषपुष्पाणि यासां हृदि इति शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।

अर्थात् शरद् में यानी जिनके अविद्यालेशावशेषयुक्त अन्तःकरण में भी शान्ति, दान्ति आदि मल्लिकोपलक्षित समस्त पुष्प विकसित हो रहे हैं।

अथवा—

विवेकविचाररूपैः शरैर्दिताः खण्डिताः इति शरदाः उत्फुल्लमल्लिकाः उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासु।

अर्थात् विवेक-विचाररूप शरों से खण्डित उत्फुल्लमल्लिकादि-उपलक्षित संसारसुख हैं जिनमें, वे रात्रियाँ 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' हैं।

अथवा—

शरदा निमित्तेन शान्त्यावहेन ज्ञानेन उत्फुल्लमल्लिकाभासानि संसारसुखानि यासु।

अर्थात् शान्ति आदि के कारण जिनके लिये संसारसुख केवल पुष्परूप यानी देखने मात्र के लिये रह गये, ऐसी प्रजाओं को देखकर भगवान् ने योगमाया का आश्रय ले, उन प्रजाओं का आवाहन कर उनके अन्तःकरण में रमण करने का विचार किया; क्योंकि ज्ञानीरूपा प्रजा का रमण अपने आत्मभूत भगवान् के ही साथ होता है। ज्ञानी लोग आत्मरति ही हुआ करते हैं। इसी से ज्ञानी को लक्ष्य करके कहा है—'एकभक्तिर्विशिष्यते', क्योंकि उसकी भक्ति, रति, मति एकमात्र भगवान् में ही होती है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि भगवान् की यह लीला मुमुक्षुओं के ही लिये है। इस लीला के व्याज से भगवान् ने निवृत्तिपक्ष का ही पोषण किया है। भगवान् ने इस लीला द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि जिनके एक रोम के सौन्दर्यकण से भी अनन्तकोटि कन्दर्पों का दर्प दलित हो जाता है उन्हीं श्रीहरि के साथ सुरम्य यमुनाकूल में अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियों पर्यन्त रमण करके भी व्रज-बालाएँ सन्तुष्ट नहीं हुईं तो साधारण सांसारिक लोग इन बाह्य विषयों से किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकते हैं। इस लीला द्वारा भगवान् ने अपने में अनुरक्तों की अनुरक्ति और संसार से विरक्तों

की विरक्ति दोनों ही पुष्ट की हैं। इसी प्रकार भगवान् श्रीराम ने भी सीताहरण के पश्चात् शोकाकुल होकर विषयासक्त पुरुषों की दुर्दशा का प्रदर्शन किया था—'कामिन की दीनता दिखाई'। भगवान् श्रीराम स्वयं तो अच्युत हैं, उन्हें कोई भी परिस्थिति कैसे विचलित कर सकती है? और अपनी आह्लादिनी-शक्ति श्रीजनक-नन्दिनीजी से उनका वियोग होना भी कब सम्भव है? परन्तु इस नरनाट्य से कामियों की दीनता दिखलाकर उन्होंने विरक्तों के वैराग्य को ही सुदृढ़ किया है। वस्तुतः कामोपभोग से काम की कभी तृप्ति नहीं हो सकती; बल्कि जैसे-जैसे भोग्य सामग्री प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे ही घृताहुति से अग्नि के समान वह और भी प्रज्वलित होता जाता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अतः जो ऐन्द्रियिक सुख हैं वे दुःख के ही हेतु और आद्यन्त-वान् हैं, इसलिये बुद्धिमान् लोग उनमें सुख नहीं समझते। वे उनसे दूर ही रहते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

इन विषयों से सुख कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार कड़ुए नीम या तूँबे से मधु, और बालू से तैल निकलना असम्भव है उसी प्रकार वैषयिक भोगों से शान्ति की आशा रखना दुराशा-मात्र है। गोपाङ्गनाओं ने भगवान् के साथ अनन्तकोटि रात्रियों

में रमण किया, किन्तु आखिर उन रात्रियों का भी अन्त तो हुआ ही। सुख में समय बीतते देरी नहीं लगती, जो पुरुष समाधिस्थ हो जाते हैं उन्हें सैकड़ों वर्ष एक क्षण के समान मालूम होते हैं। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं को भी इतना दीर्घकालीन रमण इतना सुखप्रद नहीं हुआ जितना दुःखदायी उसका वियोग हुआ। इस बात को दिखाने के लिये ही परम-कृपालु श्रीभगवान् ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओं को देखा।

कैसी प्रजा? 'ताः'—आश्चर्यरूपा, क्योंकि आत्मजिज्ञासा आश्चर्यरूपा ही होती है—'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'। अतः व मुमुक्षुरूपा प्रजा विलक्षण ही हैं। और कैसी हैं? 'रात्रीः' यानी ठीक रात्रि के अन्धकार के समान आत्मस्वरूप का आच्छादन करनेवाले अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त हैं। यदि कहो कि नहीं, वे तो विवेकसम्पन्ना हैं तो यहाँ भी 'रात्रीः' पद से 'रा दाने' इस धात्वर्थ के अनुसार दानादिपरा यह अर्थ समझना चाहिये। और कैसी हैं?—

शरदोत्फुल्लमल्लिकाः—शरदा भगवदुपासनात्मकेन निष्कामकर्मणा उच्चैः फुल्लानि विकसितानि अन्तःकरणात्मकानि कमलकुड्मलानि यासाम्।

अर्थात् शरद् ऋतु में जैसे कमल विकसित होते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग के द्वारा जिनके अन्तःकरणरूप कमलकोश अत्यन्त विकसित हो रहे हैं।

मन का विकास ही मन का प्रसाद है और मन का प्रसाद होने पर ही भगवत्स्वरूप-प्राप्ति होती है—

'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।'

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥'

... ...

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥'

... ...

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।'

ऐसी जो मुमुक्षुरूपा प्रजा है उसे देखकर। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम-कर्मरूप भगवदाराधन करने से—क्योंकि निष्काम कर्म ही सबसे पहला भगवदाराधन है—जिसमें शान्ति-दान्तिरूप पुष्प विकसित हो रहे हैं। ये पुष्प मुमुक्षुओं को अत्यन्त अपेक्षित भी हैं; जैसा कि कहा है—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत् ।'

इस प्रकार निष्काम-कर्मद्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न हुई प्रजाओं को देखकर उनके हृदयों में श्रुतियों का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की; क्योंकि जो पुरुष भगवदाराधना द्वारा शुद्धान्तःकरण नहीं है उसके अन्तकरण में श्रुतियों का ब्रह्म-परत्व निश्चित नहीं होता। अशुद्ध अन्तःकरण में ऐसा होना असम्भव है। अतः उन मुमुक्षुओं के अन्तःकरणों में उनका परम तात्पर्य निश्चय कर उनके साथ रमण करने का विचार किया।

अथवा—

योगमायामुपाश्रितः—यः अगमायां स्वस्मादगच्छत्सु गोपदारेषु या माया कृपा तां उपाश्रितः ।

अर्थात् अपने पास से न जानेवाली गोपाङ्गनाओं के प्रति (माया) कृपा का आश्रय लेकर । अथवा—

अगा अचला मा मतिः यस्याः सा अगमा तस्यामुपाश्रितः ।

अर्थात् जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्ण से कभी नहीं हटता था, जिनके मन, देह और इन्द्रियवर्ग भगवान् से तनिक भी बिछुड़ना नहीं चाहते थे उन गोपाङ्गनाओं में उपाश्रित हो भगवान् ने रमण की इच्छा की ।

जब भगवान् का वेणुनाद सुनकर समस्त व्रजवनिताएँ भगवान् के पास दौड़ आईं और भगवान् ने उन्हें पातिव्रत का उपदेश देते हुए घर लौट जाने को कहा तो वे कहने लगीं—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गेहकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥

उन्होंने कहा—जो चित्त गृहकृत्यों में लग सकता था उसे तो आपने हर लिया । रहे हाथ, सो वे भी उसी समय घर के धन्धों में प्रवृत्त होते हैं जब चित्त इनका साथ दे और तभी चरण भी चल सकते हैं । किन्तु अब, जब कि आपने वेणुनाद द्वारा हमारा चित्त हर लिया है, हमारा मन उनमें कैसे लग सकता है ? अब

तो आपसे विमुख होकर ये चरण आपके चरणों को छोड़कर एक पग भी नहीं चल सकते। अतः हम किस प्रकार व्रज को जायँ और करें तो क्या करें ?

इससे सिद्ध हुआ कि व्रजाङ्गनाओं के मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देह ये सब भगवत्परतन्त्र हैं।

'अयोगमायामुपाश्रितः'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—

अयोगाय मायः* शब्दो यस्यां सा अयोगमाया तामुपाश्रितः।

अर्थात् लौकिक-वैदिक व्यवहार में उपयोगी जितने पुत्र, पति आदि हैं उनके अयोग अथवा लौकिक, वैदिक व्यवहारों के अयोग—असम्बन्ध के लिये जिसमें शब्द है उस मुरली का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। व्रजाङ्गनाएँ लौकिक-वैदिक कर्मों में परिनिष्ठित थीं। उनका लौकिक-वैदिक कर्मों से विच्छेद कराने के लिये अथवा उन्हें भगवद्व्यतिरिक्त सम्बन्धों से छुड़ाने के लिये इस मुरलिका का शब्द अत्यन्त समर्थ है, क्योंकि इसी से आकर्षित होकर वे सारे सम्बन्धों और कृत्यों को तिलाञ्जलि देकर भगवान् की सन्निधि में आती हैं।

अथवा—

'योगमायामुपाश्रितः—योगाय भगवता सम्बन्धाय माया कृपा यस्याः कात्यायन्यास्तां कात्यायनीमुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे।'

---

* 'माङ् माने शब्दे च'।

अर्थात् योग (भगवान् के साथ सम्बन्ध) कराने के लिये जिसकी माया—कृपा है, उस कात्यायनी देवी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अथवा—

'योगाय सम्बन्धाय मां मतिम् आययति प्रापयति या सा योगमाया कात्यायनी तामुपाश्रितः।'

—योग अर्थात् सम्बन्ध के लिये जो मा—मति को प्राप्त कराती है वह कात्यायनी देवी ही योगमा है, उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। क्योंकि कात्यायनी देवी के अर्चन-द्वारा ही ऐसा अदृष्ट हुआ था कि जिससे गोपाङ्गनाओं को भगवान् की प्राप्ति हुई।

अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह सम्बन्धाय भगवतः श्रीकृष्णस्य मां मतिम् आययति आपयति या सा वृषभानुनन्दिनी योगमाया तामुपाश्रितः।'

—व्रजाङ्गनाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भगवान् की बुद्धि को प्रवृत्त करनेवाली जो श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं वे ही योगमाया हैं, उनका आश्रयकर उन्होंने रमण करने की इच्छा की। लोक में तो सापत्न्यभाववश ईर्ष्या रहा करती है; परन्तु इधर श्रीवृषभानुनन्दिनी परम करुणामयी हैं; उनमें सापत्न्यभाव नहीं है। उनके कारण उनकी लीला-भूमि के जीव-जन्तुओं का भी पारस्परिक विरोध निवृत्त हो जाता है। इसीसे वहाँ समस्त ऋतुओं का एकत्र समावेश होता है। तो फिर स्वयं उन वृषभानुदुलारी में ही

विरोध कैसे रह सकता है ? वे तो यही चाहती हैं कि सारा संसार मेरे ही समान भगवान् के अति-विशुद्ध सौन्दर्यसुधा-रस का पान करे। यह बात सर्वथा निश्चित ही है कि जब तक जीव भगवान् से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता तब तक वह परम पद का अधिकारी नहीं हो सकता और न उसका दुःख ही निवृत्त हो सकता है। इसी से यह भी देखा जाता है कि जो लोग आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए परब्रह्म परमात्मा की ओर अग्रसर हो रहे हैं उनकी भी अन्य लोगों के प्रति ऐसी भावना नहीं रहती कि वे हमारी ओर न आवें। महर्लोकवासियों के विषय में भी यही कहा है कि वे सर्वसुखसम्पन्न होने पर भी केवल इसी लिये दुःखी रहते हैं कि उनकी अपेक्षा निम्नतर लोकों में रहनेवाले जीव उस अति विलक्षण भगवत्सुख का संमास्वादन नहीं कर सकते। उन अज्ञानियों के प्रति करुणा होने के कारण ही उनके हृदय में खेद होता है—'यच्चित्ततोदः कृपयाऽनिदंविदाम्'। अतः भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होनेवाले जितने लोग हैं, वे यही चाहते हैं कि अन्य पुरुष भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करें। इसी से उनमें सम्प्रदायवृद्धि की भावना देखी जाती है।

इस प्रकार जब सामान्य साधकों में भी अपने साथ ही भगवान् की ओर सब लोगों को ले जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है तो साक्षात् प्रेमरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी की सहृदयता एवं लोकहितैषिता के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है ? उनमें किसी प्रकार की ईर्ष्या कैसे रह सकती है ? वस्तुतः ईर्ष्या तो वहीं रहा करती है

जहाँ स्वामी परिच्छिन्न और अल्प-सुख प्रदान करनेवाला होता है। किन्तु यहाँ श्रीराधिकारमण तो अपरिच्छिन्न-अनन्त-सुखमय और सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। इसलिये उन्हें किसी प्रकार की ईर्ष्या क्यों होने लगी? अतः अपना आश्रय लेने पर वे उन गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने के लिये भगवान् की मति को प्रेरित कर देती हैं।

अथवा—

'योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय, मां—सर्वेषां मुक्तमुमुक्षु-विषयिणां मतिम् आययति प्रापयति इति योगमाया तामुपाश्रितः।

—जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ तादात्म्य प्राप्त कराने के लिये मुक्त, मुमुक्षु और विषयी लोगों की मति का सम्पादन करती हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी योगमाया हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की। श्रीवृषभानुसुता की कृपा से ही मनुष्यों की भगवान् के प्रति प्रवृत्ति होती है; अन्यथा उनका चित्त अनेक प्रकार के ऐहिक-आमुष्मिक भोगों में ही आसक्त रहता है। किन्तु यदि वे विचारपूर्वक देखें तो भगवत्प्राप्ति ही उनका परम स्वार्थ है "स्वारथ साँच जीव कहँ एहू। मन-क्रम-वचन राम-पद-नेहू॥" शास्त्रों में जैसे स्वार्थ की निन्दा की गई है वैसे ही उसकी महत्ता भी कम नहीं बतलाई गई, जैसा कि कहा है—

'स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।'

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष को अपना काम बना लेना चाहिये, काम को बिगाड़ देना ही मूर्खता है। कृतार्थता की सभी ने प्रशंसा की है; किन्तु इसका तात्पर्य क्या है? कृतार्थता का अर्थ है काम पूरा

कर लेना। यह काम दूसरों का नहीं है, क्योंकि दूसरों के कामों की तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः सिद्धान्त यही है कि स्वकार्यसिद्धि ही कृतार्थता है। स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा अत्यन्त प्रयत्न करके भी कितने स्वप्न-पुरुषों का कल्याण कर सकेगा? उन सबके कल्याण का एकमात्र साधन तो यही है कि वह स्वयं जग जाय। इसी प्रकार संसार का परम कल्याण भी अपने ही कल्याण में है। यदि लोकदृष्टि से देखें तो भी जब तक तुम स्वयं कृतकृत्य नहीं हो तब तक तुम्हारी बात कौन सुनेगा? इस दृष्टि से स्वार्थसाधन ही परम कर्तव्य है।

परन्तु स्वार्थ की निन्दा भी कम नहीं की गई। स्वार्थ से बढ़कर कोई बुराई नहीं मानी गई। अतः समझना चाहिये कि यहाँ 'स्व' शब्द के अर्थ में भेद है। जो पुरुष शरीर को ही 'स्व' समझता है वह क्षुद्र है। यह 'स्व' जितना ही विस्तृत होगा उतना ही स्वार्थ परमार्थरूप हो जायगा। जो पुरुष 'स्व' शब्द का अर्थ शरीर समझेगा उसका सिद्धान्त 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' हो जायगा। जो सारे संसार को अपना आत्मा मानेगा उसकी दृष्टि में लोककल्याण ही आत्मकल्याण होगा और जो स्वयंप्रकाश पूर्ण परब्रह्म में आत्मबुद्धि करेगा वह उस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-शून्य शुद्ध परब्रह्म में जो कर्तृत्वादि का आरोप हो रहा है उसकी निवृत्ति करेगा। इससे उसके यज्ञादि सारे कर्म ही आत्मार्थ होंगे। इस प्रकार देखते हैं कि वास्तविक स्वार्थ तो बहुत ही ऊँचा है। देह, इन्द्रिय, चित्त और चिदाभास को सुख पहुँचाने के लिये जितनी चेष्टाएँ की जाती हैं वे वस्तुतः

स्वार्थ नहीं हैं, क्योंकि ये देहादि तो आत्मा नहीं हैं, बल्कि अनात्मा हैं। यदि कहो कि आत्मा न सही आत्मीय तो हैं ही; अतः आत्मीय होने के कारण भी उनके उद्देश से जो कर्म किया जायगा वह स्वार्थ ही कहा जायगा—सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनमें आत्मीयता की प्रतीति भी भ्रम के ही कारण है। आत्मा तो असङ्ग है; इसलिये उसका किसी के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता 'असङ्गो न हि सज्जते'। अतः 'स्व'शब्दवाच्य आत्मा के लिये जो चेष्टा है वह तो परम कल्याणमयी ही है, क्योंकि सबके आत्मा तो भगवान् कृष्ण ही हैं; वे केवल माया से ही देहवान् प्रतीत होते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वात्मा हैं, अतः यथार्थ स्वार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। यहाँ 'अखिलात्मनाम्' पद से सविशेषात्मा समझने चाहियें; क्योंकि सविशेषात्माओं का ही आत्मा निर्विशेष आत्मा है, जैसे कि घटाकाशादि का अधिष्ठान महाकाश है।

अतः भक्त, मुमुक्षु और मुक्तों को भी भगवद्विषयिणी सुमति प्रदान करनेवाली श्रीराधिकाजी ही हैं। भावुक भक्तजन तो उस ऐकान्तिकी भगवन्निष्ठा के सामने कैवल्य और अपुनरावतनरूप मोक्षपद को भी कुछ नहीं समझते; इसीसे भगवान् कहते हैं—

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥

किन्तु भगवान् के मुख्य भक्त जो ज्ञानी लोग हैं उन्हें किस सुमति की अपेक्षा है ? वे तो आप्तकाम हुआ करते हैं। यह ठीक है, परन्तु भगवद्विषयिणी भक्तिरूपा स्निग्धमति उन्हें भी अभिलषित होती है। देखो, सनकादि की भी क्या अभिलाषा थी ?

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्या-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥

वे कहते हैं—भगवन् ! यदि हमारा चित्त, भ्रमर के समान आपके चरणकमलों में निरत रहे, यदि हमारी वाणी तुलसी के समान आपकी पादकान्ति का आश्रय ले और यदि हमारे कर्ण-कुहर आपके गुणगण से पूरित रहें तो हमें भले ही अपने पाप-पुञ्जों के कारण नरकों में भी जाना पड़े—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। इस प्रकार श्रीराधिकाजी, जैसे भक्तों को भगवन्निष्ठा और मुक्तों को भगवद्रति प्रदान करती हैं वैसे वे अन्य (विषयी और मुमुक्षु) लोगों को भी प्रमा—भगवत्साक्षात्काररूपा मति प्राप्त कराती हैं; अर्थात् मुमुक्षु और विषयी पुरुषों की भगवान् के प्रति इष्टबुद्धि कराती हैं, इसलिये वे योगमाया हैं। उन योगमायारूपा श्रीराधिकाजी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अथवा—

'योगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा स्वांगकान्तिर्योगमाया तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो संयोग के लिये मति प्रदान करती है वह अपने अङ्ग की कान्ति ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर, अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह उद्दीपनविधया संयोगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा शरद्वनशोभा तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो उद्दीपन-विभाव होने के कारण व्रजाङ्गनाओं के साथ संयोग करने की मति प्रदान करती है वह शरद्-ऋतु या वन की शोभा ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।

अथवा—

'श्रीकृष्णस्य योगे सम्प्रयोग एव मा शोभा यस्याः सा वृषभानुनन्दिनी योगमा तस्यामुपाश्रितः'

अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र के सम्प्रयोग में ही जिनकी शोभा है वे श्रीवृषभानुसुता ही योगमा हैं, उनमें उपाश्रित हुए भगवान् ने रमण की इच्छा की; क्योंकि—

कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई।
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई॥

जैसे चन्द्रमा बिना चन्द्रिका की, भानु बिना प्रभा की और सरोवर बिना कमलिनी की शोभा नहीं है वैसे ही परमानन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्ण के बिना श्रीराधिकाजी की शोभा नहीं है। इसी से जिस समय उन्हें भगवान् का सम्प्रयोग प्राप्त था उस समय उनकी कैसी शोभा थी? किन्तु जब श्रीश्यामसुन्दर का वियोग हुआ तो सारा वृन्दारण्य ही श्रीहीन हो गया; उस समय रसिक-

शिरोमणिभूता श्रीवृषभानुसुता की जो दशा थी उसका तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है ?

उसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि—

'यस्या योगे सम्प्रयोग एव श्रीकृष्णस्य मा शोभा सा श्रीवृषभानुसुता योगमा तस्यामुपाश्रितः'—

जिनके संयोग में ही श्रीकृष्णचन्द्र की शोभा है वे वृषभानुनन्दिनी ही योगमा हैं। अर्थात् जैसे श्रीकृष्णचन्द्र से विप्रयुक्ता श्रीराधिकाजी की शोभा नहीं है वैसे ही श्रीराधिकाजी के बिना श्यामसुन्दर की शोभा नहीं है। जिस प्रकार प्रभाशून्य सूर्य, चन्द्रिकाहीन चन्द्र और मधुरिमारहित अमृत फीके हैं उसी प्रकार अपनी आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीकीर्तिसुता के बिना श्रीनन्दनन्दन की शोभा नहीं है। यदि ऐसी बात न होती तो जिनके कृपाकटाक्ष के लिये ब्रह्मा और रुद्रादि देवगण भी लालायित रहते हैं वे श्रीलक्ष्मी जी भी जिनके विशाल वक्षःस्थल में अविचलरूप से निवास करती हुई उनके तुलसीगन्धयुक्त पदपद्मपराग की कामना करती हैं,* वे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र लक्ष्मी की उपेक्षा करके वेणु-निनाद द्वारा समस्त गोपाङ्गनाओं के सहित उन्हें बुलाने का प्रयास क्यों करते ? इससे सिद्ध होता है कि उन श्रीराधिकाजी का सौन्दर्य

---

* श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥

विलक्षण ही था। समस्त व्रजाङ्गनाएँ भी श्रीराधिकारूपा होकर ही भगवान् को प्राप्त करती हैं। इसीसे लोक में भगवान् को रुक्मिणीरमण या सत्यभामावल्लभ न कहकर श्रीराधारमण या गोपीवल्लभ ही कहते हैं। इससे निश्चय होता है कि भगवान् की यथार्थ शोभा श्रीराधिकाजी से ही है।

अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनानां रासादिसुखप्रापणाय या माया वयुनात्मिका सङ्कल्पशक्तिस्तामुपाश्रितः'[1]

अर्थात् गोपाङ्गनाओं को रसादि-सुख प्राप्त कराने के लिये जो माया—ज्ञानात्मक सङ्कल्प उसे आश्रयकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि वहाँ किसी अन्य बाह्य-साधन की अपेक्षा से रहित भगवान् की सत्यसङ्कल्पता ही समस्त लीलोपयुक्त सामग्री का सम्पादन करनेवाली थीं।

अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनानां मनोरथपूर्तये या माया दम्भः[2] तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो पूर्ण परब्रह्म परम-वैराग्यवान्, परम-ज्ञानवान्, परम-ऐश्वर्यवान् और परम-धर्मवान् हैं उनका मुरलिका द्वारा गोपाङ्गनाओं को बुलाना वास्तविक नहीं था; बल्कि व्रजाङ्गनाओं की कामनापूर्ति के लिये उन्होंने बनावटी रमणेच्छा प्रकट करते हुए

---

१ माया तु वयुनं ज्ञानम्। २ माया कृपायां दम्भे च।

ही यह सब लीला की थी। ऐसा मानने पर ही आप्तकाम की रमणाभिलाषा, निष्क्रिय का क्रियाकलाप और निःसङ्ग की कामुकता उपपन्न हो सकती है।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये--'अकारो वासुदेवस्तेन सह योगाय मा मतिः शोभा वा यस्या सा अयोगमा तस्यामुपाश्रितः' अर्थात् अकार वासुदेव का वाचक है, उन श्रीवासुदेव के साथ योग कराने के लिये मति अथवा अङ्गशोभा है जिनकी, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की।

अथवा—

'अन्यासां अयोगाय, स्वस्यैव च योगाय मा सौन्दर्यलक्ष्मीर्यस्याः सा योगमा'।

जिनकी मा—सौन्दर्यलक्ष्मी, भगवान् का दूसरों के साथ विप्रयोग और अपने साथ संयोग करानेवाली हैं वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनी का जो अपूर्व सौन्दर्य है वह भगवान् के चित्त को सब ओर से हटाकर उन्हीं में जोड़ देता है।

अथवा—

'अन्यासामपि व्रजाङ्गनानां सर्वेषां वा प्राणिनां योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय मा सौन्दर्यं यस्याः सा योगमा'

अर्थात् जिनका सौन्दर्य भगवान् के साथ अन्य गोपाङ्गनाओं का तथा समस्त प्राणियों का सम्बन्ध करानेवाला है वे श्रीराधिकाजी

योगमा हैं, क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सबका संयोग कराती हैं।

अथवा—

'योगाय सर्वेषां श्रीकृष्णसम्प्रयोगयोग्यतासम्पादनाय मा शोभा कारुण्यं कृपा यस्याः सा योगमा तस्यामुपाश्रितः'

अर्थात् जिनकी मा--करुणा या कृपा भगवान् श्रीकृष्ण के साथ संयोग कराने की योग्यता प्रदान करनेवाली है वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की।

इसके सिवा किन्हीं आचार्यों का मत है कि भगवान् ने यह रासलीला स्वजनों का ब्रह्मानन्द से उद्धार करके उनमें भजनानन्द स्थापित करने के लिये की थी। अतः उन्होंने सबसे पहले रमण के लिये उन व्रजाङ्गनाओं की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी एक मधुरातिमधुर पदार्थ को अनेक रूप में विभक्त करके उसका समास्वादन किया जाता है, उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् भी अनेक रूप में विभक्त होकर अपने स्वरूपभूत आनन्द का स्वयं ही आस्वादन करते हैं। इसी से भगवान् अपनी स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाओं में रमणेच्छा उत्पन्न करके भी पहले स्वयं कुछ काल तक 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुति के अनुसार सर्वसङ्कल्पशून्य और निःस्पृह ही रहे। किन्तु अब उन्होंने भी रमण की इच्छा की। परन्तु यह रमण कैसा है ? यहाँ एक ही परमतत्त्व को अनेकों नायकों और नायिकाओं के रूप में प्रकट कर अपने ही स्वरूपभूत आनन्द का रसा-

स्वादन करना है। वास्तव में 'भज सेवायाम्' या 'रमु क्रीडायाम्' के अनुसार एक प्रकार असाधारण भाव से तादात्म्यापत्ति अथवा जो स्वरूपभूत आनन्द है, उसको अपने अनन्य भक्तों में स्थापित करना ही यह भजनानन्दरूप रमण है। इससे आपात-दृष्टि से यह जान पड़ता है कि यदि उस कूटस्थ परमानन्द तत्त्व का अन्यत्र संक्रमण किया गया तो अपने स्वरूप से च्युत होने के कारण उसे अच्युत नहीं कहा जा सकता। इस आशङ्का का निराकरण करने के लिये ही कहा है—'भगवानपि'। अर्थात् जो अप्रच्युतस्वभाव भगवान् अपने अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य के माहात्म्य से अपने स्वरूपभूत परमानन्द का अन्यत्र सञ्चार करके भी सदा अच्युत ही रहते हैं उन्होंने रमण करने की इच्छा की। जिस प्रकार चिन्तामणि, कल्पतरु एवं कामधेनु आदि अपने समीपस्थ लोगों को उनके सङ्कल्पित पदार्थ देकर भी स्वयं अक्षुण्ण ही रहते हैं उसी प्रकार भक्तों को प्रेम प्रदान करने पर भी भगवत्स्वरूप में कोई च्युति नहीं होती।

किन्तु यहाँ पुनः सन्देह होता है कि इस प्रकार स्वरूपानन्द का अन्यत्र संक्रमण होने से भगवत्स्वरूप भले ही अविकारी रहे तथापि वह स्वरूपानन्द तो अपने स्थान का त्याग करने के कारण विकारी हो ही जायगा। वह कूटस्थ या अविकारी नहीं रह सकता। इसी से कहा है—'योगमायामुपाश्रितः'। भगवान् की योगमाया एक ऐसी शक्ति है जो उस पदार्थ को अन्यत्र ले जाने पर भी विकृत नहीं होने देती। इसी से भगवान् अपने कूटस्थ परमानन्द को

अन्यत्र दूसरों में संक्रमित करके भी स्वयं अविकृत ही रहते हैं और उनके उस आनन्द में भी कोई विकार नहीं होता है।

इसी से यह देखा जाता है कि यद्यपि भगवान् ने अपने कई भक्तों को स्वात्मसमर्पण किया है तो भी उनमें कोई च्युति नहीं हुई; वे ज्यों-के-त्यों अविकारी ही बने हुए हैं। श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

> एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
> श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
> सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
> यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

अर्थात्—हे देव! आप इन घोष-निवासियों को क्या देंगे? आप विश्वफलात्मा हैं; आपसे बढ़कर और दूसरी क्या वस्तु हो सकती है, जिसे देकर आप उनसे उऋण होंगे? प्राणी विविध प्रकार के ऐहिक-आमुष्मिक सुख को ही परम पुरुषार्थ समझता है किन्तु जिनके आँगन में उस सुख का परमोद्गमस्थान साक्षात् पर-ब्रह्म मूर्तिमान् होकर धूलिधूसरित हुआ खेल रहा है उनके लिये वे क्षुद्र सौख्यकण कैसे फलरूप हो सकते हैं? जिन्हें जो वस्तु अप्राप्त होती है वही उन्हें फलरूप से स्वीकृत हुआ करती है। अतः जिन्हें आप आत्मीय-रूप से अहर्निश प्राप्त हैं उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होकर भी आप क्या दे सकते हैं? इसलिये इनके तो आपको ऋणी ही रहना पड़ेगा। इस विषय में कुछ निश्चय न होने के कारण मेरा चित्त मोहित हो रहा है। यदि कहें कि मैं अपने को ही समर्पण कर दूँगा तो इसमें भी कोई महत्त्व की बात

न होगी, क्योंकि जो पूतना दम्भ से माता के समान आचरण दिखलाती हुई आपका अनिष्ट करने के लिये स्तनों में विष लगाकर आई थी उसे भी उसके कुल सहित आपने अपने स्वरूप को ही प्राप्त करा दिया था; फिर जिनके धन, धाम, स्वजन, प्रिय, आत्मा, प्राण और चित्त आप ही पर निछावर हैं उन व्रजवासियों को आप क्या देंगे ? उनके तो आप ऋणी ही रहेंगे। अहो ! जिन व्रज-बालाओं का उच्च स्वर से किया हुआ हरि-गुण-गान तीनों लोकों को पवित्र कर देता है, उनके चरणकमलों की वन्दना हम वारम्बार करते हैं। इस लोक में वे बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्होंने इस गोकुल में किसी वनवीथिका के पास तृण-गुल्मादिरूप से जन्म लिया है, क्योंकि उन्हें उन कृष्णप्राणा गोपवधूटियों के पद-पद्मपराग से अभिषिक्त होने का सुअवसर प्राप्त होता है*। इससे यहाँ यही कहना है कि भगवान् अनेकों को स्वात्मसमर्पण करके भी पूर्णरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं। अतः भगवान् की यह योगमायाशक्ति ही है जिससे वे सदा सब कुछ करते हुए भी अक्षुण्ण ही रहते हैं।

उन्होंने रमण की इच्छा कैसे की ? इस पर कहते हैं—

'ताः कात्यायन्यर्चनव्रतसन्तुष्टेन भगवता वरत्वेन प्रदत्ताः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्य'

---

* 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादपद्ममभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥'
'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्॥'

अर्थात् कात्यायनी-पूजन एवं व्रतादि से सन्तुष्ट हुए श्रीभगवान् ने जिन्हें वर रूप से दिया था उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को देखकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। उन रात्रियों को ग्रहण-कर और उनमें आधिदैविकी रात्रियों का निवेश कर भगवान् ने रमण की इच्छा की। ऐसा करके उन्होंने उन रात्रियों को पूर्ण बना दिया, क्योंकि आधिदैविकी रात्रियाँ भगवद्रूपा हैं। इस प्रकार उन सबको पूर्णिमारूप बनाकर और ऋतु को भी शरदृऋतु में ही परिणत कर दिया। अर्थात् समस्त रात्रियों में ऋतु-परि-वर्तन का क्रम न रखकर केवल एक ही ऋतु रखा और उसमें मल्लिकादि समस्त पुष्प विकसित कर दिये। इस प्रकार उन रात्रियों को समस्त उद्दीपन सामग्रियों से सम्पन्न कर मुरली-ध्वनि द्वारा गोपाङ्गनाओं का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

यदि विचार किया जाय तो स्वरूपतः अशेष-विशेष-शून्य पूर्ण परब्रह्म एवं अचिन्त्यानन्द निखिलगुणगणास्पद श्रीभगवान् ये एक ही हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य एक स्वप्रकाश-तत्त्व ही 'भगवत्' शब्द का लक्ष्य है। जैसा कि कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् जो अद्वय ज्ञानस्वरूप तत्त्व है; तत्त्वज्ञ लोग उसी को तत्त्व समझते हैं। वह 'ब्रह्म', 'परमात्मा' या 'भगवान्' ऐसा कहा जाता है। अतः अद्वितीय परब्रह्म ही भगवान् है। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्ति से 'गमेर्डोस' आदि सूत्रों के अनु-

सार सिद्ध हुआ 'गो' शब्द केवल गमन करनेवाले का ही वाचक नहीं होता, क्योंकि गमन करनेवाले तो सभी पशु हैं, बल्कि गलकम्बलादियुक्त गोव्यक्ति का ही वाचक होता है, उसी प्रकार यह अद्वय पदार्थ ही भगवत्-पदवाच्य है। किन्तु इसका यौगिक अर्थ लेने पर तो भगोपलक्षित अचिन्त्यानन्तगुणगणास्पद परमेश्वर ही 'भगवत्' शब्द का अर्थ है। इससे यही सिद्ध हुआ कि परमार्थतः जो एक अद्वयतत्त्व सर्वभेदरहित और स्वप्रकाश है वही अपनी अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय लीलाशक्ति से निखिल ब्रह्माण्ड का अधीश्वर भी है। उस भगवान् ने ही रमण की इच्छा की।

यहाँ दोनों प्रकार से विरोध प्रतीत होता है। यदि उसके निर्विशेष रूप पर विचार करते हैं तो 'असङ्गो न हि सज्जते' इस श्रुति के अनुसार उसका रमण होना असम्भव है। जो स्वप्रकाश, असङ्ग और अद्वय है वह किसको देखकर किसलिये किसके साथ कैसे रमण करेगा? और यदि भगवान् के सविशेष स्वरूप पर ध्यान देते हैं तो वे भी सब प्रकार के ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से पूर्ण तथा अचिन्त्यानन्दरूप अपने ऐश्वर्य में सन्तुष्ट रहने के कारण आप्तकाम एवं पूर्णकाम हैं। उन्हें किसी को देखकर रमण की इच्छा कैसे हो सकती है? जो अनाप्तकाम होता है वही अपने से भिन्न किसी पदार्थ को देखकर उसकी आसक्तिवश रमण की इच्छा कर सकता है।

इसीसे 'योगमायामुपाश्रितः' ऐसा कहा है। योग अर्थात् अघटितघटना के लिये जो माया—उस योगमाया का सन्निधिमात्र

से आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि इस योगमाया के प्रभाव से ही उस स्वप्रकाश, असङ्ग एवं अद्वय ब्रह्म की अपने से भिन्न प्रतीत होनेवाली गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने में प्रवृत्ति हो गई। यही उस माया की अघटितघटनशक्ति है। यह वही माया है जिसके विषय में श्रुति कहती है—

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'

अर्थात् अपने गुणों से आच्छादित जिस भगवच्छक्ति का ऋषियों ने ध्यानयोग से साक्षात्कार किया था, महर्षियों द्वारा साक्षात्कृत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की कारणभूता उस अचिन्त्यानन्त मायाशक्ति से ही भगवान् का अपने से भिन्न किसी को देखना, अपने से भिन्न की इच्छा करना और अपने से भिन्न के साथ रमण करना सम्भव है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान् स्वयंप्रकाश, कूटस्थ और अद्वय होने के कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं देख सकते तथापि अपनी इस लीलाशक्ति से उन्होंने अपने से भिन्नरूप से प्रादुर्भूत जो अपनी ही स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाएँ हैं, उन्हें देखकर रमण करने की इच्छा की। यह जितना भी अघटनघटन है उसके सम्पादन में भगवान् की माया समर्थ है। इसीसे इन समस्त विरोधों का निराकरण हो जाता है।

इसी प्रकार सगुणपक्ष में भी समझना चाहिये। वहाँ भी भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सम्पूर्ण वैराग्य और ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर भी इस योगमाया अर्थात्

योग—सम्प्रयोग के लिये जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर ही वररूप से दी हुई उन रात्रियों को देखकर भक्तानुग्रहपरवश हुए उन गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने की इच्छा का स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ भी उनकी रमणेच्छा में योगमाया ही प्रधान कारण है।

इस प्रकार जिस समय भगवान् ने उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और गोपाङ्गनाओं को देखकर रमण की इच्छा की—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥

अन्वय—तदा चर्षणीनां शुचो मृजन् दीर्घदर्शनः प्रियः प्रियाया इव करैर्धृतेन अरुणेन प्राच्याः ककुभः मुखं विलिम्पन् उडुराजः उदगात्।

भावार्थ—उसी समय लोगों के शोक का मार्जन करता हुआ तथा जिस प्रकार दीर्घकाल में मिलनेवाला प्रियतम अपनी प्रियतमा के शोक की निवृत्ति करता है उसी प्रकार अपने शीतल करों (किरणों या हाथों) में धारण की हुई उदयकालीन लालिमा से पूर्वदिशा के मुख का लेपन करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ।

व्याख्या—'तदा' अर्थात् जिस क्षण में भगवान् को रमण की इच्छा हुई उसी समय चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि सेवक की यह रीति है कि जिस समय स्वामी की इच्छा हो उसी समय सेवा में उपस्थित हो जाय। ये उडुराज क्यों उदित हुए? क्योंकि ये

उद्दीपन विभाव हैं अर्थात् भगवान् की जो रमणेच्छा है उसे और भी उद्दीप्त करने के लिये ही इनका प्राकट्य हुआ है। 'उडुराज' शब्द का अर्थ है 'उडूनां तारकाणां राजा' अर्थात् तारों का राजा। इससे उस समय चन्द्रदेव का सपरिवार उदित होना ध्वनित होता है। उनके अभ्युदय से ही चर्षणी जो समस्त प्राणी उनके शरत्कालीन सूर्य से प्राप्त हुए ताप और मनोग्लानि शान्त हो गई। श्रीगोसाईं जी महाराज कहते हैं—

शरदातप निशि शशि अपहरई।
संतदरश जिमि पातक टरई॥

वे उदित किस प्रकार हुए?—प्राच्याः ककुभः मुखं करैर्धृतेन अरुणेन विलिम्पन्' अर्थात् अपनी शीतल और सुकोमल किरणों में धारण किये हुए अरुण राग से पूर्वदिशा के मुख को लेपित करते हुए। मानो इस प्रकार नायक-नायिका की रीति को प्रदर्शित करते हुए चन्द्रदेव यहाँ शृङ्गाररस के उद्दीपन बने हुए हैं। यद्यपि चन्द्रमा का सम्बन्ध सभी दिशाओं से है तथापि उनमें पूर्वा दिक् ही प्रधान है। अतः पूर्वदिशा के साथ संश्लिष्ट होकर अपनी किरणों में धारण किये हुए अरुण से उसका मुखलेपन करता हुआ और स्वयं भी अनुरक्त होता हुआ वह उदित हुआ। अर्थात् प्राची दिशा से संश्लिष्ट होने पर चन्द्रमा ने उसे भी अनुरक्त किया और वह स्वयं भी अनुरञ्जित हुआ। इससे पूर्वादिक्संसर्ग से उसका अनुराग होना स्वयं सिद्ध है, जैसे नायिका के प्राप्त होते ही नायक अनुरक्त हो जाता है।

इसका भी विशेषण है 'दीर्घदर्शनः'। यह 'उडुराजः' और 'प्रियः' दोनों ही का विशेषण हो सकता है। 'दीर्घं बह्वीनां रात्रीणामन्ते दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियों के पश्चात् हुआ हो उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। पूर्वदिशा के साथ चन्द्रमा का ठीक-ठीक सम्बन्ध पूर्णिमा को ही होता है, इसलिये चन्द्रमा दीर्घदर्शन है। इधर दृष्टान्तपक्ष में यह प्रिय का भी विशेषण है। अर्थात् जिसका दर्शन बहुत काल के पश्चात् हुआ है ऐसा कोई प्रियतम जिस प्रकार 'शन्तमैः करैः' अपने सुखावह कर-व्यापारों से प्रियतमा का शोक निवृत्त करता है उसी प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणों से पूर्वदिशा के मुख को रागरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार कर-व्यापारों से भी शृङ्गाररस का उद्दीपन ही सूचित होता है।

इसे प्रकृत प्रसङ्ग में दूसरी तरह भी लगाते हैं—

'यथा उडुराजः चर्षणीनां शुचो मृजन् शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन च प्राच्या ककुभः मुखं विलिम्पन् उदगात्तथा दीर्घदर्शनः प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखं शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन कुङ्कुमेन च विलिम्पन् चर्षणीनां गोपीजनानां शुचः शोकाश्रूणि मृजन् उदगात्।'

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा मनुष्यों का शोकापनोदन करता हुआ तथा अपनी शीतल किरणों से उनमें धारण की हुई उदय-कालीन लालिमा से पूर्वदिशा का मुख लेपन करता हुआ उदित हुआ उसी प्रकार बहुत काल पीछे दिखाई देनेवाले भगवान्

श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुसुता के मुखारविन्द को अपने करकमलों में धारण किये हुए कुंकुम से लेपन कर गोपीजनों के शोकाश्रुओं का मार्जन करते हुए प्रकट हुए।

यहाँ 'चर गतिभक्षणयोः' इस धातुपाठ के अनुसार 'चर्षणीनाम्' इस पद का अर्थ गति और भक्षण-परायण है। 'गति' शब्द से कर्म और 'भक्षण' शब्द से कर्मफल समझना चाहिये। अतः इससे वे मनुष्य * विवक्षित हैं जो केवल कर्म और कर्मफल में ही आसक्त हैं। इन संसारी लोगों के सर्वविध ताप का निराकरण करता हुआ उडुराज—चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि वह उदित होकर उद्दीपन-विभाव-रूप से परमानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्र के चित्त में रमण की इच्छा उत्पन्न करेगा, जो कि श्रीकृष्ण-प्रेमियों को बहुत काल से अभिलषित है। अतः भगवान् की प्रेयसी व्रजाङ्गनाओं के शोक का मार्जन होने से सारे संसार का शोक मार्जित हो जायगा, क्योंकि यह नियम है कि जिस क्रिया से भगवद्भक्तों का शोक निवृत्त

---

* 'चर्षणी' शब्द मनुष्य अर्थ में रूढ़ है। यह बात निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होती है—

अर्यम्णो मातृका पत्नी तस्यां चर्षणयः सुताः।
तास्वेव ब्रह्मणा जातिर्मानुषी परिकल्पिता॥

अर्थ—अर्यमा की पत्नी मातृका नामवाली थी। उसके 'चर्षणी'-संज्ञक पुत्र हुए। उन चर्षणियों में ही ब्रह्माजी ने मानुषी जाति की कल्पना की।

होता है उससे सारे संसार का ही शोक निवृत्त हो जाता है और जिससे भगवद्भक्त सन्तप्त होते हैं उससे सभी को सन्ताप होता है। देखो, जिस समय ध्रुवजी ने भगवत्तादात्म्य को प्राप्त होकर श्वासनिरोध किया था उस समय सारे संसार का ही श्वास निरुद्ध हो गया था। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि भगवान् सर्वात्मा हैं; अतः यदि भगवद्भक्त सन्तप्त होता है तो सारा संसार ही सन्तप्त हो उठता है।

ये गोपाङ्गनाएँ तो भगवान् की अत्यन्त अन्तरङ्गा हैं। ये भगवद्विप्रयोग के कारण चिरकाल से सन्तप्त थीं। अब उस विरहव्यथा का अन्त होनेवाला था। इसी से भगवान् को रमण की इच्छा हुई।

अतः इसका यह भी अर्थ हो सकता है—

'चर्षणीनां व्रजाङ्गनाजनानां शोकापनोदनेन चर्षणीनां गतिभक्षण-पराणां कर्मतत्फलभोगपरिनिष्ठानां जगतामेव शुचो मृजन् उदगात्'।

अर्थात् चर्षणी यानी व्रजाङ्गनाओं की शोकनिवृत्ति करके चर्षणी—कर्म और कर्मफलभोग में लगे हुए संसारी लोगों का शोक निवृत्त करते हुए चन्द्रदेव प्रकट हुए। इसी से उन्हें उडुराज अर्थात् नक्षत्रमण्डल का राजा कहा है। वे परम सौभाग्यशाली और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, क्योंकि उनके कारण गोपाङ्गनाओं की शोकनिवृत्ति होने से सारे संसार का ही सन्ताप शान्त हो जाता है। अतः ये उडुराज 'उडुषु राजत इति उडुराजः' हैं, अर्थात् नक्षत्रों में अत्यन्त शोभायमान हैं।

इधर जिस प्रकार जीवों की शोकनिवृत्ति करने के कारण यह उडुराज पुण्यात्मा है उसी प्रकार माने श्रीकृष्णचन्द्र भी उडुराज ही हैं, क्योंकि उन्होंने भी चर्षणी यानी व्रजाङ्गनाओं का शोकापनोदन करके सारे संसार का ही शोक निवृत्त किया है। अतः 'उडुराज' शब्द से उनका भी अन्वादेश होता है। जैसे इस ओर ताराओं में अत्यन्त देदीप्यमान चन्द्रमा है उसी प्रकार उधर गोपाङ्गनाओं में नायक-रूप से अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसी से आचार्यों ने यह भी कल्पना की है कि जिस समय भगवान् ने 'अमना' और 'अप्राण' होकर भी योगमाया का आश्रय लेकर गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने का सङ्कल्प किया उस समय उनमें मन तो था नहीं। मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा है। जिस प्रकार सूर्य आदि अधिष्ठाता-देवताओं से अधिष्ठित हुए विना नेत्रादि में रूपादि के प्रकाशन का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार मन भी चन्द्रमा से अधिष्ठित हुए बिना सङ्कल्प में समर्थ नहीं हो सकता था। किन्तु यहाँ भगवान् के तो मन ही नहीं था; अतः वे मन के विना रमण कैसे करते? यद्यपि अपने दिव्य ऐश्वर्य से वे विना मन के भी रमण कर सकते थे, तथापि लोक-मर्यादा का अतिलङ्घन न करके भगवान् ने नवीन अप्राकृत मन का निर्माण किया, क्योंकि वस्तु की सरसता अथवा नीरसता का आस्वादन तो मन से ही होता है। भगवान् का मन अप्राकृत था, इसलिये उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा भी अप्राकृत ही होना चाहिये था। जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओं के सहित शोभायमान होता है उसी

प्रकार व्रजाङ्गनाओं के मन उडुस्थानीय हैं और भगवान् का मन उन उडुओं का अधिनायक चन्द्रमा है। अतः जिस प्रकार नक्षत्रों से चन्द्रमा की शोभा है उसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के मनों से भगवान् के मन की शोभा है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि इस अप्राकृत चन्द्रमा की वस्तुतः आवश्यकता क्या थी ? यदि भगवान् के रचे हुए नवीन अप्राकृत मन का नियमन करने के लिये इसकी आवश्यकता मानी जाय तो ठीक नहीं; क्योंकि भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही उस मन को कार्यसम्पादन की योग्यता प्रदान कर सकते थे। यदि कहें कि व्रजाङ्गनाओं के मनों के अधिष्ठाता जो प्राकृत चन्द्रमा हैं, वे नक्षत्रों के रूप में उदित हैं, उनकी रक्षा करने के लिये ही भगवान् के अप्राकृत मन के अधिष्ठाता अप्राकृत चन्द्रमा का उदय हुआ है, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि उनका नियमन भी भगवान् स्वयं ही कर सकते थे। यदि उद्दीपन के लिये इसका उदय माना जाय तो भगवान् को इसके लिये भी किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, और यदि अन्धकार की निवृत्ति के लिये इसका उदय मानें तो यह काम भी प्राकृत चन्द्रमा से ही निष्पन्न हो सकता था; अतः इसके उदय का प्रधान प्रयोजन क्या था, यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस श्लोक में इसका प्रयोजन 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' बतलाया है। इसकी व्याख्या श्रीवल्लभाचार्य जी इस प्रकार करते हैं—'चर्षणयः परिभ्रमणशक्तयः तासां शुचः मृजन्' अर्थात् परिभ्रमण-शक्तियाँ ही चर्षणी हैं, उनका शोक निवृत्त करने के लिये इस

अप्राकृत चन्द्र का उदय हुआ। ये परिभ्रमण-शक्तियाँ आनन्द की खोज में सारे संसार में भ्रमण करती रहीं, परन्तु आनन्द से इनका कहीं भी संयोग न हुआ। इन्होंने समस्त जीवों में जा-जाकर देखा, परन्तु इन्हें कहीं भी परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई। जो जीव मुक्त होने पर परमानन्द में स्थित होते हैं उनसे इन शक्तियों का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये इन्हें कहीं भी परमानन्द की प्राप्ति न हुई। अतः 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' इसका अर्थ है परिभ्रमण-शक्ति-युक्त जीवों के शोक का मार्जन करता हुआ। अर्थात् अभिप्राय यह है कि जीव ब्रह्मानन्द का रसास्वादन तो समस्त प्राकृत सम्बन्धों से रहित होकर ही कर सकता था, इनसे युक्त रहते हुए उसमें परमानन्द-रसास्वादन का सामर्थ्य था ही नहीं। इस अभाव की पूर्ति करने के लिये ही पूर्ण परब्रह्म परमात्मा दिव्यमङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत हुए। उनके साथ उनके अप्राकृत रमण के लिये अप्राकृत सामग्री और वैसे ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों का भी आविर्भाव हुआ। इस अप्राकृत लीला में अप्राकृत उद्दीपन ही होना चाहिये था, क्योंकि अप्राकृत उद्दीपन के बिना अप्राकृत गोपाङ्गनाओं को अप्राकृत परमानन्द का समास्वादन प्राप्त होना असम्भव था। अतः इस अप्राकृत चन्द्र के उदय का प्रधान हेतु तो अप्राकृत आनन्द का उद्रेक ही है। अन्धकार की निवृत्ति आदि तो इसके आनुषङ्गिक प्रयोजन हैं।

इस वृन्दारण्याकाश में ही उडुराज परमानन्दकन्द श्रीवृन्दावन-चन्द्र का अभ्युदय होता है। इनके अभ्युदय से ही 'चर्षणीनाम्'—

गोपाङ्गनाओं का शोकमार्जन एवं 'प्राच्याः'—पूज्यतमा श्रीवृषभानु-नन्दिनी का मुखविलिम्पन होता है। चर्षणी एक ओषधि भी है। जिस प्रकार चन्द्र की अमृतमयी शीतल किरणों से उनकी शरत्कालीन सूर्य-ताप-जनित ग्लानि का निराकरण होता है, उसी प्रकार ओषधि के समान परमसुकोमलस्वभाव व्रजाङ्गनाओं का विरहजनित सन्ताप भगवान् के करव्यापारों से निवृत्त हो जाता है।

अतः इसे इस प्रकार भी लगा सकते हैं—'चर्षणीनां शन्तमैः करैः शुचो मृजन्' तथा 'अरुणेन प्राच्या मुखं विलिम्पन्'। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णरूप उडुराज अपने अत्यन्त सौख्यावह कल्याणमय करव्यापारों से चर्षणी यानी सुकुमारी गोपाङ्गनाओं का शोक—विरहजनित ताप शान्त करते हुए तथा अरुण यानी कुंकुम से श्रीराधिकाजी का मुखलेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ 'दीर्घदर्शनः' यह 'प्रियः' का विशेषण है। इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—'दीर्घे कमलपत्रवदायते दर्शने[1] नेत्रे यस्य' अर्थात् जिसके नेत्र कमलपत्र के समान विशाल हैं। इससे प्रियतम की प्रेमातिशयता और निर्निमेषता द्योतित होती है; अर्थात् वह प्रियतमा के दर्शन में इतना आसक्त है कि उसका निमेषोन्मेष भी नहीं होता।

यदि आध्यात्मिक पक्ष में देखें तो इसका तात्पर्य इस प्रकार होगा—

---

१ दृश्यते ईक्ष्यते अनेन इति दर्शनं लोचनम्।

यदा यस्मिन्नेव काले भगवान् जनानां हृदयारण्ये रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजः मोहनैशतमोव्याप्तान्तःकरणारण्याकाशे किञ्चित्प्रकाशनशीलशमदमादिरूपेषु उडुषु यः आह्लाद-प्रकाशात्मिकया भक्तिप्रभया राजते स भजनानन्दचन्द्रः उदगात्।

अर्थात् जिस समय भगवान् ने भक्तों के हृदयरूप वन में विहार करने की इच्छा की उसी समय उडुराज—जो मोहरूप घोर अन्धकार से व्याप्त अन्तःकरणरूप आकाश में कुछ-कुछ प्रकाशित होनेवाले शमदमादिरूप उडुओं (नक्षत्रों) में आह्लाद एवं प्रकाशात्मिका भक्तिरूप प्रभा से सुशोभित है, वह भजनानन्दरूप चन्द्र उदित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भगवान् अपने भक्त के हृदय में रमण करने की इच्छा करते हैं तभी यह भजनानन्दचन्द्र उदित हो जाता है। वह क्या करता हुआ उदित हुआ ?—

चर्षणीनां गतिभक्षणशीलानां कर्मतत्फलव्यासक्तमनसां जनानां शुचः आर्त्तीः स्वात्मभूतपरप्रेमास्पदभगवद्विप्रयोगवेदनाः ताः मृजन्।

अर्थात् वह चर्षणी यानी कर्म और कर्मफलभोग में आसक्तचित्त पुरुषों के शोक—अपने आत्मभूत परप्रेमास्पद भगवान् के वियोग से होनेवाली वेदना का मार्जन करता हुआ उदित हुआ। अथवा कर्म और कर्मफलभोगजनित श्रान्ति ही आर्ति है या जितनी भी वेदनाएँ सम्भव हैं वे सभी आर्ति हैं, उन सभी का मार्जन करते हुए भगवान् उदित हुए। यहाँ 'शुचः' में बहुवचन है; इसलिये यह शोकोपलक्षित समस्त संसार का भी उपलक्षण है। किसके द्वारा शोकमार्जन करता हुआ उदित हुआ ?—

शन्तमैः करैः—स्वयं शन्तमाः परमसुखरूपाः अन्येषु कराः कं सुखं रान्ति समर्पयन्तीति कराः तैः भगवदीयगुणगणगानतानवितानादिभिः।

शन्तम करों से अर्थात् जो स्वयं परम सुखरूप हैं और दूसरों को सुख प्रदान करनेवाले हैं उन भगवद्गुणगानादि से भक्तों का शोक निवृत्त करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार यह भजनानन्द-रूप चन्द्र का उदय समस्त शोकों की निवृत्ति करनेवाला है, क्योंकि जिस समय जीव भगवद्भजन में प्रवृत्त होता है उसी समय उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

मन-करि विषय-अनल-बन जरई।
होइ सुखी जो एहि सर परई॥

यह मनरूप मत्तगजेन्द्र संसारानल में जल रहा है; जिस समय यह भगवद्भजन में लगता है उसी समय मानो शीतल गङ्गाजल में अवगाहन करने लगता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि ये जो भजनानन्दचन्द्र, भक्तिरूपा प्रभा और गुणगानवितानादिरूप शन्तम कर हैं इनमें भेद क्या है? क्योंकि बिना भेद के कोई व्यवहार नहीं हो सकता। वस्तुतः भगवद्भक्तिरूपा प्रभा और भगवदीय गुणगणगानतानादि भजनानन्दचन्द्र के अन्तर्गत ही हैं। इनका भेद 'राहोः शिरः' के समान केवल व्यवहार के लिये है। यद्यपि राहु का शिर राहु से कोई पृथक् पदार्थ हो ऐसी बात नहीं है; तथापि लोक में इसका इस प्रकार सम्बन्ध-ग्रहणपूर्वक व्यवहार अवश्य होता है। जैसे 'देवदत्त हाथों से वृक्ष काटता है' इस वाक्य में 'देवदत्त' कर्ता है और

'हाथ' करण हैं। इसलिये इन दोनों में भेद होना चाहिये। परन्तु वस्तुतः देवदत्त क्या है? वह हाथ, पाँव, शिर आदि का सङ्घात ही तो है। वह अवयवी है और हाथ-पाँव आदि उसके अवयव हैं। नैयायिकों के मतानुसार अवयव कारण होता है और अवयवी उसका कार्य होता है। लोक में कार्य अपने कारण के द्वारा ही सारे व्यापार किया करता है। इसलिये अवयवी में मुख्यता का व्यपदेश होता है और अवयव में गौणता का। इसी प्रकार भक्तिरूपा प्रभा और भगवद्गुणगानरूप किरणें अवयव हैं तथा भजनानन्दचन्द्र अवयवी है। अतः भजनानन्द कार्य है और भक्ति तथा भगवद्गुणगानादि उसके कारण हैं। यह भजनानन्दचन्द्र हृदयारण्य को सुशोभित भी करता है; क्योंकि जहाँ चन्द्रालोक का विस्तार नहीं होता वह स्थल रमण के योग्य भी नहीं होता। इसी प्रकार जिस हृदय में भजनानन्दचन्द्र की भक्तिरूपा प्रभा का विस्तार नहीं हुआ है वह भगवान् का रमणस्थल होने योग्य भी नहीं है।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र और क्या करते हुए उदित हुआ?—

प्राच्याः—प्राचि भवा प्राची तस्याः प्राग्भवायाः बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं प्रधानं भागं अरुणेन कुङ्कुमेनेव रागेण विलिम्पन्।

अर्थात् वह प्राची यानी अपने से पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धि के सत्त्वमय प्रधान भाग को, अरुण कुंकुमद्वारा मुखलेपन के समान, अनुरक्त करता हुआ उदित हुआ। यही भजनानन्दचन्द्र का कार्य है। जिस प्रकार अग्नि से पिघले हुए लाख में रङ्ग भर देने पर वह

उसी रङ्ग का हो जाता है उसी प्रकार यह बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को द्रवीभूत करके उसमें भगवत्स्वरूपरूपी रङ्ग भर देता है। इससे वह बुद्धिसत्त्व भगवन्मय हो जाता है और फिर किसी समय उसे भगवान् की विस्मृति नहीं होती।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र है कैसा ?—

ककुभः—कं सुखं तद्रूपतया कुषु कुत्सितेष्वपि भाति शोभत इति ककुभः।

—'क' सुख को कहते हैं। वह सुखरूप से कुत्सितों में भी भासमान है इसलिये 'ककुभ' है। उस भजनानन्दचन्द्र का आलोक पड़ने पर तो चाण्डाल भी कृतकृत्य हो सकता है, यथा—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

अर्थात् हे प्रभो! जिसकी जिह्वा पर आपका नाम विराजमान है वह श्वपच भी इन (भक्तिहीन द्विजों) की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो आपका नामोच्चारण करते हैं उन महानुभावों ने तो सब प्रकार के तप, होम, स्नान और वेदपाठ कर लिये। यही नहीं, आपके नामों का श्रवण या कीर्तन करने से तथा कभी आपको प्रणाम या स्मरण कर लेने से चाण्डाल भी शीघ्र ही सवनकर्म का अधिकारी हो सकता है; फिर हे भगवन्! जिन्हें साक्षात् आपका दर्शन हुआ हो उनके विषय में तो कहना ही क्या है?

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तना-
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥

सवनकर्म का अधिकार केवल द्विजों को ही है। अतः इस श्लोक में जो 'सद्यः' शब्द है उसका 'तत्काल' अर्थ करके कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि भगवत्स्मरण के प्रभाव से चाण्डाल भी उसी जन्म में सवनाधिकारी यानी द्विज हो सकता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। 'सद्यः' का अर्थ शीघ्र है और शीघ्रता सापेक्ष हुआ करती है। शास्त्रसिद्धान्त तो ऐसा है कि पशु एवं तिर्यक् योनियों को भोग चुकने पर जब जीव को मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है तो सबसे पहले उसे पुल्कसयोनि मिलती है। उससे उत्तरोत्तर कई जन्मों में स्वधर्मपालन करते-करते वह वैश्य होता है; और तभी उसे द्विजोचित कृत्यों का अधिकार प्राप्त होता है। अतः यहाँ 'सद्यः' शब्द से यही तात्पर्य है कि यदि कोई चाण्डाल स्वधर्मनिष्ठ रहकर भगवच्चिन्तन करेगा तो उसे एक-दो जन्म के पश्चात् ही द्विजत्व की प्राप्ति हो जायगी; अनेकों जन्मों में नहीं भटकना पड़ेगा। यह क्रम स्वधर्मनिष्ठों के ही लिये है। स्वधर्म का आचरण न करने पर तो शूद्र को भी पुनः चाण्डाल-योनि प्राप्त होती है। जैसे कहा है—

कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च ।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतामियात् ॥

अर्थात् कपिला गौ का दूध पीने से, ब्राह्मणी के साथ मैथुन करने से और वेदाक्षर का विचार करने से शूद्र भी चाण्डालत्व को प्राप्त हो जाता है। और यदि शूद्र स्वधर्म में तत्पर रहे तो उसी जन्म में देहपात के अनन्तर स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

स्वधर्मे संस्थितः सम्यक् शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते।

अतः स्वधर्म का अतिक्रमण कभी न करना चाहिये।

यदि कहो कि तत्क्षण ही क्यों न माना जाय? तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि जाति नित्य है, वह नामस्मरणमात्र से परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि नामस्मरणमात्र से जाति परिवर्तन हो सकता तो गर्दभी को भी नाम सुनाकर कामधेनु बनाया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं होता। जाति जन्म से होती है, अतः उसका परिवर्तन जन्मान्तर में ही हो सकता है। जिस प्रकार गौ एवं गर्दभादि योनियाँ हैं उसी प्रकार ब्राह्मण और चाण्डालादि भी योनियाँ हैं। श्रुति कहती है—'ब्राह्मणयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

तात्पर्य यह है कि चाहे जातिपरिवर्तन हो या न हो परन्तु नामस्मरण से चाण्डाल भी परम पवित्र तो अवश्य हो सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी अस्पृश्यता निवृत्त हो जाती है। अपवित्रता दो प्रकार की है; जातिनिमित्तक और कर्मनिमित्तक। कर्मनिमित्तक पातित्य पुण्य-कर्म से निवृत्त हो सकता है, किन्तु जातिनिमित्तक पातित्य कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता। चाण्डाल का पातित्य जातिनिमित्तक है। अतः चाण्डालशरीर

रहते हुए उसकी अव्यवहार्यता का प्रयोजक पातित्य निवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु भगवत्स्मरण से वह कर्मजनित पातित्य से मुक्त होकर शुद्धान्तःकरण हो जाता है और उसके द्वारा वह भगवत्प्राप्ति भी कर सकता है; उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे परलोक में वह गति प्राप्त होती है जो भक्तिहीन ब्राह्मण के लिये भी दुर्लभ है। इसीसे भगवान् ने भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अतः सिद्ध हुआ कि वह भजनानन्दचन्द्र, कुत्सितों को भी सुख प्रदान करता है इसलिये ककुभ है।

'प्रियः' भी उस भजनानन्दचन्द्र का ही विशेषण है। वह भजनानन्दचन्द्र मानो विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी प्राणियों के परम प्रेम का आस्पद है। वह लोकमनोऽभिराम होने के कारण विषयी पुरुषों को और भवौषध होने के कारण मुमुक्षुओं को प्रिय है। तथा जीवन्मुक्तों को भी वह अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसी के कारण उन्हें भगवत्सान्निध्यरूप परमोत्कृष्ट वैभव प्राप्त हुआ है। इसीसे श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस बिचारि जे संत सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥

अतः बहुत-से अद्वैतनिष्ठ तत्त्वज्ञजन भी कल्पित भेद को स्वीकार कर निश्छलभाव से अति तत्परतापूर्वक भगवान् की भक्ति किया करते हैं; जैसा कि कहा है—

....

यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥

अर्थात् पूर्ण अद्वैतपद सुभक्तों द्वारा फलाभिसन्धिरूप कैतव (कपट) से रहित होकर उपासित होता है, क्योंकि जो लोग लौकिक या पारलौकिक अभिलाषाओं से पूर्ण होंगे उनकी उपासना कैतवशून्य नहीं हो सकती। हाँ, जो मुक्त हो गया है उसे अवश्य किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती; अतः वही निष्कपट उपासना भी कर सकता है।

इससे निश्चय हुआ कि सुभक्त जो ज्ञानी लोग हैं उनके द्वारा वह अद्वयतत्त्व अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उपासित होता है। जिन लोगों ने समस्त प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है वे ही किसी पदार्थ में आसक्ति और प्राप्तव्य-बुद्धि न होने के कारण अद्वयभाव से उसका अकैतव उपासना कर सकते हैं। परन्तु यहाँ शङ्का होती है कि यदि उन जीवन्मुक्तों को कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो वे भजन में प्रवृत्त ही क्यों होंगे? इस सम्बन्ध में हमारा कथन है कि जीवन्मुक्त महात्माओं पर शास्त्र का शासन नहीं होता, क्योंकि वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जैसा कि कहा है—

गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥

अर्थात् प्रथम-कोटि में साधक यथाविधि वैदिक और स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करके उपासना द्वारा चित्त के दोषों को निवृत्त करता है; फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा भगवान् का साक्षात्कार करने पर वह गुणातीत, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस क्रम से कर्म और उपासना में पूर्वमीमांसा, श्रवण में उत्तरमीमांसा, मनन में न्याय और वैशेषिक तथा निदिध्यासन में सांख्य और योगदर्शन का कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कृतकृत्य हो जाने के कारण फिर अपना कोई प्रयोजन न रहने के कारण शास्त्र यद्यपि उस महापुरुष से निवृत्त हो जाता है, तथापि अपने पूर्वाभ्यास के कारण उससे कर्म और उपासना स्वभावतः होते रहते हैं। श्रीमधुसूदनस्वामी कहते हैं—

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।

अर्थात् जिस प्रकार उनमें स्वभाव से ही अद्वेष्टृत्वादि गुण रहते हैं उसी प्रकार भगवान् का भजन करना भी उनका स्वभाव ही है।

यहाँ एक शङ्का यह भी होती है कि भक्ति तो भेद में होती है और तत्त्वज्ञों की अभेददृष्टि रहा करती है, फिर वे भक्तिभाव में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इस पर कहते हैं 'विभेदभावमाहृत्य' अर्थात् वे भेदभाव का अध्याहार करके भगवान् का भजन करते हैं। इस प्रकार का काल्पनिक भेद सब प्रकार मङ्गलमय ही है। इसीसे कहा है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका॥

अर्थात् द्वैत तभी तक मोहजनक होता है जब तक ज्ञान नहीं होता; जिस समय विचार द्वारा बोध की प्राप्ति हो जाती है उस समय तो भक्ति के लिये कल्पना किया हुआ द्वैत, अद्वैत की भी अपेक्षा सुन्दर है। यदि पारमार्थिक अद्वैतबुद्धि रहते हुए भजन के लिये द्वैतबुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति तो सैकड़ों मुक्तियों से भी बढ़कर है। भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी की भक्ति भी ऐसी ही थी; इसीसे वे कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

अर्थात् हे नाथ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं ही आपका हूँ आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का होता है, समुद्र तरङ्ग का कभी नहीं होता।

इसी विषय में किसी भावुक का कथन है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

अर्थात् प्रियतमा चाहे तो प्रणयविधि से प्रियतम के वक्षःस्थल पर विहार करे और चाहे उसके चरणयुगल की परिचर्या में लगी रहे—बात एक ही है। इसी प्रकार जिसे परमार्थबोध प्राप्त हो

गया है वह चाहे तो निर्विकल्प समाधि में स्थित रहे और चाहे भगवान् के भजन-पूजन में लगा रहे—कोई भेद नहीं है। जो लोग विचारशून्य हैं उन्हीं की दृष्टि में भगवान् का आत्मत्वेन साक्षात्कार उनका अपमान है। यदि विचार करके देखा जाय तो इस प्रकार का अभेद तो प्रेमातिशय की रीति ही है। प्रेम का अतिरेक होने पर तो भेदभाव की तिलाञ्जलि हो ही जाती है। जो अरसिक हैं, उत्कृष्ट प्रेमातिशय के रहस्य को जाननेवाले नहीं हैं उनकी दृष्टि में प्रियतमा का प्रियतम के वक्षःस्थल में विहार करना अयुक्त हो सकता है, किन्तु रसिकजन तो जानते हैं कि प्रेमातिरेक में ऐसा ही हुआ करता है। अतः अभेदरूप से स्वरूपसाक्षात्कार हो जाने पर भी काल्पनिक भेद स्वीकार करके निष्कपट भाव से भक्ति हो ही सकती है। तत्त्वज्ञों के यहाँ ऐसी ही भक्ति का स्वीकार है। इस प्रकार यह भजनानन्दचन्द्र विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी के लिये प्रिय है।

इसके सिवा और भी वह भजनानन्दचन्द्र कैसा है?—'दीर्घदर्शनः—दीर्घं अनपबाध्यं दर्शनं यस्य' अर्थात् जिसका दर्शन—ज्ञान किसी से बाधित नहीं होता। जो ज्ञान भ्रमात्मक होता है वह तो ज्ञानान्तर से बाधित हो जाता है, किन्तु यह भजनानन्दचन्द्र ज्ञानान्तर से बाधित होनेवाला नहीं है, यह ज्ञानान्तराबाध्य भजनानन्दचन्द्र चर्षणियों के शोक का मार्जन करता तथा प्राग्भवा तमोव्याप्ता बुद्धि के सत्त्वात्मक प्रधान भाग को अनुरागात्मक कुङ्कुम से लेपन करता हुआ उदित हुआ, जिस प्रकार कोई चिरप्रोषित

प्रियतम प्रवास से लौटकर अपनी प्रियतमा के शोकाश्रुओं का मार्जन करते हुए करधृत कुङ्कुम से उसके मुख का लेपन करता है।

अथवा यों समझो कि जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की उसी समय प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनी का मुख विलेपन करते हुए उडुराज (श्रीकृष्णचन्द्र) उस विहारस्थल में उदित हो गये। यहाँ 'उडुराज' शब्द में उपमालङ्कार है अर्थात् श्रीकृष्णरूप चन्द्र जो कि चन्द्रमा के समान चन्द्रमा हैं वे प्रियतमा श्रीराधिकाजी का मुखविलिम्पन करते हुए उस विहारस्थल में इसी प्रकार प्रकट हुए जैसे चन्द्रमा प्राची दिशा को अनुरञ्जित करते हुए उदित होते हैं। उडुराज जिस प्रकार प्राची दिशा के मुख यानी प्रधान भाग को करों (किरणों) से अनुरञ्जित करते हैं उसी प्रकार यहाँ क्रीड़ाभूमि में श्रीकृष्णचन्द्र करकमलों में ली हुई होलिका-रोलिका (होली के गुलाल) से श्रीराधिकाजी का मुखमण्डल अनुरञ्जित करते हैं। जिस प्रकार उदयकालीन चन्द्रमा उदयराग से प्राची दिशा और समस्त आकाश को अरुण कर देता है ठीक उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने प्रकट होकर अपने शन्तम-कर अर्थात् मङ्गल-मय करव्यापारों से समस्त व्रजाङ्गनाओं के मुखमण्डल को अरुण कर दिया। यहाँ 'शन्तमैः करैः' यह भगवान् के समस्त मङ्गलमय अङ्गों का उपलक्षण है। वे अङ्ग मङ्गलमय हैं और मङ्गलकारक भी हैं, क्योंकि भगवान् 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' तथा—

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दमूर्त्तये।
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे॥

आदि वाक्यों के अनुसार शुद्ध सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्द-मात्र तत्त्व हैं; तथा 'एष ह्येवानन्दयाति' इस श्रुति के अनुसार वे ही सब प्राणियों को आनन्दित भी करते हैं, अतः वे आनन्दप्रद भी हैं। उन्होंने नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनी के समान अन्य व्रजाङ्ग-नाओं के मुखमण्डल को भी सुखमय और सुखावह करव्यापारों से अरुण किया तथा उनके कर्णरन्ध्रों को वेणुराग से और हृदयाकाशों को प्रेमराग से रञ्जित कर दिया। इस प्रकार वे उदित हुए। यहाँ 'करैः' में जो बहुवचन है वह स्वरूपों की बहुलता के अभिप्राय से भी हो सकता है, क्योंकि यहाँ रासलीला में भगवान् को अनेक रूप से आविर्भूत होना है। अतः भगवान् के अनेक रूपों की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग उचित ही है।

तथा व्रजाङ्गनाओं को जो भगवान् के साथ विहारावसर प्राप्त न होने का शोक था उसे भी अपने शन्तम कर यानी सुखप्रद लीलामय विहारविशेषों से ही निवृत्त करते हुए भगवान् प्रकट हुए। यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस सूत्र के अनुसार 'मृजन्' में भविष्यार्थ में वर्तमान का प्रयोग हुआ है। अर्थात् भगवान्, अपने साथ विहार करने का सुअवसर न मिलने के कारण जो गोपाङ्गनाओं को शोक था, उसकी निवृत्ति करेंगे इसी लिये उदित हुए हैं। यहाँ—

रलयोर्डलयोश्चैव सषयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः ॥*

---

* अर्थात् अलङ्काररहस्यज्ञ महानुभाव र और ल, ड और ल, स और ष तथा ब और व इनकी सवर्णता बतलाते हैं।

इस वचन के अनुसार 'उडुराजः' की जगह 'उरुराजः' भी समझा जाता है। अर्थात् जिस समय भगवान् वृन्दारण्य में पधारे उस समय श्रीयशोदा और नन्दबाबा को विकलता होने की सम्भावना हुई, क्योंकि जिस प्रकार फणी मणि को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार वे भगवान् से विलग नहीं रह सकते थे। अतः भगवान् अनेक रूप से प्रकट हुए। अर्थात् वृन्दारण्य में प्रकट होने पर भी वे एक रूप से श्रीयशोदाजी के शयनागार में भी रहे। इसीसे उन्हें 'उरुधा—बहुधा राजते यः स उरुराजः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उरुराज—अनेक रूप से सुशोभित होनेवाले कहा है।

यहाँ 'प्रियः' यह उडुराज का विशेषण है। जिस प्रकार रसिक और भक्त पुरुष दोनों ही को चन्द्रमा प्रिय है उसी प्रकार भगवान् भी सबके परम-प्रेमास्पद हैं। चन्द्रमा में रसिकों का प्रेम तो शृङ्गाररस का उद्दीपनविभाव होने के कारण है; किन्तु साथ ही वह भक्तों को भी अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि उसके मध्य में जो श्यामता है वह उन्हें हृदयाकाश में स्थित ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप का स्मरण दिलाती है। तथा उसके दर्शनमात्र से भी अपने प्रियतम के प्रति प्रेमियों के अनुराग की वृद्धि होती है। देखो, चन्द्रमा अत्यन्त दूर देश में है तो भी वह समुद्र की अभिवृद्धि का हेतु होता है। जान पड़ता है कि मानो समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गों द्वारा चन्द्रमा से मिलना चाहता है। इससे यह सूचित होता है कि प्रिय वस्तु चाहे कितनी ही दूर रहे किन्तु प्रेमी को उसके प्रति अनुराग की वृद्धि होती है। इसी से जब-जब पूर्णचन्द्र का उदय होता है तभी-तभी समुद्र

अत्यन्त उत्सुकता से उससे मिलने के लिये उत्ताल तरङ्गों में उछलने लगता है। यह सब देखकर प्रेमियों की ऐसी भावना हो जाती है कि जिस प्रकार यह समुद्र अपने प्रियतम तक पहुँचने के प्रयत्न में वारम्वार असफल होते रहने पर भी हताश नहीं होता उसी प्रकार हमें भी अपने प्रियतम से निराश या निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। इस प्रकार प्रेमियों को प्रेमरीति सिखानेवाला, भगवान् कृष्ण में रमणेच्छा उत्पन्न करानेवाला तथा समस्त जीवों को आनन्दित करनेवाला होने के कारण चन्द्रमा सब प्रकार से प्रेमास्पद ही है। इसी प्रकार सर्वान्तरात्मा श्रीभगवान् भी सभी के परम-प्रेमास्पद हैं, क्योंकि कोई पुरुष कैसा ही नास्तिक या देहाभिमानी क्यों न हो उसे भी अपनी आत्मा में ही निरतिशय प्रेम होता है।

यह चन्द्रमा कैसा है? 'दीर्घदर्शनः'—दीर्घकालानन्तरे अनेकरात्र्यवसाने दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियों के पीछे होता है, क्योंकि पूर्णचन्द्र एक मास के अनन्तर ही उदित होता है। यदि इसे भगवान् का विशेषण माना जाय तो इस प्रकार अर्थ होगा—'दीर्घमबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिनका दर्शन दीर्घ यानी अबाध्य है, क्योंकि 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस सूत्र के अनुसार सर्वसाक्षी भगवान् की दर्शनशक्ति का लोप कभी नहीं होता। भगवान् कृष्ण प्रत्यगात्मा होने के कारण ही "प्रियः"—परप्रेमास्पद हैं तथा सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा होने के कारण ही सर्वद्रष्टा हैं। जो सर्वद्रष्टा है वह किसी का दृश्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह जिसका

दृश्य होगा उसका द्रष्टा नहीं हो सकता और ऐसा होने पर उसका सर्वद्रष्टृत्व बाधित हो जायगा। अतः सर्वद्रष्टा श्रीभगवान् की दर्शनशक्ति का किसी समय लोप नहीं होता।

दर्शन दो प्रकार का है—बौद्धदर्शन और पौरुषेयदर्शन। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण का उन इन्द्रियों के विषयों से संश्लिष्ट होकर तदाकार हो जाना बौद्धदर्शन है। यह बुद्धि का परिणाम है। यहाँ बुद्धि ही इन्द्रियों द्वारा विषयों को व्याप्त कर उनके आकार में परिणत हो जाती है।

इसी को कहीं-कहीं पौरुषेयदर्शन भी कहा है। बुद्धि में जो पुरुषत्व का आरोप होता है उसी के कारण बुद्धिनिष्ठ दर्शन पुरुष-निष्ठ-सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि में जो विवेक-ज्ञान और शब्दादि ज्ञान है इनका अपने में आरोप करके यह पुरुष 'अहं विवेकवान्' और 'अहम् शब्द-ज्ञानवान्' प्रतीत होता है। वस्तुतः तो यह आरोप भी बुद्धि में ही है। पुरुष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि यह आरोप बुद्धिनिष्ठ है तो इसकी पुरुषनिष्ठता प्रतीत नहीं होनी चाहिये, बुद्धि-निष्ठता ही अनुभूत होनी चाहिये। किन्तु बुद्धि, प्रकृति का विकार होने के कारण जड़ है, अतः यह आरोप अनुभव का विषय (दृश्य) ही होना चाहिये, अनुभवरूप नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात तो है नहीं; इसलिये इसे बुद्धिनिष्ठ ही क्यों माना जाय ?

इसका उत्तर यह है कि यह बुद्धिनिष्ठ आरोप बुद्धि में पुरुषत्व की भ्रान्ति कराने के कारण बुद्धिनिष्ठ होने पर भी पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है; इसीसे वस्तुतः वह आरोप अनुभव का विषय होने पर भी अनुभवरूप-सा प्रतीत होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ततः यही निश्चय हुआ कि बौद्ध बोध ही पौरुषेय बोध-सा प्रतीत होता है। पौरुषेय बोध बुद्धिबोध से भिन्न नहीं है। इसीसे कहा है—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'। यहाँ तत्तदाकारवृत्ति ही 'ख्याति' कही गई है। व्युत्थान-अवस्था में पुरुष ख्यात्याकार हो जाता है 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'। वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढभेद से तीन प्रकार की हैं; अतः व्युत्थानावस्था में पुरुष भी शान्त, घोर और मूढरूप हो जाता है।

यह कथन लोकव्यवहारोपयुक्त दर्शन की दृष्टि से है। वास्तव में तो इस बौद्धबोध से व्यतिरिक्त पुरुष का स्वभावभूत चैतन्य ही पौरुषेय दर्शन है। यदि बौद्धबोध को ही पुरुष का स्वभाव माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि समाधि-अवस्था में समस्त चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाने पर पुरुष का क्या स्वभाव रहता है? तात्पर्य यह है कि यदि उसका स्वभाव बौद्धबोध ही है तो उस अवस्था में समस्त बुद्धिवृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण वह स्वभावशून्य होकर कैसे रहेगा? कारण, ऐसा कोई समय नहीं है जब कि पुरुष शब्दादि वृत्तियों में से किसी के साथ तादात्म्यापन्न न हो। समस्त वृत्तियाँ पाँच विभागों में विभक्त की गई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; इनमें से किसी-न-किसी

के साथ पुरुष का सारूप्य रहता ही है। जिस प्रकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वशून्य नहीं रहता उसी प्रकार पुरुष शान्त, घोर या मूढवृत्तियों से शून्य कभी नहीं रहता। अतः ये उसके स्वभाव ही हैं। यदि कहें कि समाधिकाल में वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरण का ही भोक्ता रहता है तो ठीक नहीं, क्योंकि निर्वृत्तिक अन्तःकरण भोगोपयोगी नहीं है, क्योंकि भोग और सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिरूप पुरुषार्थ-सम्पादन करनेवाली अन्तःकरण रूप में परिणत हुई ही प्रकृति पुरुष की भोग्य हो सकती है। निर्वृत्तिक चित्त में तो ये दोनों ही बातें नहीं हैं। अतः समाधि-अवस्था में पुरुष का कोई स्वभाव ही नहीं रहता। कोई भी भावरूप पदार्थ अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकता। पुरुष भावरूप है, अतः समाधि-अवस्था में भी उसका सद्भाव रहने के कारण क्या हो सकते हैं?

इसपर सिद्धान्ती कहता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि भाव के दो रूप हैं—औपाधिक और अनौपाधिक। बौद्धबोध पुरुष का औपाधिक रूप है, अतः समाधि में उसका अभाव हो जाने पर भी पुरुष का निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक स्वरूप तो रहता ही है। यही मुख्य पौरुषेय-बोध है। यह पुरुष का स्वाभाविक चैतन्य ही वास्तविक दर्शन है। दृष्टि दो हैं—नित्या और अनित्या। ख्याति अनित्या दृष्टि है, यह उदयास्तमयशालिनी है। इसकी साक्षीभूता जो नित्या

दृष्टि है उसी के विषय में श्रुति कहती है—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि का लोप कभी नहीं होता। यही दीर्घा दृष्टि है और यही मुख्य भी है। इसीसे भगवान् को अविलुप्तदृक् कहा है। यह दृष्टि समस्त अनित्य दृष्टियों की दृष्टि (साक्षिणी) है; अर्थात् अनित्य दृष्टियों की दृष्टि और उनका द्रष्टा एक ही बात है। यहाँ 'द्रष्टुः दृष्टिः' यह कथन ऐसा ही है जैसे 'राहोः शिरः' अर्थात् जिस प्रकार शिर राहु से तनिक भी भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह दृष्टि भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है, अतः 'द्रष्टुः' इस पद में जो षष्ठी है वह सामानाधिकरण्य में है; अर्थात् जो दृष्टि द्रष्टा से अभिन्न है वही द्रष्टा की दृष्टि है। और यदि व्यधिकरण-षष्ठी मानकर अर्थ किया जाय तो इसके दो तात्पर्य होंगे—द्रष्टृजन्या दृष्टि या द्रष्टृप्रकाशिका अर्थात् द्रष्टृविषयिणी दृष्टि। इनमें पहली द्रष्टा के आश्रित है और दूसरी द्रष्टा का आश्रय है तथा पहली अनित्या है और दूसरी नित्या। इससे सिद्ध हुआ कि घटादि-दर्शन का आश्रय तो द्रष्टा है तथा उस द्रष्टा का जो दर्शन है, जिस दर्शन का विषय वह द्रष्टा है वही शुद्ध आत्मा है। वह दृष्टि क्या है? वह द्रष्टा की स्वरूपभूता है। यहाँ 'द्रष्टा' शब्द से काल्पनिक द्रष्टा अभिप्रेत है। उस (काल्पनिक द्रष्टा) का आश्रय ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है, जैसे रज्जु में अध्यस्त सर्प का रज्जु। वह दृष्टि कौन-सी है? इसका परिचय श्रुति इस प्रकार देती है—

'सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति' इत्यादि।

इस प्रकार जिसके द्वारा स्वाप्निक पदार्थों की प्रतीति होती है वह दृष्टि आत्मस्वरूपा ही है। यहाँ शङ्का होती है कि उसके भी तो उत्पत्ति और नाश देखे जाते हैं; अतः वह भी अनित्या ही है। इस पर हमारा कथन यह है कि ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो अज्ञान में लीन हो जाती हैं और अन्तःकरण विषयरूप हो जाता है। जाग्रदवस्था के हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मों का क्षय तथा स्वप्नावस्था के हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मों का उदय होने पर, जाग्रदवस्था में अपने-अपने अधिष्ठातृ देवता से अनुगृहीत भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुए भिन्न भिन्न ज्ञानों के संस्कारों से संस्कृत हुआ अन्तःकरण ही स्वाप्निक-पदार्थों के रूप में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सिनेमा में अनेक प्रकार के चित्रों से चित्रित पट ही विशेष प्रकार के प्रकाश, गति और काँच से संयुक्त होकर नाना प्रकार की गतियाँ करता प्रतीत होता है।

किन्तु उस समय (स्वप्न में) इन सबका दर्शन किसके द्वारा होता है? यदि कहो कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूपादि उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार अनिर्वचनीय दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि प्रातिभासिक अनिर्वचनीय पदार्थ सदा ज्ञातसत्ताक ही होते हैं। उनका सर्वदा अपरोक्ष-ज्ञान हुआ करता है। किन्तु इन्द्रियाँ अज्ञातसत्ताक भी होती हैं, क्योंकि वे स्वयं अज्ञात रहकर भी वस्तु का प्रकाशन करने में समर्थ हैं। अतः अज्ञातसत्ताक होने के कारण उनका आरोप नहीं हो सकता; अतः स्वाप्निक रूप की दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि स्वाप्निक रूप की दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है तो उसमें दृष्टि, श्रुति, विज्ञाति आदि भेद नहीं हो सकते, क्योंकि वह तो निर्विशेष अर्थात् सामान्यरूप है। उसमें यह नामरूपात्मक भेद कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि इन अनिर्वचनीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनिर्वचनीय सम्बन्ध स्वप्रकाश आत्मा में अनिर्वचनीय श्रुति, अनिर्वचनीय मति एवं अनिर्वचनीय विज्ञाति आदि उत्पन्न कर देता है, जिस प्रकार एकरस प्रकाश भी नील, पीत, हरित काँचों के साथ संश्लिष्ट होने पर तत्तद्रूपवान् प्रतीत होता है। किन्हीं-किन्हीं लम्पों में देखा जाता है कि उसके भिन्न-भिन्न पार्श्वों में भिन्न-भिन्न वर्ण के काँच लगे रहते हैं। उनके कारण उसकी दीपशिखा एकरूप होने पर भी भिन्न-भिन्न ओर से विभिन्न वर्ण की दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार एक ही शुद्ध ब्रह्म विविध उपाधियों के कारण विविधरूप प्रतीत होता है। यहाँ दृष्टान्त में दीपशिखा के सन्निहित होनेवाले नील, पीत, हरित काँच समान-सत्तावाले हैं, अर्थात् उन सभी की व्यावहारिक सत्ता है; इसलिये उसका वैवर्ण्य पारमार्थिक भी कहा जा सकता है। परन्तु आत्मा से संश्लिष्ट ये शब्दादि तो अतात्त्विक हैं; अतः अतात्त्विक शब्दादि के सम्बन्ध से होनेवाला तात्त्विक-आत्मा का भेद भी अतात्त्विक ही है।

यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकाराकारित-वृत्तिरूप जो दृष्टि आदि हैं उनके संस्कारों से संस्कृत अन्तःकरण ही शब्दादिरूप से परिणत होता है। अतः

दर्शन-श्रवण आदि के संस्कारों से संस्कृत जो अन्तःकरण है उसके सम्बन्ध से ही शुद्ध चैतन्य में दृष्टि, श्रुति आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं; जिस प्रकार सुषुप्ति में यद्यपि अहङ्कार नहीं रहता तथापि जागने पर यही अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस प्रकार की स्मृति से उस समय भी अहङ्कार की सत्ता सिद्ध होती है। परन्तु वस्तुतः उस समय अहङ्कार नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्था में इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि अहङ्कार के धर्म नहीं देखे जाते और धर्म के बिना धर्मी की स्थिति सम्भावित नहीं है; तथापि अहङ्कार न रहने पर भी अहंसंस्कार-संस्कृत अज्ञान तो रहता ही है; इसीसे जागृति में उसका परामर्श होता है।

अब हम इस श्लोक के तात्पर्य का एक अन्य प्रकार से विचार करते हैं—

'उडुराजः, उडुषु उडुसदृशतु षु राजत इति उडुराजः—वसन्तः। यदैव भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजो—वसन्त उदगात्'

अर्थात् जो उडुस्थानीय अन्य ऋतुओं में शोभायमान है वह वसन्त ही उडुराज है। जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की उसी समय वह वसन्तरूप उडुराज उदित हो गया। वह वसन्त ऋतु कैसा है? 'दीर्घदर्शनः—दीर्घकाले दर्शनं यस्य।' अर्थात् वर्तमान जो शरद् ऋतु है उसकी अपेक्षा जिसका दर्शन दीर्घकाल में होना सम्भव है। ऐसा वसन्त ऋतु भी काल का अतिक्रमण करके उदित हुआ।

उसीका विशेषण है 'ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः' अर्थात् जो क—स्वर्ग और कु—पृथिवी में भासित होता है। इससे वसन्तोपलक्षित होलिका में होनेवाले उत्सवादि भी सूचित होते हैं। 'प्रियः' भी उसी का विशेषण है, क्योंकि सब के प्रेम का आस्पद होने के कारण वह सब का प्रिय भी है। वह वसन्तरूप ककुभ और प्रिय उडुराज उदित हुआ। क्या करता हुआ उदित हुआ ?

'प्रियसङ्गमाभावजनितविषादान् मृजन् शन्तमैः करैश्च स्वोद्दीपन-विभावजनितेन अरुणेन प्रियसङ्गमसम्भावनाजनितेनानुरागेण प्राच्या नित्यप्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या इव चर्षणीनां श्रीकृष्णेन सह रन्तुं गमनशीलानामन्यासां व्रजाङ्गनानां विरहाग्निना पीतं मुखं विलिम्पन्'

अर्थात् वह प्रियसङ्गमाभाव के कारण उत्पन्न हुए विषाद को अपनी शान्त किरणों से (अथवा सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणों से) निवृत्त करते हुए तथा अपने उद्दीपनविभावरूप चन्द्रमा से उत्पन्न हुए अरुण यानी प्रियतम के समागम की सम्भावना से प्रकट हुए अनुराग द्वारा प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृष-भानुसुता के समान, अन्य सब चर्षणीगण—भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रमण करने के लिये अभिसरण करनेवाली समस्त गोपाङ्गनाओं के विरहाग्निजनित पीड़ा से पीले पड़े हुए मुखों का लेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ 'प्राच्या मुखम् अरुणेन विलिम्पन्' इसका अर्थ यह भी हो सकता है—

'प्राच्याः नित्यप्रियायाः व्रजभुवः मुखं मुख्यं भागं श्रीवृन्दारण्यम् अरुणेन किंशुकादिपुष्पविकासेन विलिम्पन्'

अर्थात् नित्यप्रिया व्रजभूमि के मुख (मुख्य भाग) श्रीवृन्दारण्य को अरुण—किंशुकादि रक्तपुष्पों के विकास द्वारा रञ्जित करते हुए उदित हुए। उस समय वसन्त के उदय से यों तो सभी जीव और भूमियों की ग्लानि निवृत्त हो गई थी, किन्तु उसने प्रधानतया वृन्दारण्य को तो किंशुककुसुमादि की अरुणिमा से और भी अनुरञ्जित कर दिया था।

इस प्रकार जब समस्त जड़वर्ग भगवान् की लीला में उपयुक्त होने के लिये उद्यत हुआ तो विराट् भगवान् का मनरूप चन्द्रमा भी उस रमणलीला में उद्दीपनरूप से सहायक होकर उदित हुआ, क्योंकि विराट् तो भगवान् का परम भक्त है। उस चन्द्रमा में जो उदयकालीन लालिमा है वह उसका भगवद्विषयक अनुराग है, तथा उसमें जो श्यामता है वह मानो ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप है। उस चन्द्रमा की जो अरुण कान्ति है वह मानो भगवल्लीला की सम्भावना से प्रादुर्भूत हुए मानसिक उल्लास के कारण जो उसकी मन्द मुस्कान है उसी के कारण विकसित हुई दन्तावली की अधर-कान्तिमिश्रित आभा है। तथा उस चन्द्रमा का जो निखिलव्योम-व्यापि अमृतमय शीतल प्रकाश है वह भगवद्दर्शन के अनन्तर विराट् भगवान् का उदार हास है। विराट् के ईषत्हास में उसकी देदीप्यमान दन्तपंक्ति की आभा ओष्ठों की अरुणिमा से अरुण होकर प्रकट होती है; किन्तु उसके उदार हास में ओष्ठों के दूर हो जाने से उस ओष्ठों की अरुणिमा का सम्बन्ध बहुत कम रह जाता है, इसलिये उस समय उस दन्तपंक्ति की दीप्ति बहुत स्फुट होती है।

नक्षत्रमण्डल ही विराट् भगवान् की दन्तावली है। उस उल्लास के कारण जो हर्षोत्कर्ष से उद्गत रोमावली है वही ये वृक्ष हैं। इस प्रकार भगवल्लीला-दर्शन के लिये उल्लसित होकर विराट् भगवान् का मनरूप चन्द्रमा प्रकट हुआ। उस चन्द्रमा का विशेषण है—

'ककुभः—के स्वर्गे मण्डलरूपेण कौ पृथिव्यां प्रकाशरूपेण च भातीति ककुभः'

अर्थात् जो मण्डलरूप से आकाश में और प्रकाशरूप से पृथिवी में प्रकाशित होता है वह चन्द्रमा ककुभ है।

वह क्या करता हुआ उदित हुआ ?

शन्तमैः करैश्चर्षणीनां श्रीकृष्णरसास्वादनाय वृन्दारण्यं प्रति अभिसरणशीलानां व्रजाङ्गनाजनानां शुचः तमआदिरूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उद्दीपनविधया वा लोककुलमर्यादारूपानु प्रतिबन्धान् मृजन् उदगात्'

अर्थात् वह अपनी सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणों से, श्रीकृष्ण-रसास्वादन के लिये वृन्दारण्य की ओर जानेवाली व्रजाङ्गनाओं के शोक अर्थात् अन्धकारादिरूप प्रतिबन्धों का अथवा उद्दीपनरूप से उनके लोक एवं कुलमर्यादा रूप प्रतिबन्धों का निराकरण करता हुआ उदित हुआ। इसके सिवा अपनी नित्यप्रिया श्रीवृषभानु-दुलारी के समान अन्य गोपाङ्गनाओं के भी विरहतापसन्तप्त पीले मुखों को प्रियतम के सङ्गम की सम्भावना से होनेवाले अनुरागरूप उदयकालीन अरुणिमा से अनुरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। भगवान् की परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधिकाजी तो नित्य ही

भगवत्-संश्लिष्टा हैं, अतः उन्हें यह वियोगजनित ताप नहीं है और इसी से उनके मुख में पीतता भी नहीं है, प्रत्युत नित्य ही दीप्तियुक्त अरुणिमा है। किन्तु अन्य व्रजाङ्गनाओं को यह सौभाग्य उपासना के पश्चात् प्राप्त होता है। अतः उपासना की परिपक्वता से पूर्व, जब कि पूर्वराग का भी प्रादुर्भाव नहीं होता, वे भगवद्विरह से व्यथित रहती हैं और उनका समस्त अङ्ग पीला पड़ जाता है। इस समय इस चन्द्रमा ने उदित होकर प्रियतम के समागम का सन्देश सुनाकर उस पीतिमा को अरुणिमा में परिणत कर दिया।

परम प्रेमास्पद परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से तादात्म्य-प्राप्ति के लिये भला कौन उत्सुक न होगा? परन्तु अधिकांश उपासक तो उपासना का परिपाक होने के अनन्तर ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु श्रीराधिकाजी का भगवान् के साथ शाश्वत सम्प्रयोग है। जिस प्रकार सुधासमुद्र में मधुरिमा नित्य-निरन्तर और सर्वत्र है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीवृष-भानुनन्दिनी हैं। अतः श्रीकृष्ण और राधिकाजी का नित्य संयोग है। उनके सिवा और किसी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। यद्यपि तत्त्वतः तो भगवान् सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन ही हैं। अतः उनमें अन्य वस्तु के संयोग का अवकाश तभी हो सकता है जब वह भगवद्रूप हो। विजातीय वस्तु का उनके साथ कभी योग नहीं हो सकता। और वस्तुतः विजातीय कोई वस्तु है भी नहीं। विचारवानों ने तो जीव को भगवत्स्वरूप ही कहा है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी॥

जीव में जो सुखित्व-दु:खित्वादि प्रतीत होते हैं वे यदि स्वाभाविक होते तो उसमें भगवत्सम्प्रयोग की योग्यता ही नहीं हो सकती थी। अत: उसके ये धर्म आरोपित हैं। आरोप की निवृत्ति होते ही जीव का भी भगवान् से तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार श्री वृषभानुसुता तो भगवान् से नित्य-संश्लिष्टा हैं किन्तु इतर व्रजबालाओं का उनसे कल्पित भेद है। उस भेद की निवृत्ति होते ही उनका भी भगवान् से अभेद हो जायगा।

मायामोहित जीव प्राय: भगवान् की ओर प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे वह बाह्य-प्रपञ्च में आसक्त रहता है। जिस समय किसी महान् पूर्वपुण्य के प्रभाव से उसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर होती है उस समय वह बाह्यप्रपञ्च से विरत हो जाता है और धीरे-धीरे उसे भगवत्तत्त्व ही परप्रेमास्पद प्रतीत होने लगता है। फिर उसे भगवान् का एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है। इस प्रकार के विरहानल से सन्तप्त होकर उसका अन्त:करण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और जिन दोषों के कारण वह अपने प्रियतम की उपेक्षा का भाजन बना हुआ था वे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस विरहावस्था में उसका मुख पीला पड़ जाता है। भक्तशिरोमणि श्रीभरतजी की इसी अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बैठे देखि कुशासन जटामुकुट कृशगात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

इस प्रकार प्रियतम के विप्रयोग में प्रियतम के प्रेमास्पदत्व की अनुभति हो जाती है। जब तक प्रेमास्पद प्रेमास्पदरूप से अनुभूत नहीं होता तभी तक प्रमाद रहता है। उसमें प्रेमास्पदत्व की अनुभूति होने पर तो उसके विना एक पल के लिये भी चैन नहीं पड़ता। फिर तो उसकी वियोगाग्नि में झुलसकर शरीर दुर्बल हो जाता है तथा मुख पीला पड़ जाता है।

इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के मुख भी भगवद्विप्रयोग में पीले पड़ गये थे। अतः आज जो चन्द्रमा उदित हुए हैं वे एक विलक्षण चन्द्र हैं। आज इनके उदय से उद्दीपनविधया जो भगवान् के सङ्गम की सम्भावना से एक उत्साह विशेष होगा उससे उनकी वह पीतिमा अरुणिमा में परिणत हो जायगी।

जब कुछ प्रतीक्षा के बाद विलम्ब में प्रेमी का दर्शन होता है तब कुछ विलक्षण ही रस आता है। अतएव उडुराज को दीर्घ-दर्शन कहा है, दीर्घकाल में दर्शन हुआ है जिसका उसे वह दीर्घ-दर्शन है। इधर श्रीकृष्ण का भी बहुत प्रतीक्षा के बाद विलम्ब में ही दर्शन होता है अतः वे भी दीर्घदर्शन ही हैं। अथवा अनुराग-जन्य विह्वलता से दीर्घकाल तक प्रियामुख दर्शन करनेवाले श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। अथवा दीर्घ अर्थात् नित्य है दर्शनस्वरूपभूता दृष्टि जिसकी वे श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। यहाँ समझ लेना चाहिए कि दृष्टि दो प्रकार की है एक अन्तःकरणवृत्तिरूपा अनित्य दृष्टि

श्रुति आदि और दूसरी आत्मस्वरूपभूता नित्य दृष्टि। उसी नित्य दृष्टि को ही स्वप्न की दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति कहा जाता है—"सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति।"

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि स्वप्न की दृष्टि, श्रुति, मति एवं विज्ञाति आदि तो आत्मस्वरूप होने के कारण नित्य हैं; नित्य होने से उनका नाश नहीं हो सकता और नाश न होने से संस्कार नहीं बन सकता, क्योंकि संस्कार ज्ञानादि का नाश होने पर ही उत्पन्न होता है, जिस प्रकार घटज्ञान का नाश होने पर ही घटसंस्कार की उत्पत्ति होती है। इसी से ज्ञानकाल में स्मृति नहीं हुआ करती। अतः यदि स्वप्न की दृष्टि, श्रुति आदि नित्य हैं तो उनकी स्मृति नहीं होनी चाहिये। परन्तु स्मृति होती ही है। इसका क्या समाधान होगा?

इसका उत्तर यह है कि स्वप्न के समय दृष्टि, श्रुति आदि तो आत्मस्वरूप ही हैं, तथापि उनके विषयों का नाश तो होता ही है। उनके नाश से ही संस्कार बनता है। इसी से उनके ज्ञान का भी नाश कहा जा सकता है। यहाँ विलक्षणता यही है कि नित्य होने पर भी उसका नाश कहा जा सकता है। इसमें कारण यही है कि विशेष्य के नित्य बने रहने पर भी विशेषण के नाशवान् होने के कारण विशिष्ट के नाश का व्यवहार होता है; जैसे आकाश के बने रहने पर भी घटरूप विशेषण का नाश होने पर घटाकाश का नाश कहा जाता है। विशिष्ट पदार्थ का अभाव तीन प्रकार माना जाता है—विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभावप्रयुक्त

विशिष्टाभाव तथा उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; जैसे कोई दण्ड-धारी पुरुष है, उसके दण्डित्व का अभाव तीन प्रकार से हो सकता है—(१) दण्डरूप विशेषण का अभाव होने पर, (२) पुरुषरूप विशेष्य का अभाव होने पर अथवा (३) दण्ड और पुरुष दोनों ही का अभाव होने पर। इसी प्रकार यहाँ विशेष्यस्थानीय आत्मचैतन्य तो बना हुआ है, केवल शब्दादि विशेषणों के नाश से ही दृष्टि, श्रुति, मति आदि विशिष्ट-ज्ञानों का नाश कहा जाता है; क्योंकि केवल आत्मचैतन्य ही दृष्टि, श्रुति आदि नहीं है अपितु अनिर्वचनीय-रूपादि से सम्बन्धित चैतन्य ही दृष्टि-श्रुति आदि है। अतः केवल चैतन्य के बने रहने पर भी रूपादि-विशेषण के नाश मात्र से रूपादिविशिष्ट चैतन्य का नाश कहा जा सकता है। इस प्रकार दृष्टि, श्रुति आदि का नाश हो जाने से उनके संस्कार और स्मृति दोनों ही बन सकते हैं।

इसी से कई आचार्यों ने सुख की स्मृति भी सुख का नाश होने पर ही मानी है, क्योंकि घटादि-वृत्तियों के समान वे सुख की वृत्ति को सुख से पृथक् नहीं मानते। वे कहते हैं कि वृत्ति तो आवरण की निवृत्ति के लिये है। जो वस्तु अज्ञातसत्ताक होती है उसी का आवरण हटाने के लिये वृत्ति होती है। सुख-दुःखादि तो अज्ञातसत्ताक हुआ ही नहीं करते। यदि कहो कि वृत्ति चैतन्य से सम्बन्ध कराने के लिये है, क्योंकि भिन्न-भिन्न आचार्यों के मता-नुसार वृत्ति दो प्रकार की है—आवरणाभिभवात्मिका और चैतन्य-सम्बन्धार्था। सिद्धान्त यह है कि घटादि का प्रकाश घटाद्यवच्छिन्न

चैतन्य से ही होता है, किन्तु जब तक वह आवृत रहता है तब तक उसका प्रकाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञान अनावृत चैतन्य से ही होता है। अतः वृत्ति का काम यही है कि आवरण की निवृत्ति कर अनावृत चैतन्य से सम्बन्धित घटादि का ज्ञान करावे। दूसरे आचार्य वृत्ति को चैतन्यसम्बन्धार्था मानते हैं। वे कहते हैं कि सबका परमकारण होने से ब्रह्म का घटादि से सम्बन्ध तो है ही, अतः घटादि का ज्ञान होना ही चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः एक विलक्षण सम्बन्ध मानने की आवश्यकता है। उसे अभिव्यंग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध कहते हैं। चैतन्य का वस्तु पर अभिव्यञ्जन कैसे होता है ? जैसे दर्पणादि में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार जिस पदार्थ में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी का प्रकाश हुआ करता है।

लोक में यह देखा जाता है कि दर्पणादि स्वच्छ वस्तुएँ ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाली हुआ करती हैं, घटादि अस्वच्छ वस्तुओं में उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार चेतन का प्रतिबिम्ब भी अन्तःकरण में ही पड़ता है कुड्यादि अस्वच्छ वस्तुओं में नहीं पड़ता। किन्तु जिस प्रकार स्वच्छ जलादि का योग होने पर अस्वच्छ कुड्यादि में प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता आ जाती है उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण का योग होने पर घटादि भी चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। अन्तःकरण की घटाद्याकाराकारिता वृत्ति चैतन्य के साथ घटादि का सम्बन्ध कराने के लिये ही होती है। जिस समय अन्तःकरण की वृत्ति

घटाद्याकारा होती है उस समय अन्तःकरणवृत्तिसंश्लिष्ट घट चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है; इसी से घट की स्फूर्ति होती है।

इसी प्रकार कोई-कोई आचार्य अन्तःकरण की वृत्ति का प्रधान प्रयोजन जीवचैतन्य के साथ विषयावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य कराना मानते हैं। उनका मत ऐसा है कि जो वस्तु जिस चैतन्य में अध्यस्त होती है वही उसका प्रकाशक होता है; अतः घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को अपने में अध्यस्त घटादि का ज्ञान हो सकता है। तथापि प्रमाता जो जीव है उसे उसका ज्ञान किस प्रकार हो? अतः इन्द्रियमार्ग से विषय तक गई हुई अन्तःकरण की वृत्ति उस विषयावच्छिन्न चेतन के साथ जीवचेतन का अभेद कर देती है। उस समय वह विषयावच्छिन्न चेतन में अध्यस्त विषय अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन यानी जीवचेतन में अध्यस्त कहा जा सकता है। अतः इस प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन के साथ विषय का आध्यासिक सम्बन्ध होने से उसके द्वारा उस विषय का स्फुरण हो जाता है।

इससे सिद्ध यही हुआ कि वृत्तियों की आवश्यकता चाहे आवरणाभिभव के लिये मानें चाहे जीव के साथ विषय का सम्बन्ध कराने के लिये मानें और चाहे अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन और विषयावच्छिन्न चेतन के अभेद के लिये मानें, सुख के प्रकाश के लिये वृत्तियों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुख तो अन्तःकरण के समान स्वच्छ ही है। घटादि तो अस्वच्छ थे, इसलिये उन्हें चैतन्य-सम्बन्ध के लिये वृत्ति की आवश्यकता थी। किन्तु सुख तो स्वतः स्वच्छ है; इसलिये जीवचैतन्य के साथ उसके सम्बन्ध

के लिये वृत्ति की आवश्यकता नहीं है। यहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन के साथ सुखावच्छिन्न चेतन का अभेद सम्पादन के लिये भी वृत्ति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुख का आश्रय तो अन्तः-करण ही है अतः वहाँ आवरणभङ्ग के लिये वृत्ति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि आवरण वहाँ होता है जहाँ पदार्थ की सत्ता ज्ञात नहीं होती। सुख अज्ञातसत्ताक है ही नहीं। इसलिये आवरण न होने के कारण आवरणाभिभवात्मिका वृत्ति की भी आवश्यकता नहीं है। इसी से सुख को केवल साक्षीभास्य मानते हैं। यदि ऐसा न मानेंगे तो वृत्ति के प्रकाश के लिये भी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि वृत्ति के प्रकाश के लिये वृत्ति नहीं मानते तो सुख के प्रकाश के लिये ही क्यों मानते हो?

यहाँ किन्हीं-किन्हीं का ऐसा मत है कि सुख का स्मरण होता है, इसलिये सुखाकाराकारित वृत्ति माननी चाहिये, क्योंकि उसका नाश होने पर ही सुख का संस्कार होगा और संस्कार से ही स्मृति होगी। किन्तु विशेष विचार करने पर इसकी आवश्यकता प्रतीत न होगी। सुख ज्ञान क्या है? साक्षी का जो सुख के साथ सम्बन्ध है वही सुखज्ञान है। सुख का नाश होने से साक्षीगत सुखसंश्लिष्टत्व का नाश हो जायगा। इस प्रकार सुख के नाश से ही उसका संस्कार बन जायगा और उसीसे स्मृति भी बन जायगी। अतः सुखज्ञान के लिये वृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों के मत में सुख और सुखज्ञान का कारण आत्म-मनःसंयोग है। किन्तु सुख की उत्पत्ति भी आत्ममनःसंयोग से

ही होती है। अतः एक आत्ममनःसंयोग तो सुख की उत्पत्ति के लिये मानना होगा और दूसरा सुखज्ञान के लिये। ये दोनों एक समय हो नहीं सकते। इसलिये जिस समय सुखज्ञान का हेतुभूत आत्ममनःसंयोग होगा उस समय सुख का हेतुभूत आत्ममनःसयोग नष्ट हो जायगा और उसका नाश हो जाने से सुख भी नहीं रहेगा, क्योंकि असमवायीकारण का नाश होने पर कार्य का भी नाश हो जाता है, जैसे तन्तुसंयोग का नाश होने पर पट का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार सुख के रहते हुए तो सुखज्ञान न हो सकेगा और सुखज्ञान के समय सुख न रहेगा। यद्यपि यहाँ नैयायिकों का कथन है कि असमवायीकारण का नाश होने पर उसके कार्यभूत द्रव्य का ही नाश होता है, गुण का नाश नहीं होता और सुख गुण है; इसलिये इसका भी नाश नहीं हो सकता, तथापि इस संकोच में कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

यहाँ हमें इतना ही विचार करना है कि जिस प्रकार जागृत में सुखज्ञान आत्मस्वरूप है उसी प्रकार स्वप्न में शब्दादिज्ञानरूप जो दृष्टि, श्रुति, एवं मति आदि हैं वे भी आत्मस्वरूप दर्शन ही हैं। अतः यह दर्शन ही आत्मदर्शन या दीर्घदर्शन है। अतः 'दीर्घं पौरुषेयं चैतन्यात्मकं अबाध्यं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दीर्घ यानी पौरुषेय चैतन्यात्मक अबाध्य दर्शन है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। उनका चैतन्यात्मक दर्शन अलुप्त है। अतः जिन-जिन गोपाङ्गनाओं के अन्तःकरण में जितने प्रीति आदि भाव थे उन सभी के अलुप्तदृक्

साक्षी श्रीभगवान् उनकी अभिरुचि की पूर्ति के लिये विहार-स्थल में प्रकट हुए।

अथवा 'दीर्घं सर्वविषयं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शन:' अर्थात् जिसका दर्शन (दृष्टि) दीर्घ—सर्ववस्तुविषयक है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। 'यः सर्वज्ञ: सर्ववित्' इत्यादि श्रुति के अनुसार भगवान् दीर्घदर्शन हैं। अत: सामान्य और विशेष रूप से वात्सल्य-माधुर्यादि अनेकविध भावोंवाली व्रजाङ्गनाओं को देखकर केवल माधुर्यभाववती व्रजाङ्गनाओं की अभिलाषा-पूर्ति के लिये भगवान् प्रकट हुए।

इस पर यदि कोई कहे कि इस प्रकार अलुप्तदृक् अथवा सर्वज्ञ सर्ववित् रूप से भी सभी के अभिप्राय को जाननेवाले श्रीहरि सभी की अभिलाषापूर्ति के लिये प्रादुर्भूत क्यों नहीं हुए? तो इसका कारण यह है कि भगवान् का यह दर्शन दीर्घ—बहुमूल्य है। उनका जो केवल चैतन्यात्मक सामान्य दर्शन है वह तो सभी भावों का भासक और अधिष्ठान होने के कारण किसी का साधक या बाधक नहीं है। किन्तु यहाँ का यह दर्शन अमूल्य है। यह कृपाशक्ति से उपहित है। अत: यहाँ केवल दृष्टि ही नहीं, कृपा का आधिक्य है। अत: यह बहुमूल्य है। इसीसे कहा है—

यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दित: सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥

अर्थात् जो राम को नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते वह समस्त लोकों में निन्दनीय है तथा उसका आत्मा भी उसका

तिरस्कार करता है। राम प्राकृत राजकुमार नहीं हैं बल्कि वे सबके अन्तरात्मा हैं। अतः आत्मस्वरूप श्रीराम का दर्शन न करनेवाले आत्मघाती हैं ही। यदि राम आत्मस्वरूप न होते तो उनका दर्शन न करने में इतनी विगर्हा नहीं थी, क्योंकि इतना निन्दनीय तो आत्मा का ही अदर्शन है, जैसा कि श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अर्थात् जो कोई (ऐसे) आत्मघाती* लोग हैं वे उन असुर्य नामक (अनात्मज्ञों के आत्मभूत देहात्मक) लोकों को जाते हैं जो अदर्शनात्मक अन्धकार से आवृत हैं।

इस दृष्टि से श्रीरामभद्र समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। अतः जिसने उन्हें नहीं देखा और जिसे उन्होंने नहीं देखा वह निन्दनीय है ही। इसलिये इस निन्दा से छूटने के लिये उन अपने स्वरूपभूत श्रीरघुनाथजी का साक्षात्कार करना ही चाहिये। किन्तु यदि राम आत्मस्वरूप हैं तो सर्वावभासक होने के कारण सर्वदृक् हैं ही। उनका न देखना बन ही नहीं सकता। फिर जब ऐसा नियम है कि—

---

* जो आत्मतत्त्व नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है उसको कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनर्थों से संयुक्त मानना उसका अपमान करना है। और 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इस भगवदुक्ति के अनुसार यह अपमान उस आत्मदेव की मृत्यु ही है, अतः अनात्मज्ञ आत्मघाती ही है।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।'

तो घटादि विषयों के भान से पूर्व भी श्रीराम का भान होना अनिवार्य है ही; क्योंकि जैसे प्रतिबिम्ब का ग्रहण दर्पण-ग्रहण के अनन्तर ही होता है उसी प्रकार चितिरूप दर्पण के ग्रहण के अनन्तर ही चैत्यरूप प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है। अतः ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो घटादि को देखे और चैतन्यात्मक श्रीरामभद्र को न देखे।

तो फिर यह दर्शन कैसा है ? यहाँ रामभद्र का दर्शन उनके कृपाकोण से देखना है, तथा विशुद्ध भगवदाकाराकारित मनोवृत्ति पर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार करना जीव का भगवद्दर्शन है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् का जो अनुग्रहोपेत दर्शन है वही व्रजाङ्गनाओं की अभिलाषापूर्ति का हेतु होने के कारण दीर्घदर्शन है। यद्यपि भगवान् का अनुग्रह भी समस्त जीवों पर समान ही है, तथापि उसकी विशेष अभिव्यक्ति तो भक्त की भावना पर ही अवलम्बित है। श्रुति कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।'

अर्थात् यह आत्मा जिसको चाहता है उसी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसी के प्रति यह अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

अर्थात् जो लोग जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार मैं भी उनकी कामना पूर्ण करता हूँ।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि पृथिवी में नरदारकरूप से प्रकट हुए श्रीकृष्णचन्द्र में अलुप्तदृक्त्वादि कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

'ककुभः—कं सुखं तद्रूपतयैव कौ पृथिव्यामपि भातीति ककुभः।'

अर्थात् 'क' सुख को कहते हैं, भगवान् 'कु' अर्थात् पृथिवी में भी सुखरूप से भासमान हैं इसलिये ककुभ हैं। तात्पर्य यह है कि परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् पृथिवी पर अवतीर्ण होकर भी परमानन्दरूप से ही अभिव्यक्त हैं। अर्थात् जो अलुप्तदृक् विशुद्ध परमानन्दघन तत्त्व है वही पृथिवी में श्रीनन्दनन्दन-रूप से सुशोभित है; अतः इस रूप में भी उसका अलुप्तदृक्त्व अक्षुण्ण ही है।

अथवा 'कं सुखं तद्रूपा कुः पृथिवी भाति यस्मात् असौ ककुभः' अर्थात् क सुख को कहते हैं, अतः जिनके कारण कु—पृथिवी भी सुखस्वरूपा जान पड़ती है वे भगवान् ककुभ हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् के अलुप्तदृक्त्व और परमानन्द-सिन्धुत्व में तो सन्देह ही क्या है, उनकी सन्निधि से तो 'कु' शब्दवाच्या पृथिवी भी आनन्दरूपा होकर भास रही है। जिस समय रासलीला से भगवान् अन्तर्हित हो गये उस समय श्रीकृष्ण-सौन्दर्यसमास्वादन से प्रमत्त हुई गोपाङ्गनाएँ वृक्षादि से उनका पता पूछती हुई अन्त में पृथिवी से कहती हैं—

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥

अर्थात् 'अरी पृथिवि ! तूने ऐसा क्या तप किया है कि जिसके कारण तू श्रीकृष्णचन्द्र के स्पर्शजनित आह्लाद से हुए रोमाञ्चों से सुशोभित है ? अथवा श्रीउरुक्रम भगवान् के पाद-विक्षेपजनित चरणस्पर्श से या श्रीवराह भगवान् के आलिङ्गन से तुझे यह रोमाञ्च हुआ है ?'

यहाँ सन्देह हो सकता है कि पृथिवी तो जड़ है, उससे ऐसा प्रश्न करना किस प्रकार सार्थक होगा ? तो इस सम्बन्ध में मेघ-दूत के यक्ष का दृष्टान्त स्मरण रखना चाहिये। वह भी तो मेघ-द्वारा अपनी प्रियतमा के पास अपना सन्देश भेज रहा था। बात यह है कि जो विरही होते हैं उन्हें चेतनाचेतन का विवेक नहीं रहता। प्रिया की वियोगव्यथा से पीड़ित भगवान् राम भी मानो विरहियों की दशा का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—'हे चन्द्र ! तुम पहले श्रीजानकीजी का स्पर्श कर उनके अङ्ग-सङ्ग से शीतल हुई किरणों द्वारा फिर हमारा स्पर्श करो।' इसी प्रकार यहाँ भी पृथिवी से प्रश्न हो सकता है। विरहिणी व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि में तो पृथिवी भगवत्सम्बन्धिनी होने के कारण चेतन ही है।

अतः वे पृथिवी से पूछती हैं, 'हे क्षिति ! तुमने ऐसा कौन सा तप किया है ? यदि कहो कि हम तो जड़ हैं, हमारे में तुम्हें तप

का क्या चिह्न दिखाई देता है ? तो हमें तो मालूम होता है कि तुमने अवश्य ही कोई बड़ा तप किया है। इसी से तो तुम्हें भगवान् के चरणस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे तुम्हारा आनन्दोद्रेक स्पष्ट प्रकट होता है, क्योंकि बिना आनन्दोद्रेक के रोमाञ्च नहीं होता। अतः परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-स्पर्शजनित उल्लास से ही तुम रोमाञ्चित हो रही हो।' यहाँ पृथिवी की ओर से यह कहा जा सकता था कि पृथिवी का यह तरुलतारूप रोमाञ्च तो अनादि काल से है इसे तुम श्रीकृष्णचन्द्र के चरणस्पर्श से हुआ कैसे मानती हो ? इस पर कहती हैं— "यह तो निश्चय है कि इस प्रकार की रोमोद्गति भगवच्चरणों के स्पर्श से ही हो सकती है; चाहे यह श्रीकृष्णचन्द्र के चरणस्पर्श से हुई हो अथवा भगवान् उरुक्रम के पादविक्षेप के समय उनके पद-स्पर्श से हुई हो या जिस समय भगवान् ने वाराह अवतार लेकर तुम्हारा आलिङ्गन किया था उस समय उस आलिङ्गनजनित आनन्दोद्रेक से यह रोमाञ्च हुआ हो। तुम्हें भगवच्चरणों का स्पर्श अवश्य हुआ है और तुम हमारे प्राणाधार श्रीनन्दनन्दन का पता भी अवश्य जानती हो; अतः हम पर दयादृष्टि करके हमें उनका पता बतला दो।'

पृथिवी का इस प्रकार का सौभाग्य तो परम्परा से है। अर्थात् यह सौभाग्य पृथिवी के समस्त देश को प्राप्त नहीं है, बल्कि उसके एक देश को ही है। किन्तु जिस प्रकार भगवान् राम के चित्रकूट पर निवास करने से 'बिनु श्रम विन्ध्य बड़ाई पावा' सारा विन्ध्या-

चल ही सौभाग्यशाली समझा गया, उसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि केवल व्रजभूमि को ही भगवान् के चरणस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त था, क्योंकि अन्यत्र रथादि या पादत्राणादि का व्यवधान अवश्य रहता था, तथापि उसी के कारण सारी पृथिवी की सौभाग्यश्री की सराहना की गई। व्रज को तो यह सौभाग्य प्राप्त था ही। इसी से कहा है—

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'

अर्थात् आपके प्रादुर्भूत होने से व्रज बहुत ही धन्य-धन्य हो रहा है; क्योंकि यहाँ निरन्तर ही लक्ष्मीजी का निवास रहने लगा है। वैकुण्ठ की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी वैकुण्ठलोक की सेव्या है, किन्तु यहाँ तो वह श्रयते—सेवते अर्थात् सेवा करती है—सेविका है। यही नहीं 'वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः' कहकर तो स्पष्ट ही वृन्दारण्य की शोभा में भगवच्चरणों का ही कारणत्व निर्देश किया गया। अतः सिद्ध हुआ कि जिनके कारण अर्थात् जिनका चरणस्पर्श पाकर 'कु—पृथिवी भी परमानन्दमयी हो रही है वे श्रीभगवान् ही ककुभ हैं।

अथवा 'कः ब्रह्मापि कुत्सितो भाति यस्मात् असौ ककुभः' अर्थात् जिनकी अपेक्षा ब्रह्मा भी कुत्सित ही प्रतीत होता है वे भगवान् ही ककुभ हैं। ऐसी स्थिति में उनकी सर्वज्ञता और अलुप्तदृक्ता में तो सन्देह ही क्या है ?

ऐसे अचिन्त्यानन्दैश्वर्यशाली श्रीभगवान् व्रजाङ्गनाओं के रमण के लिये वृन्दारण्य में कैसे आये ? इस पर कहते हैं 'के ब्रह्मणि

कौ कुत्सिते अस्मदादावपि समान एव भातीति ककुभः' अर्थात् वे भगवान् ब्रह्मा और हम जैसे कुत्सितों में भी समान रूप से ही विराजमान हैं इसीलिये ककुभ कहे जाते हैं, क्योंकि भगवान् की दृष्टि में उत्कृष्ट-अपकृष्ट भेद नहीं है। भला जब कि भगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले मुनियों की भी ऐसी स्थिति होती है कि 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' तो फिर स्वयं भगवान् में विषम दृष्टि क्यों होने लगी ?

भगवान् तो समस्वरूप हैं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' वे केवल वरणमात्र से ही भेददृष्टिवाले से जान पड़ते हैं। जिसने परप्रेमास्पदरूप से उनका वरण किया है उसी को 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस नियम के अनुसार वे आत्मीयरूप से स्वीकार करते हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहि न पाप-पुन्य गुन-दोषू॥
तदपि करहिं सम-विषम बिहारा।
भक्त-अभक्त हृदय अनुसारा॥

तात्पर्य यह है कि भगवान् के सम-विषम व्यवहार में भक्त का हृदय ही हेतु है। परम करुणामय श्रीभगवान् की परमभास्वती अचिन्त्य कृपा अपार है। किन्तु जिसने उसका प्राकट्य कर लिया है उसे ही उसकी उपलब्धि होती है। इसका उपाय यही है कि उस परम प्रेमास्पद तत्त्व को स्वकीय रूप से वरण करे, उसकी प्रार्थना करे और उसे आत्मसमर्पण करे। बस इसी से वह भग-

त्कृपा प्रकट हो जायगी। इस प्रकार परमकरुण और कृपालु श्रीहरि हम जैसे कुत्सितों की मनोरथपूर्ति के लिये भी सब प्रकार कृपा करते हैं।

अब एक दूसरी दृष्टि से इस श्लोक के अर्थ का विचार करते हैं। प्रथम श्लोक की व्याख्या में एक स्थान पर कहा गया था शरदोत्फुल्लमल्लिका के समान आपातरमणीय सुखों में ही आसक्त 'ता रात्रीः' अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त उस प्राकृत प्रजा को देखकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। जिस समय भगवान् ने अज्ञानियों के हृदयारण्य में रमण करने की इच्छा की उस समय उसे रमणार्ह बनाने के लिये पहले उनके हृदयाकाश में वैदिक श्रौत स्मार्त्त धर्मरूप चन्द्रमा का उदय हुआ, क्योंकि जब तक वर्णाश्रमधर्म का आचरण करके मन शुद्ध नहीं होगा तब तक वह भगवत्-क्रीडा का क्षेत्र बनने योग्य नहीं हो सकता। हृदय की शुद्धि का प्रधान हेतु वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्मों का आचरण ही है। जैसे चन्द्रोदय से वृन्दारण्य भगवत्क्रीडा के योग्य होता है उसी प्रकार वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से मनुष्य का हृदय भगवान् की विहारभूमि बन सकता है।

इसमें 'उडुराजः' का अर्थ एक तो चन्द्रमा ही ठीक है। दूसरे 'रलयोः डलयोश्चैव' इत्यादि नियम के अनुसार पहले 'ड़' और 'ल' का सावर्ण्य होने से 'उलुराजः' और फिर 'ल' और 'र' का सावर्ण्य होने से 'उरुराजः' माना जाय तो 'उरुधा राजत इति उरुराजः' ऐसा विग्रह करके यह अर्थ करेंगे कि यजमान, ऋत्विक्, द्रव्य

एवं देवतारूप से अनेक प्रकार सुशोभित होनेवाला यज्ञ ही उरुराज है। धर्म के स्वरूप ये ही हैं। पहले हम कह चुके हैं कि अवयवी अवयवों से अभिन्न होता है। अतः धर्म के अङ्ग होने के कारण ये यजमानादि धर्मरूप ही हैं। 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' इस वाक्य के अनुसार कर्म अनेकविध साधनसाध्य ही है। इनमें द्रव्य और देवता तो कर्म के आन्तरिक साधन हैं और ऋत्विक् यजमानादि उसके सम्पादक होने के कारण वहिरङ्ग हैं। इस प्रकार यह वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्म ही चन्द्र है। वह जिस हृदय में उदित होता है उसे ही शुद्ध करके भगवान् की क्रीड़ाभूमि बना देता है।

वह उडुराज कैसा है? 'ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः' अर्थात् यह धर्म स्वर्ग और पृथिवी में समानरूप से भासता है। यह सारा प्रपञ्च धर्म का ही कार्य है, यदि धर्म न हो तो यह सब उच्छिन्न हो जाय। धर्म के विना न यह लोक है और न परलोक ही। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' अतः धर्म ही देवताओं का रक्षक है और धर्म ही मनुष्यों का। इसी से भगवान् ने कहा है—

> देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

अर्थात् 'इस वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्म से तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार परस्पर परितुष्ट करते हुए ही तुम परम श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।'

इस प्रकार साधारण स्वर्गादि ही नहीं मोक्ष प्राप्ति में भी यह वर्णाश्रमधर्म ही मुख्य हेतु है, क्योंकि विना वर्णाश्रमधर्म का यथावत् आचरण किये चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, विना चित्तशुद्धि के जिज्ञासा नहीं होगी, विना जिज्ञासा ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान के विना मोक्ष नहीं हो सकता।

इसीसे यह भी बतलाया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक परमोन्नति) की सिद्धि होती है वही धर्म है। तथा 'ध्रियेते अभ्युदयनिःश्रेयसौ अनेनेति धर्मः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयस का धारण करनेवाला है। वस्तुतः वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्म ही सम्पूर्ण प्रपञ्च को धारण करनेवाला है; इसी से कहा है—'धारणाद्धर्ममित्याहुः' अर्थात् धारण करने के कारण ही इसे धर्म कहते हैं। अतः शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्म का यथावत् आचरण करने से ही मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, और यही भगवत्पूजन का मुख्य प्रकार है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। इसी के द्वारा मनुष्य अन्तःकरण शुद्धिरूपा, भगवद्भक्तिरूपा और भगवज्ज्ञानलक्षणा सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

अतः जिसके हृदय में भगवान् रमण करना चाहते हैं उसके हृदय में पहले इस वर्णाश्रमधर्मरूप चन्द्र का ही उदय होता है। इस उडुराज के प्रियः और दीर्घदर्शनः ये दोनों विशेषण हैं। वह उडुराज कैसा है? 'प्रियः'—सबका प्रिय; क्योंकि सभी प्राणी

सुख चाहते हैं और सुख का साधन धर्म है। जो लोग ऐहिक अथवा आमुष्मिक सुख चाहते हैं उन्हें धर्म का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि उसकी प्राप्ति का साधन धर्म ही है। इसीसे बुद्धिमान् लोग सुख की परवाह न करके धर्मानुष्ठान पर ही जोर देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि साधन होने पर साध्य की प्राप्ति हो ही जायगी। अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख उपस्थित हो जायगा। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये।
धर्मसील पहँ जाहिं सुभाये॥

अर्थात् जहाँ धर्म है वहाँ सब प्रकार के सुख और वैभव को आज नहीं तो कल अवश्य जाना पड़ेगा। यही नहीं, भगवान् को भी धर्म हीं प्रिय है, इसीसे वे स्वयं कहते हैं—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।' अर्थात् मैं युग युग में धर्म की सम्यक् प्रकार से स्थापना करने के लिये जन्म ग्रहण करता हूँ। यद्यपि सर्वशक्तिमान् होने के कारण वे बिना अवतीर्ण हुए भी धर्म की स्थापना कर सकते थे, तथापि अपनी इस परम प्रेमास्पद वस्तु की रक्षा के लिये उनसे अवतीर्ण हुए बिना नहीं रहा जाता; वस्तुतः प्रेमावेश ऐसा ही होता है। इस विषय में एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है।

कहते हैं, एक बार किसी सम्राट् ने किसी बुद्धिमान् से कहा कि 'यदि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं तो धर्म और भक्तों की रक्षा के लिये अवतार क्यों लेते हैं; इस कार्य को वे अपने सङ्कल्पमात्र से

ही क्यों नहीं कर डालते; अथवा उनके बहुत-से सेवक भी हैं उन्हीं से इसे पूरा क्यों नहीं करा देते ?' इसपर उस बुद्धिमान् ने उत्तर देने के लिये एक मास का अवकाश माँगा। सम्राट् का एक अति सुन्दर पुत्र था, उसके प्रति सम्राट् का अत्यन्त स्नेह था। बुद्धिमान् ने ठीक उसी के आकार की एक मोम की मूर्ति बनवाई और एक दिन, जिस समय सम्राट् अपने बहुत-से सेवक और साथियों के सामने महल के तालाब में स्नान कर रहा था उस समय उस पण्डित ने उस मोम के पुतले को दुलार करते हुए तालाब की ओर ले जाकर उसे जल में गिरा दिया। अपने लाड़ले लाल को तालाब में गिरा जान सम्राट् उसकी प्राणरक्षा के लिये तुरन्त तालाब में कूद पड़ा और वहाँ अपने पुत्र की आकृति का एक पुतलामात्र देखकर पण्डित से इस अशिष्टता का कारण पूछा। पण्डित ने कहा—'महाराज ! यह आप के प्रश्न का उत्तर है; जिस प्रकार अपने बहुत-से दरबारी और दास-दासियों के रहते हुए भी राजकुमार के मोहवश आपके ध्यान में इस काम के लिये किसी को आज्ञा देने की बात नहीं आई उसी प्रकार भगवान् भी अपने अत्यन्त प्रिय भक्त या धर्म को सङ्कट में पड़ा देखकर स्वयं अवतीर्ण हुए बिना नहीं रह सकते।'

इस प्रकार यह धर्म-चन्द्र प्रिय है। इसके सिवा यही भगवत्प्राप्ति का भी असाधारण हेतु है; क्योंकि यह वर्णाश्रम धर्म ही भगवान् की आराधना का प्रधान साधन है, इसके सिवा किसी और साधन से उनकी प्रसन्नता नहीं हो सकती—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥

तथा भगवद्भक्ति ही तत्त्वज्ञान का प्रधान हेतु है; अतः परम्परा से ज्ञान का साधन भी यह धर्मचन्द्र ही है। यह बात सर्वथा सुनिश्चित है कि निर्गुण परमात्मा की प्राप्ति मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की निश्चलता होने पर ही हो सकती है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

अर्थात् 'जिस समय मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसी अवस्था को परमगति कहते हैं।' किन्तु आरम्भ में यह इन्द्रियादि की निश्चेष्टता अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः पहले वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करके अपने देह और इन्द्रियादि की उच्छृङ्खल चेष्टाओं को सुसंयत करना चाहिये, तभी उनका निरोध करना भी सम्भव होगा।

इसके सिवा और भी यह चन्द्र कैसा है? 'दीर्घदर्शनः—दीर्घेण कालेन फलात्मना दर्शनं यस्य इति दीर्घदर्शनः।' अर्थात् जिसका दीर्घकाल पश्चात् फलरूप से दर्शन होता है, क्योंकि कर्मफल होने में भी कुछ देरी अवश्य होती है; अथवा कीट-पतङ्गादि अनेक योनियों के पश्चात् जब जीव को मनुष्ययोनि प्राप्त होती है और उनमें भी जब उसका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों के अन्तर्गत होता है तब उसे इस धर्मचन्द्र का दर्शन होता है, क्योंकि

उसी समय उसे वैदिक श्रौत स्मार्त्त धर्मों का आचरण करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये भी वह दीर्घदर्शन है।

अथवा 'दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन दीर्घ-अबाध्य है ऐसा यह धर्म-चन्द्र है, क्योंकि धर्म का ज्ञान वेदों से होता है और उनका प्रामाण्य किसी से बाधित नहीं है।

वह धर्मचन्द्र किस प्रकार प्रकट हुआ? 'स उडुराजः चर्षणी-नामधिकारिजनानां शुचः तत्तदभिलषिताप्राप्तिजन्या आर्ताः शन्तमैः सुखमयैः करैः सुखप्रदैश्च स्वर्गादिफलैर्मृजन् दूरीकुर्वन्नुदगात्' अर्थात् वह चन्द्रमा अधिकारी पुरुषों की अपने अभिलषित पदार्थों की अप्राप्ति के कारण होनेवाली दीनता को स्वर्गादि सुखमय और सुखप्रद फलों द्वारा निवृत्त करता हुआ प्रकट हुआ। साथ ही स्वाभाविक कामकर्मरूप आर्त्ति भी आर्त्ति की जननी होने के कारण आर्त्ति ही है। उसका मार्जन करता हुआ भी प्रकट हुआ। इस पक्ष में यह समझना चाहिये कि जो सुखरूप और सुखप्रद शास्त्रीय काम-कर्मादि हैं, उनसे स्वाभाविक काम-कर्मादि की निवृत्ति होती है।

और क्या करता हुआ प्रकट हुआ?

यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखमरुणेन विलिम्पन्नुदगात् एवमेवायमपि प्रियो दीर्घदर्शनश्च उडुराजोऽरुणेन कर्मजन्येन सुखेन तद्रागेण वा प्राच्याः प्राचीनाया बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन् तद्गतदुःखं दूरीकुर्वन्नुदगात्।

जिस प्रकार प्रियतम भगवान् कृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृष-भानुनन्दिनी के मुख को अपने करधृत कुङ्कुम से अनुरञ्जित करते प्रकट हुए थे उसी प्रकार यह प्रिय और दीर्घदर्शन चन्द्र भी अरुण-कर्मजनित सुख अथवा उसके राग से प्राची—प्राग्भवा बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को लेपित करते हुए अर्थात् उसके दुःख को दूर करते हुए प्रकट हुए। अथवा यों समझो कि "प्राच्याः अविवेक-दशायाः मुखं जाड्यं स्वजनितेन नित्यानित्यविवेकेन तिरस्कुर्वन्नुदगात्' अर्थात् बुद्धि की जो अविवेकदशा है, उसके मुख यानी जडता को अपने से उत्पन्न हुए नित्यानित्यविवेक से तिरस्कृत करता हुआ प्रकट हुआ, क्योंकि वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध होता है। इससे नित्यानित्यवस्तु विवेक होता है और विवेक से बुद्धि की जडता निवृत्त होती है।

प्रथम श्लोक में जहाँ 'ताः' पद से मुमुक्षुरूपा प्रजा ग्रहण की गई है वहाँ इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार लगाना चाहिये कि जिस समय भगवान् ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओं के हृदयारण्य में श्रुति-रूपा व्रजाङ्गनाओं का आवाहन कर उनके साथ रमण करने का विचार किया उसी समय उस हृदयारण्य को अतिशय सुशोभित करने के लिये 'उडुराजः विवेकचन्द्रः उदगात्'—उडुराज यानी विवेकरूप चन्द्रमा उदित हुआ। उस विवेकरूप चन्द्र को उडुराज क्यों कहा है? इस पर कहते हैं—'उडुस्थानीयासु किञ्चित्प्रकाशन-शीलास्वन्तःकरणवृत्तिषु शमदमादिरूपासु वा राजते अतिशयेन दीप्यते इति उडुराजः'—क्योंकि वह उडुस्थानीया मन्द प्रकाशमयी अथवा

शम-दमादिरूपा अन्तःकरण की वृत्तियों में राजमान—अतिशय देदीप्यमान है, इसलिये उडुराज है। यह विवेक-चन्द्र उन सब की अपेक्षा अधिक शोभाशाली है, क्योंकि यह सर्ववृत्तिवेद्य परमतत्त्व का अवद्योतक है। अथवा यों समझो कि जिसके अन्तर्गत समस्त वृत्तिवेद्य वस्त्वन्तर हैं यह विवेकचन्द्र उसका ज्ञान कराता है; अथवा समस्त वृत्तियाँ, उनके विषय तथा आश्रय अर्थात् प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन सबका अवभासक जो परमतत्त्व है उसका इस विवेकचन्द्र से ही बोध होता है, इसलिये यह उडुराज है। अथवा शान्तिदान्तिरूपा जो चित्तवृत्तियाँ हैं वे उडुस्थानीया हैं, उनकी शोभा इस विवेक-चन्द्र के पूर्णतया उदित होने पर ही होती है, विना विवेक के उनमें भी पूर्णता नहीं आती, इसलिये यह उडुराज है।

अथवा 'रलयोः डलयोश्चैव' इत्यादि नियम के अनुसार 'उरुधा राजते शोभते इति उरुराजः'— जो अनेक प्रकार से सुशोभित होता है वह उरुराज ही उडुराज है। विवेक के चार भेद हैं—साध्यालम्बन, साधनालम्बन, ऐक्यालम्बन और निर्विकल्पालम्बन। इस प्रकार अनेकों तरह से सुशोभित होने के कारण वह उरुराज है। त्वंपदार्थ के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करना साधनालम्बन विवेक है। पञ्चभूतविवेकपूर्वक तत्पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात् रूप से अनुभव करना साध्यालम्बन विवेक है। तत् और त्वंपदार्थों का ऐक्य निश्चय करना ऐक्यालम्बन विवेक है तथा त्वंपदार्थ की उपाधि देहादि तथा तत्पदार्थ की उपाधि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण प्रपञ्चादि—इन दोनों प्रकार के विकल्पों को सबके अधिष्ठानभूत

स्वप्रकाश परब्रह्म में लीन करके जो निर्विकल्प वस्तु का ज्ञान होता है वह निर्विकल्पालम्बन विवेक है।

यहाँ कोई कह सकता है कि विवेक तो दो मिश्रित वस्तुओं के पार्थक्यकरण का नाम है, किन्तु यहाँ निर्विकल्पावस्था में तो समस्त प्रपञ्च का अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में किससे किसका विवेक किया जायगा? इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि सम्मिश्रण सर्वदा सत्य पदार्थों का ही नहीं हुआ करता, सत्य और मिथ्या पदार्थों का भी हो जाता है। यदि सत्य पदार्थों का ही सम्मिश्रण होता तो वे विवेक के पश्चात् भी बने ही रहते; किन्तु जहाँ सत्य और असत्य पदार्थों का मेल है वहाँ तो विवेक के अनन्तर असत्य का निवृत्त हो जाना ही भूषण है। इस प्रकार निर्विकल्पालम्बन विवेक भी सम्भव है ही।

अथवा 'उरुतया विस्तीर्णतया राजते शोभते इति उरुराजः' क्योंकि पूर्णरूप से राजमान तत्त्वविवेक ही है। जो अन्तःकरण विवेकरहित है वह पूर्णतया अनर्थशून्य नहीं हो सकता। सभी प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति विवेक होने पर ही तो की जाती है; जैसा कि कहा है—

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदकानि ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति चान्ये ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥

अर्थात् ज्ञान में किस प्रकार विशेष फल है वह इसी से समझ लो कि लोग सर्प, कुशा और जलाशय आदि का ज्ञान होने पर

ही उनसे बचते हैं, उनका पता न होने पर तो वे उनके शिकार हो ही जाते हैं।

इसी प्रकार विवेक से ही मनुष्य की प्रवृत्ति भगवत्तत्त्व में होती है। यदि विवेक न हो तो कौन प्रेमास्पद है और कौन त्याज्य है—इसका ज्ञान ही कैसे हो? अतः जो हृदयारण्य विवेकचन्द्र की शीतल और सुकोमल किरणों से अनुरञ्जित नहीं हुआ उसमें भगवान् का प्राकट्य होना असम्भव है। इसलिये भगवत्साक्षात्कार के लिये अन्तःकरण में विवेकरूप चन्द्र का प्रादुर्भाव अवश्य होना चाहिये।

जो लोग इस विवेकचन्द्र को भगवद्भक्ति का बाधक समझते हैं, उनके विषय में क्या कहा जाय? उनके सिद्धान्तानुसार यदि द्वैतस्थिति ही परमकल्याण का हेतु है तो वह तो कीट-पतङ्ग सभी को प्राप्त हीं है। अतः वे सभी परम कल्याण के भागी होने चाहियें। वस्तुतः प्रेम का कारण तो अपने परप्रेमास्पदत्व का ज्ञान ही है। यदि हमारी दृष्टि में अपने प्रेमास्पद से भिन्न अन्य पदार्थों की भी सत्ता रहेगी तो हमारा प्रेम उनमें भी बँटा रहेगा और यदि वे सब-के-सब अपने प्रेमास्पद में ही लीन हो जायँगे तो हमारा सारा प्रेम सिमटकर एकमात्र उस अपने आराध्यदेव में ही पुञ्जीभूत हो जायगा। प्रेम का नाश तो होगा नहीं, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है। अतः निर्विकल्पालम्बनविवेक सम्पन्न हुए बिना तो ठीक-ठीक भगवत्प्रेम हो ही नहीं सकता।

एक बात ध्यान देने की और भी है। निरतिशय प्रेम सदा त्वंपदार्थ के लिये ही हुआ करता है; अपने आराध्यदेव में भी जो

प्रेम होता है वह आत्मीय होने के ही नाते होता है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

'न वारे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति'।

अर्थात् हे मैत्रेयी! देवता लोग देवताओं के लिये प्रिय नहीं होते; बल्कि अपने ही लिये प्रिय होते हैं। जो उपासक अपने को भगवान् से भिन्न समझते हैं वे किस लिये उनमें प्रेम करते हैं? इसी लिये न, कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा, अथवा ऐसा करने में ही हमें आनन्द आता है; अतः उनका वह भगवत्प्रेम भी आत्मतुष्टि के ही लिये होता है। जिन महानुभावों का ऐसा कथन है कि हमारा सिद्धान्त तो तत्सुखित्व अर्थात् भगवान् के सुख में सुखी रहना है वे भी इसी लिये तो भगवत्सुख में सुखी हैं न, कि उन्हें उसी में सुख मिलता है।

इस प्रकार यदि यह नियम है कि आत्मा के लिये ही सब कुछ प्रिय होता है तो जो उपासक अपने से भिन्न मानकर किसी उपास्य की उपासना करता है, वह भी वास्तव में तो अपने सुख के लिये ही ऐसा करता है। इस प्रकार उसका उपास्य उसके सुख का शेषभूत हो जाता है किन्तु परप्रेमास्पद तो शेषी ही हुआ करता है, शेष नहीं होता। वह तो शेषी का शेष होने के कारण आपेक्षिक प्रेम का ही आस्पद होता है। आत्यन्तिक प्रेम का आस्पद तो शेषी ही होता है।

अतः हम जिस किसी भी तत्त्व को अपने से भिन्न मानेंगे वह हमारे परप्रेम का आस्पद नहीं होगा। बल्कि जिसे हम अपने से भिन्न मानेंगे वह हमें अपना शत्रु समझकर अपने परम स्वार्थ से च्युत कर देगा; क्योंकि अपने से भिन्न कोई भी पदार्थ मानने पर द्वैत हो जाता है और थोड़े से भी द्वैत को श्रुति भय का कारण बतलाती है—'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।' यदि कोई सभी को अपने से भिन्न समझता है तो सभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं; जैसा कि श्रुति कहती है—'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।'

इस पर कोई-कोई महानुभाव कहा करते हैं कि अनुकूलों में भेद रहने पर भी भय नहीं होता, किन्तु अनुकूलता सदा बनी ही रहेगी। इसमें भी तो कोई प्रमाण नहीं है। आज अनुकूलता है तो कल प्रतिकूलता हो सकती है। अतः अभय अभेद में ही है। इसी से कहा है—'अथ य उ एतस्मिन्नदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो अभयं गतो भवति'। अर्थात् जो कोई इस अदृश्य, अरूप, अनिर्वाच्य और अनिकेत ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त कर लेता है वह अभय पद को प्राप्त हो जाता है।

यदि हम प्राकृत क्षुद्र पदार्थों को अपने आत्मा या आत्मीयों से भिन्न समझते हैं तो वह हमें स्वार्थ से भ्रष्ट कर देता है तब यदि हम पूर्ण परब्रह्म परमात्मा को अपने सर्वान्तरतम परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मा से भिन्न मानेंगे तो वह हमें हमारे परम स्वार्थ से पतित

क्यों न कर देगा ? इसी से विवेकी वेद, शास्त्र, धर्म, ईश्वर इन सभी को, अपना परप्रेमास्पद बनाने के लिए, अपने से अभिन्न समझता है। वह एक अणु को भी अपने आत्मा से भिन्न नहीं समझता। इसलिये यह नास्तिकता नहीं, परम आस्तिकता है। विवेक से भगवत्तत्त्व के परातत्त्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। विवेकी भगवान् को कोई बाह्य वस्तु नहीं समझता, उसकी दृष्टि में तो जिस अपने आत्मा के लिये सारी वस्तुएँ प्रिय होती हैं उसी का वास्तविक स्वरूप भगवान् हो जाते हैं। इसलिये उसका तो भगवान् के प्रति निरुपाधिक और निरतिशय प्रेम हो जाता है।

इस प्रकार यह विवेकरूप चन्द्र भक्तितत्त्व का बाधक नहीं, परम साधक है। उस उडुराज का विशेषण है 'ककुभः—कं ब्रह्मात्मकं सुखं कुं कुत्सितं प्रकृतिप्राकृतात्मक जगत् भासयतीति ककुभः' अर्थात् क—ब्रह्मस्वरूप सुख और कु—प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थों से होनेवाला कुत्सित जगत्—इन दोनों को ही भासित करनेवाला होने से यह ककुभ है। जिस समय जगत् और परमानन्दमय परब्रह्म का विवेक होता है उस समय जागतिक सुख सर्वथा निःसार प्रतीत होने लगता है। ब्रह्मानन्द तो निरतिशय और त्रिकालाबाधित है, किन्तु प्राकृत सुख सातिशय और अनित्य है; अतः ब्रह्मानन्द की बाढ़ में उस प्राकृत सुख का तो विलीन हो जाना ही परम मङ्गल है।

अथवा 'के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेष्वपि भाति दीप्यते इति ककुभः' अर्थात् यह आत्मानात्मविवेक अथवा विवेक-चतुष्टय चाहे ब्रह्म

हो और चाहे कुत्सित—निम्नकोटि के प्राणियों में हो, दोनों ही की शोभा बढ़ाता है। वस्तुतः न्यूनता तो वहीं है जहाँ इसका अभाव है।

'प्रियः'—यह भी 'उडुराजः' का ही विशेषण है; क्योंकि यह विवेक-चन्द्र परप्रेमास्पद श्री भगवान् की प्राप्ति करानेवाला होने के कारण सभी को प्रिय है, तथा समस्त अनर्थों की निवृत्ति करनेवाला होने से भी प्रिय है।

इसी का विशेषण 'दीर्घदर्शनः' भी है। 'दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य अपौरुषेयत्वेन समस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कराहित्येनाप्रामाण्यशङ्काशून्य-वेदजनितत्वात् असौ दीर्घदर्शनः' अर्थात् अपौरुषेय होने के कारण जो पुरुषोचित दोषों के शङ्कारूप कलङ्क से रहित है, अतः जिसके अप्रामाण्य की भी कोई आशङ्का नहीं है उस वेद से उत्पन्न होने के कारण जिसका दर्शन—ज्ञान दीर्घ यानी अबाध्य है, वह विवेकचन्द्र दीर्घदर्शन है, क्योंकि विवेक वेद से होता है और वेद अपौरुषेय होने के कारण सब प्रकार के पुरुषोचित दोषों के शङ्कारूप कलङ्क से रहित है। अथवा इसका दर्शन दीर्घकाल में—अनेकों जन्मों के पश्चात् होता है—इसलिये यह दीर्घदर्शन है; जैसा कि श्रीभगवान् ने भी कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

ऐसा जो विवेकचन्द्र है वह 'चर्षणी'—अधिकारी पुरुषों के 'शुचः'—शोकोपलक्षित विविध दुःखों को विचाररूप अपनी कल्याणमयी और सुखप्रद किरणों से मार्जन करता हुआ उदित

हुआ; क्योंकि मन की उच्छृंखल वृत्तियों का शमन करने के लिये लाखों उपाय एक ओर और विवेक एक ओर है। उन मानसिक सन्तापों की शान्ति के लिये जो अन्य साधन हैं उनमें से बहुतों का तो अनुष्ठान ही असम्भव है तथा बिना विवेक के उनसे पूर्ण शान्ति भी नहीं होती। किन्तु यथार्थ विवेक तो एक क्षण में ही सभी विक्षेपों को शान्त कर देता है। हमारे चित्त में हर समय ऐसे विचारों का तुमुल युद्ध छिड़ा रहता है कि अमुक कार्य ठीक नहीं हुआ, अमुक पुरुष का व्यवहार उचित नहीं था, हमें अमुक समय तक अमुक कार्य अवश्य कर लेना चाहिये, हमें अमुक झंझट लगा ही हुआ है इत्यादि। यह विक्षेप किसी भी प्रकार की बाह्य सुविधाओं से निवृत्त नहीं हो सकता; किन्तु जिस समय ठीक-ठीक विवेक होता है उस समय इसका ढूँढ़ने पर भी पता नहीं लगता।

आयुर्वेद में भी कई जगह शारीरिक रोगों के हेतु मानसिक रोग ही माने गये हैं। उन मानसिक रोगों की चिकित्सा तो ओषधि आदि से हो ही नहीं सकती। कई स्थलों में तो कारण की चिकित्सा करने से ही कार्य की भी चिकित्सा हो जाती है; किन्तु जहाँ कार्य बहुत उग्र हो जाता है वहाँ पहले ओषधिप्रयोग द्वारा कार्य को निर्बल करके पीछे कारण की चिकित्सा करते हैं। किन्तु यहाँ आध्यात्मिक राज्य में तो यदि शोक, मोह एवं ईर्ष्या आदि रोगों की चिकित्सा हो जाय तो बाह्य व्याधियों का आश्रयभूत शरीर ही प्राप्त न हो। अतः पूर्ण स्वास्थ्य तो उन मूलभूत रोगों की चिकित्सा होने से ही प्राप्त हो सकता है। इसी से पूर्वकाल में जब शत्रुओं

से पराजित होने पर किसी राजा का राज्य छिन जाता था तो वह महर्षियों की ही शरण लेता था और वे उसे यही उपदेश करते थे—

यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः॥

अर्थात् तुम जिस वस्तु को ऐसा मानते हो कि वह है उसे यही समझो कि वह है नहीं। ऐसा निश्चय रहने से बुद्धिमान् पुरुष कड़ी से कड़ी आपत्ति प्राप्त होने पर भी व्यथित नहीं होता। वस्तुतः आत्मा से भिन्न जितना भी प्रतीयमान जगत् है उसमें अस्तित्व-बुद्धिपूर्वक जो भले-बुरेपन का निश्चय करना है वही सारे दुःखों का मूल है। यह प्रपञ्च तो अनन्त है। इसमें किसी भी समय अनुकूलता-प्रतिकूलता का अभाव हो जाय यह सर्वथा असम्भव है। अतः जब तक इसमें सत्यत्व बुद्धि रहेगी तब तक हृदय के तापों की शान्ति हो ही नहीं सकती। वस्तुतः अभिनिवेशपूर्वक निरर्थक एक ही वस्तु का बारम्बार अनुसन्धान करना ही पूरा रोग है। किन्तु जिस समय विवेक-चन्द्र का उदय होता है उस समय सारी अनुकूलता-प्रतिकूलता बालू की भीत के समान ढह जाती है।

वह विवेक-चन्द्र क्या करता हुआ उदित हुआ?—'अरुणेन ब्रह्मात्मना विषयेण प्राच्याः प्राचीनायाः धियः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन्' अर्थात् अरुण यानी ब्रह्मरूप विषय से प्राग्भवा बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को विलेपित करता उदित हुआ। तात्पर्य यह

है कि जिस समय विवेकरूप चन्द्र का प्रादुर्भाव होता है उस समय बुद्धि पूर्ण परब्रह्मरूप रङ्ग से रँग जाती है। यह नियम है कि बुद्धि अपने विषय से अनुरञ्जित हुआ करती है। विवेक होने पर एकमात्र शुद्ध परब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है; इसलिये उस समय बुद्धि ब्रह्मराग से ही अनुरञ्जित हो जाती है। प्रेम यानी राग का आस्पद होने के कारण भी परमात्मा अरुण कहा जाता है। अथवा यों समझो कि 'प्राच्याः अविवेकदशापन्नायाः बुद्धेः मुखं जाड्यात्मकं दुःखात्मकं वा भागम् अरुणेन ब्रह्मसाक्षात्कारजन्येन सुखेन विलिम्पन् तिरोहितं कुर्वन् उदगात्'—प्राची यानी अविवेक दशा को प्राप्त हुई बुद्धि के मुख—जाड्यात्मक या दुःखात्मक भाग को अरुण यानी ब्रह्मसाक्षात्कारजनित सुख से विलेपित—तिरोहित करता हुआ उदित हुआ।

किस प्रकार उदित हुआ सो बतलाते हैं—'यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या मुखम् अरुणेन कुङ्कुमेन विलिम्पन् उदगात्।' अर्थात् जिस प्रकार प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमा श्री वृषभानुनन्दिनी के मुख को अरुण कुङ्कुम से विलेपित करते हुए उदित हुए थे उसी प्रकार यह विवेकचन्द्र उदित हुआ।

इसके सिवा प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए जहाँ 'ताः' शब्द से ज्ञानीरूपा प्रजा ग्रहण की गई है वहाँ पर यह समझना चाहिये कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानियों के विवेकी अन्तःकरण-रूप अरण्य में रमण करने की इच्छा की 'तदैव'—उसी समय 'उडु-राजः' परमात्मारूप चन्द्र का उनके विवेकी अन्तःकरणरूप वृन्दारण्य

में श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं के साथ रमण करने के लिये उदय हुआ। यहाँ 'उडुराजः' शब्द का तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये—'उडुस्थानीयेषु परिमितज्ञानक्रियादिशक्तिशीलेषु जीवेषु राजते इति उडुराजः' अर्थात् परमात्मारूप चन्द्र उडुस्थानीय परिमित ज्ञानक्रियादिशील जीवों में राजमान हैं इसलिये उडुराज हैं। जीवों की उपाधि मलिन है, इसी से उनकी ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अभिभूत रहती है। उनकी शक्ति परिच्छिन्न है। अतः उन्हें विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर ही कुछ ज्ञान होता है। प्रमाण-निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता, क्योंकि सारे प्रमाण आवरण के अभिभावक हैं। किन्तु परमात्मा की ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अपरिच्छिन्न हैं; उनकी उपाधिभूता लीलाशक्ति भी परम विशुद्धा है। अतः वह अपने आश्रय परमात्मा का आवरण नहीं करती; इसलिये परमात्मा की स्वाभाविकी ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति अपनी उपाधि से अनभिभूता होने के कारण किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार प्रमाणानपेक्ष ज्ञान क्रियावान् होने के कारण ही परमात्मा अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक राजमान (शोभाशाली) है और इसी से जीवरूप उडुओं की अपेक्षा से उसे उडुराज कहा है।

अथवा यों समझो कि घटाकाशस्थानीय जीव उडु के समान हैं और महाकाशरूप परमात्मा नियन्तृत्वेन जीवों में विराजमान है। यह नियन्तृत्व ऐसा है कि जैसे घटाकाश महाकाश के अधीन है उसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर के अधीन है। इसी से अभेद होते हुए भी नियमन बन जाता है। अथवा जैसे

प्रतिबिम्ब बिम्बाधीन हैं उसी प्रकार जीव ईश्वर के अधीन हैं। इस प्रकार भी वह उडुराज है।

अथवा 'रलयोः डलयोश्चैव' आदि नियम के अनुसार 'उडुराजः' के स्थान में 'उरुराजः' मानें तो यों समझना चाहिये—'उरुधा जीवेशादिरूपेण बहुधा राजत इति 'उरुराजः' अर्थात् जीव-ईश्वरादिरूप से अनेक प्रकार राजमान है इसलिये परमात्मा उरुराज है; जैसे कि कहा है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' अथवा सगुण-निर्गुणरूप से अनेक प्रकार राजमान है इसलिये उरुराज है; या जायमान और अजायमानरूप से राजमान है, इसलिये उरुराज है; जैसा कि श्रुति कहती है—'अजायमानो बहुधा व्यजायत' अर्थात् अजन्मा होने पर भी परमात्मा महदादि रूप से अनेक प्रकार उत्पन्न हुआ है। अथवा रासलीला में वे अनेक रूप से राजमान हुए थे इसलिये उरुराज हैं। श्रुति भी कहती है—'स एकधा भवति दशधा भवति शतधा सहस्रधा भवति' इत्यादि। अथवा बहुत से विभक्त पदार्थों में अविभक्त रूप से अकेला ही विराजमान है इसलिये परमात्मा उरुराज है। 'अविभक्तं विभक्तेषु' अर्थात् विभक्त जो कार्यवर्ग उसमें परमात्मा अविभक्त यानी कारणरूप से स्थित है; अथवा विभक्त जो साक्ष्यवर्ग उसमें वह अविभक्त यानी साक्षीरूप से स्थित है; या ऐसा समझो कि विभक्त जो काल्पनिक प्रपञ्च उसमें वह अधिष्ठानरूप से ओतप्रोत है। इन्हीं सब कारणों से परमात्मा उरुराज यानी उडुराज है। वह स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म परमात्मा, जो सबका महाकारण और स्वरूपतः कार्यकारणातीत है, ज्ञानियों

के विवेकी अन्तःकरणरूप अरण्य में रमण करने के लिये आविर्भूत हुआ।

यहाँ रमण का अर्थ है तत्पदार्थ के साथ त्वंपदार्थ का ऐक्य हो जाना। जो अन्तःकरण विवेकचन्द्र की शीतल सुकोमल अमृतमय किरणों से सुशोभित है उस अन्तःकरण-रूप वृन्दारण्य में यह तत्पदार्थरूप भगवान् त्वंपद के अर्थभूत अनन्त जीवरूप व्रजाङ्गनाओं के साथ रमण करने को अर्थात् अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापित करने को प्रकट होता है, क्योंकि असली रमण तो यही है कि नायक और नायिका का देश, काल और वस्तु रूप व्यवधान से रहित सम्मिलन हो। यही पारमार्थिक रमण है। लौकिक रमण में तो कुछ न कुछ व्यवधान रहता ही है; क्योंकि जब तक द्वैत बना हुआ है तब तक उसमें विभाग भी रहता ही है।

वे भगवान् रूप उडुराज सबके अभिलषित हैं, इसलिये 'प्रियः' हैं, क्योंकि वे सभी के अन्तरात्मा हैं। आत्मा नाम की वस्तु किसी को भी अप्रिय नहीं होती। संसार में सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये जितनी चेष्टाएँ होती हैं वे सब आत्मार्थ ही हैं। ऐसी स्थिति में अपने परप्रेमास्पद भगवान् के साथ कौन रमण करना न चाहेगा?

इसके सिवा और भी वे कैसे हैं? 'दीर्घदर्शन':—'अनाद्यविद्या-बीजनिवृत्त्यनन्तरं दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् अनादि अविद्यारूप बीजभाव की निवृत्ति के पश्चात् जिनका बहुत देर में दर्शन होता है ऐसे ये भगवान् दीर्घदर्शन हैं। इस संसार

में नाना प्रकार के कर्मजाल में फँसे हुए जीव को प्रथम तो नर-देह ही दुर्लभ है; उसमें भी पुंस्त्व-प्राप्ति कठिन है तथा पुरुषों में भी विशुद्ध निष्काम भाव से स्वधर्माचरण करना दुर्लभ है, एवं स्वधर्म-परायणों में भी कोई विरले ही विवेक-वैराग्यनिष्ठ होते हैं। यह भगवद्दर्शन अनेकों सोपानातिक्रमणों के पश्चात् प्राप्त होनेवाला है। इसलिये यह निश्चय ही अत्यन्त दीर्घकालसाध्य है।

किन्तु सबके अन्तरात्मा और परप्रेमास्पद होने के कारण वे सबको सुलभ भी हैं। अतः 'के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेषु सम एव भातीति ककुभः'—क अर्थात् ब्रह्मा में और कु—कुत्सित जीवों में समान रूप से भासमान होने के कारण ककुभ हैं। वे जिस प्रकार हमारे मन, बुद्धि और अहङ्कारादि तथा उनके विकार श्रद्धा, अश्रद्धा, धी, ह्री, आदि के अवभासक हैं उसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर कीट-पतङ्गादि पर्यन्त सभी जीवों के प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाशक हैं। इस प्रकार सबको सुलभ होने के कारण वे 'ककुभ' हैं। अतः 'के स्वर्गे कौ पृथिव्यां सर्वत्रैव भातीति ककुभः' अथवा 'कं स्वर्गः कुः पृथिवी भाति विभाति यस्मात् स ककुभः' अर्थात् भगवान् स्वर्ग और पृथिवी सभी जगह भासमान हैं अथवा उन्हीं से स्वर्ग और पृथिवी भी भासमान हैं इसलिये भी वे 'ककुभ' हैं। अतः सब कुछ उन्हीं से भासित है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' इस प्रकार वे सभी को सुलभ हैं। इसी से ज्ञानीरूप चर्षणियों की उपासना से सन्तुष्ट होकर वे अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापित कर उन्हें

भगवदीय आनन्द का अनुभव कराना चाहते हैं। इसी लिये वे उनके विवेकी अन्तःकरण-रूप आकाश में उदित हुए।

क्या करते हुए उदित हुए ?—'करैः स्वांशविशेषैर्वैषयिकसुखैश्चर्षणीनामज्ञजनानामपि तत्सुखप्राप्तिनिमित्तान् शुचः शोकान् मृजन् दूरीकुर्वन् उदगात्' अर्थात् वे अपनी किरणों से अपने अंशभूत वैषयिक सुखों द्वारा चर्षणी यानी अज्ञजनों के भी उस सुख की अप्राप्ति से होनेवाले शोकों को निवृत्त करते हुए उदित हुए। वास्तव में, विचारना चाहिये कि वैषयिक सुख भी क्या हैं ? वे अनन्त अविकारी परमानन्दमूर्ति परब्रह्म के कण ही तो हैं। वे उस परमानन्द-सिन्धु की बूँदें ही तो हैं। किन्तु लोग भ्रमवश भगवान् को छोड़कर तुच्छ वैषयिक सुखों की अभिलाषा करके व्यर्थ दुःख पाते हैं। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
फिरहिं जीव जग दीन दुखारी॥

इस प्रकार, क्योंकि वैषयिक सुख परब्रह्म परमात्मा के ही अंशभूत हैं, इसलिये वे उनके द्वारा उन अज्ञ पुरुषों के, जो कि अनन्त भगवत्स्वरूपानन्द से अनभिज्ञ हैं, उन विषयों की अप्राप्ति के कारण होनेवाले शोक को निवृत्त करते हुए प्रकट हुए। और क्या करते हुए प्रकट हुए ? 'प्राच्याः प्राचीनायाः निर्वृत्तिकायाः बुद्धेर्मुखं प्रधानं सत्त्वात्मकं भागम् अरुणेन स्वाभिव्यक्तिजनितेन सुखेन विलिम्पन् उदगात्' अर्थात् वे प्राचीना

यानी निवृत्तिकामिनी बुद्धि के मुख यानी प्रधान सात्त्विक भाग को अपनी अभिव्यक्ति से उत्पन्न हुए सुख के द्वारा विलेपित करते हुए उदित हुए। भगवत्सुख का बुद्धि पर ही लेप करना युक्तियुक्त भी है; क्योंकि वही उसे ग्रहण कर सकती है 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' अर्थात् ब्रह्माभिव्यक्ति-जनित जो सुख है उसकी अभिव्यक्ति निश्चयात्मिका बुद्धि पर ही होती है।

वे परब्रह्मरूप उडुराज किस प्रकार उदित हुए, सो बतलाते हैं— 'यथा कश्चित् दीर्घदर्शनः दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य एवंभूतः प्रियः प्रियायाः विप्रोषितभर्तृकायाः शुचः विभागसम्भूतानि शोकाश्रूणि शन्तमैः करैः करव्यापारैः मृजन् करधृतेन अरुणेन कुंकुमेन मुखं विलिम्पन् च स्यात्तथा' अर्थात् जिस प्रकार कोई दीर्घकाल के अनन्तर आनेवाला प्रवासी पति अपनी वियोगसन्तप्ता प्रियतमा के शोकाश्रुओं को अपने सुशीतल कर-व्यापारों से पोंछता है तथा उसके मुख को अपने हाथ में लिये हुए कुंकुम से लाल कर देता है उसी प्रकार ये उडुराज उदित हुए।

अथवा यों समझो कि जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की और गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्य एवं तप का स्मरण कर उनको वृन्दारण्य में आह्वान करने का संकल्प किया उसी समय उडुराज—प्रेमाम्बुराशि की वृद्धि करनेवाला चन्द्रमा सस्यरूप चर्षणियों के शोक-सूर्य की तीक्ष्णतर किरणों से उत्पन्न हुई म्लानता को अपनी सुशीतल किरणों से निवृत्त करता हुआ उदित हो गया।

इसके सिवा 'उडुराजः' इस शब्द से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी अभिप्रेत हो सकते हैं; क्योंकि यौवन की अतिशयता[1] के कारण वे उडुओं—नक्षत्रों—के समान स्वच्छ हैं और रञ्जन यानी अनुराग-जनक होने के कारण राजा हैं। अथवा यदि 'उरुराजः' ही 'उडुराजः' है—ऐसा मानें तो इस प्रकार अर्थ करना चाहिये—'स्वकीयप्रेमातिशयेन उरुधा रञ्जयतीति उरुराजः' अथवा 'उरून् महतस्तत्त्वदर्शिनोऽपि महामुनीन् रञ्जयति स्वानुरागयुक्तान् करोतीति उरुराजः' अर्थात् अपनी प्रेमातिशयता के कारण अनेक प्रकार से रञ्जन करते हैं अथवा जो महान् तत्त्वदर्शी भी हैं उन महामुनियों का भी अपने अनुराग-विशेष के द्वारा अनुरञ्जन करते हैं इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र उरुराज हैं। वे प्रिय अर्थात् धन, धाम और सुहृद्वर्ग से भी प्रियतर[2] यानी सबके सर्वस्वभूत और दीर्घदर्शन—जिनका दर्शन दीर्घ यानी अत्यन्त मूल्यवान् है, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र चर्षणी यानी गोपीजनों के शोक—प्रियतम के विरह-जनित सन्ताप को निवृत्त

---

१. यों तो भगवान् की अवस्था इस समय केवल ८-१० वर्ष की थी; किन्तु रास-क्रीडा के लिये वे इस समय अपनी योगमाया से युवावस्थापन्न हो गये थे।

२. 'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृते।'
अर्थात् गोपाङ्गनाओं के गृह, धन, सुहृद्, प्रिय, आत्मा, पुत्र, प्राण और मन ये सभी जिनके लिये थे।

करने तथा 'ककुभः[१]' सौन्दर्यातिशय के कारण मन्दगामिनी प्राची पूजनीया प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनी के मानादिजनित आँसुओं को अपने कर-व्यापारों से निवृत्त करते एवं अरुण कुङ्कुमादि से उनका मुख विलेपित करते विहारस्थल में आविर्भूत हुए।

श्रीवृषभानुनन्दिनी भगवान् की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव, मधुरिमा के बिना मिश्री और दाहिका शक्ति के बिना अग्नि नहीं रह सकते उसी प्रकार श्रीराधिकाजी के बिना श्यामसुन्दर नहीं देखे जाते। वे उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनीशक्ति हैं। उन्हीं के कारण श्रीकृष्णचन्द्र की सारी शोभा है; अतः उन्हें छोड़कर वे एक पल भी नहीं रह सकते। वे निरन्तर उनकी सन्निधि में रहते हैं और एक-दूसरे से तादात्म्य को प्राप्त हो परस्पर एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। माधुर्य भाव से उपासना करनेवाले बहुत से भावुकों के मत में तो कृष्णकृपा की प्राप्ति के लिये श्रीप्रियाजी की उपासना ही कर्तव्य है। उनका मत है कि श्रीराधिकाजी स्वाधीनभर्तृका हैं, भगवान् उनके अधीन हैं, वे नित्य निकुञ्ज में निरन्तर श्रीप्रियाजी के सौन्दर्यसमास्वादन के लिये उन्हें अपने माधुर्य रस का नैवेद्य समर्पण करते हैं। इस प्रकार भगवान् से आराधित होने के कारण ही वे 'श्रीराधा' कहलाती हैं। अतः उनका आह्वान करने के लिये भगवान् को

---

१. 'कुम्भ् मन्दायां गतौ' इस धातु से 'ककुभः' शब्द सिद्ध होता है।

वेणुनाद करने की आवश्यकता नहीं थी। वे तो उनकी सन्निधि में ही थीं और उनकी प्रसन्नता के लिये ही यह लीला भी की गई थी।

ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होता है कि फिर भगवान् के वेणु-नाद का और क्या प्रयोजन था? यहाँ यही समझना चाहिये कि भगवान् ने अन्य यूथेश्वरी और साधनसिद्धा व्रजाङ्गनाओं को बुलाने के लिये ही वंशीध्वनि की थी। वे चिरकाल से भगवत्सङ्ग के लिये उत्सुक थीं और तरह तरह के व्रत-उपवास भी कर रही थीं, अतः उन्हें उनकी उपासना का फल देने के लिये ही भगवान् ने वंशी-ध्वनि की।[१]

× × × ×

इस तरह अखण्डमण्डल श्रीवृषभानुनन्दिनी के मुख के समान चन्द्रमा को तथा उसकी शीतल सुकोमल रश्मियों से रञ्जित मनोहर वन को देखकर श्रीव्रजाङ्गनाओं का मन हरण करनेवाले वेणुगीत पीयूष को प्रवाहित किया। उस प्रेमानन्द समुद्र को बढ़ानेवाले गीत को सुनकर उनका मन मोहित होकर कृष्ण की ओर आकर्षित हो उठा, मानो कृष्ण ने हठात् उनके मन को हर लिया। बस फिर क्या था, जैसे नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं समस्त व्रजाङ्गनाएँ संभ्रम से श्रीकृष्ण की ओर चल पड़ीं। मानो जब प्रेमानन्द में मन बह चला तब मन के परतन्त्र शरीर

---

१. इसके बाद कुछ प्रवचनों के नोट नहीं लिये जा सके। आगे २१वें श्लोक से व्याख्या चलती है।

भी उसी वेग में बह चला। यह गीत पीयूषप्रवाहक इतर प्रवाहों की तरह अपने संसर्गी पदार्थों को गन्तव्य की ओर न ले जाकर उद्गम-स्थान श्रीकृष्ण की ओर ही ले जाता है। किंवा जब श्रीकृष्ण के वेणुगीतरूप चौर ने व्रजाङ्गनाओं के धैर्य्य, विवेक आदि रत्नों से भरपूर मनोमञ्जूषा को हर ले गया तो वे व्याकुल होकर उसी के अन्वेषण के लिये दौड़ पड़ीं। कोई दोहन, कोई परिवेषण छोड़कर, कोई लेपन, मार्जन, अञ्जन, पति-शुश्रूषण छोड़कर उलटे-पलटे भूषण-वसन धारण कर श्रीकृष्ण के पास चल पड़ीं। पति, पिता, भ्राता आदि के रोकने पर भी वे न रुकीं। जब कुछ व्रजाङ्गनाओं को उनके पति आदिकों ने गृह के भीतर रोक लिया तो वे वहीं नेत्र मींचकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं। प्रियतम के दुःसह विरहजन्य तीव्र ताप से समस्त पाप कम्पित हो उठे और ध्यानप्राप्त प्रियतम के परिरम्भणजन्य अनन्त आनन्द से पुण्य भी दुर्बल हो गये। इस तरह व्रजाङ्गना सद्यः क्षीणबन्धन होकर गुणमय देह को त्याग जारबुद्धि से भी उन्हीं भगवान् को प्राप्त हो गईं।

समीप में आई हुई व्रजाङ्गनाओं को देखकर भगवान् अपनी वचन-चातुरी से मोहित करते हुए बोले—"हे महाभागाओ, आपका स्वागत हो। हम आप लोगों का क्या प्रिय करें ? व्रज में कुशल तो है ? आप लोग अपने आगमन का कारण कहो। यह घोररूपा रजनी घोर व्याघ्रादि जन्तुओं से निषेवित है। आप लोग व्रज में जाओ। हे सुमध्यमाओ, यहाँ स्त्रियों को नहीं

ठहरना चाहिये। आप लोगों के माता, पिता, भ्राता, पति घर में न देखकर ढूँढ़ते होंगे। बन्धुओं को संकट न पहुँचाओ। बहुत हो चुका, अब आप लोग विलम्ब मत करो। व्रज को चली जाओ।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने व्रजाङ्गनाओं को यही आदेश दिया कि तुम लोग गोष्ठ में रहकर अपने पतियों की शुश्रूषा करो। हमारी प्राप्ति का यही उपाय है। यदि पातिव्रत्य में तुम्हारी गति न हो तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' पतिव्रताओं की सेवा करो। इस व्याज से भगवान् ने समस्त पुरुषों को यही उपदेश किया है कि जिनकी गति परब्रह्म की उपासना में न हो वे देवता और माता-पितादि रूप वैदिक और लौकिक ईश्वरों की उपासना करें। यदि वे पहले इन ईश्वरों की सेवा करेंगे तो क्रमशः उन्हें परमेश्वर की प्राप्ति हो जायगी। इससे सिद्ध हुआ कि जिन पुरुषों के पाप-पुञ्ज की कर्म और उपासना द्वारा निवृत्ति हो गई है वे ही भगवद्धाम में प्रवेश करने के अधिकारी हो सकते हैं—

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।

इसके सिवा यह भी प्रसिद्ध ही है कि

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

अतः यदि तुम वर्णाश्रम-धर्माचार के द्वारा इन लौकिक और वैदिक ईश्वरों की सेवा करोगे तभी परमेश्वर की प्राप्ति कर सकोगे। अनभिज्ञ पुरुषों को ही मोहवश स्वधर्म में अरुचि और परधर्म

में रुचि होती है। इसी प्रकार अर्जुन को भी जो परधर्म में रुचि हुई थी वह उसका मोह ही था। उसने जो क्षात्रधर्म का परित्याग कर ब्राह्मणधर्म का आश्रय लिया था और बन्धुवध से विरत होकर कहा था कि 'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' वह उसका भयङ्कर व्यामोह ही था।

जिस प्रकार रुग्णावस्था में पित्तादि के दूषित हो जाने से लोगों को निम्बादि कटु पदार्थों में रुचि होने लगती है और दुग्धादि में अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार मोह के कारण ही स्वधर्म में अरुचि हुआ करती है। अतः रुचि हो या न हो, उचित यही है कि स्वधर्म का आश्रय लिया जाय और परधर्म का परित्याग किया जाय।

इससे सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार भगवान् ने व्रजाङ्गनाओं से कहा था कि मुझ परपुरुष का सङ्ग छोड़कर तुम अपने पतियों की सेवा करो इसी प्रकार साधारण मनुष्यों को भी उनका यही आदेश है कि उन्हें स्वधर्म का ही आश्रय लेना चाहिये। जिस प्रकार छत पर जाने के लिये प्रत्येक सीढ़ी पर होकर जाना पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मप्राप्ति में भी क्रमिक साधना का अवलम्बन करना होता है। जो लोग सोपानातिक्रम करके परमोच्च नैष्कर्म्य का आश्रय लेते हैं, उनका ऐसा पतन होता है कि फिर उत्थान होना दुर्लभ हो जाता है। इसी से महापुरुष कर्मत्याग में भय दिखलाया करते हैं। भगवान् ने भी इसी कारण कर्मानुष्ठान की आवश्यकता प्रदर्शित करने के लिये अर्जुन से कहा था कि

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥

साधारण पुरुषों के लिये तो यही क्रम है; हाँ, गुणातीतों की बात अलग है। गुणातीत तो कहते ही उसे हैं जिसपर गुणों का आक्रमण न हो। अतः अज्ञ पुरुषों को उनका अनुकरण न करके स्वधर्म का ही आश्रय लेना चाहिये। यदि वे उसे छोड़कर नैष्कर्म्य पर आरूढ़ होना चाहेंगे तो सर्वथा पतित हो जायँगे।

यह बात भी सुनिश्चित है कि प्रयत्न केवल साधन में ही होता है, फल में प्रयत्न नहीं होता। साधन के पर्यवसान में फल तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। यदि किसी काष्ठ को काटना है तो कुठार का उद्यमन और निपातन किया जाता है। वहाँ प्रयत्न की आवश्यकता कुठार के उद्यमन-निपातन में ही होती है, उसके परिणाम में द्वैधीभाव तो स्वयं हो जाता है। इसी प्रकार आवश्यकता इसी बात की है कि हम सबसे पहले कर्म द्वारा अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों का निरोध करके फिर सात्त्विक प्रवृत्तियों द्वारा अपनी राजस, तामस प्रवृत्तियों का निरोध करें। उसके पश्चात् जब हमारी सात्त्विक प्रवृत्ति का भी निरोध हो जायगा तो स्वस्वरूप की उपलब्धि स्वतः ही हो जायगी। ज्यों ही मानस व्यापार की शान्ति हुई कि 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस सूत्र के अनुसार द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।

वस्तुतः नैष्कर्म्य क्या है—इस बात को साधारण पुरुष समझ भी नहीं सकते, इसी लिये वे कर्मत्याग की व्यर्थ चेष्टा में प्रवृत्त

होते हैं। जिस प्रकार नौकारूढ व्यक्ति को भ्रमवश तटस्थ वृक्षादि चलते दिखाई देते हैं और अपने में स्थिरता प्रतीत होती है, उसी प्रकार अज्ञानियों को मोहवश अपने निष्क्रिय शुद्ध स्वरूप में कर्म की प्रतीति होती है। इसी बात को भगवान् ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः स च कर्मकृत् ॥

वास्तव में अकर्म तो स्वरूपस्थिति है, वह कर्त्तव्य नहीं है। जो अकर्म को कर्त्तव्य समझकर देहेन्द्रियव्यापार की निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं वे अकर्म के रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार का प्रयत्न भी तो एक व्यापार ही है; अतः वह निवृत्ति नहीं, उसे व्यापारशान्ति ही कहा जा सकता है। वस्तुतः 'संन्यासस्तु पूर्णब्रह्मणि सम्यक्न्यासः' इस लक्षण के अनुसार पूर्ण ब्रह्म में सर्वथा आत्मसमर्पण करने का नाम ही संन्यास है। वह उपेय या साध्य है, उपाय या साधन नहीं है। इसी से भगवान् गोपिकाओं को उपदेश करते हैं कि मैं तो उपेय हूँ, तुम मुझे प्राप्त करने के लिये पतिशुश्रूषण-रूप उपाय का अवलम्बन करो।

यदि मोह या दुर्दैववश तुम्हारी स्वधर्म में निष्ठा नहीं है तो अहङ्कार छोड़ो और शास्त्रज्ञों का सत्सङ्ग करो। इससे स्वधर्म में तुम्हारी अभिरुचि होगी। इसी बात को लक्षित करने के लिये भगवान् ने व्रजाङ्गनाओं से कहा है—'शुश्रूषध्वं सतीः' (सत्पुरुषों की सेवा करो); स्त्रियों के लिये पतिव्रता ही सत्पुरुष हैं। जिस

प्रकार स्त्रियों के लिये भगवान् ने पतिव्रताओं का सङ्ग करने की आज्ञा दी है, उसी प्रकार पुरुषों को शास्त्रज्ञ और निःस्पृह ब्राह्मणों का सहवास करना चाहिये। मनु भगवान् ने भी ब्राह्मणों से ही उपदेश ग्रहण करने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं—

> अध्येतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
> शिष्येभ्यश्चोपदेष्टव्यं सम्यक् नान्येन केनचित्॥

जो लोग देखादेखी दूसरों को उपदेश करने लगते हैं वे उनके पतन के ही कारण होते हैं। वास्तविक कल्याण तो शास्त्रज्ञ ब्राह्मण के ही उपदेश से हो सकता है। जिस प्रकार कोई साधारण पुरुष किसी वैद्यराज के थोड़े से ओषधिप्रयोगों को देखकर यदि स्वयं भी वैद्यराज होने का दावा करके ओषधि देने लगे तो वह रोगियों की मृत्यु का ही कारण होता है, उसी प्रकार अनधिकारी उपदेशक जनता के अमङ्गल के ही हेतु होते हैं। अज्ञ जन केवल श्रवण के ही अधिकारी हैं। शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों से श्रवण करके वे अपना कल्याण अवश्य कर सकते हैं; इसी से भगवान् ने कहा है कि—

> अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
> तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

अतः उन्हें आत्मकल्याण के लिये श्रवण तो अवश्य करना चाहिये, किन्तु दूसरों को उपदेश करने का प्रयत्न न करना चाहिये।

इस प्रकार जिस तरह स्त्रियों को पतिव्रताओं की सेवा करनी आवश्यक है उसी प्रकार पुरुषों को ब्राह्मणों की शुश्रूषा करनी

चाहिये। यदि उनकी सेवा में रहते-रहते जल्दी लाभ न भी हुआ तो 'जब कछु काल करिय सत्सङ्गा। तबहि उमा होइहि भ्रम-भङ्गा ॥' कुछ दिन धैर्य रखकर उनकी सेवा में तत्पर रहो। अधिक मल की निवृत्ति के लिये अधिक काल मार्जन की आवश्यकता होती है। इसी तरह जन्म-जन्मान्तर के पापों की निवृत्ति में कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। यदि उनके कथन में रुचि नहीं होती तो भी कुछ काल तो अरुचि से भी उन्हीं की आज्ञा में रहो। वैद्य रोगी के लिये हितकर समझकर जो औषधि देता है, रोगी को किसी प्रकार का ननु-नच न करके उसी को सेवन करना चाहिये; उसे अपनी रुचि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

संसार में सत्सङ्ग बहुत दुर्लभ है। साधु जन कहीं साइन-बोर्ड लगाकर नहीं बैठते। उनकी प्राप्ति सौभाग्य से ही होती है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सत्सङ्गति संसृति कर अन्ता।
पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मकल्याण के लिये साधुसेवा की आवश्यकता भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार दिखलाई है—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥'

किन्तु सेवा में धैर्य की बहुत आवश्यकता है; जल्दबाजी से काम नहीं चलता। देखो इन्द्र ने दीर्घ काल तक सेवा की तभी

उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह आत्मतत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सका।

गीता में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

इस प्रकार भगवान् ने 'साधुओं का परित्राण' अपने अवतार का प्रधान प्रयोजन बतलाया है। अब यह प्रश्न होता है कि साधु किसे कहते हैं। भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने 'साधूनाम्' इस पद का पर्याय 'सन्मार्गस्थानाम्' लिखा है।

किन्तु 'सन्मार्ग' क्या है? इसका निर्णय होना बहुत कठिन है। यदि कहा जाय कि शास्त्रानुमोदित मार्ग का नाम सन्मार्ग है, तो इसमें भी सन्देह होता है; क्योंकि यह निश्चय होना कठिन है कि सच्छास्त्र कौन है। लोग शङ्का करते हैं कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों है, कुरान या बाइबिल आदि को ही प्रधान सच्छास्त्र क्यों न माना जाय? यद्यपि यह बात युक्ति से भी सिद्ध की जा सकती है कि वेद ही सच्छास्त्र है तथापि यहाँ इसका प्रसंग नहीं है। इसलिये विशेष न कहकर थोड़ा-सा संकेत किया जाता है।

मान लीजिये आपको कहीं जाना है। अपने ध्रुव की ओर जाते-जाते आगे चलने पर आपको चार मार्ग मिले। उस समय चारों मार्गों से यात्री लोग आ-जा रहे हैं। आप उनसे पूछते हैं कि अमुक स्थान को कौन मार्ग जाता है, तो वे सभी अपने-अपने मार्ग को वहाँ जानेवाला और अधिक सुविधाजनक बतलाते हैं। वे

अपने-अपने मार्ग की प्रशंसा करते हैं—इतना ही नहीं अपितु अपने से भिन्न मार्गों को विघ्नबहुल और त्याज्य भी बतलाते हैं। ऐसी अवस्था में आप क्या करेंगे? हमारे विचार से तो आप यही देखेंगे कि इनमें कोई हमारा परिचित (आप्तपुरुष) भी है। तब उनमें जो आपके ग्राम के आस-पास का होगा, औरों की अपेक्षा उसी का विश्वास करोगे। अतः विचारवानों का यही कर्त्तव्य है कि आप्तवाक्य का अवलम्बन करें। यह साधारण धर्म कहा जाता है कि जो आचार-विचार अपनी कुलपरम्परा से चला आया हो उसी का आश्रय लिया जाय। आप जिस देश, जाति, सम्प्रदाय या कुल में उत्पन्न हुए हैं उसमें जो पुरुष या शास्त्र अधिक आदरणीय माने गये हों उन्हीं के मार्ग का अवलम्बन करें, क्योंकि पिता अपने पुत्र का अहित कभी नहीं चाह सकता। अतः पिता-प्रपितामह-क्रम से जो मार्ग चला आया हो उसी का आश्रय लेना चाहिये।

धर्म के विषय में यह व्यापक लक्षण है। यह जैसा हिन्दुओं के लिये है वैसा ही ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध आदि अन्य मतावलम्बियों के लिये भी है। उन्हें भी अपने-अपने आचार्य और धर्मग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिये। यदि आप आरम्भ से ही यह निश्चय करने लगेंगे कि कौन मार्ग श्रेष्ठ है तो इसका निर्णय कभी नहीं कर सकेंगे। यह तो बहुत लम्बा-चौड़ा क्रम है, इसका निर्णय तो कभी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में आप धर्ममार्ग का अवलम्बन कैसे कर सकेंगे?

राजा को सारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; वह चाहे जिसे उजाड़ सकता है और चाहे जिसे वसा सकता है; उसे कोई रोकनेवाला नहीं होता। फिर भी वह अपने ही वनाये हुए नियमों का अनुसरण करता है। वस्तुतः विना नियम के कोई भी व्यवस्था हो नहीं सकती। इस प्रकार की नियम-शृङ्खला का नाम ही तो धर्म है। लौकिक शृङ्खला से वद्ध प्रवृत्ति का नाम लौकिक व्यवहार है और वैदिक शृङ्खला से वद्ध प्रवृत्ति का नाम धर्म है। किन्तु नियम-निर्माण का कार्य अभिज्ञ पुरुष ही कर सकते हैं; अतः यहाँ फिर हमारा वही लक्षण लागू हो जाता है कि जो जिस धर्म, जिस जाति और जिस कुल में उत्पन्न हुए हैं उन्हें उसी में उत्पन्न हुए आप्त पुरुषों के मार्ग का अवलम्वन करना चाहिये।

विद्यार्थी को यदि कोई अक्षर दिखलाकर कहा जाय कि यह 'क' है और इस पर वह कहने लगे कि इसे 'क' क्यों कहते हैं तो उसे इसका हेतु किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता और उसे कोरा ही रहना पड़ेगा। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो पहले पहल उसे आचार्य के कथन में अन्ध-श्रद्धा ही करनी होगी। पीछे जब उसकी वुद्धि विकसित होगी और उसे व्याकरण-शास्त्र के सूक्ष्म रहस्य का पता चलेगा तो उसे स्वयं ही सब वात मालूम हो जायगी। जब वैद्य रोगी को ओषधि देता है तो वह क्यों नहीं कहता कि मैं इसे क्यों सेवन करूँ? उस समय उसे वैद्य में श्रद्धा करनी ही पड़ती है। श्रुति ने भी 'श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व' इस अजातशत्रु की उक्ति द्वारा श्रद्धा का ही विशेष महत्त्व प्रतिपादन किया है।

अतः आस्तिकों को यह तर्क करने की आवश्यकता नहीं है कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं ? जो आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और आर्यधर्मावलम्बी हैं उन्हें पहले-पहल ऐसा मानना ही चाहिये। पीछे जब समझने की योग्यता होगी तब वे इस तथ्य को समझ भी सकेंगे। पहले योग्यता प्राप्त करो; 'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' और 'पञ्चपादिका विवरण' आदि ग्रन्थों को देखो; तब समझ सकोगे कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं। उस समय तुम यह जान लोगे कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों हैं और उनसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थ को यह सम्मान क्यों प्राप्त नहीं है ? इन्हीं के अनुमोदित धर्म की रक्षा करने के लिये भगवान् कह रहे हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अब तक हमने जो कुछ कहा है वह हमारी ही कल्पना हो— ऐसी बात नहीं है। भगवान् ने भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन करने के लिये शास्त्र की ही शरण लेने की आज्ञा दी है। इसी से वे कहते हैं—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।' वह शास्त्र क्या है ? इसका भगवान् स्पष्टतया खुले शब्दों में उत्तर देते हैं कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'। अतः वेद ही सच्छास्त्र है।

पूर्वमीमांसक 'शास्त्र' शब्द का अर्थ वेद ही करते हैं। उत्तर-मीमांसा का सूत्र है—'शास्त्रयोनित्वात्'; इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य लोग कहते हैं 'शास्त्रम् ऋग्वेदादि'। सांख्यादि में तो 'शास्त्र' शब्द का उपचार से प्रयोग होता है। जैसे 'वेदान्त' शब्द का मुख्य

अथ उपनिषद् है; ब्रह्मसूत्रादि में उसका औपचारिक प्रयोग होता है, क्योंकि वे उन्हीं का विचार करते हैं। 'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी वेद ही शास्त्र हैं, क्योंकि निरपेक्ष हित का उपदेश उन्हीं में किया गया है। अन्य शास्त्रों में जो हितोपदेश है उसे श्रुति-प्रामाण्य की अपेक्षा है। वैदिक लोग दर्शन, स्मृति और गीता का भी स्वतःप्रामाण्य नहीं मानते; उनका प्रामाण्य वेदमूलक होने के ही कारण है। मनुस्मृति इसी लिये प्रामाणिक है क्योंकि वह वेदानुमोदित धर्म का प्रतिपादन करती है और श्रुति उसके लिये कहती है कि 'यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्'। श्रीमद्भगवद्गीता भी वेदानुसारिणी होने के कारण ही प्रामाणिक है। यदि भगवदुक्ति होने के कारण उसे स्वतः-प्रमाण कहा जाय तो बौद्ध दर्शन भी प्रामाणिक माना जायगा। किन्तु वेद-विरुद्ध होने के कारण बौद्ध दर्शन भगवदवतार भगवान् बुद्ध की उक्ति होने पर भी प्रामाणिक नहीं है।

प्रमाणों का किसी अर्थ में सांकर्य होता है और किसी में व्यवस्था होती है। शब्द केवल श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्रहण किया जा सकता है। उसका ज्ञान किसी अन्य इन्द्रिय से नहीं हो सकता। अतः श्रोत्र शब्द ग्रहण में इन्द्रियान्तर-निरपेक्ष प्रमाण है। यहाँ प्रमाण की व्यवस्था है। किन्तु दूरस्थ जल नेत्र से भी ग्रहण किया जा सकता है। ऐसे ही और भी कितने ही पदार्थ हैं जो कई प्रमाणों से ज्ञात हो सकते हैं। उनमें प्रमाणों का सांकर्य है।

वेद स्वत:प्रमाण हैं और गीतादि का प्रामाणिकत्व वेदमूलक होने के कारण है—ऐसा कहकर हमने गीता का निरादर नहीं किया। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं हमारा यह कथन भगवदुक्ति के ही अनुसार है। अत: यह तो उसका सम्मान है। जो लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि गीता के वेदानुसारी होने में क्या प्रमाण है उनकी यह चेष्टा साहस मात्र है। गीता के वेदानुसारित्व में शङ्का करना बड़ी भारी धृष्टता है।

एक बात बहुत ध्यान देने योग्य है। लोग चमत्कारों से बहुत आकर्षित होते हैं। शास्त्रानुयायियों पर जनता की ऐसी श्रद्धा नहीं होती जैसी कि चमत्कारों पर होती है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सिद्धि वैदिकों में ही होती हो। जैन आदि अन्य मतावलम्बियों में भी सिद्धियाँ और तितिक्षा आदि गुण देखे जाते हैं। परन्तु उनका अनुगमन नहीं करना चाहिये। वैदिक मतावलम्बी यदि इन गुणों से शून्य हो तो भी उसी का अनुसरण करना चाहिये। यदि अहिंसा और दया आदि भी हमारे शास्त्रों की विधि से विपरीत हों तो वे पाप हैं और शास्त्रानुमोदित हिंसा भी धर्म है। अर्जुन को दया और करुणा ही तो हो रही थी; परन्तु भगवान् कहते हैं—

> 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
> अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥'

इस प्रकार भगवान् ने उस दया और करुणा को भी 'अनार्यजुष्ट', 'अस्वर्ग्य' और 'अकीर्तिकर' 'कश्मल' (पाप) कहकर त्याज्य बतलाया है।

अतः पहले लकीर के फकीर बनो। जो कुछ शास्त्र कहता है उसे आँख मूँदकर ग्रहण करो। पहले कुछ योग्यता प्राप्त कर लो तब निर्णय करना। यदि तुम्हें कोई अनुमान करना है तो पहले प्रतिज्ञा, व्याप्ति एवं निगमन आदि पञ्चावयव वाक्य एवं हेत्वाभास आदि का ज्ञान प्राप्त करो। जब तक तुम्हें सत् और असत् हेतु का विवेक न होगा तब तक ठीक-ठीक अनुमान कैसे कर सकोगे ?

हमें शान्ति, तितिक्षा और अहिंसा ये कुछ भी अपेक्षित नहीं हैं; हमें केवल वैदिक विधि की अपेक्षा है। जो ऐसा मानते हैं कि 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' यह भगवद्वाक्य है और जो भगवद्वाक्य को अपना सर्वस्व मानने का दावा करते हैं उन्हें तो यही कर्त्तव्य है, औरों के लिये हमारा कुछ कहना नहीं है। आज-कल लोगों की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि जब वे दूसरों के आचरण पर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें निरी भूलें ही भूलें दिखाई देती हैं, किन्तु अपनी भूल उन्हें कभी नहीं दीखती। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—'पर उपदेश कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥' अतः दूसरों की समीक्षा में न पड़कर पहले हमें अपनी ही ओर देखना चाहिये।

शास्त्र की आज्ञा है कि 'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्' (स्वधर्म का यथाशक्ति पालन करना चाहिये और विधर्म का त्याग) जो लोग यथाशक्ति स्वधर्म का पालन करते हैं वे ही सत्पुरुष हैं। कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका न करना पाप है; जैसे सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि। वे नित्य कर्म

हैं। इसी प्रकार पार्वण श्राद्धादि नैमित्तिक कर्म भी अवश्य कर्तव्य हैं। उनका परित्याग करने में दोष माना गया है। आज थोड़े से ब्राह्मण ही ऐसे दिखाई देते हैं जो इन सब धर्मों का यथायोग्य पालन करते हैं। परन्तु उनके प्रति अन्य लोगों की विशेष आस्था नहीं देखी जाती; अतः उनका उत्साह भी कितने दिन रह सकेगा। प्रवृत्ति के लिये आस्था की भी अत्यन्त आवश्यकता है। इसी लिये प्रत्येक ग्रन्थ के पहले उसका माहात्म्य दिया जाता है। और उस ग्रन्थ के पाठ के समय उसका पाठ भी अनिवार्य होता है। वह अर्थवाद अभिरुचि की वृद्धि के लिये है। किन्तु उस कर्म के कर्ता को उसमें अर्थवाद दृष्टि नहीं करनी चाहिये। इसी से नाम में अर्थवाद बुद्धि करना भी एक नामापराध माना गया है। नामोच्चारण न करने का दोष निवृत्त हो सकता है; परन्तु नामापराध की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः यदि वैदिक कर्मों की प्रवृत्ति करनी है तो उसका माहात्म्य भी सत्पुरुषों में प्रख्यात होना चाहिये। कर्मयोग की आज भी बहुत महिमा है। परन्तु इस समय इसके अनेक अर्थ हो रहे हैं। 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस भगवदुक्ति का आश्रय लेकर महात्मा तिलक ने तो कर्म करने की कुशलता को ही कर्मयोग कहा है। किन्तु भगवान् का तो यही कथन है कि 'कर्म ब्रह्मप्रतिष्ठितम्' अर्थात् कर्म ब्रह्म में स्थित है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' अर्थात् ब्रह्म अक्षर परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। अतः वेद ही ब्रह्म है और वेदोक्त कर्म ही कर्मयोग है।

आज भक्तशिरोमणि श्रीगोसाईंजी महाराज की 'कलि नहिं धर्म न कर्म विवेकू। रामनाम अवलम्बन एकू' इस उक्ति का अवलम्बन करके सारे धर्म-कर्मों को तिलाञ्जलि देकर केवल हरिनाम-सङ्कीर्तन में लगने की ही प्रवृत्ति हो रही है। हम भगवन्नाम सङ्कीर्तन को हेय-दृष्टि से नहीं देखते। वह तो परम मङ्गलमय है। परन्तु गोसाईंजी के तात्पर्य को न समझकर उनकी उक्ति का आश्रय लेकर कर्त्तव्य कर्म की अवहेलना करना कदापि क्षम्य नहीं हो सकता।

जब तक कर्म के करने में परम लाभ सुनिश्चित न होगा और उसके परित्याग में परम हानि का निश्चय न होगा तब तक उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार आत्मज्ञान के लिये श्रुति कहती है कि 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' उसी प्रकार कर्म के अकरण में भी प्रत्यवाय प्राप्ति का पूर्ण निश्चय होना चाहिये। इसी से अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों के लिये तो शास्त्र की जबरदस्त आज्ञा है किन्तु सोमादि नित्यकर्मों के लिये यथाशक्ति पद का अध्याहार किया गया है। नित्यकर्मों में भी यथाशक्ति पद का अध्याहार हो सकता है; जैसे रोग के समय सन्ध्योपासन न कर सके तो केवल मानसिक संध्या ही कर ले अथवा केवल अर्घ्य-दान कर ले। किन्तु अधर्म तो कभी कर्त्तव्य नहीं हो सकता। अतः क्षत्रिय वैश्य को ब्राह्मण के धर्म का आश्रय करना अथवा शूद्र को वेदाध्ययन करना कभी विहित नहीं हो सकता।

इसलिये यदि तुम परम कल्याण चाहते हो तो ऐसे ब्राह्मणों का समाश्रयण करो जो पाप से सर्वथा बचा हुआ हो और धर्म का

यथाशक्ति पालन करता हो। वही सत्पुरुष है। उसकी सेवा करने से ही परमात्मा की प्राप्ति कर सकोगे। भगवान् ने 'शुश्रूषध्वं सतीः' ऐसा कहकर सर्वसाधारण को यही उपदेश किया है।

पहले कह चुके हैं कि जीवमात्र परतन्त्र होने के कारण केवल परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ण पुरुष है। 'पतीन् शुश्रूषध्वम्' इस कथन से भी स्त्रीमात्र के परमपति सच्चिदानन्दघन परमपुरुष परमात्मा ही विवक्षित हैं। अतः जिस प्रकार स्त्रियों को पतियों का शुश्रूषण आवश्यक है उसी प्रकार जीवमात्र को पूर्ण परब्रह्म परमेश्वर की आराधना करना परम कर्त्तव्य है। इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

परन्तु एक ही परमात्मा की आराधना विवक्षित होने पर भी यहाँ 'पतीन्' ऐसा बहुवचन क्यों है? यह कथन जीवभेद की दृष्टि से है। जिस प्रकार गगनस्थ सूर्य एक ही है तथापि जलपात्रों के भेद से उसके अनेकों प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा विभिन्न अन्तःकरणों में विभिन्न रूप से प्रतिफलित हो रहे हैं। अथवा भावनाभेद या अवतारभेद के कारण यह बहुवचन हो सकता है, क्योंकि एक ही भगवान् राम, कृष्ण, शिव आदि अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं। गोपाङ्गनाओं के लिये तो यह प्रयोग आदरार्थ भी हो सकता है, क्योंकि उनके लिये तो एकमात्र भगवान् ही आराध्यदेव, रक्षक, पति और गुरु हैं, तथा गुरुजन आदि आदरणीय व्यक्तियों के लिये बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। इसके सिवा इस प्रकरण में रासलीला के

समय एक ही भगवान् अनेकरूप होनेवाले हैं। अतः भावी भेद के कारण भी यह कथन हो सकता है।

यदि तुम पतिशुश्रूषण की रीति न जानती हो, तुम्हें इस बात का पता न हो कि पतिदेव को किस प्रकार अपने अनुकूल बनाया जाता है तो 'शुश्रूषध्वं सतीः'—पतिव्रताओं की सेवा करो। इससे तुम सेवा की विधि जान जाओगी। जैसे श्रीसीताजी को श्री अनसूयाजी और कौशल्याजी आदि ने उपदेश किया था उसी प्रकार, जीव अपने परमपति सर्वेश्वर भगवान् को कैसे अपने अनुकूल करे यदि यह जानना हो तो, उसे वैसा आचरण जानने के लिये सत्पुरुषों की सेवा करनी चाहिये। जो लोग भगवान् को प्रसन्न करना जानते हैं और जो शास्त्रानुमोदित मार्ग से चलते हैं वे ही इस मार्ग में सत्पुरुष हैं। उनकी कृपा से भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। भगवान् के संकल्प से ही बन्ध-मोक्ष की प्रवृत्ति है। जब तक भगवान् में अनुराग नहीं है तब तक तुम कैसे ही विद्वान् या मेधावी हो यों ही भटकते रह जाओगे। सारा शास्त्रज्ञान भी भगवद्भक्तिविमुखों के लिये केवल भारमात्र रह जाता है।

मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि ॥

यह बात भगवद्भक्ति-विमुख शास्त्रज्ञों के लिये है। इससे हम शास्त्र की अवहेलना नहीं करते। ऐसा शास्त्रज्ञ दूसरों का कल्याण तो कर सकता है किन्तु स्वयं कोरा ही रह जाता है; जैसे दीपक औरों

को तो प्रकाशित करता है किन्तु उसके नीचे अँधेरा ही रहता है। इस विषय में विद्वानों की भी ऐसी ही सम्मति है कि विद्वान् रागी होने पर भी दूसरों का कल्याण कर सकता है किन्तु शास्त्रानभिज्ञ पुरुष विरक्त होने पर भी दूसरों को पथप्रदर्शन नहीं कर सकता। जिसके हाथ में दीपक है वह स्वयं भले ही अँधेरे में रहे परन्तु दूसरों को तो प्रकाश प्रदान कर ही सकता है। इसी प्रकार एक विद्वान् भी, जो सब प्रकार के अधिकारियों के लिये तदनुकूल साधनों का ज्ञान रखता है, यदि स्वयं आचरण न भी करे तो भी दूसरों को तो ठीक-ठीक उपदेश कर ही सकता है। ऐसी गाथा भी है कि कहीं कथा होती थी। उसे सुन-सुनकर श्रोता तो कितने ही मुक्त हो गये परन्तु पण्डितजी कथा ही बाँचते रह गये। क्योंकि जब तक शास्त्रानुमोदित आचरण न होगा तब तक केवल शास्त्रज्ञान से कोई कल्याण का पात्र नहीं हो सकता। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' मरणकाल में सारे शास्त्र इसी प्रकार छोड़कर चले जाते हैं जैसे पत्रहीन वृक्ष को पक्षिगण। अतः आत्मकल्याण में आचरण की ही प्रधानता है। इसी से कहा है—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञा संशयच्छिदः।
सदसस्पतयो ह्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः॥

अतः साधन-सम्पन्न प्राणी ही आत्मकल्याण कर सकता है। इसलिये जो शास्त्रज्ञ है परन्तु शास्त्रोक्त धर्मों में निष्ठा नहीं रखता उसके लिये शास्त्र अकिञ्चित्कर हैं। वह दूसरे के लिये अवश्य आदरणीय है परन्तु उसे स्वयं अपने पर जुगुप्सा ही करनी चाहिये।

उसके प्रति श्रद्धा और सद्भाव रखने से दूसरों का कल्याण अवश्य हो सकता है; भले ही वह स्वयं नरकगामी ही हो। कई पदार्थ ऐसे हैं जो स्वतः स्वरूपतः पतित हैं परन्तु यदि उनकी विधिवत् सेवा-पूजा की जाय तो अपने उपासक का कल्याण कर सकते हैं। गौ स्वयं पशु है परन्तु अपने भक्त को गोलोक ले जाती है। अश्वत्थ वृक्ष स्वयं पापयोनि स्थावर है किन्तु अपनी पूजा करनेवाले का कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण यद्यपि शरीरदृष्टि से महा अपवित्र, अस्थि-मांस एवं चर्मरूप ही है, तो भी अपने में श्रद्धा रखनेवाले के लिये तो सब प्रकार मंगल का ही कारण होता है।

ब्राह्मण यदि दुराचारी भी हो तो भी पूजनीय है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

पूजिय विप्र सकलगुणहीना।
नहिं न शूद्र गुण ज्ञान प्रवीना॥
दुष्टउ धेनु दुही सुनि भाई।
साधु रासभी दुही न जाई॥

ऐसी ही बात एक स्मृति में भी कही गई है—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यः न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

भगवान् कृष्ण कहते हैं—

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥

यह बात सुशिक्षित और सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणों के लिये ही कही गई हो ऐसी बात नहीं है। भगवान् का तो यह कथन है कि—

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार का गुणहीन ब्राह्मण स्वयं भी कल्याण का पात्र हो सकता है। उसे स्वयं तो नरक ही भोगना पड़ेगा। उसकी अपेक्षा तो स्वधर्मनिष्ठ शूद्र की ही सद्गति होनी अधिक सम्भव है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर श्रीमद्भागवत में कहा है—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् मन्ये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में कहीं तो गुणहीन ब्राह्मण को भी सर्वथा पूजनीय बतलाया गया है और कहीं भगवद्भक्तिहीन द्वादश-गुण-विशिष्ट ब्राह्मण की अपेक्षा भगवच्चरणानुरागी श्वपच की उत्कृष्टता दिखलाई गई है। आजकल ब्राह्मण लोग तो प्रशंसा-परक वाक्यों को लेकर अपनी पूजनीयता का दावा करते हैं और अब्राह्मण लोग निन्दापरक वाक्यों को लेकर उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु बात बिलकुल उलटी है। वस्तुतः ब्राह्मणों को तो यह चाहिये कि अपने ब्राह्मणत्व का अभिमान छोड़कर निन्दापरक वाक्यों के अभिप्रायानुसार भगवद्भक्ति और शास्त्रानुमोदित आचरण को ग्रहण करें तथा अब्राह्मणों को यह उचित है कि ब्राह्मणों के गुण-दोष की ओर न देखकर ब्राह्मणमात्र

में श्रद्धा रखें; क्योंकि शास्त्र में जहाँ आचारहीन ब्राह्मण की निन्दा की गई है वह उनके कल्याण की दृष्टि से है और जहाँ उनकी प्रशंसा की गई है वह ब्राह्मणेतर वर्णों की ब्राह्मणमात्र के प्रति श्रद्धा परिपक्व करने के लिये है।

संसार में शास्त्रज्ञ होना सरल है, परन्तु अपने परम प्रेमास्पद प्रभु को स्वानुकूल कर लेना परम दुर्लभ है। किन्तु भूषण यही है। पत्नी बड़ी रूपवती हो और तरह-तरह के वस्त्रालंकारों से सुसज्जिता हो, परन्तु यह उसका भूषण नहीं है। उसकी वास्तविक शोभा तो इसी में है कि वह अपने प्राणाधार प्रियतम को अपने अनुकूल बना ले। इसी प्रकार शास्त्रज्ञों का भूषण भी यही है कि वे परम प्रभु श्रीपरमात्मा को अपने अनुकूल कर लें। जहाँ भगवान् रहते हैं वहीं सारे गुण रहते हैं; अतः यदि भगवान् प्रसन्न हो गये तो मानो सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त हो गई। इसी से 'पतीन् शुश्रूषध्वं' ऐसा कहा है। और इस पति-शुश्रूषा का प्रकार समझने के लिये 'शुश्रूषध्वं सतीः' यह कहा है।

यहाँ व्रजाङ्गनाओं के लिये 'सतीः' शब्द से क्या विवक्षित होगा ? उनके लिये जो भिन्न यूथेश्वरियाँ हैं वे ही सती हैं। उनकी शुश्रूषा करने से ही वे अचिन्त्यानन्दसुधासिन्धु भगवान् के सौन्दर्य एवं माधुर्य रस का समास्वादन कर सकेंगी, क्योंकि वे यूथेश्वरियाँ भगवान् को स्वाधीन करना जानती हैं। भगवान् का यह उपदेश पहले भी है कि यहाँ जो आह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्री रासेश्वरी हैं उनके कृपाकटाक्ष से ही यूथेश्वरी व्रजबालाओं को भगवान् को

स्वाधीन करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य गोपाङ्गनाओं को उन यूथेश्वरियों की सेवा करने से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतः उन्हें उन्हीं का आश्रय लेना चाहिये।

किन्तु इसके लिये व्रज में जाने की क्या आवश्यकता थी? इसका कारण बतलाते हैं—

क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्याययत दुह्यत।

यह ऐसी ही बात है जैसे 'मामनुस्मर युद्धय च'। इधर अपनी प्राप्ति के लिये भगवान् उन्हें यूथेश्वरियों की सेवा करने का आदेश देते हैं और उधर इसके साथ ही बालकों को दुग्धपान कराने और गोदोहन करने की भी आज्ञा दे रहे हैं। इससे सर्वसाधारण के लिये भगवान् का यही मत प्रतीत होता है कि उन्हें निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए अपने लौकिक और वैदिक कर्त्तव्यों का भी यथावत् पालन करते रहना चाहिये। स्त्रियों के लिये बालकों को दुग्धपान कराना आदि गृहकृत्य धर्म ही है। जिस प्रकार क्षत्रियों के लिये युद्ध और वैश्यों के लिये व्यापार कर्त्तव्य है उसी प्रकार स्त्रियों को सब प्रकार के गृहकृत्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहना चाहिये।

इधर 'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्याययत दुह्यत' इस वाक्य से अन्य जीवरूप स्त्रियों के लिये भगवान् का यह उपदेश है कि जब तुम मेरी ओर आने लगते हो तो ये अज्ञानी इन्द्रियाधिष्ठाता देव-गण अपने पशु को अपने अधिकार से बाहर जाता देखकर 'क्रन्दन्ति' —चिल्लाने लगते हैं। ये विघ्न करने में समर्थ हैं इसलिये उस

साधक के मार्ग में तरह-तरह के विघ्न उपस्थित कर देते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—

'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य व्रजतां परमं पदं ते।'

देवता लोग नहीं चाहते कि यह प्राणी उनके पञ्जे से निकलकर भगवद्धाम में प्रवेश करे। श्रुति भगवती कहती है 'नैतद्देवानां प्रियं यदैतन्मनुष्या विद्युः' अतः ऐसी परिस्थिति होने पर ये बालक और वत्स रूप देवगण क्रन्दन करने लगते हैं। बाल अज्ञ को कहते हैं। देवता लोग भोगप्रधान हैं, अभोक्ता आत्मतत्त्व में उनकी गति नहीं है इसलिये वे 'बाल' हैं तथा ऐसी पाशविक प्रवृत्ति के कारण ही उन्हें 'वत्साः' कहा गया है। देवताओं को 'असुर' भी कहा गया है—'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा वृताः'। 'असु' शब्द का अर्थ प्राण है; 'असुसु रमन्त इति असुराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देवताओं को असुर कहा गया है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति प्राणादि अनात्मा के पोषण में ही है।

जिस समय देवासुर-संग्राम में देवताओं को विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान् को भूलकर अभिमानवश उसे अपना ही पुरुषार्थ समझने लगे। वे इस बात को भूल गये कि हमारे देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण आदि सभी जड़ हैं। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि की प्रेरणा के बिना उनमें कुछ भी गति नहीं हो सकती।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

इस प्रकार देवताओं को मोहवश असुरभाव को प्राप्त होते देखकर भगवान् ने उनका मानमर्दन किया और तब उनकी आँखें खुलीं।

परन्तु देवताओं का यह असुरत्व सापेक्ष है। जो लोग जगन्मोहिनी माया के अधिकार को पार कर गये हैं, जिनका बुद्ध्यादि में आत्मत्वाभिनिवेश सर्वथा गलित हो गया है और जिन्हें निखिल प्रपञ्च अपने स्वरूपभूत चिदाकाश में प्रतीत होते हुए तलमालिन्य के समान सर्वथा असत् अनुभव होता है, उन तत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्तों की अपेक्षा से ही वे 'असुर' हैं। अन्य मनुष्यों एवं असुरों की अपेक्षा तो वे 'सुर' ही हैं।

वस्तुतः सारा विवाद व्यष्टि-अभिमान में ही है। व्यष्टि-अभिमान के कारण ही जीव अपने को पण्डित, बुद्धिमान्, ऐश्वर्य-शाली, सुखी, दुःखी अथवा अशक्त समझता है। यदि इस परिच्छिन्नत्वाभिमान को छोड़कर समष्टि में आत्मबुद्धि हो जाय तो फिर कोई विवाद नहीं रहता! आज हम थोड़ी सी विद्या का अभिमान करते हैं; किन्तु उस समय तो 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितये तद्य-दृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वेद भी हमारे ही निःश्वास मात्र रह जाते हैं; विद्वान्-अविद्वान्, धर्मात्मा-पापी, सुखी-दुःखी—सब हमारे ही स्वरूप हो जाते हैं और सारा विश्व-प्रपञ्च हमारा ही भ्रुकुटि-विलास हो जाता है। आज हम थोड़े से आदमियों को अपना बन्धु कहते हैं, तथा अन्य पुरुषों के प्रति हमारा द्वेष या औदासीन्य है परन्तु जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारा

संसार हमारा परिवार है वहाँ सब अपने ही हो जाते हैं। फिर विरोध के लिये कहीं स्थान नहीं रहता।

अत: परिच्छिन्नत्वाभिनिवेश ही सारे अनर्थ का मूल है। इसकी निवृत्ति होते ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूलोच्छेदन हो जाता है। फिर उसके सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु प्राणी उलटा समझता है। इसी से कहा है 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'

देवता लोग इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। वे इन्द्रियद्वार में आसन जमाये बैठे हैं। यदि तुम उन्हें सन्तुष्ट न रखोगे तो विषयरूप शत्रुओं का आक्रमण होने पर वे उन्हें तुम्हारे अन्तः-करण में प्रवेश करने से नहीं रोकेंगे। फिर तुम्हारी विषय-विचलित बुद्धि भगवान् में नहीं लग सकेगी; और तुम भगवन्मार्ग से च्युत हो जाओगे। अतः यदि तुम विषय-वात के विक्षेप से बचकर अपने चित्त को परमानन्दघन श्रीभगवान् में समाहित करना चाहते हो तो इन द्वारपालों को सन्तुष्ट करो। इसी से भगवान् कहते हैं—'तान् पाययत' (उन्हें पिलाओ) क्या पिलाओ? सोम। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन देवताओं के लिये जो-जो द्रव्य विहित है उन-उन द्रव्यों का निक्षेप करके उन्हें सन्तुष्ट करो। इस प्रकार उन्हें पिलाकर फिर उन्हीं से दुह्यत—अपना अभीष्ट फल दुहो। श्रीगीताजी में भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे को प्रसन्न रखने से ही तुम परम श्रेय की प्राप्ति कर सकोगे। यहाँ परम श्रेय से परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति समझनी चाहिये, जिससे बढ़कर कोई और लाभ नहीं है—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।' अतः, भगवान् कहते हैं यदि तुम मेरी प्राप्ति करना चाहते हो तो देवताओं के लिये विहित द्रव्य का निक्षेप करके उनका आप्यायन करो, क्योंकि यदि देवताओं के आप्यायन के लिये तुम यज्ञ-दानादि में लग जाओगे तो तुम्हारी पाशविक प्रवृत्तियाँ छुट जायँगी। उनके छूट जाने से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा और फिर शम-दमादि की प्राप्ति होने पर श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा तुम भगवान् को प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार देवताओं का आप्यायन और उनसे अपने अभिमत फल का दोहन करते हुए ही तुम सत्पुरुषों का आश्रय लो। यदि उनका आप्यायन न करते हुए तुम सत्पुरुषों का सेवन करोगे तो वहाँ भी विघ्न हो जायगा। इसी से गुरु-शिष्यों में विद्वेष होता देखा गया है। शान्ति-पाठ में कहा है—

"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।"

यहाँ 'मा विद्विषावहै' इस पद से जो द्वेषनिवृत्ति के लिये प्रार्थना की गई है यह गुरु-शिष्य में द्वेष की सम्भावना होने पर ही उपपन्न हो सकती है। संसार में जितना भी लौकिक-वैदिक व्यवहार है वह माया के ही आश्रय से होता है। अतः सभी जगह राग-द्वेषादि

की सम्भावना हो सकती है। किन्तु यदि तुम देवताओं का आप्यायन करोगे तो तुम्हारा इन्द्रियग्राम सबल और सतेज होगा। तभी तुम उसके द्वारा सम्यक् प्रकार से गुरुसेवा कर सकोगे और उनके किये हुए तिरस्कारादि को सहन कर सकोगे।

इस प्रकार अपरिपक्व व्रजाङ्गनाओं और अपरिपक्व जीवों के लिये भगवान् ने यह सत्पुरुषों के समाश्रयणपूर्वक स्वधर्मपालन का आदेश किया है। जो लोग अपने कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते हुए सद्गुरु की शरण में रहने से साधनसम्पन्न हो गये हैं, जिनकी सारी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ शान्त हो गई हैं उन्हीं के लिये भगवान् ने कहा है—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'

भगवान् की यह शैली है कि वे नैष्कर्म्य का उपदेश नहीं करते। वह तो फलरूप से स्वतः प्राप्त होगा। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के लिये जो परमानन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य-सुधारस का आस्वादन है वह फलरूप है। साधन का परिपाक होने पर वह तो उन्हें स्वयं प्राप्त होगा। वह उनके लिये कर्त्तव्य नहीं है—'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।'

वे श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाएँ विवेकी अन्तःकरणरूप वृन्दारण्य में स्थित परब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के पास गईं। वे परमात्मा श्रुतियों का तात्पर्य अपने में सुदृढ़ करने के लिये 'स्थूणानिखननन्याय' से उनकी निष्ठा को विचलित करने के लिये उनसे कहते हैं—'तद्यात गोष्ठम्' अर्थात् तुम अपने समुदाय को ही जाओ। तुम्हारा अधिकांश समुदाय साध्य-साधन-रूप कर्म का ही प्रतिपादन करता

है; अतः तुम्हारा तात्पर्य भी कर्म में ही होना चाहिये। तुम क्यों निर्विशेष शुद्ध चैतन्य-रूप सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने की चेष्टा करती हो। श्रुतियों का तात्पर्य आपाततः तो कर्म में ही प्रतीत होता है, उसके लिये विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं होती। वे परब्रह्मपरक हैं—इसका निर्णय करने के लिये तो उपक्रम, उपसंहार, अपूर्वता आदि का ज्ञान होने की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य का सीधा-सादा अर्थ 'विष खाओ' आपाततः प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः इसका तात्पर्य शत्रुगृह में भोजन से निवृत्त करना है। इस बात को समझने के लिये कुछ विशेष ऊहापोह की आवश्यकता होती है। श्रुति कहती है— 'सोऽरोदीद्यद्रोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं तस्य यदश्रु व्यशीर्यत्तद्रजतम्' अर्थात् 'वह रोया, यही रुद्र का रुद्रत्व है, उसका जो आँसू गिरा वह चाँदी हो गया [इसलिये जो चाँदी देता है उसे रोना पड़ता है]' यह इसका आपाततः प्रतीयमान अर्थ है। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि बर्हि याग में चाँदी का दान नहीं करना चाहिये, जैसा कि श्रुति कहती है 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इत्यादि।

सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का सृष्टि-प्रतिपादनपरत्व तो आपाततः प्रतीत होता है; परन्तु यह बात कि उनका तात्पर्य सृष्टि में न होकर निखिल प्रपञ्च की परब्रह्मरूपता प्रतिपादन करने में है विशेष ऊहा-पोह करने पर ही ज्ञात होती है। इसके लिये हमें तर्क का आश्रय लेना पड़ेगा। 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं' फलवान् के समीप में रहनेवाला निष्फल उसी का अङ्ग हुआ करता है। ब्रह्मबोधक

वाक्य मुक्तिफल से युक्त है, सृष्टि-वाक्य में कोई फल श्रुत नहीं है। अतः सृष्टिवाक्य ब्रह्मबोधक वाक्य का अङ्ग होकर ब्रह्मबोधन में ही अपना तात्पर्य्य रखता है। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न हुआ घट घटोत्पत्ति से पूर्व, घटध्वंस के पश्चात् और इस समय भी केवल मृत्तिका ही है उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न और उसी में स्थित और लीन होनेवाला जगत् ब्रह्म ही है। वस्तुतः जगत् ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हुआ। यदि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाय तो ब्रह्म का सावयवत्व, विकारित्व और सुख-दुःखात्मकत्व सिद्ध होगा; क्योंकि यह नियम है कि कार्य में कारण के ही गुण रहा करते हैं, अतः प्रपञ्च में जो गुण दिखाई देते हैं वे उसके कारण ब्रह्म में भी होने ही चाहियें। इसलिये, जिस प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य का आपाततः प्रतीयमान अर्थ छोड़कर इसका तात्पर्य शत्रु के घर का अन्न छोड़ने में माना गया उसी प्रकार हमें सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ छोड़कर ब्रह्म में ही तात्पर्य मानना पड़ेगा।

अतः हे श्रुतियो! तुम इधर परब्रह्म के प्रतिपादन का प्रयत्न क्यों करती हो? जाओ साध्यसाधनरूप प्रपञ्च का ही प्रतिपादन करो। इसमें विशेष आयास भी नहीं है। देखो, 'कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' यह श्रुति स्पष्टतया इन्द्र का ही प्रतिपादन करती है; इसी प्रकार कोई श्रुति पुरोडाश की स्तुति करती है; जैसे—'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।'

श्रुतियों का जो शब्दार्थ होता है वह आपाततः ही प्रतीत हो जाता है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इस वाक्य के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः जिन इन्द्र, वरुण, वायु आदि देवताओं का श्रुतियाँ आपाततः प्रतिपादन कर रही हैं वे ही श्रुतियों के पति हैं, उन्हीं की तुम सेवा करो; परपुरुष-रूप निर्विशेष ब्रह्म का आश्रय मत लो।

यहाँ जो 'सतीः' शब्द में द्वितीया है वह प्रथमा के अर्थ में है। इसका तात्पर्य यह है कि 'पतीन् शुश्रूषध्वं यस्माद्यूयं सत्यः'—तुम पतियों (अपने प्रतिपाद्य देवताओं) की सेवा करो क्योंकि तुम सती हो। और यदि 'सतीः' शब्द को द्वितीयान्त ही माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ होगा—'सतियों की सेवा करो'। सतियाँ वे श्रुतियाँ हैं जो अपने प्रति-पाद्य देवताओं का ही प्रतिपादन करती हैं, परब्रह्म तक नहीं दौड़तीं। तुम उन्हीं का अनुगमन करो; क्योंकि मीमांसकों का जबरदस्त आग्रह है कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' अर्थात् 'वेद क्रियार्थ है, इसलिये जो वाक्य क्रियार्थ नहीं हैं उनका कोई प्रयोजन नहीं है।'

मीमांसकों का मत है कि विधि-निषेधरूप से क्रियापरक होने पर ही वाक्य की सार्थकता है। विधि-वाक्य इष्टप्राप्ति का उपदेश करने के कारण सार्थक है; जैसे—'ज्वरितः सन् पथ्यमश्नीयात्' (ज्वरग्रस्त होने पर पथ्य भोजन करे) इसी प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि वाक्यों की अर्थवत्ता है। तथा निषेधवाक्य अनिष्ट-परिहार का उपाय उपदेश करने के कारण

सार्थक है, जैसे—'सर्पायाङ्गुलिं न दद्यात्' (सर्प को अँगुली मत पकड़ाओ) इसी प्रकार 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि वाक्य समझने चाहियें। परन्तु 'यह राजा जाता है', 'पृथिवी सात द्वीपोंवाली है' इत्यादि सिद्ध-वस्तु-प्रतिपादक वाक्य और 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) इत्यादि अर्थवाद किसी क्रिया में उपयोगी न होने के कारण व्यर्थ हैं।

अब यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि अर्थवाद को सार्थक न माननें पर तो उसका शास्त्रत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि 'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्' इस लक्षण के अनुसार शास्त्र उसी को कहते हैं जो हित का उपदेश करता है; जिस उक्ति का कोई प्रयोजन नहीं होता उसे शास्त्र नहीं कहा जा सकता, वह तो उन्मत्तप्रलापवत् उपेक्षणीय ही होती है। वाचस्पति मिश्र का कथन है—प्रतिपित्सितं त्वर्थं प्रतिपादयन्प्रतिपादयितावधेयवचनो भवति। अप्रतिपित्सितन्तु प्रतिपादयन्नायं लौकिको नापि परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्ष्यः स्यात्। किन्तु वस्तुतः अर्थवाद का अशास्त्रत्व माना नहीं गया, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से स्वाध्यायपदवाच्य समस्त वेदराशि का [आचार्य-परम्परा से] अध्ययन करने का विधान किया गया है। समस्त वेदराशि के अन्तर्गत तो अर्थवाद भी है ही। और गुरुपरम्परापूर्वक वेदाध्ययन का घृतकुल्या पयः-कुल्यादि की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल भी बतलाया गया है। इसके सिवा श्रौतसूत्रकार करकाचार्यजी भी कहते हैं कि 'वेदे मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यं न वक्तुं शक्यम्' अर्थात् वेद में एक मात्रा की व्यर्थता

नहीं बतलाई जा सकती। अतः मीमांसक को अर्थवाद की सार्थकता अवश्य बतलानी चाहिये।

मीमांसक कह सकता है कि विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर विधिविहित अर्थ की स्तुति करने में अर्थवाद का उपयोग होता है; इसी तरह ये सार्थक हो सकते हैं। किन्तु वेदाध्ययन से घृतकुल्या, पयःकुल्या आदि अदृष्ट फल की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? इससे तो वेदार्थज्ञानरूप दृष्ट फल ही प्राप्त हो जाता है; और दृष्ट फल के रहते हुए अदृष्ट फल की कल्पना करना व्यर्थ है।

इस पर शङ्का होती है कि यदि ऐसी बात है तो वेदार्थ-ज्ञान स्वतन्त्रता से स्वयं वेदाध्ययन कर लेने से ही हो सकता है; उसके लिये 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य से आचार्यपरम्परापूर्वक अध्ययन करने की ही विधि क्यों की गई है।

उत्तर में कहा जा सकता है कि गुरुपरम्परापूर्वक अध्ययन करने से वेद संस्कृत होता है और संस्कृत वेद ही यज्ञ-यागादि में उपयोगी है। इसलिये यह विधि सार्थक है। वेदाध्ययन से वेदार्थ ज्ञान की निष्पत्ति तो अन्वय-व्यतिरेक से स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष को तृप्ति हो ही जाती है उसी प्रकार जो कोई वेदाध्ययन करेगा उसे वेदार्थज्ञान होगा ही। इसमें विधि की आवश्यकता नहीं है। विधि की सार्थकता अप्राप्त विषय का प्रतिपादन करने में ही होती है। जिस प्रकार तण्डुलनिष्पत्ति नखविदलन से भी हो सकती है और मुसलावहनन से भी। किन्तु यागादि में मुसलावहनन ही करना चाहिये; इसी लिये 'व्रीहीनवहन्ति' यह विधि की गई

है। इसका फल अदृष्ट होता है। इसी प्रकार वेदार्थ का ज्ञान गुरु से अध्ययन करने पर भी हो सकता है और व्युत्पन्नमति पुरुषों को स्वयं अपने बुद्धिवल से भी हो सकता है। इसी से यह विधि की गई है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् गुरुपरम्परा से ही अध्ययन करना चाहिये। इसी से वेदाध्ययन सार्थक होगा। वेदाध्ययन से वेदार्थ का ज्ञान होगा, तब वेदार्थ का अनुष्ठान किया जायगा और उससे स्वर्गादि की प्राप्ति होगी। इस प्रकार दृष्ट फल के साथ वह अदृष्ट फल का भी जनक होगा।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस सूत्र के अनुसार अर्थवाद की सार्थकता न होने से अर्थवाद उत्तप्त हो रहा है और इसी प्रकार विधि भी उत्तप्त है; क्योंकि स्वभावतः विधि में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती। उसमें प्रवृत्ति होने के लिये उसकी स्तुति की आवश्यकता है।

पहले यह पद्धति थी कि बड़े-बड़े राजा लोग सभाएँ कराया करते थे। उनमें शास्त्रार्थ होता था। वहाँ जो विद्वान् विजयी होता था उसका बहुत आदर-सत्कार किया जाता था। उस सम्मान के प्रलाभन से ही विद्वान् लोग न्याय, मीमांसा आदि शुष्क विषयों का भी अध्ययन करते थे। इस प्रकार जिस कर्म की महत्ता सत्पुरुषों में प्रसिद्ध होती है उसी में लोगों की प्रवृत्ति हुआ करती है। वैदिक एवं स्मार्त्त कर्मों में भी लोगों की तभी प्रवृत्ति हो सकती है जब लोग उन कर्मों को करनेवालों का आदर करें। ऐसा तो कोई विरला ही विद्वान् होता है जो आदर आदि

की अपेक्षा न रखकर कर्त्तव्य-बुद्धि से ही शास्त्र-रक्षा करे। यह बात अवश्य है कि ऐसे महानुभावों का भी सर्वथा अभाव नहीं है। इस समय यद्यपि अश्वमेध, राजसूय एवं अग्निष्टोम आदि यज्ञों को कोई नहीं पूछता तो भी ऐसे भी ब्राह्मण हैं जिन्होंने शुष्क इष्टियों द्वारा अश्वमेधादि कृत्यों का अभ्यास किया है और आवश्यकता पड़ने पर वे उनका अनुष्ठान करा सकते हैं।

देखो, शास्त्र कह रहे हैं—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'। किन्तु इन विधिवाक्यों से प्रेरित होकर आज कितने आदमी उनका पालन करते हैं? किन्तु जनता में हरिनाम-संकीर्तन की थोड़ी सी महिमा प्रसिद्ध होने के कारण उसका प्रचार दिनों दिन बढ़ रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि विधि में प्रवृत्ति होने के लिये उसकी स्तुति की आवश्यकता है। अतः इधर अर्थवाद अपनी सार्थकता के लिये और विधि अपने में प्रवृत्ति होने के लिये उत्तप्त थे, उन्होंने 'नष्टाश्वरथदग्धन्याय' से* परस्पर एक-दूसरे की कार्यसिद्धि की। अर्थवाद ने विधि की स्तुति करके विधि में रुचि उत्पन्न की और विधि ने अर्थवाद को अपने फल से फलवान् बना दिया।

---

* दो राजा वन में गये हुए थे। उनमें से एक का घोड़ा मर गया और दूसरे का रथ नष्ट हो गया। वे आपस में मिल गये। उनमें से एक ने अपना रथ दिया और दूसरे ने घोड़ा। इस प्रकार परस्पर मिलकर वे उस वन से निकलकर सकुशल नगर में पहुँच गये। इसे 'नष्टाश्वरथदग्धन्याय' कहते हैं।

इसी प्रकार मन्त्रों की सार्थकता के विषय में भी प्रश्न होने पर उनका उपयोग द्रव्य और देवताओं के स्मारक होने में है यह समाधान किया जाता है।

इस तरह विधि, निषेध, अर्थवाद और मन्त्र इन सभी का प्रामाण्य क्रियापरत्वेन ही है। इसी से भगवान् श्रुतिस्वरूपा व्रजाङ्गनाओं से कहते हैं कि अपने प्रामाण्य के लिये तुम अपने समुदाय का ही अनुगमन करो। जिस प्रकार तुम्हारा समुदाय क्रियापरक है उसी प्रकार तुम भी क्रियापरक हो जाओ, शुद्ध चैतन्यरूप सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन मत करो।

यदि कहा जाय कि हमारा अप्रामाण्य हो जाने दो तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि तुम सती—अपौरुषेय होने से सर्व-दोष-विवर्जित हो, तुम्हें मीमांसकों का सङ्ग छोड़ना उचित नहीं है। कुछ 'द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः' इत्यादि श्रुतियाँ कह सकती हैं कि मीमांसक तो हमारे स्वार्थ का ही अपलाप करते हैं, क्योंकि वे हमारे सर्वस्व परब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, फिर हमीं उनकी अपेक्षा क्यों करें? परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। मीमांसक जो ईश्वर का खण्डन करते हैं वे केवल वेदनिर्मा-तृत्वेन उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि नैयायिकों के मतानुसार अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वरकृत होने के कारण वेदों का प्रामाण्य है; और इधर ईश्वर के सर्वज्ञत्व का ज्ञान भी वेद से ही होता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर इन दोनों में अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होती है। इसके सिवा एक दोष यह भी है कि जिन युक्तियों

से अनुमान करके नैयायिक वेदनिर्माता ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध करते हैं, उन्हीं युक्तियों से बौद्ध, ईसाई और यवन लोग अपने धर्मग्रंथों के निर्माताओं को सर्वज्ञ सिद्ध कर सकते हैं। वेदान्त दर्शन के मत में भी ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं, बल्कि शास्त्र से ही होती है; जैसा कि 'शास्त्रयोनित्वात्', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है।

इसी से शास्त्ररक्षक का आदर भगवान् भी करते हैं। वे कहते हैं—'विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्।' अतः मीमांसक लोग वेद का प्रामाण्य ईश्वरकृत होने के कारण नहीं मानते बल्कि अपौरुषेय होने के कारण मानते हैं। इसी से उन्होंने जो ईश्वर का खण्डन किया है वह इसी लिये है कि उन्हें ईश्वरनिर्मितत्वेन वेद का प्रामाण्य इष्ट नहीं है। वह स्वतः प्रमाण है।

उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि प्रमाण स्वतः प्रमाण हुआ करता है; उसका अप्रामाण्य परतः होता है। यदि प्रमाण का प्रामाण्य परतः माना जायगा तो जिस प्रमाण से उसका प्रामाण्य सिद्ध किया जायगा उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये किसी तीसरे प्रमाण की अपेक्षा होगी और उसके प्रामाण्य के लिये चौथे प्रमाण की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। वेदातिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध है किन्तु पौरुषेय और सादि होने के कारण उनका अप्रामाण्य परतः है। उनका पौरुषेयत्व और सादित्व तो उन्हीं से सिद्ध होता है। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ

नहीं हो सकता; अन्यथा अनेक सर्वज्ञ मानने पड़ेंगे। यदि अनेक सर्वज्ञ माने जायँ तो उनके कथन में विरोध नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं; जीवमात्र में अल्पज्ञत्व, सातिशयत्व और करणापाटव आदि दोष रहते ही हैं। इसलिये उनके रचे हुए ग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं हो सकते।

जिस प्रकार अन्य ग्रन्थों का पौरुषेयत्व प्रदर्शित किया जा सकता है उस प्रकार वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि पूछा जाय कि इसमें प्रमाण क्या है? तो परोक्ष वस्तु के अभाव में तो प्रमाणाभाव ही पर्याप्त प्रमाण होता है। हम तो वेद के कर्ता का अभाव बतला रहे हैं, अतः उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कहा जा सकता है कि ऐसे भी कितने ही ग्रन्थ हैं कि जिनके कर्ता का ज्ञान नहीं है; तो क्या उन्हें भी अपौरुषेय ही मानना चाहिये? इसमें हमारा कथन यह है कि उन ग्रन्थों की सम्प्रदाय-परम्परा का विच्छेद देखा जाता है, इसलिये वे अपौरुषेय नहीं हो सकते। किन्तु वेदों की सम्प्रदाय-परम्परा का विच्छेद नहीं हुआ, क्योंकि उसके विच्छेद में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि कहीं-कहीं वेदों की उत्पत्ति भी तो सुनी जाती है; जैसे—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। यह कथन ठीक है किन्तु इसके साथ ही 'वाचा विरूप नित्यया', 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' आदि वाक्यों से उनका नित्यत्व भी प्रमाणित होता

है। अतः इन दोनों प्रकार के वाक्यों की एकवाक्यता होनी चाहिये। इनका अभिप्राय केवल यही है कि पूर्व कल्प की आनुपूर्वी के समान इस कल्प के आरम्भ में भी भगवान् स्वयम्भू से उसी आनुपूर्वी के अनुस्मरणपूर्वक वेदों का आविर्भाव हुआ।

इसी से भगवान् कहते हैं कि तुम अपने समुदाय में जाओ, क्योंकि मीमांसक भी परब्रह्म परमात्मा का खण्डन नहीं करते। वे केवल न्यायप्रतिपादित अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, अपौरुषेय वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन वे कभी नहीं करते। कर्मफल देनेवाला या कर्म में देवतादिरूप से ईश्वर उन्हें भी मान्य है ही परन्तु तुम स्वतन्त्र विधि निरपेक्ष अद्वैत ब्रह्म में मत आसक्त हो।

अतः तुम साध्यसाधनमय प्रपञ्च का ही प्रतिपादन करो, निर्विशेष परब्रह्म का प्रतिपादन करने का प्रयत्न मत करो। इसमें 'मा चिरम्'—देरी भी नहीं होगी। इसलिये 'शुश्रूषध्वं पतीन्'—अपने-अपने प्रतिपाद्य देवताओं का ही प्रतिपादन करो।

यह सुनकर मानों श्रुतियों को यह सन्देह हुआ कि यदि हम अनन्त परब्रह्म का ही प्रतिपादन करेंगी तो अन्य देवता तो उसी में आ जायँगे, क्योंकि वे भी तो ब्रह्म से अभिन्न ही हैं। यह नियम है कि कार्यगत सत्ता कारण में ही रहती है, अतः समस्त कार्य का पर्यवसान कारण में ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिका का प्रतिपादन कर देने पर घटादि का भी प्रतिपादन हो ही जाता है उसी प्रकार सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्म का प्रतिपादन करने पर अवान्तर देव-

ताओं का प्रतिपादन भी हो ही जाता है। वास्तव में तो सत्तामात्र शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण शब्दों का वाच्य है; क्योंकि यह निखिल प्रपञ्च उसी से तो उत्पन्न हुआ है 'तस्मादेतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः।' अतः यह ब्रह्मरूप ही है।

इसलिये यदि व्रजाङ्गनाएँ अपने प्राकृत पतियों को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के पास गईं तो उनका पातिव्रत भंग नहीं हुआ, क्योंकि—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

जिस प्रकार तरंग समुद्र से भिन्न नहीं होती, इसलिये यदि एक तरंग के साथ दूसरी तरंग का सम्बन्ध है तो वस्तुतः वह सम्बन्ध समुद्र के ही साथ है; क्योंकि वही समस्त तरंगों का अधिष्ठान है, इसी प्रकार समस्त जीवों के अधिष्ठान साक्षात् परब्रह्म भगवान् कृष्णचन्द्र ही हैं। अतः श्रुतियों को यह विचार हुआ कि यदि हम परब्रह्म का ही प्रतिपादन करेंगी तो भी हमारा पातिव्रत भंग नहीं होगा।

इस पर भगवान् कहते हैं—'सच है, मेरे साथ सम्बन्ध करने से तुम्हारा पातिव्रत तो भंग नहीं होगा तथापि 'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च'—ये बालक और बछड़े तो रो रहे हैं। इन पर दया करनी चाहिये। ये अज्ञानी हैं, अपने अधिष्ठानभूत मुझ परब्रह्म को नहीं जानते, इसलिये बाल हैं; तथा इनकी प्रवृत्ति अनात्म पदार्थों में है, इस पाशविक प्रवृत्ति के ही कारण ये वत्स हैं। तुम्हें

चाहिये कि इन पर दया करके इन्हें इनके इष्ट पदार्थ सोमादि का प्रदान करो।

यदि विचार किया जाय ते उपास्य-उपासना का पर्यवसान ते प्रेमातिशय में होता है। उसके लिये उपासना साधन है। 'भक्ति' शब्द के भी दो अर्थ हैं—'भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया सा भक्तिः' अर्थात् जिसके द्वारा भगवदाकार वृत्ति की जाय उसे भक्ति कहते हैं और दूसरा 'भजनं भक्तिः' भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है। इस प्रकार भक्ति साध्य भी है और साधन भी। इसी प्रकार 'उपासना' शब्द का भी तात्पर्य यह है—'लक्ष्यमुपेत्य यद्दीर्घकालं नैरन्तर्येणादरपूर्वकमासनं तदुपासनम्' अर्थात् अपने लक्ष्य तक पहुँचकर जो दीर्घ काल तक अव्यवहित रूप से उसकी सन्निधि में रहना है उसका नाम उपासना है। इस तरह यदि हम अपने ध्येय का दीर्घकाल तक सेवन करेंगे ते उसके प्रति हमारे हृदय में राग उत्पन्न होगा।

'ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।'

भगवान् की इस उक्ति के अनुसार यदि हम विषय-चिन्तन करते-करते विषयासक्त हो जाते हैं ते दीर्घकाल तक भगवच्चिन्तन करने पर उनमें भी हमारा राग हो ही जाना चाहिये। प्रेम आरम्भ में ही नहीं होता; वह ते दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन करते रहने पर ही होता है। जिस समय भगवान् में हमारा प्रेम होगा उस समय हमें उनकी प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा हो जायगी।

एक बात और ध्यान देने की है, प्रेम की अभिवृद्धि प्रेमास्पद में ही हुआ करती है। जो प्रेम करने योग्य नहीं होता उसका दीर्घकाल तक चिन्तन किया जाय तब भी उसमें प्रेम नहीं हो सकता। व्याघ्र और सर्पादि का जन्मभर चिन्तन करते रहो, उनमें प्रेम कभी नहीं होगा। उनमें तो द्वेष की ही वृद्धि होगी; प्रेम तो प्रेमास्पद में ही हो सकता है। चिन्तन से केवल योग्यता मिलती है। प्रेमास्पद का चिन्तन करने से प्रेम बढ़ता है और द्वेष का चिन्तन करने से द्वेष की वृद्धि होती है। विषय भी सुख के साधन हैं, इसलिये उनमें भी प्रेम हो जाया करता है। प्रेम दो ही में होता है—सुख में तथा सुख के साधन में। सुख के साधन में जो प्रेम होता है वह स्थायी नहीं होता, जब तक वह पदार्थ सुखप्रद रहता है तभी तक उसमें प्रेम रहता है। देखो, जल तभी तक प्रिय लगता है जब तक हमें तृषा रहती है। परन्तु सुख तो सदा ही प्रेमास्पद है। अतः निरतिशय प्रेम सुख में ही हो सकता है। केवल सुख-स्वरूप तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं, इसलिये हमें उन्हीं में प्रेम करना चाहिये। प्रेम के इन दो भेदों को शास्त्र में सोपाधिक और निरुपाधिक प्रेम भी कहा है।

प्रेम के विषय में यह नियम है कि अत्यन्त नीच परिस्थिति में रहनेवाला पुरुष भी उसी को अधिकाधिक प्रेमास्पद समझता है जो जितना उसका अधिक आन्तरिक होता है। जो देहात्मवादी हैं, जिन्हें विविध प्रकार के सौख्योपभोग ही इष्ट हैं उनका प्रेम भी

अधिकाधिक अन्तरंग में ही होता है। देखिये, पुत्रादि की अपेक्षा शरीर अधिक प्रिय है, शरीर की अपेक्षा मन अधिक प्रिय है; इसी से मन उद्विग्न होने पर उसे शान्त करने के लिये आत्मघात तक कर लेते हैं। मन भी जब चञ्चलता के कारण अशान्ति का हेतु दिखाई देने लगता है तो उसके भी नाश का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ तक कि अन्त में अभ्यासी लोग बुद्धि का भी निरोध करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जो बुद्धि से लेकर स्थूल प्रपञ्च-पर्यन्त सम्पूर्ण दृश्यवर्ग का प्रकाशक है वह सर्वान्तरतम आत्मा ही निरुपाधिक परमप्रेम का आस्पद है। हमारा परमाराध्य प्रभु बहिरंग नहीं है। वेद-शास्त्र उसे सबका अन्तरात्मा कहकर प्रतिपादन करते हैं, अतः जो लोग भगवान् को बहिरंग समझते हैं वे वस्तुतः उपासना का रहस्य नहीं जानते। वह तो सर्वान्तरतम है। संसार के सारे पदार्थों का वियोग हो सकता है किन्तु भगवान् का वियोग कभी नहीं हो सकता; वह तो हमारा परम सखा है। श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सहजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

वैष्णव आचार्यों का मत है कि जिस समय जीव ब्रह्मलोक को जाता है—जिन्हें कि वे वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत तथा नित्य वृन्दावन आदि नामों से पुकारते हैं—उस समय उसे लिंग शरीर छोड़ देना पड़ता है। ब्रह्मलोक को वे शबल ब्रह्म का धाम नहीं मानते। वे उसे शुद्ध चिदानन्दघन भगवान् का चिन्मय धाम मानते हैं। अतः

वहाँ जो जीव जाते हैं वे विरजा नदी में स्नान करने पर अपना लिंग शरीर त्याग देते हैं। इस प्रकार लिंग शरीर का तो हमसे वियोग हो जाता है किन्तु भगवान् का वियोग कभी नहीं होता।

अतः भगवान् हमारे नित्य सखा हैं। किन्तु मैत्री सर्वदा समान और सजातीय व्यक्तियों में ही हुआ करती है। अतः जिस प्रकार भगवान् 'सच्चिदानन्द दिनेश' हैं उसी प्रकार जीव भी 'चेतन अमल सहज सुखराशी' है। इसलिये जो उनके स्वभाव में भेद मानते हैं वे ठीक-ठीक नहीं जानते। भगवान् तभी जीव के परमप्रेमास्पद हो सकते हैं जब कि जीव को उनका नित्य सम्बन्धी माना जाय। अतः उपासना का ठीक रहस्य वही जानता है जिसे उपास्य और उपासक के अभेद का निश्चय है। अन्यथा—

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः'।

जो ऐसे अनभिज्ञ लोग हैं वे ही सर्वमिथ्यात्व निश्चय को सुनकर 'क्रन्दन्ति'—रोते हैं। वे अनभिज्ञ कर्मठ कहे जाते हैं। स्मरण रहे सब कर्मकाण्डी अनभिज्ञ नहीं होते। जो भगवत्प्राप्ति के लिये भगवदर्थ कर्म करते हैं वे तो परम विवेकी हैं। ऐसा कर्म करने के लिये तो भगवान् स्वयं आज्ञा दे रहे हैं—

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥'
'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'

कर्मजड तो वे हैं जो ऐहिकामुष्मिक भोगों को ही परम पुरुषार्थ मानकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये सारे कर्म-धर्म करते हैं। उनके विषय में भगवान् कहते हैं—

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥'

वे लोग वेद के अर्थवाद में ही आसक्त रहते हैं। वे ही श्रुतियों का ब्रह्मपरत्व सुनकर घबराते हैं। वे अभय में भय देखते हैं। भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं—

'अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम्।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

जो वस्तुतः भगवत्तत्त्व के रहस्यज्ञ हैं वे तो यह सब देखकर उलटे प्रसन्न होते हैं। वे जानते हैं कि यदि वापी-कूपादि समुद्र में एकीभाव को प्राप्त हो जायँ तो उनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अचिन्त्यानन्द सुधासिन्धु श्री भगवान् ही तो सारे सुख के अधिष्ठान हैं; यदि उनमें हमारे सारे क्षुद्र सुख समा जाते हैं तो आनन्द ही है।

जो लोग विषयासक्त हैं, जो 'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये' इस सिद्धान्त के माननेवाले हैं वे ही 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस सिद्धान्त को सुनकर रोते हैं। उन्हीं के लिये कहा है—'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च।' अतः तुम प्रपञ्च का सत्यत्व प्रतिपादन करके उन्हें ही

तृप्त करो और उनके लिये अभीष्ट फलरूप दुग्ध दुहो। यह उनके प्रति तुम्हारी करुणा होगी। यद्यपि परब्रह्म की ही उपासना करने से तुम्हारा पातिव्रत भग्न नहीं होगा, क्योंकि 'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इस श्रुति के अनुसार विचारवानों के सारे जप-तप का परमलाभ ब्रह्मज्ञान ही है, तथापि दया तो करनी ही चाहिये। महानुभाव तो सर्वदा 'सर्वभूतहिते रताः' ही हुआ करते हैं; अतः तुम भी उन्हें अभीष्ट वस्तु देकर उनका आप्यायन करो।

इस श्लोक का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि समस्त प्राणियों की बुद्धियाँ ही व्रजाङ्गनाएँ हैं और भगवान् कृष्ण उनके साक्षी हैं। अतः 'तद्यात गोष्ठं मा' ऐसा पदच्छेद करके यह तात्पर्य समझना चाहिये कि अब तुम गोष्ठ को मत जाओ अर्थात् साध्यसाधनात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन मत करो, बल्कि 'शुश्रूषध्वं पतीन्'। यहाँ 'पतीन्' इस पद में बहुवचन गौरवार्थ है। अर्थात् उपक्रम उपसंहार अपूर्वता आदि षड्विध लिंगों से मेरे में ही अपना तात्पर्य निश्चय करो। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' यह भगवान् का कथन अविवेकियों की ही दृष्टि से है। विचारवानों का तो यही कथन है कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।' अतः त्रिगुणमय संसार के साथ संसर्ग करना ही परम अमंगल है। परब्रह्म परमात्मा का अनुस्मरण ही एकमात्र कल्याण का मूल है। अतः श्रुति प्रपञ्चपरक है— ऐसा प्रसिद्ध होने से तुम कलङ्कित हो जाओगी। और यदि त्रिगुणातीत शुद्ध परब्रह्म का प्रतिपादन करोगी तो तुम भी गुणातीत हो जाओगी और इससे तुम्हें महत्ता प्राप्त होगी।

परन्तु यह होगा कैसे ? इसके लिये तुम 'शुश्रूषध्वं सतीः' अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि जो श्रुतियाँ परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, तुम उन्हीं के सिद्धान्त का अनुसरण करो।

यहाँ अपने में बुद्धियों का निश्चय दृढ़ करना है; इसलिये मानों बुद्धियों के प्रति भगवान् कहते हैं कि 'पतीन् शुश्रूषध्वम्।' यहाँ उपाधिभेद के कारण बुद्धियों के अनेक पति उपपन्न हो सकते हैं। बुद्धि स्वभाव से ही नामरूपात्मक दृश्य की ओर जाती है। इसी से भगवान् कहते हैं—'तद्यात मा चिरं गोष्ठम्' अर्थात् अब तुम और अधिक काल दृश्य की ओर मत जाओ। बल्कि दृश्य की ओर से निवृत्त होकर अपने अवभासक समस्त बुद्धियों के साक्षी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म का ही चिन्तन करो। परन्तु ऐसा कोई-कोई ही कर पाता है; क्योंकि

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

इसलिये—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अहा! भगवान् का वह सौन्दर्यमाधुर्य कितना महान् है। भगवत्पाद भगवान् शङ्कराचार्य प्रबोधसुधाकर में लिखते हैं—'अरी बुद्धि तू तराजू के पलड़े में सारे संसार का सुख और दूसरे में परमानन्दकन्द भगवान् कृष्ण के सौन्दर्यसुधा का एक कण रख तब तू देखेगी कि भगवान् का सौन्दर्यकण ही भारी है। अतः तू सांसारिक विषयों को छोड़कर भगवान् कृष्ण की सौन्दर्यसुधा का पान किया कर।'

इसी से भगवान् कहते हैं—'अरी बुद्धियो! अब तुम गोष्ठप्रपञ्च में मत जाओ, वहाँ बहुत रह चुकीं। उस स्थान में तो पशु रहा करते हैं; तुम तो अपने परम प्रियतम मुक्त परब्रह्म का ही आश्रय लो।'

यदि कहो कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, हम कैसे आपकी ओर आवें! तो भगवान् कहते हैं तुम अवश्य पराधीन हो, क्योंकि तुम करण हो और करण अपनी प्रवृत्ति के लिये कर्त्ता के अधीन हुआ करता है; अतः तुम प्रमाता को समझाओ। इस पर श्रुति कहती हैं—हम तो उसे बहुत समझाती हैं; परन्तु अब तो वह भी विवश है। जैसे दौड़नेवाला पुरुष यद्यपि पादसञ्चालन में स्वतन्त्र होता है तथापि वेग बढ़ जाने पर वह भी उस वेग के अधीन हो जाता है; फर उसकी गति उसके अधीन नहीं रहती। इसी प्रकार यद्यपि प्रमाता जीव स्वतन्त्र है, तो भी बुद्धि से निरन्तर विषय-चिन्तन करते रहने के कारण अब उसे विवश होकर उसी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना पड़ता है।

दुर्गासप्तशती में सुरथ नामक राजा और समाधि नामक वैश्य का प्रसंग आता है। सुरथ शत्रुओं से पराजित होकर भागा था। उसका राज्य शत्रुओं के हाथ में चला गया था। अब उसमें उसका कोई स्वत्व नहीं रहा था तो भी उसे अपने सम्बन्धियों और हाथी-घोड़ों की स्मृति सताती थी। इसी प्रकार समाधि को उसके पुत्रादि ने घर से निकाल दिया था तो भी उसे घर और घरवालों की ही स्मृति बनो रहती थी। उन्होंने एक मुनिवर के पास जाकर इस अनभिमत चिन्ता का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

अतः भगवान् कहते हैं यदि तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' भगवती शक्ति का समाश्रयण करो; क्योंकि—

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥

क्योंकि वह सर्वात्मिका है 'या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता', 'या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता' अपने से विमुख लोगों के लिये वही भ्रान्तिरूप से प्रकट होती है और अपने भक्तों के लिये वही परम कल्याणी विद्या देवी है ।

यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥

अथवा 'सती' शब्द से सात्त्विकी वृत्ति भी विवक्षित हो सकती है । अतः इसका तात्पर्य यह है कि पहले सात्त्विक वृत्तियाँ जागृत करो । भगवान् का नाम जप करो, प्रभु का गुण गान करो और राजस तामस वृत्तियों का त्याग करो । ऐसा करते-करते पीछे परब्रह्म परमात्माकाराकारिता वृत्ति हो जायगी ।

इस प्रकार बुद्धियों को भगवान् का यही उपदेश है कि तुम गोष्ठ यानी साध्यसाधनात्मक संसार की ओर मत जाओ, बल्कि पतीन्—सम्पूर्ण बुद्धियों के साक्षी परब्रह्म परमात्मा—का ही आश्रय लो । बुद्धियाँ अपने चरम आश्रयभूत साक्षी का अवलम्बन न करके संसार में प्रवृत्त होती हैं और फिर

उसी में फँस जाती हैं। अतः भगवान् उन्हें उपदेश करते हैं कि तुम संसार से विरत होकर अपने अधिष्ठान परमात्मा की ओर ही जाओ। वह आत्मा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, वह यह जानता है कि इस समय मेरी बुद्धि सात्त्विक है, इस समय राजस है और इस समय मोहग्रस्त है। इस प्रकार जो काम, संकल्प, विचिकित्सा, धी, ह्री आदि अन्तःकरण के धर्मों को जानता है, जो जाग्रत् और स्वप्न में प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप त्रिपुटी का अवभासक है और सुषुप्ति में उनके अभाव को प्रकाशित करता है उस सर्वावभासक परमतत्त्व पर दृष्टि पहुँचने पर यह निखिल प्रपञ्च सहज ही में निवृत्त हो जाता है। किन्तु यह है अत्यन्त दुर्लभ; इसी से कहा है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

'धीर' शब्द का अर्थ है—'धियं ईरयति प्रेरयति इति धीरः' अर्थात् जो बुद्धि आदि कार्य-करण-संघात को अपने अधीन रखता है—स्वयं उसके अधीन नहीं होता। ऐसा कोई देहाभिमानी नहीं हो सकता। इसी लिये भगवान् ने कहा है—'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।'

वह बुद्धि का प्रेरक नील, पीत आदि किसी रूपवाला नहीं है। वह तो अत्यन्त सूक्ष्म है। देखो, इन नील-पीतादि का प्रकाशक पहले तो सूर्य का प्रकाश देखा जाता है। जिस प्रकार नील-पीतादि रूपवान् है उसी प्रकार उन्हें प्रकाशित करनेवाले सूर्य एवं अग्नि आदि के आलोक भी रूपवान् हैं; परन्तु अपने प्रकाश्य

नील-पीतादि की अपेक्षा उनमें बहुत सूक्ष्म है। उस सौर आलोक का प्रकाशन चाक्षुष-ज्योति से होता है; वह रूपरहित है। इस प्रकार रूपरहित तत्त्व रूपवान् को प्रकाशित कर रहा है। यह भी अनुभव में आता है कि जो नेत्रज्योति निर्दोष होती है वह आलोक को ठीक-ठीक प्रकाशित कर सकती है और जो सदोष होती है वह उसका ठीक-ठीक प्रकाशन नहीं कर सकती। किन्तु यह कौन जानता है कि नेत्र सदोष है या निर्दोष? इस बात को मन जानता है; चक्षु के पाटवापाटव का ज्ञाता मन है। मन में भी रूप नहीं है। इसी प्रकार मन के चाञ्चल्यादि को जाननेवाली बुद्धि है, और बुद्धि अपना कार्य अहंकारपूर्वक करती है; जैसे कि यह कहा जाता है कि 'मैं अपनी बुद्धि द्वारा मन का निरोध करूँगा'। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि इस 'मैं' का करण है। यह 'मैं' अत्यन्त सूक्ष्म है। यदि हम कुछ काल बुद्धि आदि से रहित केवल 'मैं' का ही चिन्तन करें तो हमारे सामने 'मैं' और 'मैं' के साक्षी का भेद सुस्पष्ट हो जायगा। इस समय तो 'मैं' और चिदात्मा का अन्योन्याध्यास हो रहा है। जिस प्रकार तपे हुए लोहपिण्ड में अग्निरहित लोहपिण्ड और लोहपिण्डरहित अग्नि का भान नहीं हो सकता उसी प्रकार इस समय हमें 'मैं' से रहित चेतन और चेतनरहित 'मैं' की प्रतीति नहीं हो सकती। सुषुप्ति में 'मैं' का अभाव रहता है। उस समय चिदात्मा 'मैं' के अभाव का प्रकाशक है। इस प्रकार वह स्पष्टतया 'मैं' के भाव और अभाव दोनों ही का प्रकाशक प्रतीत हो रहा है। इसी क्रम से हम उसे

शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के चरम अवभासकरूप से भी निश्चय कर सकते हैं। अतः विषयों की अवभासक पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का अवभासक मन है, मन की प्रकाशिका बुद्धि है, बुद्धि का प्रेरक अहंकार है और इन मन, बुद्धि अहंकार सभी का भासक चिदात्मा है।

व्यवहार में देखते हैं कि गन्धाकाराकारितवृत्ति, रूपाकाराकारितवृत्ति, रसाकाराकारितवृत्ति, स्पर्शाकाराकारितवृत्ति और शब्दाकाराकारितवृत्ति—इन सबमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार इनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों में भी भेद है। इनके भेद और अभेद का विवेक करो। इनमें जो भेद है वही प्रपञ्च है और जो अभेद है वही परमार्थ है। उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली गन्धवृत्ति, रसवृत्ति, स्पर्शवृत्ति आदि पृथक् हैं परन्तु उन वृत्तियों की उत्पत्ति, स्थिति, नाश तथा उनके स्वरूपों का भासन करनेवाला अखण्ड बोध या निर्विकार भान सदा एकरस तथा एक ही है।

जिस प्रकार नील-पीत-हरित आदि रूपों का अवभासक सौर आलोक एक ही है किन्तु उसके प्रकाश्य भिन्न हैं उसी प्रकार दृश्य अनेक हैं और द्रष्टा एक ही है। किन्तु नील-पीतादि दृश्यों को प्रकाशित करते समय उनका अवभासक सौर आलोक तद्रूप हो जाता है; उन नीलपीतादि की सन्धि में जो उसका निर्विशेष रूप रहता है वही उसका शुद्ध स्वरूप है। इसी बात को पञ्चदशीकार ने एक अन्य दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत्।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते॥

एक स्थान पर कई दर्पण रखे हुए हैं। उनमें सूर्य की किरणें पड़-कर फिर समीपस्थ भित्ति पर प्रतिफलित हो रही हैं। वे दर्पणालोक और उनकी सन्धियाँ ये दोनों ही सौर आलोक से प्रकाशित हैं; किन्तु सन्धियाँ केवल सौरालोक से प्रकाशित हैं और दर्पणालोक दर्पण में पड़े हुए सौरालोक के आभास से भी प्रकाशित हैं। इसी प्रकार विषयों की स्फूर्ति तो चेतन तथा अन्तःकरणस्थ चिदाभास दोनों के योग से होती है, किन्तु उन विषयों की सन्धि अर्थात् निर्वि-षय स्थिति केवल चेतन से ही भासित होती है।

अतः आत्मसाक्षात्कार करने के लिये पहले हमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धादि की वासनाओं से वासित अन्तःकरण द्वारा विषयों से हटाकर इन्द्रियों को स्वाधीन करना होगा। फिर बुद्धि से मन का और अहंकार से बुद्धि का संयम करना होगा। तत्प-श्चात् अपने स्वरूपभूत साक्षी से अहंकार को पृथक् निश्चय करने पर हम अपने शुद्ध स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकेंगे।

सबसे पहले सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपञ्च को पृथिवीमात्र चिन्तन करो; घट, पट, गृह, उद्यान आदि सभी वस्तुओं को केवल पृथिवीतत्त्व ही अनुभव करो। फिर इस पृथिवीतत्त्व का जलतत्त्व में लय करो और सर्वत्र केवल जलतत्त्व को ही व्याप्त देखो। तत्पश्चात् जल को अग्नितत्त्व में लीन करो तथा सब पदार्थों को तेजामय ही देखो। इसी प्रकार फिर उन्हें क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप देखो। इस चिन्तन के बढ़ने के साथ क्रमशः गन्धादि विषयों की निवृत्ति होती जायगी। वृत्ति प्रायः तेज से आगे नहीं बढ़ती।

वायु और आकाश रूपरहित पदार्थ हैं, इसलिये उन पर दृष्टि जमना बहुत कठिन है। यदि मन वायुतत्त्व में स्थित हो गया तो उसे अन्धकार और प्रकाश की भी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि ये दोनों तो तेज के अन्तर्गत हैं। रूप की निवृत्ति होने पर तो सारा ही विक्षेप निवृत्त हो जाता है। अब केवल स्पर्श और शब्द रह जाते हैं, स्पर्श की निवृत्ति होने पर केवल शब्द ही शेष रहता है। इससे आगे बढ़कर शब्द को देखनेवाले मन में ही स्थित हो जाओ। फिर तटस्थवृत्ति से मन की गति को देखो और तत्पश्चात् उस देखने को देखो। इस प्रकार बुद्धि तुम्हारा दृश्य हो जायगी। बुद्धि का द्रष्टा अहंकार है। इससे आगे अहंकार भी भास्य कोटि में आ जाना चाहिये। तत्पश्चात् उसकी भी प्रतीति नहीं होगी और केवल सर्वावभासक चिदात्मा ही रह जायगा। इस प्रकार बुद्धि सबके अधिष्ठानभूत केवल आत्मा में ही स्थित हो जाती है; उस समय उसके भास्य शब्द-स्पर्शादि प्रपञ्च में से कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। भगवान् का उपदेश है—'शुश्रूषध्वं पतीन्' अर्थात् जो सर्वावभासक चिदात्मा जागृत और स्वप्न अवस्थाओं में प्रतीत होनेवाले द्वैत का तथा सुषुप्ति में अनुभव हुए अज्ञान का साक्षी है, तुम उस परम पति का ही आश्रय लो। अतः तुम नामरूपात्मक प्रपञ्च की ओर मत जाओ, बल्कि उसके अवभासक सर्वसाक्षी परमात्मा का चिन्तन करो। यदि कहो कि उसमें तो हमारी गति नहीं है, हम किस प्रकार ऐसा करें तो उसके

लिये 'शुश्रूषध्वं सतीः'। 'सती' शब्द का अर्थ हम पहले ही कह चुके हैं। तात्पर्य यह है कि इसके लिये तुम ब्रह्मविद्यारूपिणी भगवती महामाया की उपासना करो। देखो, गोपियों को भी श्री कात्यायिनी देवी की उपासना करने से ही परब्रह्मस्वरूप भगवान् कृष्ण की प्राप्ति हुई थी।

ऐसी ही एक गाथा उपनिषदों में आती है। जिस समय देवासुर संग्राम में परब्रह्म परमात्मा के प्रसाद से देवताओं को विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान् को भूल गये और उस विजय को अपने ही पुरुषार्थ का फल मानने लगे। उस समय परम दयालु भगवान् अपने मोहग्रस्त अनुचरों का व्यामोह दूर करने के लिये एक विचित्र रूप से उनके सामने प्रकट हुए। भगवान् के उस विचित्र अनन्त प्रकाशमय विग्रह को देखकर देवताओं को बड़ा कुतूहल हुआ और उन्हें यह जानने के लिये बड़ी उत्सुकता हुई कि यह यक्ष कौन है। यह बात जानने के लिये सबसे पहले अग्नि देव गये। भगवान् ने उनसे पूछा, 'तुम कौन हो?' अग्नि ने बड़े गर्व से कहा, 'मैं अग्नि हूँ, लोग मुझे जातवेदा कहते हैं।' भगवान् ने कहा—'तुम क्या कर सकते हो?' अग्नि देव ने ने कहा—'संसार में जितने पदार्थ हैं मैं उन सभी को जला सकता हूँ।' तब यक्ष भगवान् ने उनके आगे एक तृण रखकर कहा, 'भला इसे तो जलाओ।' अग्निदेव अपना सारा पुरुषार्थ लगाकर हार गये किन्तु वे उसे जलाने में समर्थ न हुए और इस प्रकार मानमर्दन हो जाने से चुपचाप लौट आये। उनके पीछे वायु देवता गये। किन्तु

उनकी भी वही गति हुई। वे भी एक क्षुद्र तृण मात्र को उड़ाने में समर्थ न हुए।

इस प्रकार अग्नि और वायु के विफलमनोरथ होकर लौट आने पर स्वयं देवराज इन्द्र उस यक्ष का परिचय प्राप्त करने के लिये चले। देवराज को देखते ही यक्ष भगवान् अन्तर्धान हो गये। इससे इन्द्र को बड़ा परिताप हुआ। वे सोचने लगे "अहो! मुझे सन्निधान से उनके दर्शन और सम्भाषण का भी सौभाग्य प्राप्त न हो सका।" जिस समय जीव को भगवद्विरह के कारण परिताप होता है उसी समय उसे भगवत्साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। वह क्षण बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है जिसमें प्राणी अपने प्रियतम की विरह वेदना से तड़पने लगता है और उसका रोम-रोम भगवद्दर्शन के लिये उत्कण्ठित हो उठता है। देखिये, जिस समय भगवान् के साथ व्रजाङ्गनाओं का संयोग था उस समय उनकी उपासना उतनी प्रबल नहीं थी; किन्तु जब उन्हें भगवान् का वियोग हुआ तब उनकी लगन इतनी बढ़ी कि उस विरहाग्नि ने उन्हें केवल इसी लिये नहीं जलाया क्योंकि उनके हृदय में भगवान् की प्रेममय मूर्ति विराजमान थी। उस आनन्द-सुधासिन्धु के कारण ही उनकी रक्षा हुई। इसी भाव का वर्णन करते हुए श्रीवल्लभाचार्यजी ने यह श्रुति कही है—

कोऽह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

अर्थात् यदि सहृदय प्रेमियों के अन्तःकरणों में प्रेमानन्द रूप सुधा न होती तो अपने प्रियतम के वियोग में उनमें से कौन चेष्टा

करता और कौन प्राण धारण करता ? वे तो तत्काल उस विरहानल में भस्म हो जाते।

अतः यदि भगवान् के वियोग का सन्ताप न हुआ तो यह जीवन व्यर्थ है; भगवान् वाल्मीकि कहते हैं—

यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यन्नाभिपश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति ॥

वस्तुतः यह भगवदर्थ सन्ताप ही परम तप है ।

इस प्रकार जब इन्द्र ने इस सन्ताप-रूप तप से अपना मनोमल भस्म कर दिया तो उमा देवी का आविर्भाव हुआ। उसी ने उन्हें भगवान् का परिचय दिया। अतः स्मरण रखना चाहिये यह महावाक्यजनित ब्रह्माकार वृत्तिरूपा उमा ही प्रकट होकर जीव को परब्रह्म के पास ले जाती हैं। अतः हे बुद्धियो ! यदि तुम मुझ परब्रह्म के पास आना चाहती हो तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' भगवती शक्ति की उपासना करो। अथवा, जैसा हम पहले कह चुके हैं, सात्त्विक वृत्तियाँ ही सतियाँ हैं, उन्हें उद्बुद्ध करो। उनके उद्बुद्ध होने से जब तुम्हारी राजस-तामस वृत्तियाँ नष्ट हो जायँगी तभी तुम उन्हें प्राप्त कर सकोगी।

अब यदि श्रुतियाँ कहें कि 'महाराज ठीक है, परन्तु यदि हम संसार को छोड़कर अपने परम प्रियतम परब्रह्म का ही अवलम्बन करें, प्रपञ्च का आश्रयण करना छोड़ दें, तो उस अस्पर्शयोग को सुनकर जो बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन हैं वे रोने लगेंगे, क्योंकि उनके लिये तो संसार ही सब कुछ है। वे तो पुत्र-कलत्र और

धन-धामादि को ही अपना सर्वस्व समझते हैं। इस पर भगवान् कहते हैं 'वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति मा' अर्थात् ये वत्स और बालक भी क्रन्दन नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? क्योंकि विवेकी के लिये संसार असत् होने पर भी उन अविवेकियों की दृष्टि में तो वह सत्य ही रहेगा। 'नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्' देखो, स्वप्नप्रपञ्च तो उसी का निवृत्त होगा जो जागेगा। जो जगा नहीं है उसके लिये तो स्वप्न का सारा व्यापार सत्य ही होता है। इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपञ्च भी उसी के लिये मिथ्या होगा जो अपने शुद्ध स्वरूप में जागेगा, उसे तो इसकी निवृत्ति इष्ट ही है। इसके विपरीत अप्रबुद्ध के लिये इसकी निवृत्ति होगी नहीं। भगवान् ने कहा है—

> यथाह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्
> तदेव प्रतिबुद्धस्य न चानर्थाय कल्पते ॥

इसलिये बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन भी क्रन्दन नहीं करेंगे।

दूसरी बात यह है कि यदि वे रोवेंगे तो यह बतलाओ कि तत्त्व-ज्ञान होने से पहले रोवेंगे या पीछे? पीछे तो रो नहीं सकते; क्योंकि उस समय तो वे अचिन्त्यानन्द-महार्णव श्री भगवान् में अभिन्नरूप से स्थित हो जाने के कारण प्रपञ्च की अपेक्षा से ही रहित हो जाते हैं। भला अमृत के समुद्र को पाकर क्षुद्र कूप-तड़ागादि के लिये कौन व्यग्र होता है? और पहले इसलिये नहीं रो सकते कि प्रपञ्च का मिथ्यात्व सुनकर भी उस पर उनकी निष्ठा नहीं होगी। देखो, यह मनुष्य-शरीर कितना घृणित है? इसके ऊपर यदि चर्म न होता तो इस पर मक्खियाँ भिनकतीं। इसमें क्षण भी

रहने की इच्छा न होती। इस बात को समझने के लिये विशेष विचार की भी आवश्यकता नहीं है। इस शरीर में अस्थि, मांस, रक्त, आदि घृणित पदार्थ ही भरे हुए हैं। यह वात बहुत साधारण बुद्धिवाले पुरुषों को भी सुगमता से समझाई जा सकती है। तो भी हमारे जैसे अज्ञानियों की तो वात ही क्या है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी रम्भा-उर्वशी आदि अप्सराओं के उस अत्यन्त घृणित शरीर के ही लावण्य में फँस गये थे। इस प्रकार सब कुछ जानकर भी उन्हें जो मोह हुआ वह भगवती महामाया की ही महिमा है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते ॥"
"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"

अतः भगवान् कहते हैं यदि तुम संसार का मिथ्यात्व प्रतिपादन करोगी तो भी वे अज्ञजन नहीं रोवेंगे, क्योंकि उनकी तो उसमें गति ही नहीं होगी।

अब यह भी सन्देह हो सकता है कि यदि अज्ञानियों को परोक्ष रूप से भी यह निश्चय हो जायगा कि ऐन्द्र पद आदि सब मिथ्या हैं तो भी वे यज्ञ-यागादि में प्रवृत्त नहीं होंगे। वस्तुतः ऐसे अनधिकारियों ने ही अद्वैतवाद को कलङ्कित कर रखा है। उन्हें भले ही ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार न हुआ हो तथापि यह तो निश्चय हो ही जाता है कि कर्म नहीं, धर्म नहीं, लोक नहीं

और वर्णाश्रमाचार भी नहीं। अतः वे धर्म-कर्मादि को तिलाञ्जलि दे देते हैं। इन अनधिकारियों के कारण ही अद्वैतवाद को कलङ्कित होना पड़ा है।

ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवादी और नास्तिकों में कोई भेद दिखाई नहीं देगा। मुक्तावस्था में दृश्य की व्यर्थता तो नैयायिकों के मत में भी हो जाती है। यह ठीक है कि वे उसका मिथ्यात्व स्वीकार नहीं करते; तथापि मुक्त पुरुष को तो—उसका विशेष ज्ञान निवृत्त हो जाने के कारण—प्रपञ्च का भान नहीं होता। यही बात सांख्य मत के विषय में कही जा सकती है। वस्तुतः संसार से सम्बन्ध छूट जाने पर और प्रभु से सम्बन्ध जुड़ जाने पर लोक-वेद की विधि छूट ही जाती है। सब आचार्यों का ऐसा ही मत है।

'यदायमनुगृह्णाति भगवान् हरिरीश्वरः।
जहाति लोके वेदे वै मतिं च परिनिष्ठिताम् ॥'

और यही नास्तिकों का भी लक्षण है। देखा जाय तो तत्त्वज्ञ और व्रात्य इन दोनों का वाह्य रूप एक ही होता है। देखिये जिस प्रकार यवनादि शिखा-सूत्रादि से रहित होते हैं उसी प्रकार एक परमहंस भी होता है। यही नहीं, भगवान् शङ्कर को भी 'व्रात्य' कहा गया है—'व्रात्यानां पतये नमः'। इस प्रकार देखा जाय तो एक तत्त्वज्ञ का स्वरूप तो अवश्य व्रात्य के समान ही होता है; तथापि उनमें वस्तुतः वहुत अन्तर होता है। उनमें से एक तो साधन-कोटि को पार कर गया है और दूसरे ने उसमें प्रवेश भी नहीं किया। इस समय अवश्य दोनों ही साधन के संसर्ग से रहित हैं।

इस प्रकार यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान न करने पर भी अद्वैतनिष्ठ महात्मा को अवैदिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वेद का प्रामाण्य माननेवाला तो वही है। वैदिक तो उसी को कहना चाहिये जो वेदार्थ को अबाधित रखे। वेद कहते हैं—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि। अतः जो ब्रह्म को सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित मानते हैं वे तो ब्रह्म से भिन्न वेद की भी सत्ता नहीं मानते। वेद की पृथक् सत्ता मानने पर तो वेद को सजातीयादि भेद से रहित सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः ऐसी अवस्था में वेद अप्रामाणिक हो जाता है। इसलिये अपने प्रामाण्य के लिये वेद स्वतः ही अपना अभाव प्रतिपादन करते हैं—

'अत्र वेदाः अवेदाः ब्राह्मणाः अब्राह्मणाः पुल्कसाः अपुल्कसाः'।

कार्य जब तक अपने कारण से भिन्न रहता है तभी तक उसकी पृथक् उपलब्धि होती है। कारण से अभिन्न होने पर उसकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। वेद भी ब्रह्म के कार्य हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदः' अतः वस्तुतः वे परब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं हैं। घटादि तभी तक उपलब्ध होते हैं जब तक वे अपने कारण मृत्तिका में नहीं मिलते। उसमें मिल जाने पर उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। अतः वेद को ब्रह्म से व्यतिरिक्त न मानना उनका तिरस्कार नहीं है; यह तो उनका सम्मान ही है। जो पुरुष वेद को ब्रह्म से भिन्न मानता है उसपर तो वेद कुपित होते हैं और उसे स्वार्थ से भ्रष्ट कर देते हैं। श्रुति स्वयं कहती है—

'वेदास्तं परादुः योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद'

क्योंकि भाई! ब्रह्म से वियोग होना किसी को इष्ट नहीं है। तुम भी तो परब्रह्म से वियुक्त होने के कारण ही तड़प रहे हो। वेदों को भी भगवान् का वियोग कैसे सह्य हो सकता है? फिर तुम उन्हें भगवान् से व्यतिरिक्त क्यों समझते हो? तुम यज्ञ-यागादि कर्मों को भगवान् से भिन्न क्यों मानते हो? यदि तुम एक अणु को भी ब्रह्म से पृथक् समझोगे तो वह अवश्य तुम्हारे लिये भय उपस्थित कर देगा। प्रेमी तो अपना भी पृथक् अस्तित्व नहीं रखना चाहता।

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं।
कबिरा नगरी एक में राजा दो न समाहिं॥

यदि हम अपनी पृथक् सत्ता रखेंगे तो ब्रह्म में वस्तु-परिच्छेद आ जायगा; तथा जिस देश में हम रहेंगे उसमें ब्रह्म नहीं रहेगा। इसलिये ब्रह्म में देशपरिच्छेद भी हो जायगा। इसी से भावुक पुरुष अपनी सत्ता प्रभु को ही समर्पित कर देते हैं; वे प्रभु से पृथक् रहकर उनके पूर्णत्व को खण्डित करना नहीं चाहते। अतः पहले अपने धन-धान्यादि प्रभु को समर्पण करो, फिर देह समर्पित कर दो और तदनन्तर मन, बुद्धि और प्राण भी प्रभु को ही अर्पण कर दो। परिणाम में तुम भी उन्हीं में समर्पित हो जाओगे। भगवान् कहते हैं—

'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः'।

यदि घटाकाश अपने को महाकाश से पृथक् समझता है तो जिस देश में वह अपनी सत्ता मानेगा उस देश में उसे महाकाश की सत्ता अस्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार वह महाकाश की पूर्णता को खण्डित कर देगा। इसी से घटाकाश कहता है, 'मैं अपनी सत्ता रखकर अपने प्रभु की अपूर्णता नहीं करूँगा। मैं अपने को भी इन्हें ही समर्पित कर दूँगा।'

वही अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। वे प्रभु को आत्म-समर्पण भी कर देते हैं। यही उनकी अद्भुत भक्ति है। वे अपने प्रियतम को अपना-आप भी दे डालते हैं, क्योंकि आत्मा ही सबसे बढ़कर प्रिय है; इसी के लिये प्रत्येक वस्तु प्रिय हुआ करती है—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'

अतः यदि तुम अपने परम प्रेमास्पद आत्मा को समर्पण न करके केवल स्त्री, धन और मन आदि ही प्रभु को अर्पण करते हो तो तुम सच्चे प्रेमी नहीं कहे जा सकते। अतः आत्म-समर्पणरूप अद्वैत दर्शन ही सच्ची पूजा है और यही उत्कृष्टतम भक्ति है।

हाँ, मूर्ख पुरुषों के लिये यह सिद्धान्त अवश्य बहुत भयावह है। इस सिद्धान्त के व्याज से वे देह को भी ब्रह्म मान सकते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सिद्धान्त भक्ति का घातक नहीं है। यह तो उसकी चरमावस्था है। किन्हीं महानुभावों ने कहा है कि— 'पहले उपासक को भावना करते-करते ऊपर-नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है अतः पहले 'ब्रह्मैवाधस्ताद्ब्रह्मैवोपरिष्टात्' यह श्रुति ही चरितार्थ होती है। पीछे एक सञ्चारी भावविशेष का

अभ्युत्थान होने पर ऐसा होता है कि जिससे वह अपने को ही प्रियतमरूप से देखने लगता है। उसी अवस्था का प्रतिपादन "अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्टात्' इस श्रुति ने किया है।'

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है—

सो अनन्य गति जाहि अस मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त॥

'श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि नयनन निरखि कृपासमुद्र हरि।'

इस प्रकार निरन्तर सर्वत्र भगवद्दर्शन ही करना चाहिये। यही निर्भय मार्ग है। इस मार्ग में चलनेवाला कभी किसी अन्तराय से आक्रान्त नहीं होता। श्रीमद्भागवत में कहा है—

थानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥
एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः।
कुपथं तं विजानीयाद्गोविन्दरहितागमम्॥

इस प्रकार सबको ब्रह्ममय देखते हुए जब तक तुम अपने आत्मा को भी ब्रह्म से अभिन्न न देखोगे तब तक तुम अपने प्रियतम परब्रह्म की पूर्णता की रक्षा नहीं कर सकोगे। अतः तुम अपने को भी प्रभु में ही समर्पित कर दो।

किन्तु वह समर्पण किया कैसे जाय? उसका स्वरूप क्या है? क्या घड़े में बेर डालना बेर का समर्पण है? इसका नाम समर्पण नहीं है। समर्पण में अपनी सत्ता पृथक् नहीं रहती, जिस प्रकार घटाकाश की सत्ता महाकाश से पृथक् नहीं है। जिस

समय तरङ्ग समुद्र में लीन होती है उस समय क्या समुद्र से पृथक् उसकी उपलब्धि हो सकती है ?

अतः भगवान् से पृथक् अपनी सत्ता न रखना ही उनका सम्मान है। यदि तुम उनसे अपना भेद रखते हो तो तुम उनका अनादर करते हो। भला जिस पत्नी ने अपने पति को त्याग दिया हो उसकी कीर्ति हो सकती है ? इसी प्रकार यदि जीव अपने को परब्रह्म परमात्मा से पृथक् समझे तो उसके लिये इससे बढ़कर और क्या कलङ्क हो सकता है ? ऐसा कलङ्क तो उसके लिये आत्मघात के समान है; क्योंकि 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'।

इसी लिये उपनिषद् पढ़नेवाले भगवान् से प्रार्थना करते हैं—'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमऽस्तु' प्रभु दीर्घकाल से हमारा निराकरण करते आये हैं और हम प्रभु का निराकरण करते आये हैं। इसी से हमें कीट-पतङ्गादि योनियों में भ्रमना पड़ा है। यह अनिराकरण तो प्रभु की कृपा से ही होगा। वे ही हमें ऐसी बुद्धि प्रदान कर सकते हैं क्योंकि यह चरण असत्पुरुषों को अत्यन्त दुष्प्राप हैं। जिस समय पुरुषों का संसरण समाप्त होन को होता है, हे नाथ ! तभी आपके श्रीचरणों में प्राणियों को रति होती है। वस्तुतः मायामोहित जीव बरबस प्रभु को भूलकर प्रपञ्च में फँसा हुआ है और प्रभु की उपेक्षा करता है अतएव ऋषि यही प्रार्थना करता है—हे दयामय ! आप ही कृपा करें कि मैं आपका अनादर या उपेक्षा न करूँ। हे दयामय ! मायामोहित होकर

ही हमने आपका अनादर किया है। अपने अन्तरात्मा प्रियतम सर्वस्व का अपमान मोह से ही हमने किया है, अतः आप मेरी उपेक्षा न करें। इस प्रार्थना के साथ-साथ आप ही से यह भी प्रार्थना कि मैं आपका अनादर न करूँ।

अक्रूरजी महाराज कहते हैं—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।
पुंसां भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिस्स्यात्॥

हे नाथ, आज मैं आपके चरणों की शरण आया हूँ, यह भी आपके अनुग्रह का फल है। जब तक प्रभु कृपा न करें, जब तक वे हाथ न लगावें तब तक हमारी नैया किनारे नहीं लग सकती। श्री गोसाईंजी महाराज का कथन है—

'ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं'।

अर्थात् ये सारे साधन हैं तथापि जब तक आपका करावलम्ब न हो तब तक मेरे किये तो कुछ होना नहीं है। अतः भाई! ऐसी बुद्धि तो प्रभुकृपासाध्य है। हमें तो केवल प्रभुकृपा की प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। आखिर जाओगे कहाँ? दर-दर घूमते जन्म-जन्मान्तर बीत गये, कहीं कोई ठिकाना नहीं मिला। अब प्रभु के सिवा और आश्रय ही कहाँ है?

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

भगवान् की कृपा कब होती है इसका कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिये हर समय सावधान रहो। ऐसा न हो,

तुम्हारी असावधानी में प्रभुकृपा की घड़ी यों ही निकल जाय और तुम उससे वञ्चित ही रह जाओ। मान लो, भगवान् कोई परदानशीन स्वामी हैं और तुम उनके द्वार पर बैठे हो। वे हर समय तो परदे से वाहर आते नहीं हैं परन्तु जिस समय वे आये उस समय तुम सो गये, तो इसमें प्रभु का क्या दोष है? इसलिये तुम सदा सावधान रहो। प्रभु अतिथि का अनादर कभी नहीं करते। वे दीनवत्सल हैं; उन्हें दीन बहुत प्यारे हैं। इसी से श्री गोसाईंजी कहते हैं—

'जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे।
काकर नाम पतितपावन अस केहि अति दीन पियारे॥'

इसलिये हमें प्रभु को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये। धनियों के द्वारों पर हम बहुत भटक लिये। अब उनका मुख मत देखो। वेदान्तदेशिकाचार्यजी कहते हैं—

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका दुरासिकायै रचितोयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्।

दुरीश्वरों के द्वार की बहिर्वितर्दिका पर दुराशा को लेकर जो बैठना है उसके लिये मैंने हाथ जोड़ दिया; क्योंकि हमारे पास तो धनञ्जय के रथ का अति सुन्दर भूषण अञ्जनाभ श्रीकृष्ण ही अनपाय धन है। फिर हमें और की क्या आवश्यकता है? परन्तु सो मत जाना; सदा सावधान रहकर प्रभु की ओर टकटकी लगाये रहना। प्रभु का प्राकट्य बहुत जल्दी-जल्दी हुआ करता है। यहाँ अध्यात्म-प्रेमियों को तनिक ध्यान देना चाहिये।

देखिये, घटाकार वृत्ति की निवृत्ति हुई और अभी पटाकार वृत्ति का उदय नहीं हुआ। इस सन्धि में प्रभु की झाँकी होती है। अज्ञान और उसके कार्य प्रभु के आवरक हैं। विषय को प्रकाशित करनेवाली वृत्ति का नाम प्रमाण है, विषय को प्रमेय कहते हैं और प्रमाण के आश्रयभूत चेतन का नाम प्रमाता है। इनमें एक के न रहने पर तीनों ही नहीं रहते। किन्तु इन तीनों का और इन तीनों के अभाव का प्रकाशक आत्मा है। इसी भाव को यह श्लोक व्यक्त करता है—

'एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं स च यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥'

अतः जिस समय प्रमाता एक वृत्ति उत्पादन करके शान्त होता है उसके पश्चात् दूसरी वृत्ति उत्पन्न करने से पूर्व वह विश्राम लेता है। उस विश्रान्ति के समय ही उसके शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि होती है। इसलिये प्रति पल सावधान रहो। निमेषोन्मेष करना भी भूल जाओ। सदा निर्निमेष दृष्टि से प्रभु की बाट निहारते रहो।

हमें प्रभु का निराकरण नहीं करना चाहिये और प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारा निराकरण न करें। इस प्रकार सारे लौकिक-वैदिक कर्मों को प्रभु से अभिन्न समझना ही प्रभु की परमोत्कृष्ट भक्ति है। यह प्रभु का अनादर नहीं है।

किन्तु दुराचारियों ने ब्रह्मज्ञान पर कलङ्क लगा दिया। जो बात सर्वोच्च कोटि की थी उसे वे श्रीगणेश में ही करने लगे। जिसने

भगवत्तत्व को प्राप्त कर लिया है वह यदि वैदिक-स्मार्त्त कर्मों को छोड़ता है तो ठीक ही है, किन्तु जिसने अभी प्रभु की ओर पदार्पण भी नहीं किया वह यदि अपने कर्त्तव्य कर्मों को तिलाञ्जलि देता है तो उसका कल्याण अनन्त कोटि जन्मों में भी नहीं होगा। जिसे सुधा-समुद्र की प्राप्ति हो गई है वह यदि वापी, कूप, तडागादि की उपेक्षा करता है तो ठीक ही है, किन्तु जिसे उसकी प्राप्ति नहीं हुई वह यदि उन कूप-तडागादि की अवहेलना करेगा तो प्यासा मर जायगा। अतः पहले अपने को भगवान् में समर्पित करो; पहले सबको ब्रह्मरूप देखो, पीछे अपने को ब्रह्मरूप देखना।

यह ठीक है कि अनभिज्ञ लोग ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार किये बिना ही लौकिक-वैदिक कर्मों का मिथ्यात्व मान बैठेंगे। किन्तु यह उनकी अनधिकार-चेष्टा ही होगी। जिन्होंने श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया, जिन्हें इहामुत्रफलयोग से वैराग्य नहीं हुआ, जो सदसद्वस्तु का विवेक करने में असमर्थ हैं, जिनके पास शम-दमादि साधनों का भी अभाव है और जिन्हें विषयी जनों की भोगेच्छा के समान तीव्र मुमुक्षा नहीं है वे तो ब्रह्मजिज्ञासा के ही अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगों को ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त होने के लिये तो भगवान् शङ्कराचार्य ने निषेध किया है। श्रीगोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—'बादि बिरति बिनु ब्रह्म-बिचारू।'

ऐसे अनधिकारी लोग जब ब्रह्मविद्या की ओर प्रवृत्त होते हैं तब वे धर्म, कर्म और पाप-पुण्यादि का तो मिथ्यात्व निश्चय कर लेते हैं किन्तु भोग सत्य ही मानते हैं। अतः यह निश्चय

हुआ कि 'वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति' यह कथन ठीक ही है। इसी का उत्तर भगवान् देते हैं कि वे नहीं रोवेंगे, क्योंकि इसमें वेद-शास्त्रादि का दोष नहीं है। शास्त्र में तो सभी प्रकार के साधनों का निरूपण है। उसमें यह नियम नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये वे सभी साधन कर्त्तव्य हैं; उनमें जिसके लिये जो साधन उपयुक्त हो उसे उसी का आश्रय लेना चाहिये। औषधालय में सभी प्रकार की ओषधियाँ रहती हैं। इस बात का निर्णय तो वैद्य ही कर सकता है कि किस रोगी को कौन ओषधि देनी चाहिये। यदि वैद्य की शरण न लेकर रोगी स्वयं ही मनमानी ओषधि लेने लगे तो इसमें वैद्य या औषधालय का क्या दोष? यह तो उसी का अपराध है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त कौन साधन किसके लिये उपयुक्त है, इसका निर्णय तो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही कर सकते हैं। अतः आत्मकल्याण की इच्छा रखनेवाले साधकों को उन्हीं की शरण लेनी चाहिये।

शास्त्र में तो जहाँ कर्म का प्रकरण है वहाँ ज्ञान की निन्दा की गई है और जहाँ ज्ञान का प्रकरण है वहाँ कर्म और उपासना की तुच्छता दिखलाई है। ईशावास्योपनिषद् कहती है—

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥'

अर्थात् जो केवल कर्म में ही तत्पर रहते हैं वे अदर्शनात्मक अज्ञान में प्रवेश करते हैं और जो केवल उपासना में ही लगे हुए हैं वे तो उनसे भी अधिक अँधेरे में जाते हैं। किन्तु यहाँ जो

कर्म और उपासना की निन्दा की गई है वह कर्म या उपासना के त्याग के लिये नहीं है, बल्कि उनके समुच्चयानुष्ठान का विधान करने के लिये है। मीमांसकों का मत है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्'। यदि उपर्युक्त श्रुति का अभिप्राय कर्म और उपासना के त्याग में ही होता तो श्रुत्यन्तर से जो कर्म और उपासना का विधान सुना जाता है वह अप्रामाणिक हो जायगा और इस प्रकार श्रुतिविरोध भी होगा। इसी से भगवान् शङ्कराचार्य जी कहते हैं—'न शास्त्रविहितं किञ्चिदप्यकर्त्तव्यतामियात्'। अतः इस निन्दा का अभिप्राय कर्म और उपासना के त्याग में नहीं बल्कि उसके समुच्चय की स्तुति में है।

इसलिये केवल कर्म या केवल उपासना में प्रवृत्त न होकर उन दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करना चाहिये। यदि कर्म और उपासना से अन्धन्तमः की ही प्राप्ति हुआ करती तो 'विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोकः' ऐसी विधि न होती। यद्यपि कहीं-कहीं त्याग के लिये भी निन्दा की जाती है; जैसे मिथ्या भाषणादि की। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ इसकी विधि पाई जाती है। श्रुति में ऐसा बहुत देखा जाता है कि कहीं एक वस्तु का विधान और कहीं उसी का निषेध है। आपाततः इसमें बहुत विरोध मालूम होता है। विधि धर्म के लिये होती है और निषेध पाप के लिये। एक ही कर्म में पाप और पुण्य दोनों हो नहीं सकते। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' और 'माहिंस्यात्सर्वाभूतानि' इत्यादि वाक्यों में से एक हिंसा

का विधान और दूसरा उसका निषेध करता है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिये कि यागोपयुक्त हिंसा का निषेध नहीं है और यागानुपयुक्त हिंसा का निषेध किया गया है।

अर्थवाद का आपाततः प्रतीयमान अर्थ नहीं लिया जाता। पूर्वमीमांसक तो अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं मानते। उत्तर मीमांसकों का विचार दूसरा है। वे अर्थवाद के तीन भेद मानते हैं—भूतवाद, गुणवाद और अनुवाद। जो मानान्तर सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे अनुवाद कहते हैं; जैसे—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'। जो मानान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे गुणवाद कहा जाता है; जैसे 'आदित्यो यूपः' और जो मानान्तर से अविरुद्ध और मानान्तर से असिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसे भूतवाद कहते हैं; जैसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः'। प्रस्तुत अर्थवाद गुणवाद है; क्योंकि वह श्रुत्यन्तर से विहित कर्म और उपासना की निन्दा करता है। अर्थात् मानान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है।

किन्तु यहाँ जो कर्म और उपासना के फल को अन्धन्तम कहा है वह सापेक्ष है। इस प्रसङ्ग में महाभारत की एक कथा का स्मरण होता है। एक ब्राह्मण गायत्री का जप किया करता था। उसकी प्रौढ़ जपनिष्ठा से प्रसन्न होकर गायत्री देवी उसके सम्मुख प्रकट हुईं। देवी ने उन ब्राह्मण देवता को वर दिया कि जापक को जिस नरक की प्राप्ति होती है वह तुम्हें न मिले।

जापक को नरक मिलता है—यह बात बड़ी कुतूहल-जनक मालूम होती है। परन्तु इसका तात्पर्य दूसरा है। यहाँ ब्रह्मलोक को ही 'नरक' कहा गया है; क्योंकि विशुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्मलोक निकृष्ट ही है। अतः उसे नरक कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसी प्रकार यहाँ जो अदर्शनात्मक तम कहा है वह मोक्षपद की अपेक्षा से ही है। उपासना से और भी अधिक अन्धन्तमः की प्राप्ति बतलाई, इसका कारण यह है कि उपासना मानस कृत्य है; सर्वसाधारण के लिये वह भी सुगम नहीं है। भला, जिन लोगों के हस्तपादादि देहावयव भी सुसंयत नहीं हैं वे उस मानस व्यापार को ठीक-ठीक कैसे निभा सकेंगे ? कर्म करने से कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सुसंयत होती हैं; क्योंकि कर्मकाण्ड में प्रत्येक चेष्टा नियमबद्ध है। खाना, पीना, सोना, बोलना सभी नियमित रूप से ही करना पड़ता है। वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते समय जिस कर्म के लिये जैसी विधि है उससे तनिक भी इधर-उधर होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसलिये कर्मानुष्ठान से इन्द्रियों की प्रवृत्ति सर्वथा सुसंयत हो जाती है। इंद्रियों के संयत होने पर उपासना में प्रवृत्ति होना सम्भव है। इसी से उपासक को कर्म में भी प्रवृत्त करने के लिये यह श्रुति केवल उपासना में भय प्रदर्शित करती है।

कर्मकाण्डी को जो अन्धन्तमः की प्राप्ति बतलाई वह इसलिये है कि उसे केवल कर्म में ही न रह जाना चाहिये। यदि वह कर्मजड़ हो गया तो उपासनासाध्य उत्कृष्ट फल से वञ्चित रह जायगा; अतः

कर्म के साथ-साथ उसे उपासना का भी अनुष्ठान करना चाहिये। फिर जिस समय कर्म और उपासना से ऊपर उठे हुए जिज्ञासु को श्रुति तत्त्वज्ञान का उपदेश करती है उस समय कर्मादि से उसकी प्रवृत्ति हटाने के लिये वह कर्म की निन्दा करती है। उस समय वह कहती है—'प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः'। परन्तु कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते समय वह ऐसा कभी नहीं कह सकती।

अतः भगवान् कहते हैं—'हे श्रुतियो ! यदि तुम मुझमें अपना तात्पर्य निश्चय करोगी और इससे अज्ञानी लोग क्रन्दन करेंगे तो इसमें तुम्हारा दोष नहीं होगा। इसके लिये तो वे ही उत्तरदायी होंगे। उन्हें चाहिये कि वे किसी विज्ञ की शरण में जाकर श्रुत्यर्थ का अनुशीलन करें।' वस्तुतः यह पद्धति है कि जो जिस निष्ठावाला हो उसे उसी निष्ठावालों का संग करना चाहिये। कर्मी कर्मी का, भक्त भक्त का और ज्ञानी ज्ञानियों का संग करें। शास्त्र का तात्पर्य समझने के लिये भी शास्त्रज्ञ गुरु की शरण में ही जाना चाहिये, शास्त्र का मर्म विज्ञ पुरुष ही खोल सकते हैं।

अतः भगवान् कहते हैं—'तान् पाययत दुह्यत च न'—तुम उन्हें पयपान मत कराओ और उनके लिये कर्मफल दुहने की चेष्टा भी मत करो। तुम तो मेरा ही प्रतिपादन करो; क्योंकि महातात्पर्य का प्रतिपादन होने पर अवान्तर तात्पर्य तो उसी में आ जाते हैं। यह नियम है कि किसी उत्कृष्ट धर्म का निर्वाह करने में निकृष्ट धर्म का अपवाद भी हो जाय तो कोई दोष नहीं होता। अतः 'पतीन् शुश्रूषध्वम्'—अपने परमतात्पर्य परब्रह्म का ही प्रतिपादन करो।

एक पतिव्रता अपने पतिदेव की चरणसेवा कर रही थी। पतिदेव सोये हुए थे। इसी समय उसका पुत्र अग्नि की ओर जाने लगा। उसके चित्त में उसे उधर जाने से रोकने का विचार हुआ; परन्तु ऐसा करने के लिये उसे पतिसेवा छोड़नी पड़ती थी। इसलिये उसने पतिसेवा को ही अपना परम कर्त्तव्य समझकर बच्चे को बचाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस उत्कृष्ट धर्म के प्रताप से अग्निदेव शीतल हो गये और बालक का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी से भगवान् कहते हैं—हे श्रुतियो, जब तक तुम अपने परमतात्पर्य का विषय शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्म का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त नहीं हुई थीं तब तक तो कर्म और उपासना का पोषण करके उन अज्ञ जनों को पयपान करा सकती थीं, परन्तु अब, जब कि तुम इस ओर आई हो, तुम उनके लिये कर्मफल-रूप दुग्ध का दोहन करने की चेष्टा मत करो।

इधर बुद्धियों की दृष्टि से देखें तो उन्हें भी भगवान् यही उपदेश देते हैं कि 'मा यात गोष्ठम्'—घट-पटादि अनात्म विषयों की ओर मत जाओ; बल्कि 'शुश्रूषध्वं पतीन्' अपने अवभासक और अधिष्ठानभूत परब्रह्म की ओर देखो। इस प्रसङ्ग में 'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च' इसका यह तात्पर्य है कि जब तक परब्रह्म की अनुभूति नहीं होती तब तक अन्तःकरण और इन्द्रियाँ घबराये रहते हैं। उनकी जो बाह्य-प्रवृत्ति है वह उनके दुःख का ही कारण है। श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः।

यहाँ हमें 'व्यतृणत्' शब्द पर विशेष रूप से विचार करना है। भगवान् भाष्यकार ने 'व्यतृणत्' का पर्य्याय 'हिंसितवान्' लिखा है। अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। बहिर्मुख होने में इन्द्रियों की हिंसा कैसे मानी गई ? इसमें यही कहना है कि अपने प्रियतम से विमुख कर देना हिंसा ही तो है। इन्द्रियाँ अपने परम प्रेमास्पद सर्वान्तरतम परमात्मा का अनुभव नहीं कर रहीं, बल्कि नाम-रूपात्मक संसार में ही भटक रही हैं। यही उनका वध है। अतः जब तक हमारी समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति परब्रह्म परमात्मा की ओर नहीं होती तब तक वे अत्यन्त व्यग्र रहती हैं। यही उनका क्रन्दन है—

मन-करि विषय-अनल बन जरही।
होइ सुखी जो यहि सर परही॥

प्राय: यह देखा जाता है कि विविधविध भोग-सामग्री से सम्पन्न महानुभाव भी अशान्ति के चंगुल में फँसे रहते हैं। उनकी भोगतृष्णा को जैसे-जैसे भोजन मिलता जाता है वैसे-वैसे ही वह और भी अधिक उत्तेजित होती जाती है। जिस प्रकार विषम विषाक्त अग्नि के कटाह में पड़ा हुआ कीट तड़पता है उसी प्रकार सांसारिक भोगों में फँसे हुए जीव निरन्तर बेचैन रहते हैं। परन्तु किया क्या जाय यह उनका स्वभाव ही है। जैसे शूकर को विष्ठा से ही प्रेम होता है उसी प्रकार इन इन्द्रियों की प्रीति विषयों में ही होती है। उस अपनी वासना के कारण जीव दु:ख में ही सुख का अनुभव कर रहे हैं। जिस प्रकार दाद

खुजलाने में सुख मालूम होता है उसी प्रकार विषयों में सुख जान पड़ता है। इस व्यामोह से निकलो और परब्रह्म परमात्मा की ओर बढ़ो।

जिस समय तुम्हारी प्रवृत्ति नामरूपोपाधि निर्मुक्त परब्रह्म में ही होगी उसी समय तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। फिर तो 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' इस उक्ति के अनुसार सर्वत्र सुख का ही भान होगा। 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति के अनुसार यह नामरूपात्मक जगत् आनन्दात्मक परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यह आनन्दमय ही है। जिस प्रकार स्वाभाविक सौगन्ध्योपहित चन्दन में मृत्तिका एवं जलादि के योग से अस्वाभाविक दुर्गन्ध की प्रतीति होती है अथवा पित्त बिगड़ जाने के कारण मिश्री कड़वी जान पड़ती है, उसी प्रकार अचिन्त्यानन्त सौख्यसुधासिन्धु ब्रह्म में अज्ञानजनित उपाधि के कारण इस दुःखमय प्रपञ्च की प्रतीति होती है। अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः 'तान् पाययत दुह्यत' इन इन्द्रियों को पान कराओ और दुहो। क्या पान कराओ? परब्रह्मामृत; क्योंकि जब बुद्धि ब्रह्माकार रहने लगेगी तो विषय दुःखमय नहीं रहेंगे, वे भी ब्रह्ममय हो जायँगे। अतः इन्द्रियों को उस परमानन्द-सुधा-सिन्धु में निमज्जित करने के लिये दृश्यमात्र को परब्रह्म-रूप देखो।

ऊपर जो पतिव्रता की गाथा कही है उसमें यदि वह पतिव्रता लौकिक साधनों से अपने बालक को बचाने का प्रयत्न करती तो

वह सदा के लिये उसकी रक्षा नहीं कर सकती थी। उसे सदा के लिये तो वह तभी सुरक्षित कर सकती थी जब कि अग्नि शीतल हो जाय। इसके लिये तो पतिशुश्रूषण ही एकमात्र साधन था। उस परमधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करके ही उसने अग्नि का स्वभाव बदल दिया।

सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक आदि मतावलम्बियों की विवेकवती बुद्धि अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्ति रूप बालकों को सर्वथा सुरक्षित नहीं करती। वह अपने बालकों को अग्नि से बचा तो लेती है, परन्तु अग्नि के भय का सर्वथा नाश नहीं करती; क्योंकि प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव तो उसके मत में है नहीं। यह काम तो अद्वैतनिष्ठ बुद्धि ही करती है। ऐसा कहकर हम अद्वैतवाद का पक्ष नहीं करते; हमारा तो केवल यही मत है कि जिनके मत में पूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता रहती है उनके यहाँ तो दुःख का बीज रह ही जाता है।

इसी दृष्टि से बुद्धियों के प्रति भगवान् का यही कथन है कि 'शुश्रूषध्वं पतीन्' तुम परब्रह्माकाराकारित वृत्ति में परिणत होकर इन्हें ब्रह्मामृत पान कराओ और इनकी तृष्णा को शान्त करो—इनका मनोरथ पूर्ण करो। वस्तुतः विषय-सेवन से इन्हें सुख नहीं मिल सकता। भला मृगतृष्णा का जल पीने से किसी की प्यास गई है, उसमें जल है ही कहाँ? इसी प्रकार क्या विषय-भोग-जन्य सुखों से इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तियों को शान्ति मिल सकती है?

नहीं, क्योंकि वस्तुतः विषय और विषय-सुख तो हैं ही नहीं। अतः तुम सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का ही अनुसन्धान करो। इससे यह नामरूपात्मक प्रपञ्च निवृत्त हो जायगा; फिर तो एकमात्र अचिन्त्यानन्द-सौख्य-सुधा-सिन्धु परमात्मा ही रह जायगा और फिर ये उसी की माधुरी का पान करेंगी।

वस्तुतः इन्द्रियों से विषयों का स्फुरण नहीं होता, बल्कि विषयावच्छिन्न चेतन का ही होता है। सब का अधिष्ठानभूत चेतन ही सत्य वस्तु है। उसके सिवा अन्य वस्तु की सत्ता ही कहाँ है? यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय कैसे होगा, वह तो अशब्द, अस्पर्श और मन एवं इन्द्रिय आदि का अविषय है। इसमें कहना यह है कि वस्तुतः ब्रह्म ही सारी इन्द्रियों का विषय हो सकता है। प्रमाण का प्रामाण्य अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराने में ही है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं आवरण और विक्षेप। इनमें आवरण के भी दो भेद हैं—असत्त्वापादक और अभानापादक। ये असत्त्वापादक और अभानापादक आवरक किसी स्वतः सत्ता और स्फूर्तिवाली वस्तु का ही आवरण करेंगे। ऐसी वस्तु ब्रह्म ही है। अतः वही अज्ञान का विषय हो सकता है। इसी से संक्षेपशारीरककार का कथन है—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

मिथ्या वस्तु की तो अज्ञात सत्ता-स्फूर्ति हुआ ही नहीं करती। इसलिये वह प्रमाण का विषय हो ही नहीं सकती। समस्त

इन्द्रियों का विषय एकमात्र परब्रह्म ही हो सकता है, अतः इन्हें उस ब्रह्मानन्द-सुधा-सिन्धु के अमृत का ही पान कराओ।

मन एवं समस्त इन्द्रियाँ जब तक विषयचिन्तन करती रहेंगी तब तक दुःख ही पायेंगी। इन्हें क्या करना चाहिये? केवल ब्रह्माभ्यास। ब्रह्माभ्यास का लक्षण इस प्रकार है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

यह बात निश्चित है कि हम जैसा चिन्तन करेंगे वैसे ही बन जायँगे। इसी से श्रुति कहती है—

'यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।'

जिनके श्रोत्र भगवत्कथाश्रवण में संलग्न हैं, जिनके चरण भगवद्धामों की यात्रा करते हैं, जिनके हाथ निरन्तर भगवत्सेवा में ही लगे रहते हैं, जिनकी घ्राणेन्द्रिय प्रभु के पादपद्म से संलग्न तुलसिका का ही आघ्राण करती है तथा जिनके अङ्ग भगवद्भक्तों के सहवास का अद्भुत आनन्द लूटते हैं उनके लिये यह संसार संसार ही नहीं रहता। देखिये! नारद, शुकदेव, व्यास एवं वसिष्ठादि के लिये भी तो यही संसार है। वे बारम्बार देह धारण करके यहाँ आते हैं। उनके लिये यह आनन्दस्वरूप है और हमारे लिये यही विषम विषाक्त अग्निपूर्ण कटाह हो रहा है। जिनकी बुद्धि ने श्रीकृष्णचन्द्ररूप परमपति की शुश्रूषा की है उनके लिये यह भगवद्रूप हो गया है। इसी से वे प्रभु के लीलाविग्रह का आस्वादन करने के लिये सब कुछ जानकर भी थोड़ा सा भेद

स्वीकार करते हैं। शुद्ध परब्रह्म आनन्दरूप है किन्तु उसका सगुण रूप आनन्दकन्द है—वह आनन्द का ही घनीभूत रूप है। जिस प्रकार इक्षुरस मिष्ट है किन्तु शर्करा और मिश्री में जो माधुरी है वह कुछ और ही है, इसी प्रकार भगवान् के दिव्यमङ्गल विग्रह का सुख विचित्र ही है। उनके कर, चरण, नख, अधर, भूषण, आयुध सभी परम दिव्य हैं; उनके एक-एक अवयव पर कोटि-कोटि कामदेव निछावर किये जा सकते हैं। उनकी उस परमानन्द-मयी मूर्ति का सुखास्वादन करने के लिये ही वे नित्यमुक्त महर्षिगण इस लोक में अवतरित होते हैं और स्वरूपतः सर्वथा अभिन्न होने पर भी प्रभु का आनन्द भोगने के लिये भेद स्वीकार करते हैं; क्योंकि बिना भेद के भोग नहीं हो सकता। यही भगवल्लीला का निगूढ़ रहस्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्धियों के प्रति भगवान् का कथन है कि तुम संसार की ओर मत जाओ, अपने परमपति परमात्मा का ही अनुसन्धान करो। यहाँ 'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च' का तात्पर्य यह है कि जब तक तुम लोग परब्रह्म परमात्मा का अनुसन्धान न करोगी तब तक इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप बालक तथा बछड़े क्रन्दन करते रहेंगे; क्योंकि ब्रह्मानुसन्धान न करने पर तो प्रपञ्च की प्रतीति बनी ही रहेगी। वस्तुतः इस संसार की सत्ता मन की चञ्चलता रहने तक ही है, उस चञ्चलता का निरोध होने पर फिर प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती।

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

अतः प्रपञ्च की प्रतीति और उसके कारण इन्द्रियों के क्रन्दन का हेतु तुम्हीं हो। जिस प्रकार महासमुद्र में वायु के योग से कुछ हलचल होने पर ही तरङ्गमाला का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार बुद्धि के स्फुरण से ही चित्समुद्र में कुछ हलचल होती है। इसी का नाम मन है। योगवासिष्ठ में कहा है—

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
यन्मनाक् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥

अतः थोड़ी सी मननी शक्ति को धारण करने पर परब्रह्म ही मनरूप से प्रादुर्भूत होता है।

किन्तु मन की वह मननी शक्ति क्या है ? यदि हम इस बात का विचार करें कि तरङ्ग क्या है तो यही निश्चय होगा कि वस्तुतः वह समुद्र ही है। वायु के कारण ही उसकी पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन भी मायाशक्ति के कारण ही अपने अधिष्ठान-रूप परब्रह्म से पृथक् प्रतीत होता है। अतः चित्त का जगत्-सम्बन्ध स्फुरण ही मननी शक्ति है, वस्तुतः व्यावहारिक जगत् में स्फुरण ही चित् का चित्तत्त्व है, वही सृष्टि का वीज है, उसी को भगवान् का ईक्षण, सङ्कल्प अथवा आदिसंवेदन कहकर भी पुकारा जाता है।

मन साक्षीभास्य माना जाता है। उसकी कभी अज्ञात सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्र के बिना तरङ्ग की सत्ता नहीं होती उसी प्रकार शुद्ध चेतन से भिन्न मन नहीं है। यदि मननी शक्ति का निरोध हो जाय तो चित्त चित् हो जाता है। वस्तुतः चित् तकार-रहित चित्त ही है। योगवासिष्ठ में कहा है—

चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितं यदा।

यह तकार ही चञ्चलता है। इस चञ्चलता के कारण ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध निर्विकार ब्रह्म में प्रपञ्च की प्रतीति हुई है। इसकी निवृत्ति होने पर तो मन का मनस्त्व ही नहीं रहता। फिर तो यह प्रपञ्च ब्रह्म ही हो जाता है; क्योंकि वास्तव में तो अन्वय व्यतिरेक से ब्रह्म ही है—ब्रह्म की सत्ता से ही इसकी सत्ता है, ब्रह्म को छोड़ कर तो इसकी सत्ता ही नहीं है। माया या अज्ञान भी अधिष्ठान से भिन्न नहीं है।

श्री गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—जिस प्रकार काष्ठ में अनेकों पुतलियाँ और कपास में तरह-तरह के वस्त्र निहित हैं उसी प्रकार चित्त में ही सारा प्रपञ्च है। यदि चित्त स्वाधीन हो जाय तो भले ही संसार के सारे पदार्थ बने रहें उनसे अपना क्या हानि-लाभ होता है।

इस विषय में एक गाथा है—एक राजा अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। यज्ञीय अश्व छोड़ा गया, बहुत से सैनिक अश्व की रक्षा के लिये चले। उस अश्व को एक मुनिकुमार ने पकड़ लिया और उस सारी सेना को जीतकर वह उसे लेकर एक शिला में घुस गया। यह अद्भुत व्यापार देखकर बचे-खुचे सैनिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जाकर सारा हाल राजा को सुना दिया। राजा ने उस अश्व को लाने के लिये कुछ आदमियों के साथ अपने भाई को भेजा। वह राजकुमार जब उस स्थान पर पहुँचा तो एक शिला के सिवा वहाँ और उसे कुछ भी न मिला।

उसने सोचा कि यहाँ अवश्य कुछ मुनिश्रेष्ठ होंगे; उन्हीं से इस लीला का रहस्य खुल सकेगा। इधर-उधर खोजने पर उसे एक महात्मा दिखाई दिये। महात्मा समाधिस्थ थे। राजकुमार तन-मन से उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। परन्तु उनका समाधि से उत्थान न हुआ। कुछ काल पश्चात् उसकी सच्ची लगन देख कर वही मुनिकुमार प्रकट हुआ और उसे वह यज्ञीय घोड़ा दे दिया। राजकुमार ने वह अश्व तो दूसरे मनुष्यों के साथ राजधानी को भेज दिया और स्वयं वहीं रह गया। तब मुनिकुमार ने पूछा—'राजन्! तुम क्या चाहते हो?'

राजकुमार ने कहा—'भगवन्, मेरी यही इच्छा है कि इन मुनिश्रेष्ठ का समाधि से व्युत्थान हो।' इस पर मुनिकुमार ने कहा—'ऐसा होना तो बहुत कठिन है; क्योंकि इस समय ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का अतिक्रमण कर केवल सत्तामात्र परब्रह्म के साथ एकीभाव से स्थित हैं। तथापि मैं प्रयत्न करता हूँ।' ऐसा कहकर मुनिकुमार समाधिस्थ हो गया। उसने तीनों शरीरों से सम्बन्ध छोड़कर सन्मात्र में स्थित हो मुनिवर के सन्मात्र तत्त्व में स्थित आत्मा को उद्बुद्ध किया। इससे मुनि की समाधि खुल गई। मुनिवर ने राजकुमार और समाधिस्थ मुनिकुमार को देखा तथा योगबल से सारा रहस्य जानकर मुनिकुमार को उद्बुद्ध किया। फिर राजकुमार ने मुनिवर से प्रार्थना की–'भगवन्! आप मुझे अपना परिचय देकर कृतार्थ करें और ये मुनिकुमार हमारा अश्व लेकर किस प्रकार इस शिला में घुस गये थे यह सब रहस्य बतलाने की कृपा करें।'

मुनि ने कहा—'राजन्! पूर्वकाल में मैं एक राजा था। संसार से निर्वेद होने पर मैं अपना राज्य छोड़कर सपत्नीक यहाँ तपस्या करने चला आया। एक दिन, जब कि मैं समाधिस्थ था, दैववश मेरी रानी की वृत्ति कुछ चञ्चल हो गई और उसने संकल्प से ही मेरे साथ मैथुन किया। उससे वह गर्भवती हो गई और यथासमय उससे यह पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-प्रसव के पश्चात् उसने तो शरीर छोड़ दिया, फिर मैंने ही इसका लालन-पालन किया। कुछ वयस्क होने पर इसकी इच्छा राज्य भोगने की हुई। तब मैंने इसे योगाभ्यास में लगाया, उसमें सिद्धि प्राप्त करने पर इसने संकल्प से ही इस शिला में एक ब्रह्माण्ड रच लिया है। यह उस ब्रह्माण्ड का ईश्वर है। तुम्हारे अश्व को भी यह वहीं ले गया था।'

यह सब वृत्तान्त सुनकर कुतूहलवश राजकुमार को उस मुनि-कुमार के संकल्पित ब्रह्माण्ड को देखने की इच्छा हुई। तब मुनिकुमार ने कहा, 'अच्छा तुम मेरे साथ चलो।' किन्तु जब राजकुमार ने उसके साथ शिला में प्रवेश करने का प्रयत्न किया तो वह सफल न हुआ। तब मुनिकुमार ने अपने योगबल से उसे अपने साथ ले लिया। उस शिला में प्रवेश करने पर उसे इस ब्रह्माण्ड की अपेक्षा भी अधिक विस्तृत ब्रह्माण्ड दिखाई दिया। वहाँ उसने ऐसा ही आकाश देखा; तथा वहाँ के ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, वैकुण्ठ, पाताल और रसातलादि में जाकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवताओं का भी दर्शन किया। उसने यह भी देखा कि

वहाँ वह मुनिकुमार ही सबसे अधिक पूजनीय है; वहाँ के देवगण भी उसे अपना ईश्वर समझते हैं। इस प्रकार केवल एक दिन में ही उसने वह सारा ब्रह्माण्ड देख लिया। तब उसे फिर इस लोक में आने की इच्छा हुई। उसके कहने से मुनिकुमार उसे बाहर ले आया, किन्तु उसने देखा कि वहाँ का सारा ही रंग-ढंग बदला हुआ है। जहाँ पर्वत था वह विस्तृत समतल भूमि है, जहाँ नदी थी वहाँ मरुभूमि दिखाई देती है और जहाँ वन था वहाँ नगर बसे हुए हैं।

यह देखकर उसने मुनिकुमार से इसका कारण पूछा। मुनिकुमार ने कहा—'तुम्हें मेरे ब्रह्माण्ड में तो एक ही दिन व्यतीत हुआ जान पड़ा था; किन्तु उतने ही समय में यहाँ कई युग बीत गये हैं। इसलिये अब यहाँ सब कुछ बदल गया है। तुम्हारे कुल में भी अब बहुत सी पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं; तुम्हारे सामने जितने मनुष्य थे उनमें तो केवल तुम ही रह गये हो।' यह सुनकर राजा को बड़ा विस्मय और विषाद हुआ। फिर उसने मुनिकुमार से इसका रहस्य पूछा।

मुनिकुमार बोला—'राजन्! वस्तुतः यह प्रपञ्च संकल्पमात्र है। साधारण लोगों के संकल्प शुद्ध नहीं होते, उनमें कई संकल्पों का सांकर्य रहता है; इसलिये वे सिद्ध भी नहीं होते। यदि हमारा संकल्प सिद्ध हो जाय और उसमें अन्य संकल्पों का मेल न रहे तो हम उसे प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूप में देख सकते हैं। जिस संकल्प की पूर्वकोटि और परकोटि ज्ञात होती है वह तो कल्पना

ही है, वह सिद्ध संकल्प नहीं है। यदि हमारा संकल्प ऐसा हो जाय कि उसकी पूर्वकोटि का [अर्थात् वह कब और किस प्रकार आरम्भ हुआ था—इस बात का] भान न रहे तो वह अवश्य प्रत्यक्ष हो जायगा। मेरा संकल्प सिद्ध हो गया है। उस संकल्प-शक्ति से ही मैंने इस शिला में ब्रह्माण्ड की भावना कर ली है। मेरा ब्रह्माण्ड इस ब्रह्माण्ड की अपेक्षा बृहत्तर है। जितने समय में मैंने वहाँ एक दिन की भावना की थी, उतने समय में इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा ने कई युगों की भावना की। अतः वहाँ केवल एक दिन हुआ और यहाँ कई युग बीत गये। वस्तुतः सारा प्रपञ्च भगवान् का संकल्प ही है। जो शक्ति भगवान् में है, वही योगियों में भी हो जाती है। वे यदि घट को पट कहें तो उसे पट होना पड़ेगा। ब्रह्मादि का संकल्प भी ऐसा ही है। इसी से उनके संकल्पित पदार्थ उन्हें भी प्रतीत होते हैं और हमें भी। अन्य पुरुषों के संकल्प ऐसे नहीं होते, उन्हें अपने संकल्पों की पूर्वकोटि ज्ञात रहती है; अतः उनके संकल्पित पदार्थ केवल उन्हें ही प्रतीत होते हैं, दूसरों को नहीं।'

इसी से पहले कहा गया है—'मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' क्योंकि प्रपञ्च की प्रतीति मन की चञ्चलता में ही होती है, उसकी स्थिरता में नहीं। अतः भगवान् बुद्धियों से कहते हैं—'अरी बुद्धियो! जब तक तुम स्थिर होकर अपने परम प्रेमास्पद परब्रह्म परमात्मा का सुखास्वादन न करोगी तब तक तुम्हारा श्रम निवृत्त न होगा। श्रम की निवृत्ति परमप्रेमास्पद के सुखास्वादन

से ही होती है; क्योंकि जिस समय प्राणी प्रेमविह्वल होता है उस समय उसकी इन्द्रियाँ और मन शिथिल पड़ जाते हैं। जिस समय कोई प्रेमी दीर्घकाल के प्रवास के अनन्तर अपनी प्रियतमा से मिलता है और उन दोनों का परस्पर आलिङ्गन होता है उस समय उन्हें वाहर-भीतर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। यह दशा प्राकृत प्रेमियों की है फिर परमानन्द-सौख्य-सुधासिन्धु श्री श्यामसुन्दर का संयोग होने पर उनके दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं दिव्य गन्ध का समास्वादन करने पर जो विलक्षण स्थिति होती है, उसका तो कहना ही क्या है? श्रुति कहती है—उस समय तो न वाह्य जगत् का ज्ञान रहता है और न आन्तर का—'नान्तरं किञ्चन वेद न वाह्यम्।' उस समय उसका चित्त भी अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मा में लीन हो जाता है—

तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।

जिस समय जीव को अपने एकमात्र प्रियतम परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का आश्लेष होता है उस समय जो आनन्दातिरेक होता है उसमें उसके मन और इन्द्रिय आदि ऐसे परिप्लुत हो जाते हैं कि उसे अपना भी भान नहीं रहता। उस स्थिवि में भक्त और भगवान् का सर्वथा अभेद हो जाता है। भगवान् की नित्यनिकुञ्ज-लीला में श्री वृषभानुदुलारा के साथ उनका नित्य संयोग रहता है। वहाँ उनका कभी विप्रयोग नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु हैं और श्री रासेश्वरीजी उनकी मधुरिमा हैं। वस्तुतः वे एक ही तत्त्व हैं। केवल रसानुभूति के

लिये ही उनके दिव्यमङ्गल विग्रहों का प्रादुर्भाव हुआ है। वे यद्यपि सर्वदा एकरूप हैं तथापि लीलाविशेषोपयुक्त रसाभिव्यक्ति के लिये उनका विप्रयोग आवश्यक है। अतः लीला-विशेष के विकास के लिये ही उनका द्वैधीभाव होता है। उस समय जितने भावों की अपेक्षा है उन सभी का प्रादुर्भाव होता है। यह ठीक है कि उस नित्यलीला में उनका कायिक और ऐन्द्रियक विप्रयोग कभी नहीं होता। उनके मन, प्राण, नेत्र तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग परस्पर संश्लिष्ट हैं। तथापि उस संश्लेष से प्रेमातिशय के कारण उनमें जो विह्वलता आती है उससे श्री वृषभानुनन्दिनी का मन कृष्णसुख का अनुभव नहीं करता और श्रीकृष्ण-चन्द्र का विह्वल मन श्री निकुञ्जेश्वरीजी की माधुर्यसुधा का आस्वादन करना भूल जाता है। यहाँ केवल इतना ही विप्रयोग होता है।

अब इधर अध्यात्म में आइये। यह बुद्धिरूपा प्रमदा सुषुप्ति में थोड़ा सा उस ब्रह्मसुख का रसास्वादन करती है। इसी से उस समय इसे आत्मविस्मृति हो जाती है। बस, जिस समय बुद्धि अपने को भूली कि उसे प्रपञ्च का भान ही नहीं रहता। फिर तो बुद्धि बुद्धि नहीं रहती, मन मन नहीं रहता और प्राण प्राण नहीं रहते। वे सब केवल चिन्मात्र हो जाते हैं। इसी से भगवान् ने कहा कि "हे बुद्धियो ! जब तक तुम मुझमें ही स्थित न होगी तब तक तुम्हारे बाल-बच्चे रूप ये इन्द्रियाँ और मन आदि रोते ही रहेंगे।"

परन्तु करें क्या? बहुत कुछ विचार भी करते हैं, तब भी विषय हमें अपनी ओर आकर्षित कर ही लेते हैं। हम स्वयं उनकी ओर जाने का संकल्प नहीं करते, तथापि जिस समय कोई असाधारण रूप हमारे सामने आता है उस समय नेत्र उसकी ओर खिंच जाते हैं; जिस समय कोई सुमधुर शब्द सुनाई देता है कान वहाँ से हटना नहीं चाहते; जब कोई दिव्य गन्ध मालूम होती है तो घ्राणेन्द्रिय उसमें फँस ही जाती है तथा जब कोई सुस्वादु पदार्थ सामने आता है तो रसनेन्द्रिय उसका रस लेने ही लगती है। ये सब हठात् हमें अपनी ओर खींच लेते हैं। यह सब उस महामाया का ही प्रभाव है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

यह देवी भगवती कौन है? विषय-रूप में परिणत हुई प्रकृति ही वह महामाया है। उसके कारण बड़े-बड़े ज्ञानी तपस्वी और जितेन्द्रिय भी अपनी-अपनी निष्ठा से विचलित हो जाते हैं। नारद, विश्वामित्र और ब्रह्मादि को भी उसने नहीं छोड़ा, फिर हम जैसे साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है? अतः महापुरुषों का यही उपदेश है कि कोई कैसा ही विवेकी हो उसे सर्वदा विषयों से दूर ही रहना चाहिये; वहाँ उसे अपनी पण्डिताई का भरोसा नहीं करना चाहिये। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।'

अतः विषयों के रहते हुए ये बाल-बच्चे तो रोते ही रहेंगे। यदि तुम इनका रोना बन्द करना चाहती हो तो तुम अपने पतिदेव अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु परब्रह्म का चिन्तन करो। उसमें निश्चल हो जाने पर विषयों की सत्ता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार जब विषय ही न रहेंगे तो रोवेंगे किसके लिये ?

वास्तव में तो इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्ति परब्रह्म की ही ओर जाना चाहती हैं, विषयों की ओर जाना इन्हें अभीष्ट नहीं है। परन्तु करें क्या, विषयरूप चुम्बक इसे बलात् अपनी ओर खींच लेता है। इसी से बृहदारण्यकोपनिषद् में इन्द्रियों को ग्रह बतलाया है और विषयों को अतिग्रह। इन्द्रियाँ और मन प्राणी को इसी प्रकार ग्रहण किये हुए हैं जैसे ग्रह अर्थात् भूत। उन ग्रहों से गृहीत होकर यह जीव रोता-चिल्लाता है। इन ग्रहों से छूटने के लिये उसे श्रीकृष्णरूप ग्रह की शरण लेनी चाहिये। जिस समय यह कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा हो जायगा उस समय वे क्षुद्र ग्रह इसका कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे। किन्तु विषय अतिग्रह हैं। आत्मा पर मन रूप ग्रह चढ़ा हुआ है, उस पर इन्द्रियरूप दश भूत सवार हैं और उन पर भी विषयरूप विकट भूत लगे हुए हैं। इन अतिग्रहों से गृहीत होने पर भला इन्द्रियों की आत्मा की ओर कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ?

पहले हम कह चुके हैं कि स्वयम्भू भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। हिंसा किसे कहते हैं ? अनभिमत कर्म करना पड़े—यही हिंसा है। इन्द्रियाँ विषयों की

ओर जाना नहीं चाहतीं, भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया। इससे उन्हें बलात्कार उनकी ओर जाना पड़ा। यही उनकी हिंसा है। अतः भगवान् कहते हैं—"हे बुद्धियो! ये इन्द्रियरूप बालक विषयों की ओर जाने से रो रहे हैं और परमानन्द-सुधा का पान नहीं कर पाते। इसमें कारण तुम्हीं हो, क्योंकि यदि तुम चञ्चलता छोड़ दो तो इन विषयों की सत्ता ही न रहे। उस समय ये इन्द्रियाँ जायँगी ही कहाँ? तब तो ये ब्रह्मानन्द-सुधा का ही पान करेंगी। अतः इन्हें शान्त और तृप्त करने के लिये भी तुम मेरा ही चिन्तन करो।"

इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्ति बुद्धि की ही अवस्था-विशेष हैं। इसलिये ये उसके बालक ही हैं। जिस प्रकार दर्पण के भीतर अनेक प्रकार के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य-रूप दर्पण में समस्त प्रपञ्च प्रतिबिम्बित है। दर्पण में जो आकाश की प्रतीति होती है वह वस्तुतः निरवकाश में ही अवकाश की प्रतीति है। दर्पण के अवयव इतने सघन हैं कि उनमें किसी पदार्थ का प्रवेश होना सम्भव ही नहीं है। अतः उसमें जितने समुद्र, नदी, पर्वत एवं वन आदि प्रतीत होते हैं वे सब असत् ही हैं। इसी प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप दर्पण में अनेकविध प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। परन्तु वस्तुतः वह सब केवल स्वयं-प्रकाश शुद्ध चेतन ही है।

परन्तु उनकी प्रतीति क्यों होती है? यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं—(१) जिस समय आप दर्पण के शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि ले

जायँगे उस समय आपको उसमें प्रतिविम्बित पदार्थ दिखाई नहीं देंगे और जिस समय आप प्रतिविम्बित पदार्थ देखेंगे उस समय दर्पण का शुद्ध स्वरूप नहीं देख सकेंगे। यही बात परब्रह्म के विषय में भी है। परब्रह्म को ग्रहण करनेवाली वृत्ति प्रपञ्च को ग्रहण नहीं कर सकती और प्रपञ्च को ग्रहण करनेवाली परब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकती। (२) यह भी निश्चित बात है कि प्रतिबिम्बित पदार्थों की सत्ता दर्पण के ही अधीन है और वस्तुतः दर्पण को ग्रहण किये बिना हम प्रतिबिम्ब को ग्रहण भी नहीं कर सकते। यह कभी सम्भव नहीं है कि हम तरङ्ग को तो देख लें और जल को न देखें तथा हमें सौरालोक या चन्द्रालोक की प्रतीति तो न हो किन्तु उनसे प्रकाश्य पदार्थों की प्रतीति हो जाय। इसी प्रकार हमें पहले ब्रह्म का ग्रहण होता है और पीछे प्रपञ्च का; क्योंकि सारे पदार्थ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

किन्तु इस समय जो ब्रह्म का ग्रहण होता है वह उसके शबल रूप का होता है। उसके शुद्ध स्वरूप का ग्रहण तो प्रपञ्च की उपेक्षा करते-करते उसकी अप्रतीति होने पर ही होगा; जिस प्रकार कि शुद्ध दर्पण का ग्रहण तभी हो सकता है जब कि प्रतिबिम्ब का ग्रहण न किया जाय।

जिस समय बुद्धि प्रपञ्च को ग्रहण करती है उस समय वह बहुत घबराती है; क्योंकि इसमें सिंह-व्याघ्रादि बड़े-बड़े भयानक पदार्थ भी हैं। लोक में प्रतिबिम्ब से भय होना प्रसिद्ध है। माता बालक

को अपनी परछाईं नहीं देखने देती, क्योंकि उसे भय है कि वह उसे वेताल समझकर डर जायगा। ऐसे स्वकल्पित मिथ्या वेताल से भी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च चिद्रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित परछाईं है। अतः विवेकवती बुद्धिरूप माता को उचित है कि वह इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप अपने बालकों को, उनके कल्याण के लिये, यह प्रपञ्चरूप परछाईं न देखने दे और केवल दर्पणस्थानीय ब्रह्म को ही देखे।

यहाँ यह शङ्का न करनी चाहिये कि प्रतिबिम्ब तो किसी बिम्ब का हुआ करता है; अतः परब्रह्म में जो प्रपञ्च प्रतिफलित होता है उसका भी कोई बिम्ब होना चाहिये। दर्पणादि परिच्छिन्न पदार्थ हैं, इसलिये उनमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह बिम्ब के ही कारण होता है; किन्तु ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न है, उससे पृथक् और स्थान ही कहाँ है, जहाँ उसमें प्रतिफलित होनेवाला बिम्ब रहेगा। बिम्बभूत जो कोई भी पदार्थ होगा वह देश, काल और वस्तु के अन्तर्गत ही होगा। किन्तु देश, काल और वस्तु तो प्रतिबिम्ब के ही अन्तर्गत हैं। यदि कहो कि अनुमान से तो कोई न कोई बिम्ब मानना ही होगा; क्योंकि लोक में बिना बिम्ब का कोई प्रतिबिम्ब देखने में नहीं आता। किन्तु अनुमान भी तो एक ज्ञान ही है; अतः वह भी ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म से बाहर नहीं हो सकता, फिर उससे ज्ञेय पदार्थ तो ब्रह्म के बाहर हो ही कैसे सकता है? अतः ब्रह्म में जो प्रतिबिम्बित है वह बिम्ब-रहित है। यह इस दर्पण की विलक्षणता है। यही इसकी

अनिर्वचनीया शक्तिरूपा माया है। यहीं माया सबको मोहित किये हुए है।

किन्तु यह इसका स्वभाव अवश्य है कि यदि तुम इसमें प्रतिबिम्बित प्रपञ्च को देखना छोड़ दो तो तुम्हें शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायगा और साक्षात्कार होते ही माया और उसका प्रपञ्च सदा के लिये मिट जायगा। इसी से भगवान् वृद्धियों से कहते हैं—'मा यात गोष्ठम्'—तुम विषयों की ओर मत जाओ; बल्कि इन इन्द्रियों के विषयरूप हाऊ की निवृत्ति के लिये तुम केवल शुद्ध परब्रह्म को ही देखो। तुम भास्यवर्ग को मत देखो, केवल भान को ही देखो।

ऐसा करने के लिये भगवान् क्यों कहते हैं? क्योंकि 'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च'—ये इन्द्रियाँ रो रही हैं। अतः न तो तुम्हीं प्रपञ्च को देखो और न इन्हीं को दिखाओ, अन्यथा इनकी मृत्यु हो जायगी। देखो, जिस समय तुम इस प्रपञ्च को देखती हो उस समय तुम्हारे ये बालक भी उसे ही देखने लगते हैं। अतः तुम उसे मत देखो और 'तान् मा पाययत मा दुह्यत च' अर्थात् इन इन्द्रियों को विषय-सेवन मत कराओ और मत इनके सामने विषयों को ही आने दो; क्योंकि इन्हें विषयरूप पयःपान कराना तो विष ही पिलाना है। इन्हें वह प्रिय अवश्य है, परन्तु उसके सेवन से इनका अनिष्ट ही होगा। रोगी बालक कुपथ्य करना चाहा ही करता है, परन्तु माता उसे करने थोड़े ही देती है। उनके सेवन से इन्हें शान्ति या तृप्ति भी नहीं हो सकती। विषय-

सेवन से तो इनकी विषयाभिलाषा और भी बढ़ जायगी—'भोग-मनुविवर्धत इन्द्रियाणां कौशलम्'।

अतः इनके हित के लिये इन्हें विषय-सेवन मत करने दो। विषय-सेवन न करने से इन्द्रियों की भोग-वासना निर्बल पड़ जायगी। यह ठीक है कि इन्द्रियों के निग्रह से उनकी बाह्य प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है तथापि उनकी आन्तरिक शक्ति बढ़ जाती है। एक व्यक्ति कुछ काल मौन रहता है। इससे उसकी वागिन्द्रिय अवश्य मन्द पड़ जाती है। वह अधिक बोल नहीं सकता। परन्तु वह जो कुछ कहता है वही हो जाता है। यदि वह वटवृक्ष को नीम का वृक्ष बतला दे तो उसे निम्बवृक्ष हो जाना पड़ता है। योगदर्शन में मौन से वाक्सिद्धि मानी गई है। इसी प्रकार जो बालब्रह्मचारी है वह एकाएकी कामाहत नहीं होता। अत्यन्त रूपवती स्त्रियों को देखकर भी उसका चित्त विचलित नहीं होता। एक बार महर्षि नारद तप कर रहे थे। उन्हें तपोभ्रष्ट करने के लिये इन्द्र ने कुछ अप्सराएँ भेजीं। परन्तु उनके सारे हाव-भाव कटाक्ष उन्हें विचलित करने में समर्थ न हो सके। करते कैसे! इस समय श्री नारदजी की मनोवृत्ति तो एकमात्र भगवत्तत्त्व में ही स्थित थी, उसे तो उनका भान भी नहीं हुआ। इस समय भगवान् की उन पर पूर्ण कृपा थी। भला जिनके ऊपर भगवान् की कृपा है उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है?

सीमि कि चाप सकहि कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥

भगवान् कृष्ण ने भी उद्धव को यही उपदेश किया है कि हे उद्धव ! ये इन्द्रियाँ मनुष्य को ठगनेवाली हैं। ये उसे असदभि-निवेश में ग्रस्त कर देती हैं; अतः तुम इनसे विषयसेवन मत करो।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥

भगवान् शङ्कराचार्यजी ने भी यही कहा है कि शम, दम, उप-रति, तितिक्षा आदि साधनों से सम्पन्न होकर ही ब्रह्मविचार करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को स्वाधीन न किया जायगा तो वेदान्त-चर्चा केवल तोते की कहानी ही होगी*। उससे तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।

---

* एक बार एक व्यक्ति को यह देखकर बड़ी करुणा हुई कि बेचारे निरीह तोते व्यर्थ मनुष्यों के चंगुल में फँसते हैं। इसलिये उसने सोचा कि इन्हें कोई ऐसा पाठ पढ़ा दिया जाय जिससे ये उसमें न फँसें। उसने एक तोते को यह बात सिखला दी—'तोते ! साव-धान रहना। नली के ऊपर मत बैठना और अगर बैठ जाओ तो उसे छोड़ देना। उसे तुम्हीं ने पकड़ रखा है, उसने तुम्हें नहीं पकड़ा।' उस तोते से सुनकर यह पाठ उस प्रान्त के सब तोतों ने सीख लिया। सब इसी प्रकार कहने लगे। परन्तु उस व्यक्ति ने देखा कि एक तोता नली में फँसा हुआ है और मुँह से यही बात कह रहा है। यही दशा साधनहीन वेदान्तियों की होती है। वे मुख से तो अपने को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कहते रहते हैं किन्तु वस्तुतः रहते विषयों में आसक्त ही हैं। इस प्रकार के ज्ञान से कोई लाभ नहीं हो सकता।

अतः यदि तुम वास्तव में अपना कल्याण चाहते हो तो विषयों को त्यागो। रसना को रसास्वादन से रोको, श्रोत्रों से शब्द ग्रहण मत करो और घ्राणेन्द्रिय से गन्ध मत सूँघो। सारी इन्द्रियों का निरोध कर दो।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥

आत्मलाभ का यही उपाय है। इसी से भगवान् ने कहा है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

पहले अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्ति को शास्त्रीय करो। इससे उनकी उच्छृङ्खलता शान्त हो जायगी। फिर धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा उनसे विषय ग्रहण करना छोड़ दो। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपनी गीता की टीका में कहा है—'यदि घर में चोर घुस रहे हों तो सबसे पहले दरवाजा बन्द कर लेना चाहिये; पीछे कोई और उपाय करो। इसी प्रकार विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले इन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्त करो। यदि अन्तःकरण में भोगवासना बनी हुई है तो भी इन्द्रियों से अन्य विषयों को तो ग्रहण मत करो। अब जो विषयरूप चोर तुम्हारेअन्तःकरणरूप घर में घुस आये हैं उनकी परब्रह्मरूप राजा के यहाँ रिपोर्ट करो, वह अवश्य इनका प्रबन्ध कर देंगे। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आय बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा।
मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा।
यह लूटहिं सब धन-धामा॥
चिन्ता यह मोहिं अपारा।
अपजस जनि होइ तुम्हारा॥

अतः भगवन्, आप उन्हें निकालिये। नहीं तो, आपका अपयश अवश्य होगा; क्योंकि—

ममता तिमिर तरुण अँधियारी।
राग-द्वेष उलूक तमकारी॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं।
जब लगि प्रभु-प्रताप-रवि नाहीं॥

वास्तव में, जिस राजा के राज्य में चोर प्रजा का धन अपहरण करते हैं उस राजा के लिये वह कलंक ही है; क्योंकि प्रजा तो राजा का सर्वस्व है। 'प्रजायन्त इति प्रजाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रजा' शब्द का अर्थ भी पुत्र है। अतः राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के हित की रक्षा करे।

इस प्रकार जिस समय यह जीव प्रभु को ही अपना एकमात्र आश्रय बना लेता है उस समय उसके सारे विकार निवृत्त हो जाते हैं। जब वह स्वयंप्रकाश श्रीहरि के सम्मुख होता है तब

उसके हृदयभवन का कल्मष रूप अन्धकार तत्काल निवृत्त हो जाता है।

अतः भगवान् का भी वुद्धियों के प्रति यही कथन है कि तुम इन इन्द्रियवृत्तियों को पयःपान मत कराओ। यह वात ठीक है कि इन्द्रियों के व्यापार का सर्वथा निरोध नहीं किया जा सकता। शरीररक्षा के लिये भोजनादि भी करना ही होगा। अतः आवश्यकता इसी वात को है कि अपनी प्रवृत्तियों को शास्त्रीय करो। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करो। उन्हीं विषयों को ग्रहण करो जिनके विना तुम्हारा निर्वाह न हो सके। भगवान् के दिये हुए देह और इन्द्रियों का सदुपयोग करो। भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिये ही हमें ये देह और इन्द्रियाँ आदि दी हैं। अतः इनसे वही कार्य करो जो भगवत्प्राप्ति में सहायक हैं। इनकी सात्त्विकी प्रवृत्ति को प्रवल करो, राजस को निर्वल कर दो और तामस प्रवृत्ति विलकुल मत होने दो।

देखो जिस समय हनुमान्‌जी लङ्का को गये थे उस समय पहले उन्हें सुरसा मिली। उसे उन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रसन्न कर उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। वह देवमाता थी, अतः सात्त्विकी प्रवृत्ति-रूपा होने के कारण उसे अपने अनुकूल कर लेना ही उचित था। उसके पश्चात् छायाग्राहिणी सिंहिका राक्षसी मिली, जो समुद्र में ऊपर उड़नेवाले प्राणियों की छाया पकड़कर उन्हें गिरा लेती और फिर खा जाती थी। वह तामस प्रवृत्ति थी। उसे उन्होंने मार डाला। फिर लङ्का में पहुँचने पर उन्हें लङ्किनी

मिली। उसने भी उनका मार्ग रोका; किन्तु उसे उन्होंने एक मुक्के से ही ठीक कर लिया। वह राजस प्रवृत्ति थी; उसे दमन से शिथिल कर देना ही ठीक था। इसी प्रकार हमें सात्त्विक प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिये, राजस प्रवृत्ति को शिथिल कर देना चाहिये और तामस का सर्वथा नाश् कर देना चाहिये। वे तो पापरूपा हैं।

अतः जो कर्म शास्त्र-विहित हैं उनका तो यथाशक्ति पालन करो। 'यथाशक्ति' शव्द का प्रयोग विहित कर्मों के लिये ही हो सकता है, पापकर्मों में 'यथाशक्ति' शव्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विहित कर्मों में भी जिनके न करने से प्रत्यवाय होता है वे तो अवश्य करने चाहियें। अग्निष्टोमादि याग अत्यधिक अर्थसाध्य हैं; प्रत्येक व्यक्ति उनका अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं है। इसलिये 'यथाशक्ति' शव्द का प्रयोग उन्हीं के लिये किया गया है। सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि कर्मों को, जिनमें न तो विशेष परिश्रम है और न व्यय ही, तो अवश्य करना ही चाहिये।

आज-कल एक परिष्कृत सनातनधर्म का आविर्भाव हुआ है। उसके अनुयायी शास्त्र के किसी अंश को तो प्रामाणिक मानते हैं और किसी की उपेक्षा कर देते हैं। परन्तु इसे शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करना नहीं कहा जा सकता। इसे तो स्वेच्छाचार ही कहा जायगा। तुम कहते हो गीता हमारा सर्वस्व है, किन्तु गीता तो कहती है—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

अब देखना यह है कि शास्त्र क्या कहता है? तुम शूद्रों को शास्त्राध्ययन कराना चाहते हो। परन्तु शास्त्र तो इसकी आज्ञा नहीं देता। यही नहीं, वर्णाश्रम-धर्म का भी लोप करना चाहते हो। शूद्र और वैश्य ब्राह्मणों का कर्म कर रहे हैं और ब्राह्मण वैश्य तथा शूद्रों का। परन्तु शास्त्र तो कहता है—

स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः।

अपने वर्णधर्म में तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती, उसमें तुम्हें दोष दिखाई देता है। यह तुम्हारा व्यामोह ही है। अर्जुन को भी ऐसा ही व्यामोह हुआ था। इसी से वह युद्ध में दोषदृष्टि कर भिक्षा माँगने के लिये तैयार हो गया था। परन्तु बाह्य दृष्टि से ऐसा दोष किस कर्म में नहीं रहता 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'। भाई, समाज का कोई भी अङ्ग व्यर्थ नहीं है। शिर जैसा आवश्यक है वैसा ही चरण भी है। शरीर के किसी भी अङ्ग में पीड़ा हो, उसके कारण सारा शरीर ही अस्वस्थ रहा करता है। अत: हम किसी भी वर्ण को नगण्य और हेय नहीं समझते। हमारे विचार से तो सभी को परधर्म की ओर प्रवृत्त न होकर अपने ही वर्ण के लिये विहित कर्मों का यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

इस प्रकार स्वधर्मानुष्ठान करते हुए नित्यप्रति कुछ काल के लिये अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने का भी प्रयत्न करो। ऐसा करते-करते परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ही इन इन्द्रियों का क्रन्दन बन्द होगा।

इसके विपरीत यदि इन इन्द्रियरूप वत्स और बालकों को विषय-रूप पयःपान कराया जायगा तो ये और भी अधिक क्रन्दन करेंगे। तुम इन्हें जितना ही तृप्त करने का प्रयत्न करोगी ये उतना ही अधिक अतृप्त होते जायँगे। अतः इन्हें तृप्त करने का प्रयत्न छोड़कर तुम अपने एकमात्र परम पति शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप परब्रह्म की ही ओर देखो। इसमें कोई आयास भी नहीं है; विषयदर्शन में तो आयास भी अधिक है और परिणाम में दुःख भी है। परन्तु ब्रह्मदर्शन में तो कोई परिश्रम भी नहीं करना पड़ता और उसका परिणाम भी परम सुखमय है। परब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करने के लिये कोई व्यापार नहीं करना पड़ता; बल्कि उसके लिये तो व्यापार का त्याग ही कर्त्तव्य है। परन्तु विचित्रता तो यही है कि हमसे व्यापार ही नहीं छोड़ा जाता। यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियों का व्यापार छूट जाय तो परब्रह्म की उपलब्धि तत्काल हो सकती है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥

इसी से भगवान् कहते हैं—'गोष्ठं मा यात'—जहाँ पशुप्राय जीव रहते हैं उस प्रपञ्च की ओर मत जाओ। ऐसा करने से ही उनका क्रन्दन शान्त होगा। यदि प्रतिबिम्ब पर दृष्टि न ले जाकर केवल दर्पण पर ही दृष्टि डाली जाय तो प्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार यदि तुम अपनी वृत्ति को अन्तर्मुख करके विषयों तक नहीं ले जाओगी तो तुम्हें विषम विषाक्त संसार की प्रतीति नहीं होगी।

यदि कहो कि ये इन्द्रियाँ हमारे बालक हैं, हमें इन पर दया करनी ही चाहिये। इन्हें विषय प्रिय हैं, इसलिये हमें इन्हें अभिलषित विषय प्राप्त कराने ही चाहियें—तो इस पर भगवान् कहते हैं—'तान् मा दुह्यत'—तुम इनके लिये अभिलषित पदार्थ प्रस्तुत मत करो। इन्हें विषयप्राप्ति नहीं होगी तो ये स्वयं ही क्रमशः शान्त हो जायँगी। इन्हें विषय देना तो मानो विष देना है।

यही वात प्रेमियों की आचार्यभूता व्रजाङ्गनाओं से भगवान् कहते हैं कि तुम व्रज में मत जाओ। मैं ही निखिल ब्रह्माण्ड का परमपति हूँ। अतः तुम मेरी ही सेवा करो। इस समय यदि तुम्हारे वाल-वच्चे क्रन्दन भी करते हों तो भी उन्हें तुम पयःपान मत कराओ और न वछड़ों के लिये दोहन ही करो; क्योंकि वह तुम्हारे परमधर्म का विरोधी है। यदि भगवत्प्रेम में दया आदि धर्म विरोधी होते हों तो उनका त्याग ही करना चाहिये।

भगवान् की यह विचित्र वाचोभङ्गी सुनकर कुछ व्रजाङ्गनाओं की तो अभिरुचि सुस्थिर हुई और कुछ को व्यामोह हुआ। भगवान् का यह वाग्विन्यास वड़ा ही विचित्र था। इससे भिन्न भिन्न निष्ठावाले भिन्न भिन्न अर्थ निकाल सकते थे। कर्मियों के लिये इसमें कर्मानुष्ठान का आदेश था, जिज्ञासुओं के लिये कर्मसंन्यास की विधि थी, उपासकों के लिये कर्मसमुच्चय का विधान था, गोपियों के लिये गोष्ठ को लौट जाने का आदेश था और प्रकारान्तर से न लौटने के लिये भी अनुमति थी। वस्तुतः रासपञ्चाध्यायीरूप यह अमृतसिन्धु ऐसा गम्भीर है कि हम इसके एक

बिन्दु का मर्म भी यथावत् नहीं समझ सकते। वेद भगवान् की सुषुप्ति के समय उनके अज्ञात रूप से प्रकट हुए श्वासोच्छ्वास हैं।

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदः'

किन्तु उनका मर्म आकलन करने में भी बड़े-बड़े मनीषिजन घबराते हैं। फिर जिन वाक्यों का उच्चारण प्रभु ने स्वयं लीला-विग्रह धारण करके किया उनके भावगाम्भीर्य का तो कहना ही क्या है; उसके तो जितने अर्थ किये जायँ थोड़े ही हैं।

अब हम इस श्लोक का उपसंहार कर आगे के श्लोक पर विचार करते हैं। भगवान् ने कहा था कि हे व्रजाङ्गनाओ! तुम जाओ। इस पर व्रजाङ्गनाएँ सोचती हैं—ऐसी जल्दी क्या है, वन की शोभा देखकर चली जायँगी। किन्तु भगवान् कह रहे हैं—'मा चिरम्'—देरी मत करो; क्योंकि यह रात्रिकाल पतिशुश्रूषा-रूप परमधर्म का उपयुक्त समय है और धर्मानुष्ठान में विलम्ब होना उचित नहीं है। इसलिये तुम जाओ और पतियों की तथा उनकी माता आदि सतियों की शुश्रूषा करो।

इस प्रकार भगवान् के निराकरण करने पर व्रजाङ्गनाएँ बहुत खिन्न हुईं। वे सन्तप्त होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई कुछ सोच रही हैं—यह देखकर भगवान् कहते हैं—

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मम जन्तवः॥

भगवान् की यह रीति है कि वे सीधे-सीधे किसी को उत्तर नहीं देते; न तो सहसा स्वीकार ही करते हैं और न अस्वीकार ही। संसार

में दो प्रकार के लोग ही सुखी होते हैं; या तो परम बोधवान् और या अत्यन्त मूढ़ ।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

इसलिये भगवन्मार्ग में लगे हुए प्राणी प्रायः व्याकुल ही दिखाई दिया करते हैं। वस्तुतः इस व्याकुलता की आवश्यकता भी है। जिस समय भगवान् के सम्मिलन की अभिलाषा क्षुधा-पिपासा के समान अत्यन्त बढ़ जाय तभी प्राणी को समझना चाहिये कि हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं। परन्तु यह प्राणी दीर्घकाल से भगवान् से विछुड़ा हुआ है। इसलिये इसे भगवत्सम्मिलन की उत्कट इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे अजीर्ण के रोगी को भूख लगना अत्यन्त आनन्द का हेतु होता है उसी प्रकार प्रपञ्चासक्त जीव को भगवत्प्राप्ति की तृष्णा अत्यन्त सौभाग्य का फल है। इसी से भगवान् शङ्कराचार्य ने भगवत्प्राप्ति के साधनों में सबसे अन्तिम साधन मुमुक्षा बतलाया है। इस मुमुक्षा के पश्चात् ही जिज्ञासा होती है। यदि भगवान् के ज्ञान की उत्कट इच्छा हो जाय तो फिर उनके मिलने में कुछ भी देरी न हो। सारे साधन इस जिज्ञासा के लिये ही हैं। भगवान् को जानने की यह उत्कट इच्छा भगवत्कृपा से ही होती है। यदि यह हमारे हाथ की चीज होती तो इस प्रकार प्रार्थना क्यों की जाती—'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्तु' यदि हम भगवान् का निराकरण न करने में समर्थ होते तो इसके लिये प्रार्थना क्यों की जाती? परन्तु नहीं, हम सब

कुछ जानते हुए भी अनादिमाया से मोहित होकर उनका निराकरण करते हैं। हम जान-बूझकर भी अनन्तानर्थ के निदानभूत संसार में गिरते हैं। परन्तु किया क्या जाय—

केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

इसी से महानुभाव लोग नास्तिकों की भी निन्दा नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात उनके वश की नहीं है। एक व्यक्ति अपने कल्याण की कामना से संसार से विरक्त होता है, परन्तु पीछे माया से मोहित होकर वह पतित हो जाता है। इसमें उसका क्या दोष है; वह तो अपना कल्याण ही चाहता है। न्यायकुसुमाञ्जलि-कार श्री उदयनाचार्यजी नास्तिकों के लिये कल्याणकामना करते हुए भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

इत्येवंश्रुतिनीतिसम्भवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥

महानुभावों को दूसरों को दुःख में देखकर खेद हुआ ही करता है। इसी से उदयनाचार्यजी ने जो नास्तिकमत का खण्डन किया है वह उन्हें भगवत्सुख से वञ्चित देखकर करुणावश ही किया है—द्वेष के कारण नहीं किया। देखो, महर्लोकनिवासी जीवों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता; परन्तु वे जो अपने से नीचे के लोगों को परमात्मसुख से वञ्चित देखते हैं इससे तो

उन्हें खेद होता ही है। वस्तुतः देखा जाय तो हम लोग भी नास्तिकप्राय ही हैं। यदि भगवान् की सत्ता में हमारा पूरा विश्वास होता तो हमें लुक-छिपकर पाप करने का साहस कैसे होता ? भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे तो हमारी मानसिक क्रिया को भी जानते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में हमारे मन की भी दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार यदि सच पूछा जाय तो हमसे तो नास्तिक ही अच्छे हैं। हम तो ऊपर से आस्तिकता का दावा करते हुए वस्तुतः नास्तिक हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि भगवान् का निराकरण करना—यह मायामोहित जीवों का स्वभाव ही है। श्रीमद्भागवतादि में यह प्रसिद्ध ही है कि गर्भावस्था में जीव को भगवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मों की भी स्मृति होती है, और वह समझता है कि मैं भगवान् से विमुख रहने के कारण ही अनन्त जन्मों में भटकता रहा हूँ। उस समय वह भगवान् की प्रार्थना करता है। पूर्वजन्मों में भी उसने इसी प्रकार सहस्रों वार प्रार्थना की थी; परन्तु संसार में पदार्पण करते ही उसे उसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा। अतः यह देखकर कि मैं अनन्त वार प्रभु के प्रति अपनी प्रतिज्ञा भुला चुका हूँ उसे बहुत संकोच भी होता है; तथापि प्रभु का स्वभाव समझकर वह फिर भी उनके सामने रोता ही है। यही दशा भगवान् से मिलने के लिये वन को जाते समय भरतजी की थी—

फेरति मनहु मातुकृत खोरी।
चलत भक्तिबल धीरज थोरी॥
जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ।
तब मग परत उतावल पाऊ॥

अहा! प्रभु का स्वभाव कैसा करुणामय है? उन्हें अपराध का तो स्मरण ही नहीं होता, किन्तु थोड़े से भी उपकार को वे बारम्बार स्मरण करते हैं—

रहत न प्रभु चित चूक हिये की।
करत सुरत सौ बार किये की॥

अतः प्रभु का ऐसा स्वभाव समझकर ही जीव उस समय उनसे प्रार्थना करता है कि भगवन्, अब मैं अवश्य आपके चरणों का समाश्रयण करूँगा। मैं आपको भूलकर बहुत भटक चुका हूँ, अब ऐसी भूल नहीं करूँगा।

परन्तु गर्भ से बाहर आते ही वह फिर प्रभु को भूल जाता है। यदि थोड़ी सी विद्या या वैभव मिल गया तो फिर तो सीधे-सीधे प्रभु का निराकरण करने लगता है। परन्तु भगवान् तो उनका भी अमङ्गल नहीं चाहते। वे जानते हैं कि 'ये अज्ञ हैं; मेरी माया से मोहित हो रहे हैं।' इसी से यह प्रार्थना की जाती है कि 'मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे'। किन्तु भगवान् का निराकरण न करना अपने हाथ की बात नहीं है। यह तो भगवत्कृपासाध्य ही है। वह भगवत्कृपा तभी हो सकती है

जब हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें; और शास्त्र ही भगवान् की आज्ञा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अतः सच्चा भगवत्प्रेमी वही है जो शास्त्र का उल्लङ्घन नहीं करता। वैष्णवधर्म का लक्षण करते हुए कहा है—

न चलति निजवर्णधर्मतो सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।

वस्तुतः भगवत्कृपा तो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। उसे केवल अभिव्यक्त करना है और वह अभिव्यक्ति भगवदाज्ञा-पालन से ही हो सकती है। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं— 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'।

जिस समय भरतजी भगवान् को लौटाने के लिये चित्रकूट पर्वत पर गये उस समय उनका विशेष आग्रह देखकर भगवान् ने कहा कि 'भरत, तुम जैसा कहो वैसा ही करूँ।' उस समय भरतजी ने यही सोचा कि मुझे अपने सुख-दुःख का विचार न करके भगवान् की आज्ञा का ही प्राधान्य रखना चाहिये; क्योंकि सेवक का धर्म तो स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही है। इधर व्रजाङ्गनाओं का व्रत भी तत्सुखसुखित्व ही था। वृन्दावन से मथुरा कुछ दूर नहीं थी; परन्तु भगवान् की इच्छा न देखकर उन्होंने मरण से भी सहस्रगुण दुःखदायिनी वियोगव्यथा तो सहन की किन्तु मथुरा नहीं गईं। अतः सेवक का प्रधान कर्त्तव्य तो स्वामी की आज्ञा पालन करना ही है।

जिस समय भगवान् देखते हैं कि मेरा भक्त मुझसे मिलने के लिये अत्यन्त उत्सुक है उस समय वे उसे अपनी माधुरी का थोड़ा सा रसास्वादन करा देते हैं। ऐसा वे इसी लिये करते हैं जिससे कि उस उपासक की भगवन्मिलन की तृष्णा और भी अधिक तीव्रतर हो जाय। इसी से भगवान् का भजन करनेवालों को कभी-कभी कुछ विलक्षण आनन्द का अनुभव हुआ करता है; परन्तु वह स्थिर नहीं रहता। वह भजनानन्द तो प्रभु-प्रेम की आसक्ति के लिये है। जिस प्रकार किसी कामुक पुरुष को कामिनीसौन्दर्य का थोड़ा सा भी व्यसन हो जाने पर फिर उसे कितना ही समझाया जाय वह उसे छोड़ नहीं सकता उसी प्रकार जिसे भजनानन्द की थोड़ी सी भी चाट लग गई है उसे संसार का कोई भी सुख आकर्षित नहीं कर सकता।

देखो, जिस समय नारदजी ने देखा कि मेरी माता का देहावसान हो गया तो वे यह समझकर कि मेरा भगवद्भजन का एकमात्र प्रतिबन्ध नष्ट हो गया बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल वन को चल दिये। वहाँ इन्द्रियों का निरोध कर दीर्घकाल तक भगवद्भजन करते रहे। इसी समय एक दिन भगवान् ने उन्हें अपनी मधुरिमा का यत्किञ्चित् रसास्वादन कराया।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृत्तचेतसः।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने।

परन्तु वह आनन्द बहुत जल्दी तिरोहित हो गया। इससे नारदजी बड़े व्यग्र हुए। उन्होंने बहुतेरा यत्न किया परन्तु पुनः उस रस का समास्वादन न कर सके। उन्होंने प्रभु से बहुतेरी अनुनय-विनय की, वे बहुतेरे विह्वल हुए परन्तु प्रभु ने फिर कृपा न की। वास्तव में तो प्रभु की यह कठोरता ही परम कृपा थी। भगवान् को सबसे बड़ी कृपा यही तो है कि जीव उनके लिये अत्यन्त तृषित हो जाय। यह तो परम सौभाग्य है। हम लोग स्त्री, धन आदि के लिये निरन्तर शोक-समुद्र में डूबे रहते हैं। किन्तु प्रभु के लिये हमारा अन्तःकरण कभी द्रवीभूत नहीं होता। न जाने वह समय कब आवेगा जब प्रभु की विप्रयोगानल में दग्ध होकर हमारा एक-एक पल एक-एक कल्प के समान व्यतीत होगा। भावुकों की स्थिति ऐसी ही विलक्षण हुआ करती है।

अतः भगवान् ने देखा कि नारद के प्रेम का अभी शैशवकाल है। अभी इसके पनपने की आवश्यकता है। जिस समय जतु के समान इसका अन्तःकरण सर्वथा द्रवीभूत हो जायगा उसी समय यह मेरा यथावत् प्रेम प्राप्त कर सकता है। इसलिये भगवान् ने यह कठोरता धारण की थी। उनकी यह कठोरता भी कोमलता थी। प्रभु ने थोड़ा-सा रसास्वादन इसी लिये कराया था, जिससे उनकी तृषा खूब बढ़ जाय; क्योंकि बिना रस-परिचय के उसमें प्रवृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण ने देखा कि मेरे उपेक्षा के वचन सुनकर गोपाङ्गनाएँ कुछ उदास हो चली हैं तो उन्हें आश्वासन देने के लिये उन्होंने कहा—

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥

पहली उत्थानिका में कहा जा चुका है कि जब प्राणी बहुत काल तक भगवच्चिन्तन करते रहने पर भी भगवत्कृपा से वञ्चित रहता है तो उसकी लगन में कुछ शिथिलता आ जाती है। हम रूप-रसादि शब्दों का जितना ही अधिक सेवन करेंगे उतनी ही उनके प्रति हमारी तृष्णा बढ़ती जायगी। शास्त्रालोचन की भी ऐसी ही बात है। जिन्हें शास्त्रावलोकन का व्यसन हो जाता है उनसे फिर उसके बिना रहा नहीं जाता। इसी प्रकार जो लोग निरन्तर भगवच्चरित्रों को श्रवण-कीर्त्तन करते रहते हैं उनका भी उसमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है। ऐसा अनुराग सनकादि में था।

आशा बसन व्यसन यह तिनहीं।
रघुपति चरित होहिं तहँ सुनहीं ॥

किन्तु यदि भगवद्भजन कुछ काल के लिये छूट जाता है तो उसका स्वारस्य भी कुण्ठित हो जाता है—उसका फिर नये सिरे से अभ्यास करना होता है। इसी से योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' आप चाहे भगवच्चरित्रों का श्रवण-मनन करें, चाहे कर्मनिष्ठा को दृढ़ करें, चाहे योगाभ्यास में प्रवृत्त हों और चाहे वेदान्तश्रवण करें—सभी को दीर्घ काल तक आदरपूर्वक सेवन करने की आवश्यकता है। यदि आपको खिचड़ी बनानी है तो उसके लिये

जैसी और जितनी अग्नि की जितनी देर तक आवश्यकता है यदि उतनी अग्नि न देंगे अथवा बीच-बीच में अग्निसंयोग को रोक देंगे तो खिचड़ी कभी बन ही न पावेगी। इसी प्रकार भगवद्भजन में सफलता प्राप्त करने के लिये भी दीर्घकाल तक निरन्तर पर्याप्त अभ्यास की अपेक्षा है। इसी तरह यदि दीर्घ काल तक भगवच्चरणस्मरण और भगवत्स्वरूपानुध्यान करते रहोगे तो उसका व्यसन हो जायगा और यह व्यसन ही परम सौभाग्य है।

पुंसां भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिस्स्यात्।

परन्तु यदि दीर्घकाल तक प्रियतम के सम्मिलन की चाह लगी रहे—प्रभु से मिलने की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय तो यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। ऐसी प्रीति तो चातक और मीन में ही देखी जाती है।

जग यश-भाजन चातक मीना।
नेम प्रेम नित जासु नवीना॥

चातक का एक ही नियम है। वह स्वाति-बूँद को छोड़कर दूसरे जल की ओर कभी दृष्टिपात भी नहीं करता। उसके अभाव में वह निर्मल-नीर-प्रपूरित सरोवर के तट पर भी पीऊ-पीऊ रटते-रटते मर जायगा परन्तु अन्य जल कदापि ग्रहण न करेगा। अपने एकमात्र प्रियतम पयोधर को छोड़कर वह किसी से याचना नहीं करता। परन्तु वह पयोधर उसे क्या देता है? खूब गर्ज-तर्ज कर ओलों की वर्षा करता है और बिजली भी गिरा देता है।

जाँचत जल पवि पाहन डारै।
जलद जन्मभरि सुरति बिसारै॥

परन्तु उसकी तो एक ही टेक रहती है। क्या उसे जल की कमी है? नहीं, परन्तु यदि उसे अमृत भी दिया जाय तो भी वह अपना नियम भंग नहीं कर सकता।

चातक रटन घटे घटि जाई।
बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥

यही दशा मीन की है। वह तो एक क्षण के लिये भी अपने प्राणाधार जल का वियोग सहन नहीं कर सकती। इसी विषय में किसी की उत्प्रेक्षा है।

आपेदिरेऽम्बरतलं परितः पतङ्गाः
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीने
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

'अरे सर! इस समय तो तुझमें बड़े दिव्यातिदिव्य पुष्प विद्यमान हैं। इसी से तेरे बहुत से साथी बने हुए हैं। परन्तु जब तू क्षीण हो जायगा, तुझमें खिले हुए कमल कुम्हिला जायँगे तब ये हंस तुझे छोड़कर गगनमण्डल में विहार करने लगेंगे और ये भ्रमर जो तेरे परम प्रेमी बने हुए हैं वे भी तुझे छोड़कर रसाल-मुकुल का ही आश्रय लेंगे। परन्तु बता, यह मीन कहाँ जायगा? इसे तेरे साथ ही—नहीं, नहीं तुझसे भी पहले सूख जाना होगा।'

इस प्रकार प्रेमास्वादन करनेवालों में प्रधान तो चातक और मीन ही हैं। अन्य प्रेमियों में तो इस तरह का एकांगी प्रेम प्रायः देखा नहीं जाता। लोक में यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि 'एक हाथ से ताली नहीं बजती'। वहाँ तो प्रेम के बदले में प्रेम किया जाता है। अतः दोनों ओर से प्रेम की अपेक्षा होती है। इसलिये जब प्राणी भगवान् के सम्मिलन की आकांक्षा से कुछ काल तक भगवच्चिन्तन में तत्पर रहता है और फिर भी भगवान् की ओर से उसे कोई सहारा नहीं मिलता तो उसका धैर्य भग्न हो जाता है और उसकी श्रद्धा शिथिल पड़ जाती है। साधनमार्ग में श्रद्धा की बड़ी आवश्यकता है। योगदर्शन में श्रद्धा का अर्थ उत्साह किया है। वहाँ बतलाया है कि वह माता के समान योगी पर अनुग्रह करता है। बिना श्रद्धा या उत्साह के साधनमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय और अभ्यास में तत्पर रहने की आवश्यकता है। भगवन्मार्ग में शीघ्रतर प्रगति होने के लिये स्वाध्याय और योगाभ्यास दोनों ही के क्रमिक अनुष्ठान की अपेक्षा है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

यदि तुम निरन्तर ध्यानपरायण होकर आरम्भ ही से चार घण्टे की समाधि लगाने का प्रयत्न करोगे तो उसमें कभी सफल न हो सकोगे। पहले-पहले केवल पाँच मिनिट ध्यान का अभ्यास करो; फिर पाँच मिनिट स्वाध्याय करो। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय का साथ-

साथ अभ्यास करते हुए क्रमशः ध्यानकाल में वृद्धि करो। ध्यान के बढ़ने पर धीरे धीरे स्वाध्याय में कमी कर सकते हो। उससे पहले यदि स्वाध्याय छोड़कर केवल ध्यान में ही लगोगे तो ध्यान तो होगा नहीं, केवल मनोराज्य या तन्द्रा में समय का अपव्यय होगा।

स्वाध्याय क्या है? अपने प्रियतम के स्वरूप का परिचायक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। यदि तुम भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार करना चाहते हो तो श्री सूरदासजी के उन पदों का पाठ करो जिनमें भगवान् के दिव्यातिदिव्य स्वरूप-सौष्ठव का वर्णन किया गया है अथवा श्रीमद्भागवत से भगवान् की दिव्य-मंगलमयी मूर्ति की स्फूर्ति करनेवाले अंशों का परिशीलन करो। उसके मनन से जब तुम्हारी मनोवृत्ति ध्येयाकार हो जाय तो जितने काल वह स्वरूप मानस नेत्रों के सामने रह सके उतने समय तक ध्यान करो। फिर जब ध्यान में शिथिलता आवे तो स्वाध्याय करो। इसी प्रकार निर्गुणोपासकों को भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों का मनन करते हुए ही ध्यानाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह स्वाध्याय और ध्यान का क्रमिक अभ्यास करने से ही प्रभु के स्वरूप की स्फूर्ति जल्दी हो सकती है।

जब बहुत काल अभ्यास करते रहने पर भी भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति नहीं होती तो साधक बहुत निरुत्साह हो जाता है। उसका उत्साह बनाये रखने के लिये ही स्वाध्याय की आवश्यकता है। बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न महात्माओं के पास जाकर साधन की बात पूछा

करते हैं। उन्हें कोई कुछ साधन बतलाता है और कोई कुछ दूसरा साधन बतला देता है। वे कुछ दिन एक साधन का अवलम्बन करते हैं और उसमें असफल होने पर निरुत्साह हो जाते हैं। उनका हृदय विषादग्रस्त हो जाता है। किन्तु विषाद से कोई लाभ नहीं होता। लाभ तो साधन-मार्ग में चलने से ही होगा। विषाद से तो शोक-मोह के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। इसलिये साधक को विषाद नहीं करना चाहिये। जिस समय तुम्हारा साधन पूरा होगा उस समय साध्य अवश्य मिलेगा; उसके लिये उतावले क्यों होते हो?

तनिक हिरण्यकशिपु के तप की ओर ध्यान दो। उसके शरीर को पिपीलिकाओं ने छलनी कर दिया था, मांस सर्वथा सूख-कर केवल अस्थि चर्म मात्र रह गये थे; तो भी वह निरुत्साह नहीं हुआ। वह कहता है कि 'काल नित्य है और आत्मा नित्य है; अतः यदि शरीर नष्ट भी हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं, हम तपस्या से पीछे नहीं हटेंगे। यह है तपस्या का उत्साह।' देखो, वे लोग राक्षस थे, किन्तु उनकी धारणा कैसी स्थिर थी। हम लोग दश दिन माला फेरते हैं और कोई आनन्दानुभव न होने के कारण समय और मन्त्र को दोष देने लगते हैं। किन्तु यह हमारी भूल है। हमें दृढ़तापूर्वक अपने साधन पर डटे रहना चाहिये।

एक वैश्य व्यापार को अपना सर्वस्व समझता है। व्यापार करने में वह अपनी सर्वस्व रक्षा मानता है और व्यापार न करने में सर्वस्व का नाश समझता है। इसी से वह धन, स्त्री, गृह और

देश की भी उपेक्षा करके विदेश में चला जाता है, तथा अपने कारोबार के लिये दिन-रात एक कर देता है। लोग कहते हैं, 'महाराज भजन करते हैं तो निद्रा बहुत सताती है।' किन्तु तनिक स्टेशनमास्टर और खजानचियों से तो पूछो उन्हें कितनी निद्रा आती है? वे जानते हैं कि थोड़ा-सा प्रमाद होने से भी हानि होने की सम्भावना है। वे दो-चार रुपये की हानि की आशङ्का से रात भर जागते रहते हैं। इसी प्रकार तुम्हें भी यदि भजन में ढील होने पर हानि की आशङ्का होती तो आलस्य कैसे आ सकता था? जिसे तीव्र क्षुधा या तीव्र पिपासा होती है उससे कब बैठा जाता है? इसी प्रकार यदि भगवत्तत्त्व के न जानने में अपनी हानि सुनिश्चित हो और उसके ज्ञान में अपना परम लाभ निश्चित हो तो प्रमाद हो ही नहीं सकता। भगवती श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

याद रखें यदि इस मनुष्यजन्म में आप भगवान् का साक्षात्कार न कर सके तो 'महती विनष्टिः'—सर्वस्वनाश हो जायगा। क्योंजी, जब दो रुपये की हानि की आशङ्का से रात को नींद नहीं आती तो सर्वस्वनाश की आशङ्का होने पर कैसे आलस्य सतावेगा?

हमें जो काम करना है उसकी आवश्यकता का अनुभव करना चाहिये। भगवद्भजन में सर्वस्व लाभ है और उसकी उपेक्षा में सर्वनाश है—जब तक ऐसा सुदृढ़ निश्चय न होगा, भजन में प्रगति कैसे होगी? सामान्य रूप से यह बात सभी को निश्चित है

कि एक दिन अवश्य मरना होगा। परन्तु यह निश्चय रहते हुए भी साठ-साठ वर्ष के बूढ़े भी दुराचार, दम्भ और पाप से निवृत्त नहीं होते। इसमें क्या हेतु है?—मोह। मोह ही उन्हें मृत्यु की घड़ी का विस्मरण करा देता है। एक तो इस प्रकार का मृत्यु का सामान्यरूपेण निश्चय और दूसरा अपने पुत्र या बन्धु की मृत्यु को देखकर होनेवाला वैराग्य—क्या ये दोनों समान हैं? हमें भी अपनी मृत्यु का निश्चय है; परन्तु क्या हम उसकी ओर से निश्चिन्त नहीं हैं? किन्तु यदि हमें राजाज्ञा हो जाय कि आज से पाँचवें दिन तुम्हें फाँसी दे दी जायगी तो फिर क्या पाँच दिन तक हमें नींद आ सकती है? अतः हमें ऐसा अभिमान न करना चाहिये कि हम परमार्थ-विषय को जानते ही हैं, हमें सत्पुरुष या सच्छास्त्रों के सङ्ग की क्या आवश्यकता है। यदि तुम ऐसा सोचोगे तो तुम्हारी प्रगति शिथिल पड़ जायगी। नहीं, इनका सङ्ग तो विवेक और वैराग्य को उद्दीपन करनेवाला है। इस उद्दीपन की बहुत आवश्यकता है। हमें विचारशक्ति को निरन्तर जागृत रखना चाहिये। इस प्रकार जब भजन की आवश्यकता सुनिश्चित रहेगी तो भजन में प्रमाद न होगा। यह कोई जादू-टोना या मन्त्र नहीं है, यह तो युक्ति और अनुभवसिद्ध बात है। उत्साह भङ्ग होने से पुरुष निर्वीर्य हो जाता है; अतः उत्साह को स्थिर बनाये रखना चाहिये।

सुनते हैं, ध्रुवजी को छः महीने में ही भगवान् का दर्शन हो गया था। जिस समय भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए ध्रुवजी ने कहा—'भगवन्! मैं तो सुनता था आप बड़े ही दुराराध्य हैं,

परन्तु मुझ पर आपने इतनी शीघ्र कृपा कर दी।' भगवान् ने कहा—'ध्रुव, तुम यह मत समझो कि हम छः मास में ही मिल गये हैं; आओ देखो, हमारी प्राप्ति के लिये तुम्हारे कितने शरीर शुष्क हुए हैं।' ध्रुवजी ने दिव्य-दृष्टि से देखा कि उनके सहस्रों शरीर कन्दराओं में सूखे हुए पड़े हैं। भगवान् बुद्ध की तो प्रतिज्ञा थी—

'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्'

अतः असफलता से हताश मत हो। साधन में लगे रहो। देखो, वायुयान आदि लौकिक पदार्थों के आविष्कार में भी कितने समय, धन, जन-समुदाय का व्यय हुआ है। भगवत्प्राप्ति तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। बस, लगे रहो, भगवान् अवश्य कृपा करेंगे।

तुमने टिट्टिभ की गाथा सुनी होगी। समुद्र उसके अण्डे हर ले गया था। इससे कुपित होकर उसने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय किया। वह अपने पञ्जे में बालू भरकर समुद्र में डाल देता और चोंच से एक बूँद पानी लेकर समुद्र से बाहर डाल देता। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कितने ही जन्म बीत जायँ समुद्र को अवश्य सुखा डालना है। यह सब लीला देवर्षि नारदजी ने भी देखी और टिट्टिभ की दुर्दशा देखकर उन्हें उस पर बड़ी दया आई। उन्होंने यह सारा समाचार पक्षिराज गरुड़ को सुनाया और उन्हें अपने सजातीयों की सहायता करने के लिये उत्तेजित किया। फिर क्या था? पक्षिराज के तो पर

मारते ही समुद्र में खलबली पड़ गई; उसे तुरन्त हार माननी पड़ी और टिट्टिभ के अण्डे लाकर देने पड़े।

यह समुद्र का पराजय टिट्टिभ के अपने प्रयत्न से नहीं हुआ था। उसमें तो गरुड़जी की सहायता ही कारण थी। परन्तु यदि टिट्टिभ ऐसा हठ न करता तो गरुड़जी क्यों आते? इसी प्रकार जो लोग दत्तचित्त होकर तन-मन से लग जाते हैं उन्हीं पर भगवान् की कृपा होती है और उसी से वे भगवत्प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन तो भगवत्सम्मिलन की तीव्रतर तृषा ही है; उस छटपटाहट के विना भगवत्कृपा अत्यन्त दुर्लभ है।

हठ-वश शठ बहु साधन करहीं।
भक्ति-हीन भव-सिन्धु न तरहीं॥

इस प्रकार दीर्घकाल तक भगवान् के लिये सतृष्ण रहते-रहते भी जब साधक को प्रभु की ओर से कोई सहारा मिलता दिखाई नहीं देता तो वह श्रान्त हो जाता है, उसका हृदय कुछ अवसन्न हो उठता है। उस समय प्रभु उस पर अनुग्रह करते हैं। प्रभु के हृदयाकाश में जो अनुग्रहरूप चन्द्र विराजमान है, प्रभु के मन्दहास के द्वारा उसकी शीतल किरणें साधक के सन्तप्त हृदय तक पहुँचकर उसे शान्त कर देती हैं। इस प्रकार प्रभु का अनुग्रह होने पर साधक को कुछ आश्वासन प्राप्त होता है और वह चौगुने उत्साह से साधन में जुट जाता है। यही स्थिति यहाँ व्रजाङ्गनाओं की थी।

वे लौकिक-वैदिक सभी प्रकार की शृंखलाओं को तोड़कर भगवान् को सन्निधि में आई थीं; किन्तु यहाँ उनका इस प्रकार तिरस्कार हुआ। जिनके लिये उन्होंने सर्वस्व त्याग कर अनेकविध विघ्नों का सामना किया था वे ही ऐसे निष्ठुर भाव से उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनके अनाश्वास का अवकाश है या नहीं ?

परन्तु प्रभु बड़े कृपालु हैं। उनका तात्पर्य उनके तिरस्कार में तो था ही नहीं। वे तो 'स्थूणानिखनन न्याय' से अपने प्रति उनकी निष्ठा की परीक्षा कर रहे थे; वे तो उनकी निष्ठा को और भी सुदृढ़ करना चाहते थे। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि व्रजाङ्गनाओं के भाव में भी कोई न्यूनता रहनी सम्भव थी। वे तो प्रेममार्ग की आचार्या हैं। मीन और चातक में जो प्रेम उपलब्ध होता है वह तो व्रजाङ्गनाओं के प्रेमसुधासिन्धु का एक कणमात्र है। जीव और परब्रह्म में जो प्रेमसम्बन्ध है, उस प्रेम का तो एक अंश भी मीन और चातक में नहीं है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। किन्तु हाँ, वह प्रेम तिरोहित अवश्य है। तथा व्रजाङ्गनाओं का भगवान् के प्रति जो अनुराग है वह तो तत्त्वज्ञ महानुभावों के आत्मप्रेम की अपेक्षा भी कहीं बढ़कर है। हम कह चुके हैं—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञ भी प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चय करके सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य परब्रह्म में ही स्थित होते हैं तथापि

चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भूमिकावाले ज्ञानियों का आत्मप्रेम भी उतना प्रौढ़ नहीं होता जैसा कामुकों का अपनी प्रेयसी के प्रति होता है। इसी से विद्यारण्य स्वामी ने जीवन्मुक्तिविवेक में तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी मनोनाश की आवश्यकता बतलाई है, क्योंकि आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध की प्रबलता रहने के कारण विक्षेप बना ही रहता है। इसी से चित्त ब्रह्मानुसन्धान से हटकर विषयों की ओर चला जाया करता है। ज्ञानी लोग प्रपञ्चचिन्तन में अनर्थ समझकर ही उसे उस ओर से हटाकर पुनः पुनः ब्रह्मानुसन्धान में जोड़ते रहते हैं। ऐसा करते हुए भी उनका चित्त कई बार आत्मानुसन्धान से हटकर अनात्मपदार्थों की ओर चला जाता है। आत्मानुसन्धान में उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति नहीं होती। इसी के लिये योगाभ्यास किया जाता है। निरन्तर योगाभ्यास करते-करते ब्रह्मतत्त्व में उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा नारायणपरायण महापुरुष सुदुर्लभ है।

व्रजाङ्गनाओं की ऐसी स्थिति स्वाभाविक थी। भगवान् के अनेक प्रकार से तिरस्कार करने पर भी उनकी मनोवृत्ति भगवान् से विचलित नहीं हो सकती थी। व्रजाङ्गनाएँ तो परम सिद्ध थीं; उनके चरणकमल तो योगीश्वरों के लिये भी वन्दनीय हैं। परन्तु उन्हें लक्ष्य करके ही भगवान् ने सर्वसाधारण के कल्याण के लिये ऐसी कई बातें कही हैं जिनकी वे पात्र नहीं थीं। हाँ, उनमें भी जो सुदृढ़ निष्ठावाली नहीं थीं, उनके लिये वे बातें उपयुक्त भी हो सकती हैं।

इस प्रकार कई बार भगवान् के उपेक्षा करने पर सम्भव है व्रजाङ्गनाओं को कुछ सन्ताप हुआ हो। अतः उन्हें अपनी अवहेलना से कुछ खिन्न देखकर भगवान् ने उन्हें आश्वासन देने के लिये कहा—

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥

'मैंने जो तुम्हारे विषय में तरह-तरह के पक्षों की कल्पना कर रखी थी वह व्यर्थ थी। मैं अब समझा; आप तो हमारे प्रेम से आकृष्ट-चित्ता होकर ही हमसे मिलने आई हैं।' व्रजाङ्गनाएँ वस्तुतः प्रेम के प्रवाह में बहकर ही आई थीं; वे स्वयं अपनी इच्छा से वहाँ नहीं आईं। भगवान् के मुखारविन्द से वेणुनाद के रूप में निःसृत जो प्रेमतत्त्व उसी ने उन्हें खींच लिया था। व्रजाङ्गनाओं का अन्तःकरण तो स्वयं ही प्रेमामृतपूरित एक महासरोवर के समान था; किन्तु वह अनेकविध प्रतिबन्ध से निबद्ध था। उसे लौकिक वैदिक मर्यादारूप बहुत से बाँधों ने मर्यादा में रोक रखा था। किन्तु जब यहाँ श्यामघन ने वेणुनादरूप गर्जन करते हुए दिव्यातिदिव्य रस का वर्षण किया तो उससे गोपाङ्गनाओं के हृदयस्थ प्रेमसमुद्र का बाँध टूट गया। उसमें ऐसी बाढ़ आ गई कि वह और अधिक काल मर्यादा में न रह सका। व्रजाङ्गनाओं ने अपनी मर्यादा की यहाँ तक रक्षा की थी कि शरीर की सुध-बुध भूल जाने पर भी उन्होंने अपने गोपजाति के लिये विहित लौकिक वैदिक कृत्यों की उपेक्षा नहीं की। वे दधिमन्थनादि गृहकृत्य करती ही रहीं। हाट

में गोरस बेचने जातीं, किन्तु प्रेमविभोर होकर 'दही लो' कहने के बदले 'श्याम लो' पुकारने लगतीं! इससे हम लोगों के लिये उन्होंने यही उपदेश दिया है कि हमें अपने शास्त्रोक्त स्वधर्म का पालन करते हुए ही भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।

यहाँ जो सार्वत्रिक शतृ प्रत्यय है वह हेतुता का द्योतक है। अतः इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् के वेणुनिनाद से आकर्षित होने में गोपियों को गोदोहनरूप स्वधर्मानुष्ठान ही हेतु था।

अतः हमारा यह बलपूर्वक कथन है कि आप किसी भी परिस्थिति में रहें, अपने लौकिक-वैदिक कृत्यों का यथावत् पालन करते रहें।

गोपाङ्गनाओं का प्रेम अत्यन्त प्रौढ़ था; किन्तु वे उसे छिपाये रहती थीं। उनका सिद्धान्त था —

गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये।
कुञ्जगलिन बिच अइये जइये॥

प्रेमी लोग प्रेम को सदा दुराते ही हैं। वह हठात् प्रकट हो जाय तो वश की बात नहीं। अहा! श्री वृषभानुनन्दिनी ने तो अपने प्रेम को अन्तरतम सखियों से भी छिपाकर रखा था। वह उन्हें उनकी अचेतावस्था में ही प्रकट होता था।

अब, जब भगवान् ने देखा कि इनकी पूर्ण योग्यता है। ये मेरा रसास्वादन करने की पात्र हैं तो उन श्यामघन ने वेणु-

निनाद से अमृत वर्षण कर उनके हृत्समुद्र में इतना रस भर दिया कि वह उसमें समा न सका। अहा! जिनके चरणनख से निकली हुई श्री गङ्गाजी वडवाग्निद्वारा सोखे हुए समुद्र को भरने में समर्थ हैं उन्हीं श्यामघन ने जव वेणुनाद द्वारा प्रेममय अधर-सुधारस वर्षण किया तो उसका प्रवाह इतना वढ़ा कि उसमें व्रजाङ्गनाएँ वह गईं। यदि प्रवल प्रवाह में पड़ी हुई नौका को कोई नाविक रोकना चाहे तो वह रोक नहीं सकता। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं को भी कोई रोक न सका।

इसी से भगवान् कहते हैं—'गोपिकाओ! अव मैं समझा। तुम तो मेरे प्रेम से विवश होकर ही यहाँ आई हो।' यन्त्रिताशयाः—वशीकृतान्तःकरणाः अर्थात् जिनका अन्तःकरण किसी ने अपने अधीन कर लिया हो। भगवान् के मधुमय वेणुनिनादरूप चौर ने गोपाङ्गनाओं के हृदय-भवन में घुसकर उनके विवेकरूप धन को चुरा लिया था। इसी लिये उन्हें लौकिक-वैदिक मर्यादा का ज्ञान नहीं रहा। भगवान् कहते हैं—आप लोगों ने यद्यपि वड़ा प्रयत्न भी किया कि लोकमर्यादा का विच्छेद न हो; परन्तु यह तो आपके वश की वात नहीं रही थी। देखो, भ्रमर बहुत से बन्धनों को काट सकता है, कठोर काष्ठ में भी छिद्र कर देता है, परन्तु पङ्कज-कोश को नहीं काट सकता। इसी प्रकार आप भी प्रेमबन्धन को काटने में सर्वथा असमर्थ थीं।

किन्तु, प्रियतम! जब आप जानते हैं कि ये व्रजाङ्गनायें प्रेमपाश में बँधकर ही आपके पास आई हैं तो आप इन पर कृपा

क्यों नहीं करते ? इस पर भगवान् कहते हैं—'मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः'—आप मेरे अभिस्नेह से विवशचित्त हैं। 'अभितः स्नेहः अभिस्नेहः प्रीतिविशेषः' अर्थात् हे गोपाङ्गनाओ ! हम जानते हैं, आप लोग सहज स्नेह से आई हैं—किसी स्त्री-पुरुषसम्बन्धिनी रति के कारण नहीं आईं। आपका प्रेम विशुद्ध है; उसमें काम का लेश नहीं है। मेरे में तो केवल प्रेम है, कृति तो है नहीं। अतः वह तो हमारे दर्शनमात्र से चरितार्थ हो गया। आप लोग यदि रमणाभिलाषा से आतीं तो अङ्ग-सङ्ग की आवश्यकता होती। आप यदि अङ्ग-सङ्ग की इच्छा से आतीं तो आपको ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त होता। आपका तो स्वाभाविक प्रेम है और मेरे प्रति प्रेम होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि 'प्रीयन्ते मयि जन्तवः' मेरे प्रति जीवमात्र का प्रेम है। यह तो मेरा स्वभाव ही है; अतः इसमें कोई विशेषता नहीं है। यहाँ 'भवत्यः' शब्द पूजार्थक है। इसका तात्पर्य यह है कि आप तो प्रेम की आचार्या और मुनिजनों के लिये भी वन्दनीया हैं। मेरे प्रति तो स्वभावतः समस्त जीवों का प्रेम है; फिर यदि आपका भी मेरे में अनुराग हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या है। इसलिये आपका प्रेम तो मेरे दर्शनमात्र से ही चरितार्थ हो गया।

'जन्तु' पद से यहाँ देह से तादात्म्याध्यासवाले पामर और अनभिज्ञ प्राणी अभिप्रेत हैं; क्योंकि आत्मा तो वस्तुतः जन्म-मरण-रहित है। वह 'जन्तु' शब्द का वाच्य नहीं हो सकता। जिस समय वह देह से अपना तादात्म्य अनुभव करता है तभी

'जन्तु' कहा जाता है। मेरे प्रति तो उन पामर प्राणियों का भी प्रेम है क्योंकि मैं सभी का आत्मा हूँ और आत्मा नाम की वस्तु सभी को प्रिय हुआ ही करती है। यद्यपि जीव देहादि में ही आत्मभाव कर लेते हैं तो भी मैं तो उनका भी परम-प्रेमास्पद हूँ।

कहते हैं, जिस समय रामभद्र वन को पधारे उस समय अयोध्या में जो स्त्रियाँ पुत्रहीना थीं उन्हें भी जब प्रभु के वन-गमनानन्तर पुत्र-प्राप्ति हुई तो प्रभु के वियोग के कारण उससे कुछ प्रसन्नता नहीं हुई; जिनके पति चिरकाल से विदेश गये हुए थे उन्हें उनका आगमन होने पर भी कोई सुख न हुआ। यहाँ तक कि पशु-पक्षी और स्थावरों की भी दुर्दशा ही रही। नदियाँ सूख गईं और वृक्ष एवं लताएँ पत्र-पुष्पहीन हो गये।

अपि ते विषये म्लाना सपुष्पाङ्कुरकोरकाः।

घोड़ों की दशा तो श्री गोसाईंजी महाराज ने लिखी ही है—

जो कह राम लषन वैदेही।
हिकर हिकर हय चितअहिं तेही॥
जहँ अस दसा पशुन की बरनी।
को कहि सकहि सचेतन करनी॥

यदि भगवान् राम कोई अन्य व्यक्ति होते तो सबको ऐसी बेचैनी क्यों होती? यद्यपि आपात दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि उन सबको यह ज्ञान भी नहीं था कि वे हमारे अन्तरात्मा ही हैं, तथापि वस्तुस्थिति तो ऐसी ही थी। हमारी तो ऐसी भी आस्था है कि जिन्होंने भगवान् रामभद्र का दर्शन या स्पर्श

किया था उन्हें उनका अपने अन्तरात्मास्वरूप से अवश्य ज्ञान हो गया था; क्योंकि प्रभु की यह प्रतिज्ञा है—

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

अतः जिन्हें उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ था उन्हें तो उस परमतत्त्व का लाभ अवश्य हो गया था जो योगीन्द्रों को भी दुर्लभ है।

उन्हें जो स्वरूपानभिज्ञ कहा जाता है वह लौकिकी दृष्टि को लेकर कहा जाता है। अन्यथा 'कहु रे शठ हनुमान् कपि' भला मरुत्नन्दन वीराग्रणी श्री हनुमान्‌जी क्या बन्दर हैं? पक्षिराज जटायु क्या साधारण पक्षी हैं? भक्ताग्रगण्य काकभुशुण्डिजी क्या कोरे कौए ही हैं? केवल लौकिकी दृष्टि से ही उन्हें पशु-पक्षी कहा जाता है।

अहा! जिन्हें प्रभु का सान्निध्य प्राप्त हुआ था उन कोल-किरात और भीलों को भी प्रभु का जो परम दुर्लभ प्रेम प्राप्त हुआ था वह क्या हमें अनायास प्राप्त हो सकता है? प्रभु कैसे प्रेम से उनकी बातें सुनते थे?—

वेदवचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन।
सुनत किरातन के वचन ज्यों पितु बालक-बैन॥

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभु का स्वरूप-ज्ञान किसी को हुआ हो अथवा न हुआ हो उनके दर्शन मात्र से उनके प्रति प्रेमातिशय होना तो स्वाभाविक ही था। देखो, खर और दूषण कैसे क्रूर राक्षस थे? वे अपनी बहिन के अपमान से क्षुभित

होकर बदला लेने के लिये ही आये थे। तथापि जिस समय उन्होंने प्रभु का रूप-माधुर्य देखा तो कहने लगे—

जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
वध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

भगवान् तो साक्षात् अपने आत्मा हैं, जिन अन्य पदार्थों में भी आत्मत्व का विभ्रम हो जाता है उनके प्रति भी अपार प्रेम हो जाता है। देखो, शरीर में आत्मत्व का केवल भ्रम ही तो है; किन्तु उसके लिये मनुष्य संसार की सारी वस्तुओं को निछावर कर देता है।

अतः भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार जब अज्ञ जन्तुओं का भी मेरे प्रति स्वाभाविक अनुराग है तो हे गोपिकाओ! आप तो परम पूजनीया हैं। आपको मेरे प्रति प्रेम हुआ—इसमें तो कहना ही क्या है। आप जैसी प्रणयिनी जो योगीन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यपादारविन्दा हैं, यदि लौकिक-वैदिक बन्धनों की उपेक्षा करके हमारे प्रेम से आकृष्ट होकर यहाँ पधारी हैं, तो यह उचित ही है।

इस पर गोपिकाओं की ओर से यह प्रश्न हो सकता है कि महाराज! आपके प्रति तो सब प्रेम करते हैं किन्तु आप भी उनके लिये कुछ करते हैं या नहीं? इसका उत्तर यही है कि 'प्रीयन्ते प्रीतिमेव कुर्वन्ति न तु किञ्चिदपि मत्तोऽभिवाञ्छन्ति'—जीव मेरे प्रति केवल प्रेम ही किया करते हैं, मुझसे कुछ चाहते नहीं हैं। मेरे सम्मुख होते ही उनकी सारी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। देखो, विभीषण राज्य की कामना से भगवान् के सम्मुख आये थे, परन्तु प्रभु का दर्शन करने पर तो यही कहने लगे—

उर कछु प्रथम वासना रही।
प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥

यदि कहो कि अच्छा, भक्त तो आपसे कुछ नहीं चाहते, परन्तु आपको तो अपनी ओर से उनका कुछ उपकार करना ही चाहिये। इस पर प्रभु कहते हैं—'प्रीयन्ते मयि स्वरूपमात्रे न तु प्रत्युपकारिणि'—मुझ अपने स्वरूपमात्र में उनका केवल प्रेम ही होता है, वे मुझमें प्रत्युपकार की दृष्टि से प्रीति नहीं करते, क्योंकि मुझमें तो केवल प्रेम ही है—कर्त्तव्य नहीं है। जिन्हें कोई कामना हो उन्हें अन्य देवताओं की शरण लेनी चाहिये।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
लभन्ते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान्॥

मुझमें तो उन्हीं का अनुराग होता है जिनका अन्तःकरण समस्त कामनाओं से निर्मुक्त होकर स्वच्छ हो गया है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

किन्तु ऐसी बात नहीं है कि भगवान् किसी की कामनाएँ पूर्ण किया ही नहीं करते। यह तो उनकी नीति है। उन्होंने कामना-पूर्ति का काम अन्य देवताओं को सौंप रखा है। जिस प्रकार सम्राट् के यहाँ भिन्न-भिन्न विभागों के भिन्न-भिन्न अधिकारी होते हैं उसी प्रकार भगवान् के यहाँ भी हैं। परन्तु समय-समय पर भगवान् स्वयं भी अपने भक्तों की कामना पूर्ण करते ही आये हैं। जिस समय ग्राहगृहीत होने पर गजराज ने निर्विशेष रूप से

भगवान् की स्तुति की थी उस समय और कोई देवता उसकी रक्षा के लिये उपस्थित नहीं हुआ। यद्यपि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सभी देवता उसकी रक्षा करने में समर्थ थे; परन्तु उन्होंने तो यही सोचा कि हमारा नाम लेकर थोड़ा ही पुकारता है जो हम जायँ। उस समय केवल श्रीहरि ने ही प्रकट होकर उसका संकट निवृत्त किया और साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि जिस निर्विशेष परब्रह्म की गजराज ने स्तुति की थी वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार द्रौपदी की लाज बचाने के समय भी प्रभु ने ही वस्त्रावतार लिया था। अतः ऐसी बात भी नहीं है कि प्रभु कभी किसी की कामनापूर्त्ति करते ही न हों। इसी लिये,

सर्वकाम अकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

ऐसी उक्ति है। परन्तु यहाँ तो व्रजाङ्गनाओं के साथ उपहास हो रहा है।

इस प्रकार यद्यपि उन्होंने व्रजाङ्गनाओं का समाश्वासन भी कर दिया, तथापि बात वही रही कि गोष्ठ को जाओ, देरी मत करो। यह नियम है कि जिस समय प्रियतम अपने प्रेमी का निराकरण करता हो उस समय यदि वह मुसकाने लगे तो उसके तिरस्कार का प्रभाव नहीं पड़ता। वह बात उपहास में सम्मिलित हो जाती है। जिस प्रकार यदि कोई पुरुष वैराग्य का उपदेश कर रहा हो और स्वयं अच्छे ठाट-बाट में हो तथा आकृति से भी रागी सा जान पड़ता हो तो उसके कथन का कोई प्रभाव नहीं होता। अतः उप-

देश के समय अनुकूल आचरण और मुद्रा की भी बहुत आवश्यकता है। इसी से जब परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने उनका स्वागत करके फिर मन्द मुसकानपूर्वक निराकरण करना आरम्भ किया तो वे समझ गईं कि यह केवल इनका उपहास है।

अब मानिनी व्रजाङ्गनाओं की स्थिति भी समझ लेनी चाहिये। उनकी स्थिति बहुत ऊँची है। मानिनी गोपाङ्गनाएँ वे हैं जो प्रभु पर आत्मीयता का अधिकार रखती हैं; वे उन्हें अपने अधीन समझती हैं और उनसे जो चाहें करा सकती हैं। उन्हीं के विषय में यह कहा गया है कि वे भगवान् को कठपुतली के समान नचाती थीं 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं'।

दूसरी अनभिज्ञा गोपियाँ हैं। साहित्यदृष्टि से वे मुग्धा नायिका हैं। वे प्रभु के अनुकूल रहकर उनका अनुग्रह प्राप्त करना चाहती हैं। ये प्रभु की प्रार्थना करती हैं किन्तु जो मदीयत्वाभिमानवाली हैं उनकी प्रार्थना स्वयं प्रभु करते हैं। देखो, जिस समय वृषभानुनन्दिनीजी ने कहा कि महाराज मैं तो थक गई तो यहाँ तक उनका कथन ठीक था; किन्तु इसके आगे जो यह कहा कि 'नय मां यत्र ते मनः'—आपकी जहाँ इच्छा हो वहाँ मुझे ले चलिये—यह कथन उनके अनुरूप नहीं हुआ। इसी से भगवान् अन्तर्धान हो गये। श्री राधिकाजी मानिनी नायिका थीं; उनको नायक के आश्रित नहीं होना चाहिये था। उन्होंने जो आश्रयत्वव्यञ्जक भाव प्रकट किया—यह उनके अनुरूप नहीं था। इससे

रसभङ्ग हो गया और रासलीला का आविर्भाव रस-वृद्धि के लिये ही हुआ था। इसी से भगवान् अन्तर्धान हो गये।

गोपिकाओं ने कहा था कि 'हे कृष्ण, हम आपका वेणुनिनाद सुनकर नहीं आई। हम तो शरच्चन्द्र की दुग्धसदृश शुभ्र चन्द्रिका से अत्यन्त शोभाप्राप्त इस कुसुमित वनावली की छटा निहारने आई हैं। हमें यहाँ ठहरने के लिये विशेष अवकाश ही नहीं है।' उस समय भगवान् को यही कहना पड़ा कि 'हे मानिनियो! यह ठीक है, आप हमारी वंशी-ध्वनि सुनकर हमारे दर्शनों के लिये तो नहीं आई, परन्तु अब यदि हमारे सौभाग्य से आप यहाँ पधारी हैं तो कुछ काल ठहरिये।'

यही बात इस समय भगवान् कह भी रहे हैं, "मानिनियो! हम जानते हैं, आप ऊपर से ही कह रही हैं कि 'हम वृन्दारण्य की शोभा निहारने के लिये आई हैं', तथापि भीतर से तो हमारे प्रति आपका अवश्य अनुराग है। यदि कहो कि आप हम कुलाङ्गनाओं के लिये ऐसे अननुरूप वचन क्यों कहते हैं, हम परपुरुष में कैसे अनुराग कर सकती हैं? तो ऐसी बात नहीं है, मेरा तो सौभाग्यातिशय ही ऐसा है कि जो रस-रीति से अनभिज्ञ शुष्कहृदय पशुप्राय जीव हैं उनका भी मुझमें अनुराग हो जाता है, फिर आप तो रसिकशिरोमणिभूता हैं। अतः मेरे प्रति आपका अनुराग होना तो सर्वथा उचित ही है। कामिनियों के हाव-भाव कटाक्ष का रहस्य तो कामुकों को ही ज्ञात हो सकता है। आप लोग रसाभिज्ञों में शिरोमणिभूता हैं; अतः जिस शृंगारमूर्ति मुझ आनन्दकन्द के प्रति

स्वभावत: सब जीवों का आकर्षण होता है उसके प्रति आपका अनुराग होना ठीक ही है।"

अथवा 'अयन्त्रिताशया' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो यह भाव होगा कि ऐ गोपिकाओ! आप वास्तव में पतिव्रताशिरोमणि ही हैं। मेरा रूप यद्यपि ऐसा है कि उसके प्रति सभी का आकर्षण हो जाता है तो भी आपका चित्त मेरी ओर आकर्षित नहीं हुआ—यह आपके मनोवल की ही महिमा है। अथवा भगवान् गोपिकाओं से प्रेम की भिक्षा माँगते हैं। वे कहते हैं कि जिसमें पामर जीव भी प्रेमपाश से बँध जाते हैं उस मेरे प्रति क्या आपका अब भी अनुग्रह नहीं होगा—अब तो मुझे अपना प्रेमदान देना ही चाहिये।

अथवा भगवान् की यह उक्ति अनधिकारिणी गोपाङ्गनाओं की निष्ठा को विचलित करने के लिये और अन्तरङ्गाओं की निष्ठा को सुदृढ़ करने के लिये है; क्योंकि जिन्हें उनके प्रति ऐकान्तिक प्रेम नहीं है, उन्हें तो स्वधर्म में ही परिनिष्ठित रहना चाहिये और जो एकमात्र उन्हीं को अपना परमाराध्य मान चुकी हैं उन्हें अब लौकिक-वैदिक बन्धनों की अपेक्षा नहीं है—'

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

इसी भाव को लेकर भगवान् कहते हैं—'गोपाङ्गनाओ! मेरा ऐसा विचार था कि आप किसी अनुचित प्रेम के वशीभूत होकर तो इस असमय में यहाँ नहीं आईं? परन्तु अब मुझे निश्चित

हो गया कि आपका प्रेम विशुद्ध है। आप पतियों को छोड़कर मुझमें प्रेम नहीं करतीं परन्तु पति में ही विष्णु-बुद्धि करके मुझ सर्वान्तरात्मा की आराधना करती हैं। इसी से भगवान् ने 'अभिस्नेहात्' कहा है; 'कामात्' अथवा 'रमणाभिलाषात्' ऐसा नहीं कहा। 'अभिस्नेह' का अर्थ निरुपाधिक प्रेम है, कामादिक सोपाधिक प्रेम हैं। कामिनी नायिका को नायक में तभी तक प्रेम होता है जब तक कामविकार रहता है। परन्तु आपका प्रेम निरुपाधिक है, वह कभी विचलित होनेवाला नहीं है। उसमें अङ्ग-सङ्गादि किसी काम की गन्ध भी नहीं है। अतः 'भवत्यः' आप पूजनीया हैं। उद्धवादि भक्तजन भी आपका पूजन करना चाहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्।

इसलिये अब आप जाओ, अपने पतिदेवों का ही पूजन करो। उसी से मेरा भी पूजन हो जायगा; क्योंकि मैं सर्वान्तरात्मा हूँ। यह गोपिकाओं के उपलक्षण से संन्यासनिष्ठा के अनधिकारियों को उपदेश है कि तुम अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए ही मुझ सर्वान्तरात्मा की आराधना करो।

इसी उक्ति से वे अधिकारिणी गोपाङ्गनाओं से कह रहे हैं कि "हे गोपियो! तुम्हें सारे बन्धनों को काटकर अब मेरी ही आराधना करनी चाहिये; क्योंकि 'अभिस्नेहात्' अभितः—सब ओर से मुझमें ही स्नेह होने के कारण आप यहाँ आई हैं। इसलिये अब आपके लिये कोई और कर्त्तव्य नहीं है।"

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यापाश्रयः ॥

यदि जीव का प्रेम सब ओर से सिमटकर एक ओर ही लग जाय तो वह अपना लक्ष्य बहुत जल्द प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका प्रेम तो छितराया हुआ है। वह स्त्री-पुत्र, धन-धरती आदि कितनी ही वस्तुओं में बँटा हुआ है। इसी लिये उससे कोई सफलता नहीं होती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उस प्रेम की सारी धाराओं को रोककर केवल भगवान् में ही लगा दिया जाय। परन्तु पहले-पहल ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः आरम्भ में ऐसा करना चाहिये कि अपनी समस्त इन्द्रियों के व्यापारों को भगवत्सम्बन्धी कर दिया जाय। श्रोत्रों को अन्य शब्दों से हटाकर केवल भगवच्चरित्रश्रवण में लगाओ, जिह्वा से केवल भगवन्नाम जपो और भगवत्प्रसाद का रसास्वादन करो, नेत्रों से केवल भगवद्विग्रह के अनुपम सौन्दर्य का अवलोकन करो। इसी प्रकार सारे विषयों को भगवन्मय कर दो। बस, एकमात्र भगवान् ही आपकी प्रीति के विषय बन जायँ। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
नाते नेह जगत के सब रे, बटुर होउ एक ठाईं ॥

गोपियों की स्थिति ऐसी ही भगवन्मयी थी। वे जो कुछ देखती थीं, जो कुछ सूँघती थीं, जो कुछ स्पर्श करती थीं सब

श्याममय था—'जित देखूँ तित श्याममई है।' उनका अन्तः-करणरूप सरोवर श्याम-रंग से रँग गया था। अन्तः-करण जिस-जिस इन्द्रियरूप प्रणाली के द्वारा निकलकर जिस-जिस विषय को व्याप्त करके प्रकाशित करता था वही श्याममय प्रतीत होता था। अतः भगवान् कहते हैं—'अयि मानिनियो! आप लोगों का मेरे प्रति अभिस्नेह है। आपका चारों ओर का प्रेम बटुरकर मुझमें ही लग गया है। अतः आप यन्त्रिताशया हैं, आपका चित्त विवश है। सो यह उपपन्न ही है। आप इसकी अनुपपत्ति की आशङ्का न करें; क्योंकि जब अवान्तर धर्म सर्वात्मा श्रीहरि के स्मरणरूप परमधर्म में बाधक होने लगते हैं तो वे त्याज्य हो ही जाते हैं।

यद्यपि मेरे प्रति प्रेम तो सभी का होता है, तथापि सर्वकर्म-संन्यास में उसी का अधिकार है जो श्रौत और स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्धान्तःकरण होकर या तो निर्विशेष परब्रह्म का श्रवण, मनन और निदिध्यासन-पूर्वक अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुका हो या भगवान् के पदपद्मपराग का सुरसिक मधुकर होकर सांसारिक भोगवासनाओं से ऊपर उठ गया हो। ऐसा महानुभाव बहुत दुर्लभ है; क्योंकि इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर है; अतः आचार्य लोग साधनों पर ही जोर दिया करते हैं। इधर भगवान् भी व्रजाङ्गनाओं की स्वरूपनिष्ठा को पुष्ट करते हुए उन्हें पतिशुश्रूषा का ही आदेश देकर सर्वसाधारण के लिये श्रौत-स्मार्त्त कर्मों की आवश्यकता का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

भगवान् का इस सारे कथन से क्या-क्या तात्पर्य है, सो तो वे ही जानें। हम तो जो कुछ हमें उन्हीं के कृपाकण से प्राप्त हुआ है उसी का निरूपण कर रहे हैं। हम पहले कह चुके हैं कि श्याम-सुन्दर श्रीहरि के वामाङ्ग में रासेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजती हैं। वे उन्हीं की आह्लादिनी शक्ति हैं; स्वरूपतः भगवान् के साथ उनका अभेद है। आरम्भ में जो 'श्रीभगवानुवाच' ऐसा कहा गया है वहाँ 'श्री' शब्द उन्हीं का द्योतक है। यह श्री 'श्रयते हरिं या इति श्री'—जो हरि का आश्रय ले वह श्री नहीं है, बल्कि 'श्रीयते इति श्री'—जिसका आश्रय लिया जाता है वह श्री है। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा की अधिष्ठात्री जो महालक्ष्मी हैं उनके द्वारा भी जिनके चरणकमल सेवित हैं वे श्रीवृषभानुदुलारी ही श्री हैं। उनकी प्रसन्नता के लिये ही भगवान् ने यह लीला की थी। रासलीला एक नायिका से नहीं होती इसी लिये अन्य गोपा-ङ्गनाओं का आवाहन किया गया था। अब यदि उन सबका आदर करते हैं तो सम्भव है श्री राधिकाजी रुष्ट हो जायँ, क्योंकि वे मानिनी हैं न। अतः भगवान् उनका तिरस्कार करते हैं जिसमें वे दयावश स्वयं ही कह दें कि श्यामसुन्दर! अब आप इनका निराकरण क्यों करते हैं, आ गई हैं तो इनकी इच्छा भी पूर्ण कीजिये।

अथवा यह भी सम्भव है कि अन्य गोपियाँ तो आ गई हों और राधिकाजी अभी न आई हों। इसलिये भगवान् उनकी प्रतीक्षा में हों; क्योंकि इस लीला की अधिनायिका तो वे ही हैं।

अतः वे अन्य गोपिकाओं को इसलिये सीधा-सीधा उत्तर नहीं देते जिसमें राधिकाजी के आने पर उनका मान रखने के लिये यह कह सकें कि हमें आपकी प्रतीक्षा थी इसी से अभी कोई निश्चय नहीं हुआ।

इस गोपिकायूथ में कितनी ही व्रजाङ्गनाएँ मानिनी हैं। इसी से भगवान् ऐसे वचन कह रहे हैं जिनके अनुकूल और प्रतिकूल दोनों अर्थ हो सकते हैं। मानिनी नायिका का नायक पर आधिपत्य रहता है; इसलिये उसे ऐसे वाक्य बोलने पड़ते हैं, जिनका अर्थ बदल-कर वह अपने को उनके कोप का भाजन होने से बचा सके।

यह रासलीला कोई उपहास या प्राकृत लीला नहीं है। यह तो शुद्ध परब्रह्म का नित्य लास्य है। रास का स्वरूप क्या है ?—

माधवं माधवं चान्तरे अङ्गना अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः।

एक-एक गोपी के अनन्तर भगवान् हैं और भगवान् की एक-एक मूर्ति के अनन्तर एक-एक व्रजाङ्गना है। सांख्यवादियों का कथन है—'क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः'। वह चितिशक्ति ही भगवान् कृष्ण हैं। यह सम्पूर्ण प्रकृति चिद्रूप श्रीकृष्ण के ही चारों ओर घूम रही है। आज-कल वैज्ञानिकों का भी मत है कि एक ग्रह दूसरे ग्रह के आश्रित होकर गति कर रहा है। इस प्रकार सारा ही ब्रह्माण्ड गतिशील है। यही प्रकृति का नित्य नृत्य है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो हमारे शरीर में भी भग-वान् की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अङ्ग गतिशील है। हाथ, पाँव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। इन

सबका आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतन ही है। यह सारा नृत्य उसी की प्रसन्नता के लिये है; और वही नित्य एकरस रहकर इन सब की गति-विधि का निरीक्षण करता है। जब तक इनके बीच में वह चैतन्यरूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है तब तक तो यह रास रसमय है; किन्तु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ भी भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर व्याकुल हो गई थीं। अत: इस संसाररूप रासक्रीड़ा में भी जिन महाभागों को परमानन्दकन्द श्री व्रजचन्द्र की अनुभूति होती रहती है उनके लिये तो यह आनन्दमय ही है।

अहो! यह संसार तो अब भी प्रभु का वृन्दारण्य ही है। यहाँ वही चन्द्र छिटक रहा है, वही यमुना है और वही मन्द-सुगन्ध सुशीतल समीर बह रहा है। तथापि आज श्रीकृष्णचन्द्र के ओझल हो जाने से इन जीवरूप गोपाङ्गनाओं के लिये यह दु:खमय ही हो रहा है। यदि वे दीखने लगें तो फिर यही परम आनन्दमय हो जाय।

देखो, इस रास रस की प्राप्ति के लिये गोपाङ्गनाओं ने स्वधर्मा-नुष्ठान करते हुए श्री कात्यायिनी देवी की आराधना की थी। अत: हमें भी भगवत्संयोगसुख की प्राप्ति के लिये स्वधर्म-पालन में ही तत्पर रहकर भगवान् की उपासना करनी चाहिये। जब तक जीव परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र से विमुक्त रहता है तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। अत: जीव का परम पुरुषार्थ प्रभु की प्राप्ति ही है। इसके लिये हमें भगवान् के किसी भी स्वरूप की उपासना करनी

चाहिये। भगवान् विष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, रामभद्र, दुर्गा—ये सब भगवद्विग्रह ही हैं। साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण इनमें से किसी के प्रति भी द्वेष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये। अपने इष्टदेव का प्रेम-पूर्वक पूजन करो। इसके लिये उनके स्वरूप और उपासनाविधि का ज्ञान प्राप्त करो तथा यह भी मालूम करो कि उनकी उपासना में क्या-क्या प्रतिबन्ध हैं। प्रतिबन्ध कुपथ्यरूप हैं, उनसे बचने की बहुत आवश्यकता है। यदि कुपथ्य करते हुए चन्द्रोदय जैसी ओषधि का भी सेवन किया जाय तो भी लाभ होना सम्भव नहीं है। इसलिये उपासनामार्ग के प्रतिबन्धों से सर्वदा सतर्क रहो।

'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्'—इस वाक्य के अनुसार सर्वदा स्वधर्म का तो यथाशक्ति पालन करो किन्तु विधर्म का तो सर्वथा त्याग कर दो। यदि साथ-साथ विधर्मरूप कुपथ्य का त्याग और स्वधर्मरूप पथ्य का सेवन न किया जायगा तो यथेष्ट लाभ होना कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी अवस्था में सारी ओषध निष्फल हो जायगी। इस प्रकार यदि कोई पुरुष स्वधर्म-पालन और विधर्म-विसर्जन-पूर्वक भगवान् की उपासना करता है तो उसे ब्रह्मसंस्पर्श अवश्य प्राप्त हो जाता है।

——

६

भगवान् का मङ्गलमय स्वरूप

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की तापहारिणी अपारसौन्दर्यशालिनी कान्ति के चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर भगवान् का रूप-सौन्दर्य अप्राकृत होने से प्राकृत चन्द्र उपमान वहाँ ठीक नहीं घटता। तथापि लोक में सबसे अधिक पूर्णचन्द्र ही प्राणियों के मन के हरण करनेवाला है और प्राकृत जनों की दृष्टि में अन्य कोई अप्राकृत वस्तु नहीं आ सकती। इसलिये चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर एक चन्द्रमा से काम नहीं चलेगा। अनन्त कोटि चन्द्रों की कल्पना कीजिये और ऐसे अपार चन्द्रसागर का मन्थन करके जो सारातिसार तत्त्व निकले उस तत्त्व के पुनः मथकर उससे जो सारातिसार तत्त्व निकले, इस प्रकार शतधा मन्थन करके जो सारातिसार चन्द्रतत्त्व निकले, उस चन्द्र का उपमान भगवान् में है। यह चन्द्र का उपमान भगवान् की उस तापहारिणी शीतल ज्योत्स्ना में है। उनके दुर्निरीक्ष्य तेज का वर्णन गीता में हुआ ही है कि,

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

अस्तु; भगवान् की शान्तिदायिनी शीतल ज्योत्स्ना सारातिसार तत्त्वरूप चन्द्र के समान है। पर चन्द्र में कलङ्क है और चन्द्र

क्षय-वृद्धिशील है। भगवान् की दिव्य ज्योत्स्ना अमृतमय साराातिसार चन्द्र-तत्त्व के समान है, वह निष्कलङ्क है, निर्विकार है, उससे भावुकों को प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्राप्त होता है। वह ऐसा अद्भुत सौन्दर्य है कि उस सौन्दर्य-सुधा का एक कण भी जो पान कर लेता है उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। जिसके नेत्र और मन भगवान् के एक रोम पर भी पड़े हों वे उस एक ही रोम के सौन्दर्य पर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि वहाँ से वे आगे बढ़ ही नहीं सकते। चञ्चला लक्ष्मी भी वहाँ आकर अचला हो जाती है, फिर औरों की बात ही क्या है?

भगवान् के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य में प्राकृत उपमान केवल इतना ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं कि इनके द्वारा भगवत्सौन्दर्य का ध्यान करते-करते मन विशुद्ध हो जाता है और मन में जैसे-जैसे विशुद्धि आती है वैसे-वैसे भगवान् का जैसा वास्तविक रूप है वह अचिन्त्य अप्राकृत मङ्गलमय दिव्य रूप भक्त के सामने प्रकट होने लगता है।

भगवान् में केवल चन्द्रमा का ही उपमान नहीं, कारण भगवान् घनश्याम भी हैं। पर यह प्राकृत श्याम नहीं। उनकी श्यामता में महेन्द्र नीलमणि की उपमा दी जाती है जिसमें दीप्तिमत्ता-विशिष्ट विलक्षण नीलिमा है। उस नीलिमा में ऐसी दीप्ति है कि वह अनन्त कोटि चन्द्रों की सम्मिलित दीप्तिमत्ता को तिरस्कृत करती है। इस दिव्य दीप्ति-सम्पन्न भगवन्मूर्तिरूप नील कमल में ऐसी सुकोमलता है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सुकोमलता

को मूर्ति श्रीलक्ष्मी भी उनके पाँव को स्पर्श करती हुई सकुचाती हैं कि हमारे हाथों की कठोरता इनके सुकोमल पाँवों को कष्टदायक न हो। अनन्तकोटि कमलों की सारातिसार कोमलता इस कोमलता के पास भी नहीं आने पाती। ऐसे शीतल, ऐसे सुन्दर, ऐसे सुकोमल भगवान् इतने गम्भीर हैं कि नवीन नीलधर की गम्भीरता अनन्तकोटिगुणित होकर भी उनका वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट कर सकती।

भगवान् का केवल मुख ही चन्द्रोपम है ऐसा नहीं, सर्वाङ्ग ही चन्द्रोपम है। वर्ण स्वभावतः कृष्ण है, दीप्ति से अकृष्ण है—नीलिमागर्भित दीप्तिमत्ता है। भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह श्याम होते हुए भी अनन्त कोटि चन्द्र की दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला है। महेन्द्रनीलमणि, नूतन नील नीरधर और नील सरोरुह की जो उपमाएँ दी गई हैं उनसे बहुत से विवक्षित अंश सूचित होते हैं। महेन्द्रनीलमणि से दीप्तिमत्ता, चिक्कणता और दृढ़ता तथा नीलिमा सूचित होती है; नूतन नीलधर से नीलिमा, रम्यता, तापापनोदकता और गम्भीरता सूचित होती है; और नील सरोरुह से नीलिमा, सुकोमलता, शीतलता और सौगन्ध्य सूचित होता है। पर ये महेन्द्रनीलमणि आदि सब प्राकृत हैं। इनसे यथार्थ बोध नहीं होता। पर बोध के समीप पहुँचने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। प्राकृत तत्त्वों से ही अप्राकृत की कल्पना कर लेनी है। इन सबसे अनन्तकोटिगुणित ये गुण भगवान् में हैं।

भगवान् को देखकर वृन्दावनवर्त्ती मयूरवृन्द घनश्याम को श्यामघन जानकर नृत्य करते हैं। भगवान् जो वंशी बजाते हैं वह मयूरवृन्दों के लिये मानो मन्द-मन्द मेघगर्जन ही है। पर मेघ दूर होते हैं और यह मेघश्याम बिलकुल समीप है। परिच्छिन्न होते हुए भी इस मेघ की गम्भीरता ऐसी है कि उनके किसी भी अङ्ग पर किसी के नेत्र पड़ जायँ तो वहीं उनकी टकटकी बँध जाय। आगे बढ़कर उनके सब अङ्गों को देखने की भला किसमें सामर्थ्य ? व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं कि भगवान् के एक-एक रोम के सौन्दर्य को देखने के लिये यदि हमारे एक-एक रोम में कोटि-कोटि नेत्र होते तो देख सकतीं और तब कह सकतीं कि यह परिच्छिन्न हैं या अपरिच्छिन्न।

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की गम्भीरता अपार है। किसी में उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं। यह घनश्याम श्याम घन से विलक्षण घनश्याम हैं। श्याम घन में जो विद्युत् होती है, ऐसी अनन्तकोटि विद्युतों की सम्मिलित द्युति को तिरस्कृत करनेवाली इनकी कौशेयाम्बरदीप्ति है। श्याम घन जीवन (जल) दाता है तो मनमोहन घनश्याम भी जीवनदाता हैं। श्याम घन जल बरसता है परन्तु घनश्याम प्रेमामृत आनन्दामृत की वर्षा करते हैं। व्रजाङ्गनाओं को हृत्छयाग्नि से दह्यमान होने के कारण श्यामघन की आवश्यकता थी। वेणुनिनाद से प्रेम-बीज बोया गया, पुलकावलि-रूप से वह अंकुरित हुआ पर वह हृत्छयाग्नि से जलने लगा, अश्रु-धाराएँ बहकर उसे सिंचन करने

लगीं, पर उस उष्ण जलधारा से हृदय को वह शान्ति कहाँ से मिलती ? इसलिये उन्होंने जीवनप्राप्ति के लिये इन नूतन नील जलधर श्यामघन की शरण ली।

भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सौन्दर्यादि गुणों की महिमा कैसे समझी जाय ? दिव्यातिदिव्य प्राकृत पदार्थों को असंख्यगुणोपेत करके अपना काम करते-करते चित्त शुद्ध होकर भगवदीय अनुकम्पा से वास्तविक स्वरूप का हृदय में प्राकट्य होता है।

बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संस्पृष्ट अतसी-पुष्प की श्यामता दूर से दमदमाती हुई बड़ी ही मनोहर लगती है। इस मनोहर श्यामता को शतकोटिगुणित कल्पना करो तो कुछ वैसी श्यामता भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की है। सायंकाल में भी अतसी-पुष्प की दीप्तियुक्त नीलिमा बड़ी मनोहर होती है। यह मनोहारिता शतकोटिगुणित होकर भगवान् की श्याम मनोहारिता की कुछ कल्पना करा सकती है। अथवा भ्रमर की श्यामता लीजिये। भ्रमर दूर से काला दीखता है, पर वह काला नहीं; उसमें बड़ी हो सुन्दर नीलिमा है। ऐसी मनोहर नीलिमा अन्य किसी प्राकृत पदार्थ में नहीं। व्रजाङ्गनाओं ने भगवान् की नीलिमा को मधुप की नीलिमा से ही उपमित किया है और कहा है—हे मधुप, तुम भी मधुपति की तरह बड़े कपटी हो। भ्रमर के पीले पङ्ख भी भगवान् के पीतपट का स्मरण दिलाते हैं और उसका मधु-मय गुञ्जार भगवान् के मधुमय वेणुनिनाद का या उनके मीठे-मीठे

वचनामृतों का स्मरण दिलाता है। भ्रमर जैसे जब तक रस है तभी तक ही पुष्पों से स्नेह रखता है नहीं तो भाग जाता है, वैसे ही भगवान् भी रस के ग्राहक हैं, रस नहीं तो भगवान् से भेंट कहाँ? अस्तु। भगवान् की श्यामता शतकोटिगुणित मधुप की श्यामता से तथा भगवान् की दीप्तिमत्ता चन्द्रसिन्धु के सारातिसार तत्त्व का मन्थन करके प्राप्त चन्द्रतत्त्व की दीप्ति से कथञ्चित् उपमित की जा सकती है। कल्पना से इस प्रकार भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह को पदाम्बुज से मुखाम्बुज तक अथवा मुखाम्बुज से पदाम्बुज तक देख जाइये। मनःकल्पित अनन्ततेजपुञ्ज के भीतर अनुसन्धान कीजिये अथवा बालसूर्य में मन और दृष्टि को स्थिर करके देखिये।

भगवान् का श्रीमुखचन्द्र चन्द्रवत् वर्त्तुलाकार दिव्य विकसित अति विलक्षण अरविन्द है, चन्द्रमा के समान दीप्तिमान् वर्तुलाकार मुखारविन्द समुचित तारतम्य के साथ नतोन्नत भाव सहित है। इसकी मनोहारिता अत्यद्भुत है। चन्द्रवत् वर्तुलाकार विकसित सुकोमल मुखाम्बुज सारातिसार चन्द्रतत्त्व की दीप्ति और शतकोटिगुणोपेत भ्रमरनीलिमा से युक्त अति विलक्षण है। यह सम्मिलित समस्त मुखाम्बुज है। यह मन्दहासोपेत दिव्य मुखाम्बुज ऐसा शोभित होता है मानो दिव्यातिदिव्य चन्द्रतत्त्व नील कमल में छिपना चाहता है—दुरता है और फिर फिर प्रकट होता है। यह हास भगवान् के 'अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः' अनुग्रह नामक हृदयस्थ चन्द्र की चन्द्रिका है। अनुग्रहरूप चन्द्र की ये तापहारिणी किरणें खिन्नातिखिन्न भावुकों को समाश्वासन दिलाती हैं कि

घबराओ मत, अनुग्रहाख्य चन्द्र का यहाँ निवास है। यह समाश्वासन—यह दिव्य आशा ही भावुकों को उनकी थकावट और खिन्नता को दूर करके आगे बढ़ाती है। आशावन्ध ही भक्ति-मार्ग का मूल है। यह आशा—भगवत्सान्निध्य की यह तृष्णा—अद्भुत है, यह कैवल्य से खरीदी जाती है। भगवान् का उदार हास 'शोकाश्रुसारविशोषणमत्युदारम्' शोकाश्रु-सागरों को सोख लेने-वाला है। बहुल हास जब मुखारविन्द में प्रादुर्भूत होता है तब वह "हारहासः" हास हार के समान होता है—कुन्दकुड्मल के समान दशनपंक्ति दिव्यातिदिव्य महेन्द्रनील के सदृश वक्षःस्थल पर हारवत् प्रतिबिम्बित होती है। यह हारहास अरुणिमा-विशिष्ट है—स्वच्छातिस्वच्छ होता हुआ भी किंचित् अरुण है। यह अधर की अरुणिमा दन्तपंक्ति में प्रतिबिम्बित है—जैसे जवाकुसुम के सङ्काश से स्फटिक लोहित हुआ हो। यह अरुणिमा-विशिष्ट कुन्दकुड्मल के समान दशनपंक्तियुक्त हास्य दिव्य हार के समान शोभित होता है।

कपोल और चिबुक अपने दिव्य सौन्दर्य से मानो यही कह रहे हैं कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के सारातिसार सौन्दर्य का परमोद्गम-स्थान यही है—यही है। यही अचिन्त्य सौन्दर्यसुधानिधि है जिसका केवल एक कण अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में विस्तीर्ण है। बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट विकसित कमल का अग्रोर्ध्व-भाग जैसे स्वच्छतामय होता है वैसे कपोल और चिबुक पर इस नील विकसित मुखाम्बुज की दीप्तिमत्ता अन्य अङ्गों की अपेक्षा कुछ विशेष है।

नील कमल के केशर का सान्निध्य छोड़कर जो नीलिमायुक्त अंश हैं वे बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट होकर अधिक दीप्त होते हैं, वैसे ही भगवान् के कपोल और चिबुक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-सम्पन्न हैं। विशाल मस्तक पर शोभायमान दिव्य किरीट की जगमगाती हुई दिव्य कान्ति इन उन्नत अङ्गों पर—उच्च स्थल पाकर—अधिक मात्रा में अवतीर्ण और विस्तीर्ण हो रही है तथा वह सौन्दर्य-सुधा उभय कपोलप्रान्त से भी अधिक चिबुक पर आकर परम विकसित और मनोरम हुई है।

अरुण कमल के समान प्रभु के दिव्य नेत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ध्यान है कि कपोलप्रान्त जैसे जैसे नेत्रों के सन्निहित हैं वैसे वैसे उनमें अधिकाधिक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-युक्त अरुणिमा है और कपोलाभिमुख नीचे की ओर क्रमशः दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है और अरुणिमा की न्यूनता है। खास नेत्र अरुण हैं; यहाँ स्वच्छता और अरुणिमा का योग है। मानो अरुणिमारूप रज से भगवान् अपने भावुकों के अभीष्ट का सृजन और स्वच्छतारूप सत्त्व से पालन करते हैं। नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का ऐसा तारतम्य है कि अनुकम्पा, राग आदि मानस विकृतियां का जहाँ अभिव्यक्ति है वहाँ अरुणिमा अधिक होती है और जहाँ रागादि-रहित प्रसन्नता है वहाँ स्वच्छता अधिक होती है। कोपादि तापक भावों से अरुणिमा की अधिक वृद्धि होती है। कोई अरुणिमा अग्निसदृश है। व्रजाङ्गनाओं के स्वच्छातिस्वच्छ नेत्रों में जो अरुणिमा है वह हृच्छयाग्नि की अरुणिमा है। उसी की शान्ति के लिये वे भगवान् के नीलपादाम्बुज

की नीलरज का अञ्जन लगाती हैं। भगवान् के नेत्रों में कमलकोष की सी अरुणिमा है और उनके विशाल नेत्र कर्णप्रान्तपर्यन्त दीर्घ हैं। इनकी कल्पना भावुक ही कर सकते हैं। भगवान् के नेत्रों की अरुणिमा के साथ कमलकोषगत अरुणिमा का सादृश्य देखकर 'गोपीगीत' में ऐसी कल्पना की गई है कि भगवान् मानो इस अरुणिमारूप दिव्यातिदिव्य श्री को दिव्यकमलों के सम्राट् के अभेद्य दुर्ग को भेदकर अति सुरक्षित अति गुप्त कोष से चुरा लाये हैं—

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ ! तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥

दिव्यातिदिव्य कमल-सम्राट् को यह पूरी खबर थी कि ये चौर-जारशिखामणि एक-एक अङ्ग चोरी करनेवाले हैं। यह कहीं मेरी श्री न हर लें जो सर्वोत्कृष्ट हैं। इस भय से यह पङ्कज सम्राट् जल में जाकर रहे। पर जल में श्रीकृष्ण कहीं जलक्रीड़ा करने आ जायँ, इसलिये उन्होंने जल में भी ग्रीष्मऋतु का परित्याग करके शरन्निवास ही ग्रहण किया और इस शरत्कालीन जलाशय में भी अपने आपको छिपाने के लिये अपने चारों ओर अनन्त कमल उत्पन्न करके उनका पहरा बैठा दिया। इन कमल-सैनिकों की रक्षा के लिये प्रत्येक को शत शत पत्र तथा नाल और नालों में काँटे देकर ऐसा जलदुर्ग निर्माण किया कि कहीं से भी कोई घुस न सके। फिर ऐसे अभेद्य दुर्ग के बीच चारों ओर से सुरक्षित स्थान में आप जा विराजे। फिर भी श्री को श्रीकृष्ण ले तो नहीं जायँगे, यह भय बना ही रहा। इसलिये उस श्री को उस

पङ्कजसम्राट् ने स्वयं चारों ओर से सुरक्षित होकर भी अपने कोश-स्वरूप उदर में छिपा रखा जैसे कोई कृपण अपने धन को छिपा रखता है। पर भगवान् ऐसे चतुर चौर-चक्रवर्ती कि उनके नेत्रारविन्द वहाँ से भी उस कमल-कुलपति की परम दुर्लभ सम्पत्ति को चुरा ही ले आये। यह चोरी भगवान् की इतनी अद्भुत और भावुकों के लिये इतनी मधुर है कि गोपियाँ बड़े प्रेम से इस के गीत गाती फिरती हैं। तभी तो भावुकों ने कहा है—

"मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥"

अस्तु, पद्मगर्भारुणेक्षण भगवान् के इन 'पद्मगर्भारुण' नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का अद्भुत पारस्परिक सम्मेलन है। और नेत्रान्तःपाती जो तारक हैं वे श्याम हैं। इस प्रकार नेत्रारविन्द में त्रिवेणी सङ्गम हुआ है। यही सङ्गम कुछ विलक्षण रूप से नेत्रों की पलकों में भी हुआ है; पलकें अत्यद्भुत दीप्तियुक्त नीलिमा लिये हुई हैं और किंचित् अरुणिमा का भी इनमें योग हुआ है। ऐसे दिव्य विशाल नेत्र कर्णप्रान्त तक विस्तीर्ण हैं।

दोनों नेत्रों के मध्य से नीचे की ओर ऊर्ध्वोन्मुख उन्नत दिव्य नासिका कीर-तुण्ड सी शोभा पा रही है, जिसकी दीप्ति दिव्य गण्डस्थल की सी ही जगमगा रही है। नासिका में एक वर-मौक्तिक भी सुशोभित है। नासिका की दीप्तियुक्त नीलिमा होठों की विलक्षण अरुणिमा से मिलकर अति विलक्षण मनोहारित्व व्यक्त कर रही है। कुन्दकुड्मल की सी दिव्य दशन-पंक्ति की स्वच्छता अरुण अधरों पर और अधरों की अरुणिमा दिव्य दशनपंक्ति पर

प्रतिविम्बित होकर एक बड़े ही दिव्य आदान-प्रदान का भाव दिखा रही हैं। अधरों से बढ़कर शोभा और किसी की नहीं। सकल-सुधानिधि भगवान् की यह दिव्य अधरसुधा है। व्रजाङ्गनाओं का इसी पर सबसे अधिक प्रेम है।

यह पीतिमा दिव्य मकराकृत कुण्डलद्वय से आकर यहाँ झलक रही है। ये कुण्डल अद्भुत दीप्ति-सम्पन्न हैं और यह दीप्ति पीतिमा लिये हुई है। गोस्वामी तुलसीदासजी 'रामगीतावली' में भगवान् के चञ्चल कुण्डलद्वय की दीप्तिमत्ता, शोभा और चञ्चलता का वर्णन करते हैं कि ये दोनों कुण्डल शुक्र और गुरु से चमक रहे हैं। इनकी चञ्चलता यह बतलाती है कि ये भगवान् के मुखचन्द्र-रूप चन्द्रमा को मध्यस्थ करके कोई विलक्षण शास्त्रार्थ कर रहे हैं। ये दिव्य कुण्डल अत्यधिक देदीप्यमान हैं और इनके सुवर्ण-शरीर में दिव्यातिदिव्य नानाविध रत्न जड़े हुए हैं। ये मकराकृति हैं—मानो मकरध्वज (काम) को लड़कर जीतने के लिये ही कुण्डलों ने यह आकार धारण किया है।

भगवान् का मधुरमन्दहासोपेत कटाक्षयुक्त दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द नेत्रवालों का परम सौख्यमय विश्राम-स्थान है। नन्दनन्दन श्रीवृन्दावनचन्द्र का यह मुखारविन्द भगवान् के वदनारविन्द का सौन्दर्य सौन्दर्याधिकरण यहाँ एक दूसरे से भिन्न नहीं। यह परम सौन्दर्य माधुर्यमय परम रस ही है। भगवान् का वक्षःस्थल साक्षात् श्री का निवास है, मुखारविन्द नेत्रवालों के नेत्रों का रससुधापानपात्र है, भुजाएँ लोकपालों के

बल का आश्रयस्थान और पदाम्बुज सारतत्त्व के गानेवालों का परम राग है।

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारंगानां पदाम्बुजम्॥

भ्रुकुटी बङ्क है, नेत्रों में भी कुछ वङ्कपन है, वे तो मानो काम के धनुष ही हैं। दोनों भौंहों में नीलिमा की कुछ विशेष चमचमाहट है। कन्दर्प का दर्प दमन करने के लिये ही मानो यह धनुष सम्हाला है। कन्दर्प तो व्रजाङ्गनाओं का ही सौन्दर्य देखकर सम्मोहित हो धनुष-बाण छोड़ अचेत गिरा था, अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के मुखारविन्द तक उसकी पहुँच कहाँ? भगवान् अधोक्षज के जो भावुक हैं उन्हीं के समीप कन्दर्प का कोई चारा नहीं चलता। वहाँ चराचर के चलानेवाले चितचोर के सामने उसकी क्या चले—वहाँ तक तो वह पहुँच भी नहीं सकता। रास्ते में भावुकों से ही पछाड़ खाकर मूर्च्छित हो जाता है।

भगवान् के सुविस्तीर्ण ललाट में कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित चन्दन-तिलक की दो रेखाएँ ऐसी शोभा पा रही हैं जैसे विद्युत् की दो लकीरें अपनी चञ्चलता को त्यागकर ललाटमेघ में विराम कर रही हों।

भगवान् के दिव्य किरीट में नील, रक्त, शुभ्र, हरित् आदि विविध वर्णों के नानाविध दिव्यातिदिव्य मणि जड़े हुए हैं, जिनकी सुसम्मिलित वर्णों की दिव्य अतिरञ्जित आभा, उस किरीट पर अर्द्ध-

चन्द्रवत् विस्तीर्ण दिव्य मौक्तिकमालाओं की अद्भुत दीप्ति और दिव्य ललाट की सुषमामयी नीलिमा ये सब दिव्यातिदिव्य आभाएँ मिलकर एक अति विलक्षण शोभा को प्रस्फुटित कर रही हैं। भगवान् के मस्तक और कपोलों पर स्निग्ध कुञ्चित नील अलकावली विलसित हो रही है। ये कृष्णकेश मानों दिव्यातिदिव्य चन्द्र के अमृत के लोभ से काले नाग के बच्चे हैं। यदि यह मुखचन्द्र मुखारविन्द है तो ये नीलकेश नील भ्रमर हैं, जो यहाँ दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य्यमय मकरन्दपान की आशा लगाये मँडरा रहे हैं। ये दिव्य अलकें नित्यमुक्त सनकादि मुनिगण हैं जो भगवान् के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य का यहाँ नित्य समास्वादन कर रहे हैं। किरीट के मुक्तामाल भी ऐसे ही मुक्त परमहंसों की परम पावन पंक्तियाँ हैं।

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सारे ही तत्त्व दिव्य हैं, कोई भी प्राकृत नहीं। कुण्डल जैसे सांख्य और योग हैं, वनमाल जैसे मायातत्त्व है, पीतपट छन्द है, किरीट पारमेष्ठ्यपद है, मुक्ताफल मुक्त हैं। मुक्त पुरुष ही अलकें बनकर भगवान् की इस लीला में भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के दिव्य अङ्ग बने हैं। ये अलकें जो मुख पर आ-आके लौटती और फिर आती हैं, ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे भ्रमर इस दिव्य मुखारविन्द के सौरभ से खिंचे चले आते हैं, पर पास आकर उसके दिव्यातिदिव्य तेज को न सहकर लौट जाते हैं, पर मुखारविन्द का ऐसा विलक्षण आकर्षण है कि फिर फिरकर फिर खिंचे ही चले आते हैं। ये काले भ्रमर

जब मकरन्दपान के लोभ से अरुण अधरों के समीप आते हैं, तब उनकी श्यामता पीछे ही छूट जाती है और अधरों की अरुणिमा का रङ्ग इन पर चढ़ जाता है। ये लाल से हो जाते हैं और ये ही जब गण्डस्थल के समीप आते हैं तब नील हो जाते हैं। मन्दस्मित चन्द्रिका से इनमें स्वच्छता भी आ जाती है।

ऐसी यह विलक्षण मुखछवि है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में कहें तो 'कहि न जात मुख बानी'। अधरों की अरुणिमा, दिव्य नासिका और गण्डस्थल की दिव्यातिदिव्य दीप्तिविशिष्ट नीलिमा और नानाविध भूषणों और कुण्डलों की पीतारुण जगमग ज्योति से ये कुन्तल अति विलक्षण सुरञ्जित दीप्ति का प्रकाश करते हैं। ऐसे इन दिव्य नील अलकों पर वृन्दारण्यधाम की गो-चारण-लीला में उठी हुई गोधूलि आकर ऐसे जमी हुई है जैसे नीलकमल का यह पराग हो। ऐसे इस परागच्छुरित अलिकुलमालासङ्कुलित मुखारविन्द पर खेदबिन्दु प्रसन्न तुषार-विन्दुओं के समान या दिव्यातिदिव्य मोतियों के समान सुशोभित हो रहे हैं।

ऐसे दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द के भालदेश में विद्युत् की लकीरों सा जो दिव्य तिलक है वह नीचे की दोनों भौहों की कमानों से छूटनेवाले जैसे दिव्य बाण हों। महालक्ष्मी जिस पद्म में निवास करती हैं उस मीनद्वययुक्त अलिकुल-समाश्रित दिव्य पद्म को तिरस्कृत करनेवाला यह दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द है।

भगवान् के कर्ण अति देदीप्यमान नीलवर्ण के हैं जिनमें नीचे दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं। भगवान् के स्कन्ध सिंह के

समान विशाल हैं। सुन्दर दिव्य कण्ठ कम्बुरेखा से युक्त है और उसमें आत्मज्योति-स्वरूप कौस्तुभमणि ऐसी शोभा पा रहा है जैसे सारी शोभाओं का यहीं से उद्गम होता हो। कण्ठ में फिर दिव्य मौक्तिकमाल और नीलपीत रत्नहार पड़ा हुआ है। नाना-विध रत्नजटित मुक्ताहार तथा वन्य पुष्पमालाएँ हैं। कोई कण्ठ में कण्ठकूप तक हैं, कोई वक्षःस्थल तक हैं, कोई उदर और कटि प्रान्त तक हैं और कोई पादाम्बुज तक हैं। बड़ी ही विलक्षण शोभा का यह बड़ा ही सुन्दर कौशलपूर्ण क्रम है। ये मौक्तिकमाल कण्ठ से पादाम्बुज तक इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह पर ऐसे सोह रहे हैं जैसे महेन्द्रनीलमणिपर्वत पर गङ्गा की दिव्य निर्मल धारा हो। अथवा ये मुक्तामाल ऐसे सुशोभित हैं जैसे नील आकाश में हंसों की पंक्तियाँ उड़ी जाती हों। नील आकाश में उडुगणों के समान भगवान् के वक्षःस्थल पर यह रत्न अत्यन्त शोभित होते हैं; मध्य-मध्य में महामणियाँ अनेक चन्द्रमा तथा सूर्य के समान दीप्यमान होती हैं।

दिव्य दीप्त नीलवर्ण पर ये नानाविध मौक्तिक, स्तवक, रत्न और वन्य पुष्प आदि के द्वारा विविध प्रकार के वर्ण परस्पर से सुरंजित हो रहे हैं। इन सबकी सम्मिलित शोभा अति विलक्षण है। इस दिव्यातिदिव्य शोभा और सौन्दर्य पर, इसके अति सुरम्य सौरभ और मधुरतम मकरन्द पर मँडराते हुए गुञ्जारव करनेवाले भ्रमर भगवान् के गुणगान करनेवाले नित्यमुक्त भक्त हैं।

इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सर्वाङ्ग में कुङ्कुममिश्रित हरिचन्दन का ऐसा सुन्दर शुभ्र विलेपन है जैसे महेन्द्र-नीलमणिपर्वत पर चन्द्रमा की चन्द्रिका फैली हो और उस चन्द्रिका में उज्ज्वल नीलिमा जगमगा रही हो। ऐसी इस उज्ज्वल नीलिमायुक्त चान्द्रमसी ज्योत्स्ना से सुशोभित स्वरूप से दिव्यातिदिव्य अष्टविध सौगन्ध्य का प्रादुर्भाव हो रहा है। भगवान् के देवदुर्लभ दिव्यातिदिव्य वदनारविन्द का दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य परम भावुकों को ही अनुभूत होता है। इस (१) भगवदीय दिव्यवदनारविन्द के परम दुर्लभ सौगन्ध्य के साथ, (२) सर्वाङ्ग में हरिचन्दन का जो विलेपन है उसका सौगन्ध्य है, (३) उस हरिचन्दन में जो कुङ्कुम मिली हुई है उसका भी एक अति मनोहर सौगन्ध्य है, (४) पुष्पमालाओं के मध्य में जो तुलसिका है उसका शीतल मधुर दिव्य सौगन्ध्य कुछ और ही है, फिर (५) अनेकविध सौगन्ध्योपेत वन्यपुष्पस्तवकों का सौगन्ध्य अपनी सत्ता अलग बता रहा है, (६) हरिचन्दन का सौगन्ध्य और कुंकुम-कस्तूरी का सौगन्ध्य दोनों मिलकर एक तीसरा ही अद्भुत सौगन्ध्य अनुभूत करा रहे हैं, (७) कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दन और वन्य पुष्प दोनों के सौगन्ध्य मिलकर भी एक विलक्षण सौगन्ध्य उत्पन्न कर रहे हैं, और (८) भगवदीय वदनारविन्द का सौगन्ध्य तथा इन सब पुष्पादि सामग्रियों का सौगन्ध्य, ये सब मिलकर एक अति विलक्षण अति दिव्य अति मनोहर सौगन्ध्य समुत्पन्न कर रहे हैं। ये भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के दिव्यातिदिव्य

अष्टसौगन्ध्य हैं और ऐसे ही दिव्यातिदिव्य अष्टसौगन्ध्य भगवान् के वामपार्श्व में विराजनेवाली श्री वृषभानुनन्दिनीजी के भी मङ्गलमय विग्रह से प्रादुर्भूत हो रहे हैं।

दोनों के द्विविध अष्टसौगन्ध्य मिलकर एक अलौकिक सौगन्ध्य-माधुर्य-सुधा का वर्षण कर रहे हैं। दयितास्तनमण्डलवर्त्ति कुङ्कुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपन के दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य की कल्पना और अनुभव परम भावुक के सिवा कौन कर सकता है? फिर इन पर भगवान् के दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्योपेत श्री-चरणों का संयोग—और उससे उत्पन्न होनेवाला दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य! परम मनोहर, अत्यन्त सुकोमल चरण! उन श्रीचरणों को परम भक्त व्रजाङ्गनाएँ अपने वक्षःस्थल पर लेती हुई सकुचाती हैं और कहती हैं कि ये कठोर अङ्ग श्री भगवान् के सुकोमल चरणों में गड़ेंगे! इस दिव्यातिदिव्य भाव की कल्पना भी कोई पूर्ण काम-जित परम भावुक ही ठीक तरह से कर सकता है और तब दयिता-स्तनमण्डलवर्त्ति कुङ्कुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपन के सौगन्ध्य के साथ श्री भगवान् के श्रीचरण-सौगन्ध्य के दिव्यातिदिव्य संयोग-सौगन्ध्य के समास्वादन का अधिकारी हो सकता है। जिन्होंने व्रज में विहार करते हुए कहीं तृण में लगा हुआ कोई दिव्यातिदिव्य कुङ्कुम देखा और उसके परम दिव्य सौगन्ध्य से निश्चय किया कि यह दयितास्तनमण्डलवर्त्ति परम पावन हरि-चन्दन-विलेपन के दिव्य सौगन्ध्य से युक्त श्री भगवान् के सुकोमल श्रीचरणों के सौगन्ध्य हैं—यह कुङ्कुम श्री वृषभानुनन्दिनीजी की

हृदयश्री और श्री भगवान् के सुकोमल अरुण चरणपङ्कजश्री के संयोग का परम सौभाग्य-स्वरूप है, उस कुङ्कुम से उन्होंने अपना सर्वाङ्ग विलेपन किया। कैसा अलौकिक प्रेम और भगवद्भावतादात्म्य है! भगवान् के इस अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को तथा श्री वृषभानुनन्दिनी के अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को और दोनों के संयोगजन्य दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को परम भावुक उपासक ही जानते हैं। उपास्य के ये दिव्य सौगन्ध्य उपासकों को भी प्राप्त होते हैं।

भगवान् की कामकलभशुण्ड के समान सुडौल, गोल, सुन्दर चढ़ाव उतार वाली दिव्य उज्ज्वलनील भुजाओं पर भी अन्य अङ्गों के समान ही कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित शरच्चन्द्रमरीचिवत् दिव्य हरिचन्दन का लेप है। उस पर उज्ज्वल सुवर्ण-कङ्कणों और बाजूबन्दों की उज्ज्वल पीतिमा भी कुछ-कुछ प्रतिबिम्बित हो रही है। हाथ के पञ्जों के साथ ये हाथ ऐसे मालूम हो रहे हैं जैसे दिव्य लोक के पञ्चशीर्ष नाग हों। ये पाँचों उँगलियाँ उन्हीं के पञ्चशीर्ष जैसे हैं और इन उँगलियों में जो नख हैं वे पञ्चशीष नागों के शीर्षस्थ मणियों के समान ही चमक रहे हैं।

करतल की सुकोमल अरुणिमा अरुण कमल की सी ही विकसित हो रही है और करपृष्ठ सर्वाङ्ग के समान ही उज्ज्वल नील हैं और उन पर कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन की चाँदनी छिटक रही है। उँगलियों की सन्धि में अरुणिमा और नीलिमा का तारतम्य है। पृष्ठभाग से संलग्न सन्धि का सूक्ष्म भाग

अधिकतर उज्ज्वल नील और तल से संलग्न सन्धिभाग अरुणिमा-विशिष्ट है। भगवान् अपने इन अरुण करतलों में अपना शङ्ख लेकर जब बजाते हैं तब यह धवलोदर शङ्ख अरुणायमान होकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन दो अब्जखण्डों के बीच कोई कल-हंस कलनाद कर रहा हो।

श्री भगवान् के दिव्य श्रीमुखाम्बुज में कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन के नानाभावपूर्ण नानाविध चित्र ललाट, कपोल, चिबुक और करों पर भावुक लोग चित्रित किया करते हैं। उज्ज्वल नील मुखाम्बुज, उसपर मकरन्द-पान के लोभी मधुपों की नीलिमा, मकराकृत कुण्डलों की चञ्चल दीप्तिमत्ता और किरीट की दिव्यातिदिव्य शोभा, और इन्हीं विविध आभाओं के भीतर कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन के परम मनोरम चित्र मिलकर ऐसी शोभा उत्पन्न करते हैं जिसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। उसका समास्वादन तो भावुकों को ही होता है। दिव्य सौन्दर्यसम्पन्न मुखाम्बुज तो मुखाम्बुज ही है, भगवान् के दिव्य करों की छटा को भी कोई लेशमात्र ही देख ले तो उसके दुःखगर्भ सारे सांसारिक सुख ही छूँट जायँ।

इस प्रसङ्ग में श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में एक वेश्यासक्त राजकुमार की कथा प्रसिद्ध है। यह राजकुमार इतना वेश्यासक्त था कि उस वेश्या का एक क्षण के लिये भी विरह नहीं सह सकता था। वेश्या सामने न हो तो वह खा-पी नहीं सकता था और न कोई काम कर सकता था। उसकी वेश्यासक्ति

छुड़ाकर उसे भगवद्भक्ति प्राप्त करा देनी चाहिये, ऐसी अनु-कम्पा सम्प्रदाय के आचार्यश्री के हृदय में हुई। उन्होंने राजकुमार को अपने यहाँ लिवा लाने का प्रवन्ध किया। विना वेश्या के राजकुमार भगवान् के मन्दिर में भी नहीं जा सकता था। इसलिये आचार्यश्री ने उसे वेश्या के साथ ही आने की अनुमति दी। वेश्या के साथ, वेश्या का ही मुँह निहारते हुए, राजकुमार पधारे और श्रीभगवान् के मन्दिर में भी ऐसे बैठ गये कि उनके सामने तो वेश्या थी और वेश्या के पीछे श्री भगवान् की दिव्य मङ्गलमय मूर्ति। मूर्ति को राजकुमार नहीं देख सकते थे। आचार्यश्री ने वेश्या को राजकुमार के सामने ही रहने दिया पर ऐसा उपाय किया कि वेश्या के पीछे से भगवान् का करारविन्द इनकी दृष्टि में आ जाय। यहाँ भक्तपरवश भगवान् ने आचार्यश्री की इच्छा के अनु-सार अपने करारविन्द में वह सौन्दर्य प्रकट कर दिया कि वह वेश्या-सक्त क्षणमात्र में भगवदासक्त हो गया। वेश्या को देखते-देखते ही वेश्या के पीछे चमकते हुए करारविन्द पर इनकी जो दृष्टि पड़ी तो सदा के लिये वहाँ गड़ ही गई। करारविन्द के उस सौन्दर्य को देखते ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का मदन-सौन्दर्य अधोभूत हो गया। अधोक्षज भगवान् के करारविन्द की दिव्य छटा ने राज-कुमार को सदा के लिये अपने वश में कर लिया।

भगवान् का दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमाधुर्य ऐसा ही है कि एक क्षण के लिये भी उस सौन्दर्य-माधुर्य का लेशमात्र भी किसी पर प्रकट हो जाय तो फिर वहाँ से वह लौट ही नहीं सकता। इस

सौन्दर्य-माधुर्य की स्फूर्ति भगवान् की अनुकम्पा से विशुद्धातिविशुद्ध अन्तःकरण में ही होती है। भगवान् की अनुकम्पा जीव को दो प्रकार से प्राप्त होती है, एक तो अपने साधन से जैसे ध्रुव को प्राप्त हुई और दूसरे भगवान् की अपनी दयामयी इच्छा से जैसे राजा परीक्षित को गर्भ में ही प्राप्त हुई। श्री भगवान् के कण्ठ में अनेक-विध दिव्य वन्य पुष्पों के स्तवकादि से युक्त दिव्य सौगन्ध्यमय मालाएँ हैं। उनपर फिर कोटि-कोटि विद्युतों की चञ्चल दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला सुवर्णोज्ज्वल चञ्चल पीतपट ऐसा उल्लसित हो रहा है, जैसे महेन्द्रनीलमणि पर्वत पर दिव्य विद्युत्पुञ्ज चमचमा रहा हो और उसमें से दिव्य मङ्गलमय विग्रह की नीलिमा-दीप्ति भेदकर बाहर निकल रही हो।

उज्ज्वल-नीलिमा-सम्पन्न वक्षःस्थल पर सुवर्णोज्ज्वल मङ्गलमय वामावर्त और दक्षिणावर्त रोमराजि दीख रही है। यहीं तो चपला चञ्चला श्री महालक्ष्मी का निवास है। भगवान् के भक्तों ने जो मालाएँ पहनाई हैं वे लक्ष्मीजी को गड़ती हैं, पर भक्तों पर आदर दिखाने के लिये भगवान् उन मालाओं को पहने ही रहते हैं और सपत्नीजन्य दुःख लक्ष्मीजी के पीछे लगा ही रहता है। गले से लेकर पादाम्बुज तक लटकनेवाले पुष्पहारों के मध्य में जो तुल-सिका है उसका तो भगवान् इतना आदर करते हैं कि लक्ष्मीजी से वह देखा नहीं जाता। पादाम्बुज में अवश्य ही लक्ष्मीजी तुलसी के साथ रहने में सुखी हैं, परन्तु वक्षःस्थल पर नहीं; उस पर तो लक्ष्मीजी अकेली ही रहना चाहती हैं। वक्षःस्थल के मध्य में

भगवान् भृगु-चरण धारण किये हैं और लक्ष्मीजी से मानो यह कह रहे हैं कि महालक्ष्मी ! यहाँ जो तेरी स्थिति है वह ब्राह्मण के चरण से ही है। ब्राह्मण के चरण से यह हृदय 'हतांहस' होने के कारण ही चञ्चला लक्ष्मी यहाँ अचला है। भगवान् के वक्षःस्थल पर रहनेवाले ब्राह्मणचरण और महालक्ष्मी दोनों ही एक स्वर से मानो यह कह रहे हैं कि जहाँ ब्राह्मणों के चरणों की रज पड़ेगी वहीं चञ्चला लक्ष्मी स्थिर हो जायगी। लक्ष्मी वहाँ नहीं ठहरती जहाँ ज्ञान, विद्या, तप आदि नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान, विद्या, तप, भूति आदि लक्ष्मी के ही रूप हैं। अर्थात् श्री भगवान् मानो यह सूचित करते हैं कि जहाँ ब्राह्मण-चरण निवास करेंगे वहीं श्रीनिवास होंगे और वहीं सकल प्रकार की श्री का निवास होगा।

भगवान् के दिव्यातिदिव्य कमल से सुकोमल वक्षःस्थल में ब्राह्मण के चरण कठोर नहीं प्रतीत हुए। उलटे भगवान् को यह क्लेश हुआ कि इस वक्षःस्थल की कठोरता से भृगु महाराज के सुकोमल चरणों में कुछ चोट तो नहीं आई। कारण, लक्ष्मी का जहाँ निवास होता है वहाँ हृदय में कठोरता आ ही जाती है। ब्राह्मण इस कठोरता पर पैर देकर भगवान् की स्तुति करते हैं, यही ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व है। यह कठोरता-रूप अंहस भृगु-चरणों से धुला है और जहाँ कहीं यह अंहस है वहाँ वह ब्राह्मण-चरणों से ही धुल सकता है और महालक्ष्मी का जो दिव्यातिदिव्य सुकोमल भाव है वह प्रकट हो सकता है।

इस दिव्य मङ्गलमय विग्रहरूप में अचिन्त्यानन्त ब्रह्मानन्द-सुधासिन्धु स्वरूप परमतत्त्व भगवान् ही श्यामीभूत होकर प्रकट हुए हैं। इनके गले में वक्षःस्थल पर गुञ्जाहार पड़ा हुआ है। ये गुञ्जाएँ कोई प्राकृत गुञ्जाएँ नहीं हैं, ये सब परम तपस्वी महामुनि हैं जिन्होंने इस पुण्यारण्य वृन्दावन धाम में भगवदीय लीला में योग देने के लिये गुञ्जारूप धारण किया है। यहाँ मयूरपिच्छादि को भी भगवान् ने अपना दिव्यातिदिव्य धाम दिया है। इस वृन्दावन लीलाधाम की विलक्षण महिमा है, जिसे देखकर ब्रह्मा भी यहाँ 'गुल्मलतौषधी' बनकर निवास करने की इच्छा करते हैं।

वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त उभय रोमराजियों के मध्य में ये भृगु-चरण हैं। इनपर वक्षःस्थल में जो दिव्य मालाएँ पड़ी हैं, उनसे भग-वदीय अष्टगन्धसौगन्ध्य से अतिमत्त हुए भ्रमरों की मधुर झङ्कार निकल रही है। नाभिप्रदेश में अति सुन्दर मनोहर तीन रेखाएँ (त्रिवलि) हैं और मध्य में यह दिव्य मनोहर सरोवर श्यामसलिला कालिन्दी का अति विलक्षण आकर्षणवाला भँवर सा सोह रहा है। इसी से तो सारे ब्रह्माण्ड का प्रादुर्भाव हुआ है।

भगवान् की भुजाएँ, भावुकों की कल्पना के अनुसार, दो भी हैं और चार भी। इनका गठन कैसा सुन्दर और कैसा गोल! और घुमाव, चढ़ाव तथा उतार भी अत्यन्त मनोहर! सर्वाङ्ग के समान इन पर भी कुङ्कुम कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन का शुभ्र लेप है। भुजाओं की दीप्तिविशिष्ट नीलिमा हरिचन्दन की शुभ्रता और करारविन्द के अन्तर्भागों की अरुणिमा तीनों मिलकर नखमणि-

ज्योति के घाट पर कैसा दिव्य मनोहर गङ्गा-यमुना-सरस्वती का सङ्गम साध रहे हैं। इन दिव्य मनोहर भुजाओं में शङ्ख चक्र गदा पद्म सुशोभित हैं। शङ्ख जलतत्त्व है, कौमोदिकी गदा ओजतत्त्व है, सुदर्शन चक्र तेजस्तत्त्व अथवा यदि खड्ग देखें तो नभस्तत्त्व है।

भगवान् के दिव्य कटितट में कांची (मेखला) है जिसकी कई लड़ें हैं। कटितट से गुल्फ-पर्यन्त पीताम्बर परिधान किये हैं जो अति सूक्ष्म और दिव्य है। उसमें से भगवान् की नीलकान्ति-दीप्ति स्पष्ट ही उद्भासित हो रही है। पीतपट से समाच्छन्न भगवदीयदीप्तिमत्ता और नीलिमा से युक्त वह नानाविध रत्नों से जटित मुक्तामध्य मेखला नितम्ब-विम्ब पर आकर अत्यधिक सुशोभित हो रही है। कांची की बड़ी मधुर झनझनाहट है। भगवान् यहाँ ज्ञानमुद्रावाले परम शान्त गम्भीर पुरुष नहीं हैं। यहाँ तो चञ्चल चपल त्रिभङ्गी छविवाले वंशीधर श्रीकृष्ण हैं, जिनकी चञ्चलता व्रजाङ्गनाओं के अञ्चल पकड़ने में भी नहीं चूकती। वाह री वह कामजित् दिव्य चञ्चलता, जिसको सम्बोधन कर चञ्चलता को प्राप्त व्रजाङ्गना परमरसरसिकों के विनोदार्थ ही मानो यह कहती है कि—

मुञ्चाञ्चलं चञ्चल पश्य लोकं बालोऽसि नालोकयसे कलङ्कम् !
भावं न जानासि विलासिनीनां गोपाल ! गोपालनपण्डितोऽसि ॥

भगवान् ने किसी व्रजाङ्गना का मानो अञ्चल पकड़ा। उस पर व्रजाङ्गना ठिठककर कहती है कि "अरे चञ्चल ! मेरा अञ्चल क्यों पकड़ा है ? छोड़, छोड़; लोग देखेंगे तो तुझे या मुझे क्या कहेंगे ? लोकलाज का तुझे कुछ ध्यान नहीं, तू कैसा गँवार

है ?" इस पर भगवान् ने उस व्रजवनिता का अञ्चल छोड़ दिया और दूसरी ओर देखने लगे। तब व्रजाङ्गना कहती है, "आखिर तू है वही गौएँ चरानेवाला चरवाहा ! तू विलासिनियों का भाव क्या समझे ? 'गोपाल ! गोपालनपण्डितोऽसि'—गोपाल ! तू गो-पालन का ही पण्डित है।" अथवा 'गोपाल ! गोपाल ! न पण्डितोसि !' अरे गोपाल ! इधर तो देख ! तू तो कुछ समझता ही नहीं।

इस दिव्य चाञ्चल्य की लीला से मुग्ध होकर जो इस गो-पालन-पण्डित गोपालबाल के निष्कलङ्क दिव्य क्रीडन में अनन्य होकर सम्मिलित हुए वे ही संसार में धन्य हुए ! अन्यों के लिये तो यहाँ झाँकना भी निषेध है।

भगवान् के ऊरु कदलीस्तम्भ से कहे जाते हैं। कदलीस्तम्भों में जो स्थूलता-सूक्ष्मता का तारतम्य तथा जो चिक्कणता होती है वही यहाँ विवक्षित है। यहाँ भी वही दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है जो पीताम्बर की मनोहर पीतिमा को भेदकर बाहर निकल रही है।

श्री भगवान् के अतसिका-कुसुम के से उज्ज्वल नील ऊरुद्वय श्री गरुड़जी के स्कन्धों पर अति शोभायमान हो रहे हैं। यह गरुड़जी साक्षात् ऋक्, साम, यजुः स्वरूप शब्दब्रह्म हैं, जिन पर शब्दातीत अशेष विशेषातीत सच्चिदानन्दघन अक्षर परब्रह्म परमात्मा अधिष्ठित हैं—"त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्।"

भगवान् के वाम स्कन्ध के ऊपर से दक्षिण स्कन्ध के नीचे कटितट तक वर्तुलाकार त्रिवृत सुवर्णोज्ज्वल पीत यज्ञोपवीत सुशो-

भित है। यह ब्रह्मसूत्र एकाक्षर प्रणव है, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का मूलसूत्र है।

भगवान् जो केवल सविशेष नहीं, केवल निर्विशेष भी नहीं, प्रत्युत सविशेष निर्विशेष दोनों मिले हुए पूर्ण परब्रह्म हैं, वही इस मङ्गलमय विग्रह रूप में प्रकट हुए हैं। गरुड़, शेष तथा शङ्ख-चक्रादि अङ्ग जो इस लीलाविग्रह में प्रकट हैं, वे भी उनके पूर्ण परब्रह्म स्वरूप में अभिन्नरूप से अन्तर्गत हैं। साङ्गोपाङ्ग परम भगवत्तत्त्व ही इस लीलामय विग्रह में प्रादुर्भूत है। इस लीलामय विग्रह की स्थिति अव्याकृत में है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि यहाँ भी उनका निवास अक्षर ब्रह्म में है। परब्रह्म के अक्षर रूप तीन हैं—(१) माया, (२) मायाविशिष्ट चैतन्य और (३) परात्पर पूर्ण ब्रह्म। अव्याकृत मायाविशिष्ट चैतन्य ही शेष भगवान् हैं, उन्हीं में श्री भगवान् का निवास है "अव्याकृतमनंताख्य-मासनं यदधिष्ठितः"। तमोरजोलेश से असंस्पृष्ट, महावाक्यजन्य ब्रह्माकारा वृत्ति रूप में परिणत विशुद्ध सत्त्व ही कमल है "धर्म-ज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।" ओजः तत्त्व गदा है, अप्तत्त्व शङ्ख है, तेजस्तत्त्व सुदर्शन है और नभोनिभ कृपाण नभस्तत्त्व है।

भगवान् के जानुद्वय श्री महालक्ष्मी के अति सुकोमल अरुण कर-कमलों से लालित हैं। गुल्फों में अनेकविध आभूषण और रत्नजटित नूपुर हैं, जिनकी झङ्कार से त्रिभुवन आह्लादित होता है। आत्माज्योतिविग्रह कौस्तुभमणिसुशोभित उज्ज्वल नील कण्ठ देश से गुल्फप्रदेश पर्यन्त नील पदारविन्द-पारदर्शी उज्ज्वल पीतपट उभय

पार्श्व में विद्युल्लताओं सा चमक-दमक रहा है और उसका नाना-विध रत्नों से जटित किनारा अपनी रङ्ग-बिरङ्गी छटा उसमें मिला-कर एक अति विलक्षण शोभा उत्पन्न कर रहा है। उसे भावुक देख-देखकर अपने नयनों की आस पूरी किया चाहते हैं। पर भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह की यह सारी शोभा अनन्त और नित्य नवीन होने से सदा ही उस सौन्दर्य-सुधारस-पान की प्यास अधिकाधिक बढ़ानेवाली है।

श्री भगवान् के चरणारविन्द में कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन के नानाविध अति सुन्दर मनोहर चित्र अङ्कित हैं। पादांगुलियों पर जो नख हैं वे मानो दिव्यातिदिव्य मोती हैं या इन्हें दिव्यातिदिव्य नखमणि कह सकते हैं। इनकी चन्द्रमा सी ज्योत्स्ना के किंचित् दर्शन मात्र से सारे ताप शान्त हो जाते हैं। त्रिविध तापों को तत्क्षण हरनेवाली इस नखमणिचन्द्रिका का शोभा वर्णन करते हैं श्रीमधुसूदनजी —

पदनखनिविष्टमूर्त्तिकः एकादशतामिवावहन्निष्ठाम्।
यं समुपासते गिरिशः वन्दे तं नन्दमन्दिरे कञ्चित्॥

भगवान् शङ्कर मानो आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र का अर्चन कर रहे हैं और भगवान् के चरणों में नतमस्तक होकर नखमणि-चन्द्रिका निहारते हुए उन दिव्य निर्मल नखमणियों में अपनी ही मूर्त्ति समाई हुई देख रहे हैं। कवि कल्पना करते हैं कि जिनके पदनखों में गिरिश की मूर्त्ति समाई हुई है, मानो दश नखमणियों में दश रुद्र और एकादश स्वयं निहारनेवाले, इस प्रकार एकादश

रुद्र हो रहे हैं, ऐसे गिरिश जिनकी उपासना करते हैं, उन नन्द-मन्दिर में विराजनेवाले परमाद्भुतचमत्कारकारी अनिर्वाच्य 'कश्चित्' को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ भगवान् श्री शङ्कर को पदनखनिविष्टमूर्त्तिक रूप में देखकर कोई यह न समझे कि भगवान् शङ्कर भगवान् श्रीकृष्ण से कुछ निम्न या भिन्न हैं। दोनों अभिन्नहृत् और एक-दूसरे के आत्मा हैं। श्री शङ्कर कौन हैं और शङ्करतत्त्व क्या है, यही प्रश्न श्रीकृष्ण के सामने युधिष्ठिर ने श्री भीष्मजी से किया था। उस समय भीष्मजी ने यही उत्तर दिया कि शङ्कर तत्त्व अति गूढ़ है, मैं उसके कहने में असमर्थ हूँ, श्रीकृष्ण ही उस तत्त्व को प्रतिपादन कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ने शिवतत्त्व बताया पर यही कहकर कि यह तत्त्व अत्यन्त दुरवगाह्य है और मैं जो कुछ कहूँगा, श्री शङ्कर की कृपा से ही कह सकूँगा। भगवान् रामचन्द्र का जब अवतार हुआ तब यह कथा प्रसिद्ध है कि श्री शङ्करजी श्री रामचन्द्रजी के यहाँ पौराणिक वेश में गये थे और रामचन्द्र को पुराण सुनाते थे। एक बार रामभद्र के कहने पर जब पौराणिक श्री शङ्कर शिव-तत्त्व का प्रतिपादन करने लगे तब पौराणिक श्री शङ्कर की मूर्त्ति रामभद्र रूप में और रामभद्र की मूर्ति श्री शङ्कर रूप में सबको दिखाई दी। श्री विष्णु और श्री शिव यथार्थ में परस्परात्मा हैं, यही बात समझनी चाहिये। इनके जो वर्ण हैं वे भी इसी बात को सूचित करते हैं। श्री शङ्कर तमोगुण के अधिष्ठाता हैं पर उनका वर्ण काला नहीं शुभ्र है और सत्त्व के अधिष्ठाता श्री विष्णु

का वर्ण शुभ्र नहीं श्याम है। यह क्या बात है? यह ध्यान का प्रकर्ष है। श्री शङ्कर श्री विष्णु का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण शुभ्र है और श्री विष्णु श्री शङ्कर का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण श्याम है। यह एक दूसरे के अभिन्नहृत् प्रेम ध्यान का ही प्रकर्ष है।

श्री शङ्कर भगवान् की शुभ्र दिव्य मूर्ति पदनखमणियों में जो झलक रही है वह इन पद-नखों की दिव्यातिदिव्य स्वच्छता का द्योतन है। इन नखों के पार्श्व और अग्रभाग में जो अरुणिमा है उससे यह स्वच्छता किञ्चित् अरुण हो रही है। ऊपर चरणों के पृष्ठभाग की नीलिमा, पृष्ठ और नखों की सन्धि की अरुणिमा और पद-नखों की स्वच्छता इन तीनों का यह त्रिवेणी-सङ्गम परम भावुकों के ही अवगाहन करने का दुर्लभ स्थल है। यहाँ की यह शोभा और इसके साथ वनमाल और तुलसिका तथा कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित हरिचन्दनादि से युक्त दिव्य अष्टसौगन्ध्य परम भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।

परम भावुकों के परमाराध्य ये ही पादारविन्द हैं। मुनीन्द्रों के मन-मधुप इन्हीं चरणाम्बुजों का आश्रयण करते हैं। ये ही परमहंसास्वादित चरण हैं। इन्हीं चरणारविन्दगत तुलसी-सौगन्ध्य के वायु से संस्पृष्ट होकर सनकादि मुनीन्द्रों के हृदय में प्रविष्ट होने से, उनके भी तन मन प्राण क्षुब्ध हुए और भगवान् के चरणों की ओर उनको राग हुआ। इसी दिव्य क्षोभ से सात्त्विक अष्ट भाव प्रादुर्भूत होते हैं। भगवान् के अन्य अङ्गों ने

मुनीन्द्रों को इतना नहीं मोहा जितना कि इन चरणाम्बुजों ने। इन चरणों की दिव्य सौगन्ध्यमय शोभा पर वे मानों बिक गये और उन्होंने यही प्रार्थना की कि हमारा यह मन मत्त भृङ्ग के समान आपके चरणारविन्द में लालायित रहकर सदा यह दिव्य मकरन्द पान करता रहे।

भगवान् के चरणतल दिव्य कमल पर न्यस्त सुशोभित हैं। विशुद्ध सत्त्व ही यह कमल है। विशुद्ध अन्तःकरण पर ही तो भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। सुकोमल कमल की अति कोमल पँखुड़ियों को अनन्तकोटि गुणित सुकोमलता भी महालक्ष्मी के चरणाम्बुजों की सुकोमलता की बराबरी नहीं कर सकती। महालक्ष्मी के कर कमलों की सुकोमलता उससे भी सूक्ष्म है और उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म भगवान् के चरणों की सुकोमलता है, जिसकी किसी प्राकृत उपमान से कल्पना नहीं हो सकती। हाँ, इन उपमानों से कल्पना करने में सहायता मिलेगी, यथार्थ बोध तो भगवत्कृपा से ही सम्भव है।

श्रीभगवान् के चरणचिह्न अलौकिक श्रीशोभा और सौन्दर्य-स्वरूप हैं। जिस किसी ने इन चरणचिह्नों का सौन्दर्य देखा, उसी की दृष्टि सदा के लिये उनमें स्थिर हो गई। भगवान् के भक्त इन्हीं चरणचिह्नों को देख-देखकर अपने कामादि दुर्भावों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं। ये चिह्न किसी आचार्य के मत से २५, किसी के मत से १६ और किसी के मत से १९ हैं।

श्रीभगवान् के दक्षिण पादाङ्गुष्ठ में एक दिव्य चक्र है। इस चक्र के ध्यान से चिद्ग्रन्थि का छेदन होता है। अङ्गुष्ठ के पर्व में जव का ध्यान है, जो सुख-सम्पदा का देनेवाला है। अङ्गुष्ठ और तर्जनी के वीच में से चरण के मध्य तक एक ऊर्ध्व रेखा है। अङ्गुष्ठ के चक्र के अधोभाग में तीन चिह्न हैं—पर्व में जव, मूल में चक्र और नीचे की ओर तापनिवारक छत्र है। मध्यमाङ्गुली के मूल में कमल है। यह अति शोभन है। यहाँ ध्याता का मन-मधुप मुग्ध हो जाता है। इस कमल के नीचे ध्वज है जिसके अनुसन्धान से सब अनर्थों का नाश होता है। कनिष्ठिका के मूल में वज्र है जिसके ध्यान से भक्तों के पाप-पर्वत नष्ट हो जाते हैं। एँड़ी के मध्य में अङ्कुश है जो भक्तचित्त के मत्तगयन्द को वश करनेवाला है।

श्रीभगवान् के दक्षिण पाद का परिमाण लम्बाई में १४ अङ्गुल है और चौड़ाई में छः अङ्गुल है। पद के मध्य भाग में ४ अङ्गुलस्थान में कलश-चतुष्टय हैं और उनके अगल-बगल ४ जम्बूफल हैं। अधोभाग में द्वितीया का चन्द्र अङ्कित है जो भक्तों के शुभ का सूचक है। उससे भक्त के आह्लाद की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। चन्द्रमा के नीचे गोपदी है जो भवसागर को गोपद के समान कर देता है। अर्थात् भगवत्समाश्रयण करने वाले भवसागर को गोपद के समान बिना प्रयास ही पार कर जाते हैं।

श्रीभगवान् के वामपादाङ्गुष्ठ के मूल में दिव्य शङ्ख है। उसका ध्यान करने से पार्थिव जड़त्व दूर होता है और सब मल धुल जाते

हैं तथा ऋक्, साम, यजुरादि शुद्धातिशुद्ध मानसीवृत्तिरूपा समस्त विद्याएँ ऐसे स्वच्छ अन्तःकरण में प्रस्फुरित होती हैं जैसे कि ध्रुव के कपोल में शङ्खस्पर्श के होते ही उसे समस्त विद्याएँ एक क्षण में प्राप्त हो गईं। वामचरण की मध्यमाङ्गुली के मध्य में अम्बर का अनुसन्धान है। अम्बर (आकाश) जैसे असङ्ग है वैसे ही इसके ध्यान से ध्याता का चित्त भी विषय-राग से विमुक्त और असङ्ग होकर व्यापक परब्रह्माकाराकारित हो जाता है। वाम-पादारविन्द में चार स्वस्तिक हैं, ये सकल शुभ के सूचक हैं। स्वस्तिकों के बीच में अष्ट कोण हैं। किसी के मत से ये अष्ट-महासिद्धियों के देनेवाले हैं और किसी के मत से यह अष्ट लोक-पाल हैं जो यहाँ भक्तों की प्रतीक्षा किया करते हैं। वामपाद की कनिष्ठिका में सूर्य-तत्त्व अङ्कित है जिसके अनुसन्धान से अनेक प्रकार के ध्वान्त तिरोहित होते हैं। वामपादारविन्द में ज्यारहित इन्द्र-धनुष का अनुसन्धान है। धनुष के पीछे चार कलश हैं। इनके बीच में त्रिकोण है जो त्रिलोकैश्वर्याधिकार सूचित करता है। त्रिलोकैश्वर्य की प्राप्ति के लिये इस त्रिकोण का अनुसन्धान है। पर भगवद्भक्ति जिनमें पूर्ण होती है वे भगवान् को छोड़ त्रैलोक्य के पीछे नहीं भटका करते। परम भक्त तो वही है जिसकी भक्ति-गङ्गा की धारा अनवरत श्रीकृष्णचन्द्र रूप आनन्दसुधा-सिन्धु की ओर ही प्रधावित होती है। भगवदीय कथासुधा का पान करते-करते कुछ काल में भगवत्कथा से अनुराग होता है और यह अनुराग बढ़ते-बढ़ते प्रभु-चरणों में अनन्य हो जाता

है। ऐसी अनन्य भक्ति जिसे प्राप्त हुई वह लवनिमेषार्ध के लिये भी त्रैलोक्यैश्वर्य के लिये भी प्रभु चरणों से पृथक् नहीं होता। त्रिकोण से दूसरा अभिप्राय त्रैगुण्य-विषय भी ले सकते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अथवा यह कहिये कि ऋक्-साम-यजुः इन तीनों वेदों से प्रतिपाद्य जो तत्त्व, उसकी प्राप्ति का यह सूचक है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। मनोवाक्काय तीनों से भगवान् ही वन्द्य हैं और तीनों अवस्थाओं में भी वही एक आराध्य हैं। ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ इस विषय में भावुक कर सकते हैं।

श्रीभगवान् के चरणचिह्न श्रीविष्णु पुराण में १५ ही मिले। जीव-गोस्वामी आदि आचार्यों ने १९ निश्चित किये हैं। श्रीचरणों के अङ्गुलादि परिमाण भी हैं। इन परिमाणों को देखें तो १६ ही चिह्न रहते हैं।

श्रीभगवान् के रूप और वर्ण आदि की भावना के अनुसार ही कल्पना करनी चाहिये। सगुणरूप में भगवान् स्वतन्त्र नहीं होते—भक्त-भावना के अधीन होते हैं; क्योंकि भक्त की भावना-सिद्धि के लिये ही उनका प्रादुर्भाव होता है। स्वयं ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि—

यद् यद् धियात उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

भगवान् भक्तों के पराधीन हैं। स्वेच्छामय हैं अर्थात् स्वकीयों की इच्छा के अधीन हैं। 'तं यथायथोपासते तथैव भवति' ऐसी

श्रुति है और गीता का भी यह वचन प्रसिद्ध है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के निदान भगवान् और भगवान् के निदान भक्त। इसलिये सर्वजगन्नियामक भक्त ही हुए। ये यदि श्रीभगवान् के पदचिह्नों को जरा इधर उधर कर दें तो ऐसा करने में वे स्वतन्त्र हैं। वे जो भी कल्पना करेंगे वह सत्य है। वह कल्पना सत्य होती है इसी से तो भक्तों की कल्पना के अनुसार भगवान् नित्य नये रूप में प्रकट होते हैं। मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि वह नित नई बात चाहता है। इसलिये भावुकों को नित्य नूतन कल्पना करनी आवश्यक ही है। भगवान् के रूप ही नहीं, भगवान् के चरित्र भी भावुकों को नित्य नवीन प्रतीत होते हैं।

तस्यांघ्रियुगं नवं नवम्।

श्रीभगवत्तत्त्व तो अनन्त है। जैसे जैसे जिसका मन विशुद्ध होता जाता है वैसे वैसे उसे नव-नव रूप-चमत्कृति देखने को मिलती है। भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह में नित्य नवीन कल्पना करने में सच्चे भावुक स्वतन्त्र हैं। उन्हें भगवान् के भूषणवसनादि में नित्य नई नई कल्पना करनी ही चाहिये। सगुण उपासकों के लिये यह आवश्यक है। जैसे, भगवान् के पीतपट को कहीं विद्युत् का उपमान दिया गया है तो कहीं कदम्ब-किञ्जल्क की सी आभा बताई गई है और कहीं रविकिरण की उपमा दी गई है। इसी प्रकार नखमणि कहीं मुक्तापंक्ति हैं तो कहीं नीलिमा, अरुणिमा और स्वच्छता के दिव्य सम्मेलन का ध्यान

है और कहीं उसमें अँगूठियों की दीप्तिमत्ता भी मिली हुई है और नखमणि-मण्डल की ज्योत्स्ना ऊर्ध्व में उच्छ्वसित हो रही है।

भगवान् के शृङ्गार के सम्बन्ध में इसी प्रकार आठों याम की अष्टविध कल्पनाएँ हैं। भगवान् का रूपसौन्दर्य-माधुर्य प्रतिक्षण नवीन होता रहता है, इसलिये कम से कम ८ पहर में ८ बार तो नवीन कल्पना करनी ही चाहिये। इसी प्रकार मुक्ता-माल, गुञ्जा, किरीट, मयूरपिच्छ आदि के विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ भक्तों ने की हैं। भगवान् का मयूरपिच्छविनिर्मित मुकुट वक्र होता है, अर्थात् कहीं दक्षिण और कहीं वाम ओर झुका रहता है। यह दक्षिण-वाम ओर का बाँकपन श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजी का परस्पर स्वात्मार्पण सूचित करता है। दोनों के आभूषण भी परस्पर स्वात्मार्पण का भाव लिये हुए रहते हैं। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीवृषभानुनन्दिनी के परस्पर स्वात्मार्पण और मिलन के अनेक भाव हैं। श्रीवृषभानुनन्दिनी के बिना श्रीकृष्ण-चन्द्र का ध्यान पूर्ण नहीं, क्योंकि श्रीराधिकाजी का सौन्दर्य-माधुर्य ही श्रीकृष्णचन्द्र का दृग्विषय है। उसका वर्णन सनकादि मुनीन्द्र भी नहीं कर सके। वह वर्णनातीत है। श्रीराधिकाजी का गौर तेज श्रीकृष्णचन्द्र की श्याम कान्ति में और श्रीकृष्ण की श्यामकान्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी की गौर कान्ति में भावुकों के देखने की वस्तु है।

अस्तु, इस प्रकार युगल मूर्त्ति का नानाविध भावों से अनु-सन्धान करते-करते मल सर्वथा धुल जाने पर विशुद्ध अन्तःकरण में भगवत्स्वरूप का प्राकट्य होता है।

७

श्रीरामभद्र का ध्यान

भावुक जन हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनी सहित साङ्ग श्रीरामचन्द्र का ध्यान करते हैं। अद्भुत अनन्त दिव्य दीप्तियों से शोभित नवाम्बुदश्यामल अङ्ग मानो सनेह साने सुषमा-शृङ्गारसार-सर्वस्व से ही निर्मित हुए हैं। श्रीअङ्ग में एक-एक रोम के अपार सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य पर अनन्तकोटि कन्दर्प और अपरिगणित निर्मल अमृतमय निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र लज्जित होते हैं। श्रीरामचन्द्र सन्तों के हृदय-कमल को प्रफुल्लित करनेवाले अलौकिक दिव्य सूर्य हैं। किंवा श्रीजनकनन्दिनी के हृदयस्थ पूर्णानुराग-रससार-सागर से समुद्भूत अद्भुत अलौकिक निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र हैं। श्यामल तमाल सरीखी अङ्ग की दिव्य दीप्ति है। किंवा श्यामामृत-महोदधि-सारसमुद्भूत श्यामल महोमय चन्द्र के समान श्री अङ्ग की कान्ति है। अथवा शृङ्गार-रससार-सरोवर-समुद्भूत श्यामलता-गर्भित सुवर्णवर्ण पङ्कज के समान स्वरूप है। जैसे मयूर की नील-पीत-मिश्रित विलक्षण छवि होती है, वैसे ही उससे भी शतकोटि गुणित आकर्षक चमकीली श्यामलता और अद्भुत आकर्षण-गुण-सम्पन्नता प्रभु के श्रीअङ्ग में निहित है। किंवा जैसे वैदूर्यमणि की नील पीत हरित नाना-वर्ण-मिश्रित दीप्तिमयी

छवि होती है वैसे ही प्रभु की मङ्गलमयी मूर्ति में अलक्ष्य और अवितर्क्य एवं अद्भुत श्यामल हरित पीत दीप्तियों का सामञ्जस्य है।

यह गौर तेज श्रीआह्लादिनी शक्तिरूपा प्रभु की प्राणेश्वरी का है और श्यामल तेज प्रभु का ही है। हरित तेज मानों दोनों तेजों के सम्मिश्रण से आविर्भूत हुआ है एवं महेन्द्रनीलमणि के जीवनधन नीलमणीन्द्र से भी शतकोटिगुणित अधिक अद्-भुत श्यामल महोमयी प्रभु की श्रीमूर्ति में कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन के विलिम्पन हैं।

श्यामल अङ्ग पर सूक्ष्म पीतिमा ऐसी शोभित होती है, जैसे दिव्य नीलमणीन्द्र पर शरदृतु के चन्द्रमा की शीतल सुकोमल अमृतमयी चन्द्रिका छिटकी हो। सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा से भरपूर प्रेमानन्दरस बरसनेवाले लोकोत्तर अभिनव नील नीरद से भी शतकोटिगुणित प्रभु के मङ्गलमय श्रीअङ्ग में सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य सुधा है, जिससे पारावारविहीन अलौकिक प्रेमानन्दामृत की वर्षा होती है। जब नीर प्रदान करनेवाले नव जलधर में दीप्तिमत्ता, विशिष्ट श्यामलता, गम्भीरता तथा तापापनोदकता है, तब फिर प्रभु के श्रीअङ्ग में अद्भुत आकर्षकता, अद्भुत श्यामलता, गम्भीरता एवं तापापनोदकता का कहना ही क्या है।

भावुकों ने भगवान् को शृङ्गार-रससार-सागर आनन्द-रससार-सागर किंवा पूर्णानुराग-रससार-सागर से समुद्भूत निर्मल निष्क-लङ्क लोकोत्तर चन्द्रमा कहा है।

भावुकों ने मधुरता के लिये अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्द-विन्दु के उद्गम-स्थान अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द-सुधासार-सरोवर-समुद्भूत पङ्कज का उपमान युक्त कहा है क्योंकि जैसे क्षीर-सागर का पङ्क क्षीरसार नवनीत ही होता है वैसे ही पूर्णानुराग-रस-सार-सरोवर में पङ्क उसका सार ही होगा और पङ्कज उसका भी सार होगा। माधुर्य्याधिष्ठात्री प्रभु की हृदयेश्वरी के सम्बन्ध में महानुभावों ने कहा है कि यदि छविसुधापयोनिधि हो, उसमें निमग्न परमरूप-मय कच्छप हो, एवं उसी परम रूप के आश्रित शृङ्गारमय मन्दर हो, शोभामयी रज्जु हो, और इन सामग्रियों से युक्त साक्षात् लोक-विलक्षण मन्मथ अपने करकमलों से मन्थन करें तो फिर उसमें से जो सुन्दरतासुखमूलमयी लक्ष्मी निकले वही कथञ्चित् प्रभु की हृदयेश्वरी का उपमान हो सकती है। अथवा सुषमा-कामधेनु से शृङ्गार-रससार दुग्ध को दुहकर कामदेव ने अपने दिव्य कर-कमलों से अमृतमय दही जमाया हो और उसे मन्थन करने पर जो नवनीत निकले उसी से श्री जनकनन्दिनी और श्री रामचन्द्रजी को रचा गया है।

भाल पर सहस्रों सूर्यों की दिव्य दीप्तियों का तिरस्कार करनेवाला सुन्दर मुकुट शोभित हो रहा है। उसमें नाना प्रकार के नील, पीत, हरित परम प्रकाशमय मणि और मुक्तायें लगी हैं। मोतियों की मनोहर लड़ियाँ सुन्दर रूप में लटक रही हैं। ऊपर की स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुकुट की दिव्य दीप्ति से वैदूर्य्य के समान नाना छवि से परिप्लुत हो रही हैं। कपोल प्रान्त के

स्निग्ध श्यामल कुटिल कुन्तल अति दिव्य कुण्डलों की दीप्ति से देदीप्यमान हो रहे हैं। महानुभावों का कहना है कि प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के समीप दोनों कुण्डल तथा दिव्य किरीट के नील और लाल रत्नों के साथ वे श्यामल स्निग्ध केश-समूह ऐसे शोभित होते हैं, जैसे अन्धकार-सार-समूह शुक्र, बृहस्पति एवं भौम और शनि को आगे लेकर चन्द्रमा से वैर मिटाकर मिलने चला हो। यहाँ दोनों कुण्डल शुक्र बृहस्पति के समान, नील तथा रक्त रत्न शनि एवं मङ्गल के समान और केश अन्धकार-सार के समान हैं। मुखचन्द्र की दिव्य द्युति से कुण्डल और मुकुट जगमगा रहे हैं। मुकुट तथा कुण्डलों की आभा मुखचन्द्र पर शोभित हो रही है। भुजमूल तक लम्बायमान मयूर के आकार-वाले कलकुण्डल अद्भुत शोभा बढ़ा रहे हैं। कुण्डलों की आभा कुटिल कुन्तलों पर बड़ी सुहावनी लगती है, मानों दो कामदेव हर के डर से प्रभु के कानों में लगकर मेरु की बात कर रहे हैं।

अत्यन्त स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुखचन्द्र पर ऐसी शोभित होती हैं जैसे नागों के छोटे-छोटे चमकीले श्यामल शिशु चन्द्रमा पर अमृत पाने के लोभ से विराज रहे हों। चञ्च-लता के समय मानो नागशिशु चन्द्रमा से लड़ते हैं और स्थिरता के समय मानो सौन्दर्य-माधुर्य अमृत का पान करके लोट-पोट हो रहे हैं। अथवा अमृतमय मुखचन्द्र और नयनकमल एवं अलकावली का सामञ्जस्य ऐसा सुन्दर लगता है, मानो पूर्णचन्द्र के समक्ष कमलदल देखकर कौतुक से विपुल अलिवृन्द आ गये

हों। किंवा नीलमणीन्द्रमय मुखचन्द्र में कमलदल सरीखे आयत नयनों को देखकर मानो आश्चर्य से अलकावली के छद्म से भ्रमरवृन्द आये हों। अथवा मानो भगवान् का मुख एक अद्भुत पद्म है, जो पूर्वोक्त प्रकार से शृङ्गार, पूर्णानुराग, या आनन्दसार सरोवर से उत्पन्न है। अथवा चन्द्रसार-सरोवर से उत्पन्न अद्भुत दीप्तिसम्पन्न लोकोत्तर नील कमल है जिसके सौन्दर्य-माधुर्यमय मादक मधुपान करने के लिये अलिकुल-माला अलकावली के व्याज से घेरे है। मानो मादक मधुर मधु का पान कर मत्त हुए भ्रमर गुञ्जार और चाञ्चल्य छोड़कर विभोर हो रहे हैं। किंवा यह अलकावली के छद्म से "अलं अत्यर्थं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते अलकाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मविद् ही प्रभु के मुखपद्म के मादक माधुर्य-मधु का पान कर लोट-पोट रहे हैं।

मनोहर भाल पर सूर्य की दो दिव्य किरणों के समान किंवा विद्युत् की दो रेखाओं के समान कुङ्कुम-तिलक ऐसा शोभित होता है, मानो कामदेव ने भ्रुकुटिरूप मरकत धनुष को तानकर दो तेजोमय कनकशर तमःस्तोक के लिये संधान किये हों। काम-धनुष को भी लजानेवाली दिव्य श्यामल स्निग्ध भ्रुकुटी बड़ी ही सुन्दर है। किञ्चित् अरुणिमा को लिये हुए नील कमलदल के सरीखे सुन्दर नयन कर्ण पर्यन्त शोभा दे रहे हैं। किञ्चित् अरुण और सित नयनों के कोये बड़े मनोहर हैं। उनकी अरुणिमा मानो भक्तों के मनोरथों को रचनेवाली रजोगुणात्मिका और स्वच्छता भक्तों के अभिलषित पदार्थों की रक्षा करनेवाली सत्त्वात्मिका माया है।

शुकतुण्ड को लजानेवाली बड़ी ही सुन्दर नासिका है। मानो नासिका पर हो मनोहर मुकुट और अलक एवं भाल पर तिलक की शोभा आकर रुका है। अति ललित गण्डमण्डल और विशाल भाल पर सुन्दर तिलक की झलक निराली ही है। मञ्जु मुख-मयङ्क पर सुन्दर भौंहें सुन्दर अङ्क के समान भासित होती हैं। वङ्क भौंहें और भाल में विराजमान मनोहर कुङ्कुमरेख अद्भुत शोभा सरसा रही है।

नासिका में सुन्दर मौक्तिक की शोभा अद्भुत ही है। अति मनोहर पद्मकोष के समान मुख बन्धूकपुष्प, बिम्बाफल के समान अत्यन्त सुन्दर दीप्तिमत्ता-विशिष्ट अरुण अधर और ओष्ठ शोभित होते हैं। दाडिमबीज एवं कुन्दकली के समान सुन्दर दन्तावली अत्यन्त मनोहर लगती है। स्वभाव से स्निग्ध और स्वच्छ दशनावली अधर तथा ओष्ठ की दिव्य अरुणिमा से अरुण हो रही है। जैसे अधर-ओष्ठ की अरुण दीप्ति से दशनावली में स्निग्ध अरुणिमा की आभा है, वैसे ही दशनावली की भी दिव्य स्निग्ध दीप्ति अधरों पर प्रकट हो रही है। अथवा जैसे अरुण पङ्कज-कोष में मोतियों की अति सुन्दर देदीप्यमान पंक्ति शोभित हो, वैसे ही भगवान् के मुख पङ्कज में दशनावली की शोभा है। दोनों कपोल चिवुक और भाल पर्यन्त समस्त मुख तो 'नीलमणीन्द्रमय चन्द्रमा, किंवा अद्भुत-दीप्ति-सम्पन्न श्यामल महोमय शृङ्गार-रससार-सरोवर-समुद्भूत नील पङ्कज के समान है। परन्तु मुख्य मुख तो पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोज ही है,

क्योंकि उसमें अरुण दीप्ति का प्राधान्य है और अनुराग भी अरुण ही है।

अतः तत्सार-सरोज में अति अरुणिमा का सामञ्जस्य हो सकता है। पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत अरुण मुख-पङ्कज में ही वह अधर-सुधा है जो अन्तरङ्ग भावुक जनों के तथा प्रभु प्राणेश्वरी के निरतिशय निरुपाधिक राग का आस्पद है। अधर-ओष्ठ में तो यों ही अद्भुत सरसता, स्निग्धता एवं दीप्तिमत्ता-विशिष्ट अरुणिमा है, दूसरे वह भावुकों के राग से महानुराग-रस-रञ्जित हो उठती है। अधर की सूक्ष्म रेखाओं से ताम्बूल का कुछ चटकीला रस और ही शोभा दरसा रहा है।

बाल सूर्य की कोमल रश्मियों से अतसी-पुष्प में जैसी स्वच्छतायुक्त अद्भुत श्यामता है, उससे भी शतकोटिगुणित स्वच्छतायुक्त मधुरता श्री भगवान् के अङ्ग की है। उसमें विकसित नील-कमल-कोष के समान कपोल बड़े ही सुडौल और गोल हैं। उन पर दिव्य मुक्तामणि रत्नों से जटित सुवर्ण मणिमय कुण्डलों की अद्भुत झलक विराजमान है। कुण्डलों और मुकुट की झलक से नाना प्रकार की दीप्तियों से युक्त स्निग्ध श्यामल कुन्तलों की भी आभा पड़ रही है। शोभा तथा छवि की सीमा चिबुक की चमकीली श्यामलता विलक्षण ही है। भावुकों ने तो कपोल और चिबुक पर कस्तूरिका और कुङ्कुम से मकरीपत्र और कल्पवृक्ष के मनोहर चित्र भी बनाये हैं, जो कि मन को बरबस खींच लेते

हैं। अधर की मनोहर अरुणिमा से स्वच्छ मोती भी विद्रुम के समान प्रतीत होने लगता है। नयनों से निरीक्षण-काल में नयन-पुतरियों की दीप्ति से मोती गुञ्जा के समान प्रतीत होने लगता है। जब यह कुतूहल देखकर वे हँस देते हैं तब ब्रह्मस्मित चन्द्रिका के सम्पर्क से मोता हो जाता है। यह स्मित चन्द्रिका या उदार हास मानो हृदयस्थ अनुग्रह चन्द्र की ही अमृतमयी दिव्य दीप्ति है। इस उदार हास दिव्य कल चन्द्रिका से तो मानो नभोमण्डल धौत हो जाता है। सौगन्ध्य-लोभ से आये हुए भ्रमरवृन्द भी अपनी नीलिमा खोकर स्वच्छ रूप धारण कर बैठते हैं। उदार हास वक्षःस्थल पर हार के समान शोभायमान होता है। मनोहर मुखपङ्कज में स्मित चन्द्रिका और उदार हास ऐसे शोभित होते हैं, मानो किसी अद्भुत नील कुवलय में विलक्षण चन्द्रमा कभी छिपता है, और कभी प्रकट होता है।

विशेष स्वाद की बात यह है कि अरुण अधर में मधुर बोलते समय दशनावली दामिनी के समान दमकती है। सुन्दर हास और मनोहर चितवन तो मन को लुभा लेती है। अरुण अधर के मध्य में स्निग्ध दशन-पंक्ति और मनोहर हास ऐसा मनोहर लगता है, मानो विद्रुम के विमान पर सुर-मण्डली बैठकर फूल बरसा रही हो। अथवा अरुणतर अधरों में मनोहर हासयुक्त दशन-पंक्ति ऐसी शोभित होती है, जैसे सुवर्ण के कमल में तड़ितों के साथ कुलिशों ने निवास किया हो।

कमलदल सरीखे दोनों नयनों में पुतलियाँ मधुकर के समान प्रतीत होती हैं। नासिका शुकतुण्ड के समान मानो लड़ती हुई धनुष की अवलियों में बचाव करने के लिये प्रकट हुई है। सुषमा के अयन नयन और कुञ्चित केश कलकुण्डल और नासिका ऐसी सुहावनी लगती है, मानो चन्द्र बिम्ब के मध्य में कमल तथा मीन और खञ्जन को देखकर भ्रमर-मकर अपनी अपनी गँव ताककर आये हों। शङ्ख के सदृश कण्ठ बड़े ही शोभित हो रहे हैं। निर्मल पीताम्बर ऐसे शोभित होते हैं मानो नवनील नीरद पर दामिनी दमकती है। अथवा सुचन्दन-चर्चित श्यामल श्रीअङ्ग पर पीत दुकूल ऐसी छबि देता है, जैसे नील जलद पर चन्द्रिका की चमक देखकर दामिनी दमकी हो। अतः दामिनी को विनिन्दित करनेवाला सुन्दर पीताम्बर सुषमा-सदन मदन को भी मोहनेवाला है। दामिनी से भी शतकोटिगुणित अत्यन्त देदीप्यमान पीतिमा-सार-सर्वस्व सुन्दर पीताम्बर प्रभु के श्रीअङ्ग पर बड़ा ही सुहावना लगता है।

श्री वक्षःस्थल पर मनोहर सुन्दर श्यामल तरुण तुलसीदल-माल सहित मुक्तावली ऐसी शोभित होती है, जैसे महेन्द्रमणि-शिखर पर हंस की पंक्तियों से युक्त श्रीरविनन्दिनी विराजमान हों। रुचिर उपवीत तथा अनेक प्रकार के मुक्ताओं की मालायें ऐसी माल्रुम पड़ती हैं जैसे इन्द्रधनुष नक्षत्रों के साथ तिमिर-राशि पर विराज-मान हो। उसे देखकर अश्विनीकुमार, मदन, सोम सभी लज्जित होते हैं। भूषण तो ऐसे ज्ञात हो रहे हैं मानो तरुण शृङ्गारतरु

सुन्दर फलों से भरपूर हों। अथवा कन्दर्प ही भूषण के छद्म से शोभासार सुधाजलनिधि श्री प्रभु के अङ्ग से शोभा लेने आये हों। पर वे लोभी लोभवश वहीं रह गये; जा न सके। प्रभु के श्रीअङ्ग पर रोम-रोम पर अनन्तकोटि सोम और काम न्योछावर किये जा सकते हैं।

श्री भगवान् की मनोहर भुजाएँ चमकीली और मनोहर श्यामता से युक्त हैं। उनमें कुङ्कुम-मिश्रित हरिचन्दन का विलि-म्पन है और नाना प्रकार के अङ्गद, कङ्कण, मुद्रिकाओं से भूषित हैं। कुछ भावुकों का कथन है कि श्री भगवान् की भुजाएँ श्री जी के स्नेह रूप वरवेलि-वेष्टित वटतरु हैं। उसमें प्रेमबन्ध ही वटवारि है। मञ्जुल मङ्गल मूल ही उसका मूल है। अँगुलियाँ मनोहर शाखाएँ, रोमावली ही पत्रावली, नख ही सुमन और सुजनों के अभीष्ट ही सुफल हैं। उसकी अविचल, अमल, अनामय, सान्द्र ललित छद्मरहित, शुभ छाया समस्त सन्ताप राग, मोह, मान, मद, माया को शमन करनेवाली है। पवित्र मुनि-भृङ्ग-विहङ्ग ही इसका सेवन करते हैं।

उर में सुन्दर भृगुचरण और श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का सुन्दर चिह्न है। दक्षिण वक्षःस्थल में दक्षिणावर्त विसतन्तु के समान स्वच्छ स्निग्ध रोमों की राजि है। मध्य में भृगुचरण और वाम वक्षःस्थल में वामावर्त की सुवर्णवर्ण रोमों की राजि है। यही दोनों रोम-राजियाँ श्रीवत्स और लक्ष्मी के चिह्न हैं। अनेक भूषणों से भूषित, प्रलम्ब, श्यामल, चमकीली भुजायें पीताम्बर-

संयुक्त होकर अद्भुत शोभा बढ़ा रही हैं। सुन्दर कौंधनी नितम्ब-बिम्ब पर ऐसी शोभित होती है, मानो कनककमल की अति सुहावनी पंक्ति मरकत-मणिशिखर के मध्य में जाकर विराजमान हो, अथवा मुखचन्द्र के भय से ऊपर न जाकर वहीं नमितमुख होकर विकस रही हो। अति गम्भीर नाभि-सरोवर यमुना-भँवर के समान है। उसके ऊपर की रेखायें बड़ी ही मनोहर हैं। दामिनी को लजानेवाले दिव्य पीताम्बर से समावृत चमकीले श्यामल जानु और ऊरु अद्भुत छविमय संपन्न हो रहे हैं। नाना मुक्तामणिगण-जटित नूपुर ऐसा सुहावना लगता है, मानो मधुमत्त अलिगण युगल चरणकमल को देखकर झूम रहे हों।

श्रीभगवान् के चरणपृष्ठ श्यामल, तल अरुण और नख-श्रेणि कुछ स्वच्छ है। यह मानो यमुना, गङ्गा तथा सरस्वती का संगम है, जिसमें अङ्कुश कुलिश कमल ध्वज आदि चिह्न ही सुन्दर भँवर तरङ्ग हैं। अथवा यह जो चक्र है वह मानो भक्तजन के अरिषड्वर्ग को नाश करने के लिये है। कमल ध्यातृचित्त-द्विरेफ को मोहने के लिये है, ध्वज भक्तजन के सर्वानर्थनाशक वज्र है, वह भक्त के पापाद्रि-भेदनार्थ ही है। पार्ष्णिमध्य में जो अङ्कुश है, वह मानो भक्तचित्तेभ वश करने ही के लिये है। कमलदल सरीखी अँगुलियों पर नखमणि-श्रेणी ऐसी शोभित होती है, मानो कमलदल पर अरुणिमा से रञ्जित तुषार के कण रञ्जित होते हैं। किंवा नखों में सुन्दर अरुण ज्योतिःसम्पन्न नख-श्रेणी ऐसी मनोहर लगती है, मानो कमल-दलों पर दश मङ्गल

सुन्दर सभा बनाकर अचल होकर बैठे हों। उन्नत चरण-पृष्ठ कदली-स्तम्भ के समान, दोनों जङ्घा काम-तूणीर के समान सुहावने लगते हैं। इसी तरह भावुकों ने अनेक प्रकार से भगवान् श्री रामभद्र के अद्भुत दिव्य रूप का वर्णन किया है।

—

८

गणपति-माहात्म्य

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परमतत्त्व ही गणपति तत्त्व है; क्योंकि 'गणानां पतिः गणपतिः'। गण शब्द समूह का वाचक होता है— 'गणशब्दः समूहस्य वाचकः परिकीर्त्तितः।' समूहों के पालन करनेवाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादिकों के पति को भी गण-पति कहते हैं। अथवा 'महत्तत्त्वादितत्त्वगणानां पतिः गणपतिः।' अथवा 'निर्गुणसगुणब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः', तथा च सर्वविध गणों को सत्ता स्फूर्ति देनेवाला जो परमात्मा है वही गणपति है। अभिप्राय यह कि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस न्याय से जिसमें ब्रह्मतत्त्व के जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलत्व, जगन्नियन्तृत्व, सर्वपाल-कत्वादि गुण पाये जायँ वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थितिकारणत्व 'आकाशादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से जाना जाता है, इसलिये वह भी आकाशपदवाच्य परमात्मा माना जाता है वैसे ही 'ॐ नमस्ते गणपतये त्वमेव केवलं कर्तासि, त्वमेव केवलं धर्तासि, त्वमेव केवलं हर्तासि, त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि' इत्यादि गणपत्यथर्वशीर्ष वचन से गणपति ब्रह्म ही हैं।

अतीन्द्रिय सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है वैसे ही पूर्ण परमतत्त्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसलिये 'तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि श्रुति-सूत्र तथा अनेकविध युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि सर्व-जगत्कारण ब्रह्मशास्त्रैकसमधिगम्य हैं। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणों से वस्तु तत्त्व की अवगति हो जाय तो शास्त्र को अनुवादक मात्र होने से नैरर्थक्य प्रसङ्ग दुर्वार होगा, इसलिये गणपतितत्त्व की अवगति में मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि सर्व दृश्य जगत् का पति ही गण-पति है; क्योंकि 'गणयन्ते बुद्ध्यन्ते ते गणाः' इस व्युत्पत्ति से सर्व दृश्य मात्र ही गण है और उसका जो अधिष्ठान हैं वही गण-पति हैं। कल्पित की स्थिति प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती हैं, अतः कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त हैं। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणों में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि सभी ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्म तत्त्व एक ही है तो उसके नाना रूप भिन्न-भिन्न पुराणों में कैसे पाये जाते हैं। इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न-भिन्न उपासकों की भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धि के लिये अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से भिन्न-भिन्न गुणगणसम्पन्न होकर नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे वामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व, सत्य-सङ्कल्पत्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्मतत्त्व की उपासना करने से उपासकों

को उपास्य विशेषण गुण ही फल-रूप में प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादि गुणगणविशिष्ट गणपति रूप में वही परमतत्त्व आविर्भूत होता है।

यदि कहा जाय कि फिर इसी तरह से बाह्याभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्मतत्त्व ही होंगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जायँ। इसका उत्तर यही है कि ठीक, यद्यपि अधिष्ठान रूप से बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं, तथापि तत्तद्गुणगणविशिष्ट रूप से ब्रह्मत्व तो केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है; अर्थात् शास्त्र ही जिन-जिन नामरूप गुण-युक्त तत्त्वों को ब्रह्म बतलाते हैं वही ब्रह्म हो सकते हैं। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कराने में एक-मात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है। शास्त्र मुख्य रूप से वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहासपुराणादि ही हैं, यह बात आगे पूर्ण रूप से विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपति को पूर्ण पर-ब्रह्म बतलाते हैं। पूर्वोक्त गणपत्यथर्व श्रुति में गणपति को "त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि" ऐसा कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि, गणपति के स्वरूप में नर तथा गज़ इन दोनों का ही सामञ्जस्य पाया जाता है। यह मानो प्रत्यक्ष ही परस्पर विरुद्ध से प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्वंपदार्थ के अभेद को सूचित करता है। क्योंकि तत्पदार्थ—सर्व जगत्कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता एवं त्वंपदार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव

होता है। उन दोनों का ऐक्य यद्यपि आपात-विरुद्ध है तथापि लक्षणा से विरुद्धांश-द्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक में यद्यपि नर और गज का ऐक्य असम्मत है, तथापि लक्षणा से विरुद्धधर्माश्रय भगवान् में वह समञ्जस है। अथवा जैसे 'तत्पद'-लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिनिष्कृष्ट "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एवं लक्षणलक्षित ब्रह्म है वैसे ही "त्वं"पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनों का अखण्डैकरस 'असि' पदार्थ में सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गज स्वरूप का सामञ्जस्य गणपति-स्वरूप में है। 'त्वं'पदार्थ नर-स्वरूप है तथा 'तत्'पदार्थ गज-स्वरूप है, एवं अखण्डैकरस गणपति रूप 'असि' पदार्थ में इन दोनों का सामञ्जस्य है।

शास्त्रों में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा है, "नराज्जातानि तत्त्वानि नराणीति विदुर्बुधाः"। गजशब्दार्थ शास्त्रों में ऐसा किया है—'समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति गः, यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति जः।' समाधि से योगी लोग जिस परम तत्त्व को प्राप्त करते हैं वह "ग" है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्य-कारण-स्वरूप प्रणवात्मक प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होता है उसे 'ज' कहते हैं। 'जन्माद्यस्य यतः', 'यस्मादोङ्कारसम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्' इत्यादि वचन भी उसके पोषक हैं। सोपाधिक "त्वं"पदार्थात्मक नर-गणेश का पादादिकण्ठपर्यन्त देह है। यह सोपाधिक होने से निरुपाधिकापेक्षया निकृष्ट है। अतएव अधोभूताङ्ग है। निरुपाधिक

सर्वोत्कृष्ट "तत्"पदार्थमय गणेशजी का कण्ठादिमस्तकपर्यन्त गजस्वरूप है, क्योंकि वह निरुपाधिक होने से सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण पादादि-मस्तकपर्यन्त गणेशजी का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैक-रस है। यह गणेश एकदन्त हैं। "एक" शब्द "माया" का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। तथा च मौद्गले—

एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वसमुद्भवम्।
दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते ॥ १ ॥

अर्थात् गणेशजी में माया और मायिक का योग होने से वे एकदन्त कहलाते हैं। गणेशजी वक्रतुण्ड भी हैं। "वक्रं आत्मरूपं मुखं यस्य" वक्र टेढ़े को कहते हैं, आत्मस्वरूप टेढ़ा है क्योंकि सर्व जगत् मनोवचनों का गोचर है किन्तु आत्मतत्त्व उनका (मन-वाणी का) अविषय है। तथा च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वचन हैं। और भी—

कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्त्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः ॥

गणेशजी 'चतुर्भुज' भी हैं; क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग, इन चारों का स्थापन करनेवाले हैं; एवं चतुर्वर्ग, चतुर्वेदादि के भी स्थापक हैं। तथा च—

स्वर्गेषु देवताश्चायं पृथ्व्यां नरास्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः ॥ १ ॥

तत्त्वानि चालयन्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः ।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

वे अपने चारों हस्तों में पाश, अङ्कुश, वर और अभय भक्तानुग्रहार्थ धारण करते हैं। भक्तों के मोहरूपी शत्रु को फँसाने के लिये 'पाश' तथा सर्वजगन्नियन्तृरूप ब्रह्म 'अंकुश' है। दुष्टों को नाश करनेवाला ब्रह्म 'दन्त' और सर्व कामनाओं को पूर्ण करनेवाला ब्रह्म 'वर' है।

गणपति भगवान् का वाहन 'मूषक' है। 'मूषक' सर्वान्तर्यामी, सर्वप्राणियों के हृदयरूप विल में रहनेवाला, सर्वजन्तुओं के भोगों को भोगनेवाला ही है। वह चौर भी है क्योंकि जन्तुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरनेवाला है। उसको कोई जानता नहीं, क्योंकि माया से गूढ़ रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों को भोगता है। इसी लिये "भोक्तारं सर्वतपसाम्" कहा है। 'मुष स्तेये' इस धातु से मूषक शब्द बनता है। मूषक जैसे प्राणियों की सर्वभोग्य वस्तुओं को चुराकर भी पुण्य-पापों से विवर्जित ही रहता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तर्यामी भी सर्व भोग्य को भोगता हुआ पुण्य-पापों से विवर्जित है। वह सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिये मूषक रूप धारण कर वाहन बना।

मूषकं वाहनाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम् ।
तेन मूषकवाहोऽयं वेदेषु कथितोऽभवत् ॥ १ ॥
मुष स्तेये तथा धातुः ज्ञातव्यः स्तेयब्रह्मधृक् ।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते ॥ २ ॥

भोगेषु भोगभोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते।
अहंकारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः ॥ ३ ॥
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
स एव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः ॥ ४ ॥

एवं भगवान् गणेश "लम्बोदर" हैं क्योंकि उनके उदर में ही समस्त प्रपञ्च प्रतिष्ठित है और वह स्वयं किसी के उदर में नहीं हैं। तथा च—

तस्योदरात्समुत्पन्नं नानाविश्वं न संशयः।

भगवान् "शूर्प-कर्ण" हैं क्योंकि योगीन्द्र-मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओं से श्रूयमाण, अतः हृद्गत होकर, शूर्प के समान पाप-पुण्य रूप रज को दूर करके ब्रह्मप्राप्ति सम्पादित कर देते हैं।

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया ॥ १ ॥
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते।
त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्प-कर्णस्य सुन्दरि ! ॥ २ ॥
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः ॥ ३ ॥

गणेशजी "ज्येष्ठराज" हैं। सर्व-ज्येष्ठों के (बड़ों के) अधिपति या सर्व-ज्येष्ठ जो ब्रह्मादि, उनके बीच में विराजमान हैं। वही गणेशजी शिव-पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्र रूप में प्रादुर्भूत हुए हैं।

श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र जैसे दशरथ एवं वसुदेव के पुत्र रूप से प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, वैसे ही भगवान् गणेश शिव-पार्वती से उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं। अतएव उनकी शिव-विवाह में विद्यमानता और पूज्यता होना कोई आश्चर्य नहीं है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में लिखा है कि पार्वती के तप से गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपति रूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं। इसी गणपति-तत्त्व को सूचित करनेवाला ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।

ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

इससे मिलता-जुलता ही गणपति-स्तवक मन्त्र यजुर्वेद में भी है "गणानां त्वा गणपति ꣳ हवामहे" इत्यादि।

ऋग्वेद के मन्त्र का सर्वथा गणपतिस्तुति में ही तात्पर्य है। यजुर्वेदगत मन्त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन में है तथापि केवल अश्व में मन्त्रोक्त-गुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपति की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ इस तरह है—

"हे वसो! वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति, तत्सम्बुद्धौ। गणानां महदादीनां, ब्रह्मादीनां अन्येषां, वा समूहानाम्। गणरूपेण साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा। "गण" संख्याने इत्यस्माद्गण्यते बुद्ध्यते, योगिभिः साक्षात्क्रियते यः स गणस्तद्रूपेण वा पालकं, एतादृशं त्वां आह्वयामहे। तथा प्रियाणां वल्लभानां, प्रियपतिं—प्रियस्य पालकम्।

तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेः। निधीनां सुखनिधीनां, सुखनिधेः पालकं त्वां हवामहे आह्वयामहे। मदन्तःकरणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन ममापि पतिर्भूयाः। पुनः हे देव! अहन्ते गर्भधं अजायां प्रकृतौ चैतन्यप्रतिबिम्बात्मकं गर्भं दधातीति गर्भधं बिम्बात्मकं चैतन्यं, (तथाच—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति भगवत्स्मरणात्) आ = आकृष्य योगबलेन, अजानि = स्वहृदि स्थाप्यानि, त्वं च मम हृदि अजासि = क्षिपसि स्वस्वरूपं स्थापयसि।"

अधिकारी उपासक गणपति की प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन्! देवादिसमूहों को अधिष्ठान तथा साक्षी रूप से, प्रियों को प्रिय रूप से, लौकिक प्रेमास्पदों को परमप्रेमास्पद रूप से, लौकिक सुख-राशियों को अलौकिक परमानन्द से पालन करनेवाले अर्थात् अपने अंश से सम्पादन करनेवाले आपका मैं पति-रूप से आवाहन करता हूँ। आप मुझे भी स्वरूपानन्दसमर्पण द्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थ प्रकृतिरूप योनि में स्वकीय चैतन्यप्रतिबिम्बात्मक रूप गर्भ को धारण करनेवाले बिम्बचैतन्य रूप को मैं अपने हृदय में विशुद्धान्तःकरण से धारण करूँ, एतदनुकूल अनुग्रह करें। ऐसी प्रार्थना है।

इस तरह मन्त्र-प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्वविघ्नों का विनाशक है। अतएव "गणपत्यथर्वशीर्ष" के नवें मन्त्र में "विघ्ननाशिने शिवसुताय वरदमूर्तये नमः" ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते हुए कहा है "समयकालात्मकभयहारिणे, अमृता-

त्मकपदप्रदत्वात्” अर्थात् गणेशजी कालात्मक भय को हरण करनेवाले हैं; क्योंकि वे अमृतात्मकपद-प्रद हैं। स्कन्द तथा मौद्गल पुराण में विनायक-माहात्म्य-विषयक एक ऐसी गाथा है— किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्रभागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुलाकर यज्ञ-भङ्ग की आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञ को भङ्ग करने के लिये विघ्नासुर रूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्मसृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनों लोकों को भ्रमण कराता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म है। “स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।” सत्कर्म से विशुद्धान्तःकरण पुरुष को भगवत्तत्व-साक्षात्कार होता है और उससे ही काल का पराजय होता है। यह जानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिये विघ्न-रूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इसी लिये काल-स्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहाँ-तहाँ दृश्यादृश्य रूप से सत्कर्म का खण्डन करता था। उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त होकर ब्रह्मा की शरण गये और उनकी आज्ञा से भगवान् गणपति की स्तुति की, क्योंकि गणपति को छोड़कर किसी भी देवता में कालनाश-सामर्थ्य नहीं है। गणेश जी असाधारण विघ्नविनाशकत्व गुण से सम्पन्न हैं। यह बात श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्ति से अवगत है। श्री गणेशजी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरण में गया और उनका आज्ञा-

वशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजी का नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेशपूजन-स्मरण-रहित जो भी सत्कर्म हो उसमें विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियम से विघ्न, भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी काल-रूप होने से भगवत्स्वरूप है। "विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति विघ्नः"। ब्रह्मादिकों में भी जगत्सर्जनादि सामर्थ्य को हनन करनेवाले को विघ्न कहते हैं। अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्म-विघ्न-पराभूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते। किन्तु गणेश के अनुग्रह से ही विघ्नविरहित होकर कार्यकरणक्षम होते हैं। विघ्न और विनायक ये दोनों ही भगवान् होने के कारण स्तुत्य हैं। अतएव "भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्" ऐसा पुण्याहवाचन में लिखा है। विघ्न गणेश के अतिरिक्त और किसी के वश में नहीं है, जैसा कि योगवाशिष्ठ में शाप देने को उद्यत भृगु के प्रति विघ्नरूप काल ने कहा है—

"मा तपः क्षपयाबुद्धे ! कल्पकालमहानसैः।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि॥
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ताः, निगीर्णा रुद्रकोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने॥

इससे सिद्ध हुआ कि, निःश्रेयस-साधन गणेश-स्मरणहीन सभी सत्कर्मों में कालरूप विघ्न का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। अतः विघ्नों के निवारण के लिये गणेश-स्मरण सभी सत्कर्मों में आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ओङ्कार ही सर्वमङ्गलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म उपासनाओं के आदि में ओङ्कार का ही स्मरण किया जाता है, इसलिये गणेश-स्मरण निरर्थक है। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ओङ्कार भी सगुण गणेश-स्वरूप ही है। मैद्गल पुराण में भी कहा है—"गणेशस्यादिपूजनं चतुर्विधं चतुर्मूर्तिधारकत्वात्।" ब्रह्मा के चारों मुखों से अष्ट लक्ष पुराणों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके पश्चात् द्वापरान्त में व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टादश पुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमें पहला "ब्राह्मपुराण" है, उसमें निर्गुण एवं बुद्धितत्त्व से परे गणेश-तत्त्व का वर्णन है। अन्तिम 'ब्रह्माण्ड पुराण' है, उसमें सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है; क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन करनेवाला है। उपपुराणों में भी पहला 'गणेश पुराण' है, जो कि सगुण निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपादन करनेवाला है और गजवदनादि-मूर्तिधर गणेश का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नहीं, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। 'मैद्गल' अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह वेद, पुराण, उपपुराण आदिकों के आदि, मध्य, अन्त में गणेश-तत्त्व का प्रतिपादन है। इतना ही क्यों, ब्रह्म-विष्णु आदि भी गणेशांश होने से ही शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेश का स्मरण करके

सत्कर्म करते हैं, कोई प्रणवस्मरण-पूर्वक सत्कर्म करते हैं, कोई गजवदनाद्यवयवमूर्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं एवं कोई योगमय गणपति का स्मरण करते हैं। इस तरह सभी शुभ कार्यों के आरम्भ में येन केनचिद्रूपेण गणेश-स्मरण देखा जाता है।

कोई कहते हैं कि प्राण-प्रयाण समय एवं पितृ-यज्ञादि में गणेश-स्मरण प्रसिद्ध नहीं है यह ठीक नहीं; क्योंकि गया-स्थित गणेश-पद पितृ-मुक्ति देनेवाला है। वेदोक्त पितृयज्ञारम्भ में गणेश-पूजन का निषेध नहीं है। अतः वहाँ भी गणेश-पूजन होता है और होना युक्त है इसी लिये श्रुति गणाधिपति को ज्येष्ठराज पद से सम्बोधित करती है।

गणेश पुराण में त्रिपुर-वध के समय शिवजी ने कहा है—

शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥ १॥

गणेश-गीता में मरण-काल में भी गणेश-स्मरण कहा है—

यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज॥ १॥

'गणेश-तापिनी' में भी कहा है—"ॐ गणेशो वै ब्रह्म, तद्विधात्। यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते।" इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण, एवं विघ्नविनाशकत्वादि-गुणगण-विशिष्ट, गजवदनादि-अवयव-मूर्तिधर-रूप में श्रीगणेश है।

आजकल कुछ ग्रन्थचुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यों के शिष्य होकर बाह्य कुसंस्कार-दूषितान्तःकरण सुधारक श्रीगणेशतत्त्व पर

विचार करने का साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओं के विपरीत भला कितना विचार कर सकते हैं। उनका कहना है कि पहले गणेशजी आर्यों के देवता नहीं थे। किन्तु एतद्देशीय अनार्यों को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को आर्यों ने अपने देवताओं में मिला लिया है। इस ढङ्ग के विद्वान् कुछ पुराण, कुछ वेदमन्त्र, कुछ चौपाइयों का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए, ऐसे गणपति-स्वरूप का वर्णन करते हैं कि जिससे शास्त्रीय गणपति-स्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़ा-सा भी तत्त्वज्ञान रखनेवाले पुरुष के लिये ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खों को तो उनसे व्यामोह होना स्वाभाविक ही है।

कोई इन महानुभावों से पूछे कि गणेश नामका कोई तत्त्व है, यह आपने कैसे जाना? पुराणादि शास्त्रों द्वारा या यत्र-तत्र गणपति की मूर्तियों को देखकर? यदि शास्त्रों से ही गणेश-तत्त्व समझा जाय तो फिर गणेश को अनार्यों के देव कैसे कहा जाय, क्योंकि शास्त्रों से तो वे ब्रह्मादि के पूज्य पाये जाते हैं। रही दूसरी बात मूर्तियों को देखकर जानने की। यदि उसे उचित मानें तो गणपति को देवता या पूज्य समझना, केवल मूर्खता ही है। कारण यह कि केवल काष्ठमृत्पाषाणादि को कौन अभिज्ञ जन पूज्य समझेगा? यदि कहा जाय कि अदृश्य शक्ति-विशेष का उस मूर्ति में आवाहन कर उसका पूजन किया गया है, तो भी वह विशिष्ट देव-शक्ति किस प्रमाण से पहचानी या आहूत की गई है? इसके

उत्तर में यदि यह कहा जाय कि यह बात शास्त्रों से ही जानी गई तो फिर शास्त्रों ने तो गणेश-तत्त्व को अनादि ईश्वर कहा है। अतः वे अनार्यों के देवता कैसे हुए?

एक दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के ही आधार पर गणेश को अनार्याभिमत देव समझना और आर्यों का कहीं बाहर से यहाँ आना, भारतवर्ष में प्राथमिक अनार्यों का निवास और अनार्यों के देवता गणेश का आर्यों द्वारा ग्रहण! भला ऐसी बे-सिर-पैर की बातें अनार्य शिष्यों के सिवा और किसको सूझ सकती हैं? भला कोई भी सहृदय पुरुष वेद-पुराणादि शास्त्रों को मानता हुआ भी क्या गणेश का अनार्य-देवत्व-स्वीकार कर सकता है? वस्तुतः यह सब दूषित संस्कारों एवं आचार-शून्य मनमाने शास्त्रों के पुस्तकी ज्ञान का ही कुफल है। इसी लिये ज्ञानलव-दुर्विदग्ध अनभिज्ञों से भी शोचनीय समझे जाते हैं। इसी कारण से हमारे यहाँ किसी भी सच्छास्त्र के अध्ययन का यही नियम है कि आचार्य-परम्परा से शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को समझना चाहिये और परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले वाक्यों का समन्वय करना चाहिये। ऐसा न होने से ही श्री गणपति की भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्राणियों को मोहित करनेवाली होती हैं। जैसे उनका नित्यत्व, पार्वती-पुत्रत्व, शनि के दृष्टिपात से शिरश्छेद और गजवदन का सन्धान, आदि।

ये सब बातें केवल गणपति के ही विषय में नहीं, अपितु श्रीरामचन्द्र आदिकों के विषय में भी हैं। जैसे अजत्व और

जायमानत्व, नित्यमुक्तत्व और सीता-विरह में रोदनादि। इसी लिये गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने कहा है कि—

राम देखि नर-चरित तुम्हारे। बुध हर्षहिं, जड़ होहिं दुखारे॥

वस्तुतः जिन्होंने भगवान् की अघटितघटनापटीयसी माया का महत्त्व नहीं समझा है, उन्हें अचिन्त्य महामहिम वैभवशाली भगवान् की निर्गुण तथा सगुण लीलाओं का ज्ञान कैसे हो? "अजायमानो बहुधा व्यजायत," "मत्स्थानि सर्वभूतानि", "न च मत्स्थानि भूतानि" इत्यादि का अभिप्राय कैसे विदित हो? सगुण लीला तो निर्गुण की अपेक्षा भी भावुकों की दृष्टि में दुरवगाह्य है।

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥

इसलिये गोस्वामीजी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादि के रूप-भेद, शिवपूज्यता आदि अंशों में संशय न करे—

जनि कोइ अस संशय करे सुर अनादि जिय जान।

फिर जब बड़े से बड़े तार्किकों का तर्क भौतिक भावों में ही कुण्ठित हो जाता है, तब व्याप्ति या हेतु तथा हेत्वाभास के ज्ञान से शून्य आधुनिक विद्वानों को देवता या ईश्वर के विषय में तर्क करने का क्या अधिकार है? वे महानुभाव यदि तर्क के स्वरूप को भी ठीक-ठीक निरूपण कर सकें, तो उन्हें यह पता लग सकेगा कि धर्म तथा देवता पर तर्क कुछ काम कर सकता है, या नहीं। भला यदि इनसे कोई पूछे कि यह आपने कैसे अनुमान

किया कि गणेश अनार्यों के देवता हैं और आदि भारतवासी अनार्य ही हैं। क्या कोई अव्यभिचरित हेतु इसमें आपके पास है? तो ये लोग सिवा अटकलपच्चू कल्पित मिथ्या इतिहास के क्या बता सकते हैं? परन्तु यदि इनके भ्रमपूर्ण निराधार आधुनिक इतिहास मान्य हैं, तो प्राचीन आध्यात्मिक गम्भीर भावपूर्ण हमारे इतिहास क्यों नहीं मान्य हैं?

अस्तु, आस्तिकों को पूर्वोक्त प्रमाणों से निर्धारित गणपति-तत्त्व का श्रद्धा-सहित समस्त कर्मों में आराधन अवश्य करना चाहिये। पारलौकिक तत्त्व-निर्धारण में एकमात्र शास्त्र ही आदरणीय हैं। इसी लिये भगवान् ने गीता में कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ १॥

—

९

इष्टदेव की उपासना

शास्त्ररहस्य को जाननेवाले महानुभावों का कहना है कि शैव ग्रन्थों में श्रीविष्णु की, और वैष्णव ग्रन्थों में श्रीशिव की जो निन्दा पाई जाती है, वहाँ उस निन्दा का मुख्य तात्पर्य अन्य देवता की निन्दा में नहीं है, अपितु वह ग्रन्थ जिस देवता का वर्णन कर रहा है उसकी प्रशंसा में है। इस पर कोई कहे कि अपने इष्ट देवता में अनन्यता की प्राप्ति के लिये उनसे भिन्न देवता की उपेक्षा अपेक्षित है और वह उपेक्षा बिना अन्य देवता की निन्दा के कैसे सिद्ध हो सकती है? इस तरह उस निन्दा का मुख्य तात्पर्य अपने इष्ट देवता से अन्य देवता की उपेक्षा के लिये उसकी निन्दा में ही हो सकता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसने अनन्यता के स्वरूप को ही यथार्थतया समझा नहीं है। क्या अपने एकमात्र इष्टदेव में ही तत्परता को अनन्यता कहें? किन्तु ऐसी अनन्यता खान-पान आदि लौकिक एवं सन्ध्यावन्दनादि वैदिक व्यवहार करनेवाले पुरुष में सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि उन लौकिक वैदिक सब कर्मों के द्वारा अपने इष्टदेव की ही उपासना करने से अनन्यता बन जायगी तो फिर जैसे अन्यान्य लौकिक वैदिक कर्मों के द्वारा अपने इष्टदेव

की उपासना की जा सकती है, वैसे ही अन्य देवता की पूजा आदि के द्वारा भी अपने इष्टदेव की उपासना करते हुए अनन्यता वन सकती है।

यथार्थ में तो—

"वर्णाश्रमवतां राजन्! पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥"

अर्थात् हे राजन्! प्राणी अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार कर्म करते हुए भक्ति द्वारा उस पुरुषोत्तम हरि की आराधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त भगवान् की प्रसन्नता का और अन्य कोई साधन नहीं है।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

अर्थात् "हे अर्जुन! भोजन होम दान तपस्या आदि जो कुछ भी करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।"

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"

अर्थात् मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की पूजा करके मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

इत्यादि वचनों से शास्त्रों ने अपने अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों से ही श्रीभगवान् की उपासना करना वतलाया है और श्रौत-स्मार्त कर्मों में तो पद-पद पर इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र, प्रजापति आदि देवताओं की पूजा दिखलाई पड़ती है।

ऐसी हालत में अपने को वैदिक माननेवाला कोई पुरुष यह कहने का साहस कैसे कर सकता है कि "विष्णु के सिवाय कोई अन्य देवता मेरे लिये पूजनीय नहीं हैं" ?

यदि कहा जाय कि वहाँ उन इन्द्रादि देवताओं के रूप में भगवान् विष्णु की ही पूजा होती है, तो इस तरह फिर सभी देवताओं की पूजा की जा सकती है।

जिन कामिनी, काञ्चन आदि विषयों की बड़े बड़े विवेकी महापुरुषों ने निन्दा की है, उन्हीं तुच्छ विषयरूप विष से भस्मी-भूत चित्तवाले, और उन्हीं विषयों की प्राप्ति के लोभ से वशीभूत होकर, और तो क्या म्लेच्छों के चरणों पर भी मस्तक झुकानेवाले लोग समस्त पाप-समुदाय का नाश करने में समर्थ श्री शिव, विष्णु आदि के वन्दन को जब अनन्यता का विघातक कहते हैं तब बड़ा आश्चर्य होता है।

अस्तु, इस तरह यह सिद्ध होता है कि श्री भगवान् को प्रसन्न करने की बुद्धि से भगवान् के लिये ही किये गये समस्त कर्मों को परमगुरु श्री भगवान् के चरणों में समर्पण करना ही यथार्थ अनन्यता है।

काशीखण्ड के दूसरे अध्याय में ध्रुवजी श्री विष्णु से स्तुति में कहते हैं कि :—

"मित्राणां हि कलत्रं त्वं धर्मस्त्वं सर्वबन्धुषु ।
त्वत्तो नान्यज्जगत्यस्मिन्नारायण ! चराचरे ॥ १ ॥

त्वमेव माता त्वं तातस्त्वं सुहृत्त्वं महाधनम् ।
त्वमेव सौख्यसम्पत्तिस्त्वमेव जीवनेश्वरः ॥ २ ॥
सा कथा यत्र ते नाम तन्मनो यत्त्वदर्पितम् ।
तत्कर्म यत्त्वदर्थं वै तत्तपो यद्भवत्स्मृतिः ॥ ३ ॥
अहो ! पुंसां महामोहस्त्वहो ! पुंसां प्रमादिता ।
वासुदेवमनादृत्य यदन्यत्र कृतश्रमाः ॥ ४ ॥
नाधोक्षजात्परो धर्मो नाऽर्थो नारायणात्परः ।
न कामः केशवादन्यो नापवर्गो हरिं विना ॥ ५ ॥
इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि ।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत्स्मरेत् ॥ ६ ॥
गोविन्दं परमानन्दं मुकुन्दं मधुसूदनम् ।
त्यक्त्वाऽन्यं नैव जानामि न स्मरामि भजामि च ॥ ७ ॥
न नमामि न च स्तौमि न पश्यामीह चक्षुषा ।
न स्पृशामि न वा यामि गायामि न हरिं विना ॥ ८ ॥

अर्थात् "हे नारायण ! इस स्थावरजङ्गमात्मक जगत् में आपसे अन्य कुछ भी नहीं है। मित्रों में भार्या, सब बन्धुओं में परमहितैषी धर्म आप ही हैं। माता, पिता, सुहृत्, धन, सौख्य, सम्पत्ति और तो क्या प्राणेश्वर आप ही हैं। कथा वही है, जिसमें आपका नाम हो, मन वही है जो आपमें अर्पित हो, कर्म वही है जो आपके लिये ही किया जाय और वही तपस्या है जिसमें आपका स्मरण होता रहे। प्राणियों के उस महामोह को, उस प्रमादिता को देखकर बड़ा ही खेद और आश्चर्य होता है,

जिससे आपका अनादर करके अन्य विषयों में महान् परिश्रम करते हैं। हे भगवन्! आपसे श्रेष्ठ ऐसा अन्य कोई न धर्म है, न अर्थ, न काम, और न मोक्ष ही। भगवान् वासुदेव का स्मरण न होना ही परम हानि, परम उपद्रव, परम दौर्भाग्य है। परमानन्दकन्द मधुसूदन भगवान् गोविन्द को छोड़कर मैं न तो अन्य किसी को जानता ही हूँ, न स्मरण करता हूँ, न भजता हूँ। न नमन करता हूँ, न किसी दूसरे की स्तुति करता हूँ, न अन्य को आँख से देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न अन्यत्र कहीं जाता हूँ, न विना हरि के अन्य का गान करता हूँ। इत्यादि श्लोकों के द्वारा अनन्यता का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

इतना सब मन्थन करने का तात्पर्य यही है कि भगवान् श्री वासुदेव की उपेक्षा करके अन्य देवों का समाश्रयण करना अभिप्रेत नहीं, अपितु वासुदेव-भावना से या भगवान् की आराधना-बुद्धि से अन्य देवताओं का भी आदर अवश्य ही करना उचित है। इसी लिये काशीखण्ड में आगे चलकर लिखा है कि श्री विष्णु की आज्ञा से ध्रुव ने भगवान् श्री विष्णु के उपास्य श्री शङ्कर भगवान् की पूजा की। ध्रुव को वरदान आदि देकर भगवान् श्री विष्णु ने उनसे कहा :—

"ध्रुवावधेहि वक्ष्यामि हितं तव महामते।
येन ते निश्चलं सम्यक्पदमेतद्भविष्यति ॥ १ ॥
अहं जिगमिषुस्त्वा पुरीं वाराणसीं शुभाम्।
साक्षाद्विश्वेश्वरो यत्र तिष्ठते मोक्षकारणम् ॥ २ ॥

विपन्नानां च जन्तूनां यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
कर्णे जापं प्रकुरुते कर्मनिर्मूलनक्षमम् ॥ ३ ॥
अल्पसंसारदुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति काशिकाऽऽनन्दभूमिका ॥ ४ ॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं दुःखमहातरोः ।
तस्मिन् काश्यग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥ ५ ॥
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन न भूयो येन शोच्यते ।
वैकुण्ठनगरात्काशीं नित्यं विश्वेशमर्चितुम् ॥ ६ ॥
अहमायामि नियमाज्जगदार्यां तदाश्रिताम् ।
मायायाः परमाशक्तिस्त्रिलोक्या रक्षणक्षमा ॥
तत्र हेतुर्महेशानः स सुदर्शनचक्रदः ॥ ७ ॥
पुरा जालन्धरं दैत्यं ममापि परिकम्पनम् ।
पादांगुष्ठाग्ररेखोत्थं चक्रं कृत्वा हरोऽहरत् ॥ ८ ॥
तच्च चक्रं मया लब्धं नेत्रपद्मार्चनाद्विभोः ।
एतत्सुदर्शनाख्यं वै दैत्यचक्रप्रमर्दनम् ॥ ९ ॥
तन्मया तव रक्षार्थं भूतविद्रावणं परम् ।
तावत्प्रयुक्तं पुरतस्ततश्चाहमिहागतः ॥
काशीमिदानीं यास्यामि विश्वेश्वरविलोकने ॥ १० ॥
पञ्चक्रोश्याश्च सीमानं प्राप्य देवो जनार्दनः ।
वैनतेयादवारुह्य करे धृत्वा ध्रुवं ततः ॥ ११ ॥
मणिकर्ण्यां परिस्नाय विश्वेशमभिपूज्य च ।
ध्रुवं बभाषे भगवान् हितं तस्य चिकीर्षयन् ॥ १२ ॥

लिङ्गं स्थापय यत्नेन क्षेत्रेऽत्रैवाविमुक्तके ।
त्रैलोक्यस्थापनं पुण्यं यथा भवति तेऽक्षयम् ॥ १३॥

अर्थात् हे ध्रुव ! तुम महामति हो। सावधान होकर सुनो। मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ जिससे तुम्हारा स्थान अत्यन्त अचल हो जायगा। मोक्षदाता साक्षात् भगवान् श्रीविश्वनाथजी जहाँ निवास करते हैं, उस परम पवित्र काशीपुरी को मैं जाना चाहता हूँ। जिस काशी में स्वयं श्रीविश्वेश्वर भगवान् मृत प्राणियों के कान में उस मंत्र का उपदेश करते हैं, जिससे उन प्राणियों के समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। सभी तरह के उपद्रवों को देनेवाले इस तुच्छ संसाररूपी दुःख को दूरने का यह आनन्द-भूमि काशी ही एकमात्र उपाय है। दुःखरूपी महान् वृक्ष का बीज विषयों में समीचीनता-असमीचोनता-बुद्धि है। काशी-रूप अग्नि जब उस बीज को भस्मीभूत कर डालता है, तब दुःखरूप महावृक्ष ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? जिससे समस्त अभीष्ट मनोरथों को प्राप्त किया जा सकता है और जहाँ जाने पर फिर शोक-सन्ताप का भय नहीं रह जाता, ऐसे वैकुण्ठ से श्रीविश्वनाथ की पूजा करने के लिये मैं नित्य नियमपूर्वक उस जगद्वन्द्य काशी में आया करता हूँ। तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ माया की जो परम शक्ति है, उसको देनेवाले सुदर्शन चक्र के दाता श्रीविश्वनाथ ही हैं। पूर्वकाल में जालन्धर नाम का एक दैत्य हुआ था जिसके पराक्रम से मैं भी भयभीत हो गया था। किन्तु भगवान् श्रीशङ्कर ने अपने पैर के अँगूठे के अग्रभाग से चक्र बनाकर, उससे जालन्धर को

मार डाला था। अपने नेत्र-कमलों से भगवान् शङ्कर की पूजा करके मैंने वही चक्र उनसे प्राप्त किया। दैत्य-समुदाय को मर्दन करनेवाला वही यह सुदर्शन चक्र मेरे पास है। समस्त दुष्ट प्राणियों को भगानेवाले उस सुदर्शन चक्र को तुम्हारी रक्षा के लिये आगे भेजकर मैं यहाँ आया हूँ। अब इस समय श्रीविश्वनाथ का दर्शन करने के लिये मैं काशी की ओर चल रहा हूँ। उसके बाद पञ्चक्रोशी की सीमा के पास पहुँचकर वे गरुड़ से नीचे उतरे और उन्होंने ध्रुव का हाथ पकड़कर मणिकर्णिका में स्नान किया। फिर श्रीविश्वनाथ का पूजन करके ध्रुव के हित की कामना से कहा— "हे ध्रुव तुम इस अविमुक्त वाराणसीक्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक भगवान् के लिङ्ग की स्थापना करो। इससे त्रैलोक्यस्थापन करने का अक्षय पुण्य तुम्हें प्राप्त होगा" इत्यादि।

ऐसे इस गम्भीर शास्त्रीय अभिप्राय को न समझकर शैव-वैष्णव-नामधारी पाखण्ड से नष्टबुद्धि मायामोहित जन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में भेदभाव देखते हैं। यह नहीं जान पाते कि वे तीनों एक ही सच्चिदानन्दघन पूर्ण अद्वितीय तत्त्व हैं।

"ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः।
पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाखण्डोपहता जनाः॥"

वे ऐसे सैकड़ों शास्त्रवचनों से उपदेश किये गये अभेद को नहीं देखते। इस बात की उपेक्षा करते हैं कि एक ही परमकारण तत्त्व अनेक रूप में विराजमान है। उन परमेश्वर के अनेक रूपों में से किसी एक को लेकर दूसरे रूपों की निन्दा करते हुए, आपस

में कलह करते हैं। ऐसा करके मानों अपने उसी आराध्य भगवान् से ही द्रोह करके नरक में जाने की तैयारी करते हैं।

एक दूसरे पर अनन्य प्रीति करनेवाले दो मालिकों के नौकर यदि एक दूसरे के स्वामी की निन्दा करें तो वे दोनों जैसे स्वामि-द्रोही ही कहे जाते हैं वैसे ही एक दूसरे के आत्मा और एक दूसरे के ध्यान में निमग्न माधव श्रीविष्णु और उमा-धव श्रीशिव की निन्दा करनेवाले स्वामिद्रोही ही हैं।

कोई जिज्ञासु ऐसा प्रश्न कर सकता है कि भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओं में से किसकी उपासना करनी चाहिये? कोई किसी को निकृष्ट, किसी को बड़ा, तो कोई किसी को बतलाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि व्याकुल हो जाती है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि भगवान् के विचित्र प्रपञ्च में विचित्र स्वभाव के जीवों का निवास है। इसी लिये श्रीभगवान् भिन्न स्वभाववाले जीवों की विभिन्न रुचियों का अनुसरण करके विभिन्न रूप में प्रकट होते हैं। किसी का चित्त भगवान् के किसी स्वरूप में खिँचता है, किसी का किसी में। वेदपुराणादि शास्त्रों में सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रतिपादित सभी रूप भगवान् के ही हैं। अतः जिस रूप में प्रीति हो उसी रूप की उपासना करनी चाहिये। अनभिज्ञ लोग एक की निन्दा और दूसरे रूप की प्रशंसा करते हैं, अभिज्ञ तो सभी रूप में अपने प्रभु को ही देखकर सन्तुष्ट होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अनेक विद्याओं में निपुण होने के कारण अपने अनेक वेष और नामों से अनेक कार्य करता हो,

भिन्न भिन्न कार्यार्थी पृथक् वेष और नामवाले रूप के अनुरागी हों और उसे ही सर्वोत्कृष्ट समझने लगें। दूसरे लोग दूसरे वेष और नामवाले रूप के अनुरागी हों। उनमें कुछ लोग किसी रूप के प्रशंसक हों और कुछ किसी के निन्दक हों, इसलिये परस्पर युद्ध होने लगे, वहाँ जो लोग वस्तु-स्थिति को जाननेवाले होंगे वे तो दोनों ही विवादी दलों की मूर्खता पर परिहास करेंगे, क्योंकि वे दोनों ही वेषों में एक ही तत्त्व को देखते हैं।

योगवासिष्ठ के विपश्चिदाख्यान में मृग रूप से समागत विपश्चित् को देखकर श्रीवसिष्ठजी ने यही विचार किया था कि जिस व्यक्ति का जो स्वरूप कभी भी उपास्य हो उसका कल्याण उसके ही द्वारा सुगम होता है। यह समझकर करोड़ों जन्म के पहले अग्नि की उपासना करनेवाले मृगरूप विपश्चित् के सामने अपने योगबल से उन्होंने अग्नि का प्राकट्य किया। अग्नि का दर्शन होते ही वह मृग ऐसी स्नेहभरी दृष्टि से अग्नि को देखने लगा जैसे अग्नि के साथ उसका कोई बहुत पुराना सम्बन्ध हो। अनन्तर वसिष्ठजी की कृपा से उसका कल्याण हुआ। अस्तु, प्रकृत में कहना यही है कि स्वप्रदर्शन तथा माहात्म्यश्रवण आदि से चित्त का आकर्षण देखकर अपने इष्टदेव का निर्णय करना चाहिये। यह स्पष्ट है कि अनेक जन्म के साधनों से प्राणी की उपासना में उन्नति होती है। जन्म-जन्म में मार्ग-परिवर्तन करने से यथेष्ट लाभ सम्भव नहीं है। अतः पूर्व की उपासना के संस्कार का ज्ञान करके उसी उपासना में प्रवृत्त होना चाहिये।

पितृ-पितामहपरम्परा की उपासनाओं के अनुसार ही प्राणी को उपासना करनी चाहिये। वर्तमान जन्म की सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति में पिछले जन्मों के संस्कार भी अपेक्षित होते हैं। यदि किसी को दुर्दैववश, किसी ऐसे देश-काल में, ऐसे माता-पिता गुरु-जनों तथा ग्रन्थों का संसर्ग हुआ कि जिनसे दुराचार-दुर्विचार को ही उत्तेजना मिली तो उस व्यक्ति के लिये दुःसङ्ग और असद्-विचारवाले शास्त्रों को छोड़कर सत्पुरुष-सङ्ग, सच्छास्त्र के अभ्यास एवं तदनुसार सदाचार सद्विचार के सम्पादन में बड़ी कठिनाई पड़ती है। जिसे पूर्व संस्कार के अनुसार शुद्ध विचारवाले देश काल तथा माता-पिता गुरुजनों का संयोग प्राप्त हुआ और सच्छास्त्र ही अध्ययन करने को मिले उसके लिये सदाचार-सद्विचार की वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है। इसी लिये प्रायः सन्मार्गस्थ सदाचारी को उसकी भावना और उपासना के अनुसार ही समीचीन देश-काल और माता-पिता तथा शास्त्रों का संसर्ग मिलता है। इसी बात की इङ्गना श्रीभगवान् ने "शुचीनाम् श्रीमतां गेहे" अथवा "योगिनामेव कुले भवति धीमतां," "पूर्वाभ्यासेन कौन्तेय ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" इत्यादि वचनों से की है। इसी लिये यह बहुत सम्भव है कि हमारी उपासना के अनुकूल ही कुल में हमारा जन्म हुआ हो। अतः हमें माता-पिता गुरुजनों के अनुसार ही उपासना करनी चाहिये।

यों भी इस बात के समझने में सुगमता होगी कि जैसे कोई पुरुष किसी अपरिचित मार्ग से किसी अभीष्ट देश में जा रहा हो

आगे चलकर उसे तीन मार्ग दिखाई दें और तीनों पर कुछ लोग चल रहे हों, प्रश्न करने पर सभी अपने मार्ग को ही निर्विघ्न बतलाते हों, साथ ही दूसरे मार्गों को नाना प्रकार के सिंह-व्याघ्र-सर्प-वृश्चिक-कण्टकाकीर्ण गर्तों से उपद्रुत बतलाते हों, ऐसी स्थिति में यदि जाना आवश्यक ही हो तो वह प्राणी किस मार्ग का अवलम्बन करेगा ? समझदार तो यही कहेंगे कि उन मार्गानुगामियों में से अधिक विश्वास उन्हीं पर किया जा सकता है, जो अपने राष्ट्र, प्रान्त, नगर तथा ग्राम के हों या अपने कुटुम्बियों में से हों। यह बात दूसरी है कि जब बहुत विशिष्ट अनुभवों से उस मार्ग के दूषित तथा मार्गान्तर के निर्विघ्न होने की बात निश्चित हो गई हो तब किसी दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया जाय।

इसलिये भी अपनी पितृ-पितामह-परम्परा में जो उपासना और आचार तथा शास्त्र मान्य हों वही उचित हैं। वेद ने भी "किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरावुपावतुः" इस वाक्य से परम्परागत आचार का समर्थन किया है। श्रीनीलकण्ठजी ने इसका यही अभिप्राय बतलाया है कि पुत्र के हित के लिये माता, पिता या पितामह प्रभृति ने जिस व्रत का पालन या जिस देवता का उपासन किया हो, उस पुत्र के लिये उसी व्रत या देवता का अवलम्बन करना चाहिए। ऐसे ही सम्प्रदायभेद से भस्म, गोपीचन्दन आदि की भी व्यवस्था बताई गई है। उसमें भी यह व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय है कि स्नान करके मृत्तिका और होम करके भस्म और देवपूजन के पश्चात् चन्दन आदि लगाया

जाय, क्योंकि भस्म वैदिकों के लिये किसी अवस्था में त्याज्य नहीं हो सकता।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यद्यपि इस तरह से किसी भी देवता का आराधन, भस्म, रुद्राक्ष, गोपीचन्दनादि का धारण सङ्गत मालूम होता है तथापि साम्प्रदायिक लोगों की बातें सुनकर तो जी घबराता है। कोई शिवजी के तथा भस्म-रुद्राक्ष के निन्दन में सहस्रों वचन उपस्थित करते हैं तो कोई विष्णु तथा गोपी-चन्दनादि के निन्दन में सहस्रों वचन देते हैं। इसका क्या आशय है? उनको यही उत्तर दिया जा सकता है कि कुछ वचन तो निन्दा में तात्पर्य न रख कर एक की स्तुति में ही तात्पर्य रखते हैं। जैसे शैवों की शिव में निष्ठा दृढ़ करने के लिये विष्णु के निन्दा-सूचक और विष्णु में निष्ठा दृढ़ करने के लिये शिव के निन्दापरक वचन कहे जा सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी वचन हैं जिनका सिवा रागद्वेष के और कोई मूल ही नहीं हो सकता। बहुत से पुराण साम्प्रदायिकों के कलहों में बिगाड़े गये हैं। इसी लिये तो गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"हरित भूमि तृणसंकुल सूझि परै नहिं पंथ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त भये सदग्रन्थ॥"

ऐसे ही यह भी प्रश्न होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार और व्यवहार प्रचलित हैं। उन उन सम्प्रदायों में कहा यह जाता है कि बिना इन आचारों के प्राणी का कल्याण हो ही नहीं सकता। चाहे कितना भी वैदिक शुद्ध

ब्राह्मण क्यों न हो परन्तु इन आचारों बिना उसके हाथ से जल भी अग्राह्य है। ऐसे ही दूसरे साम्प्रदायिक अपने आचारों के विषय में भी उपर्युक्त बात ही कहते हैं। जिस आचार से एक सम्प्रदाय परम कल्याण कहता है उसी आचार से दूसरा सम्प्रदाय सर्वथा पतन बतलाता है। एक वैसे आचारविहीन के दर्शन से प्रायश्चित्त बतलाते हैं तो दूसरे उसी आचारयुक्त वाले के ही दर्शन से प्रायश्चित्त बतलाते हैं। इसका यही उत्तर देना ठीक है कि जिसके सम्प्रदाय में जो आचार प्रचलित है, उसी के लिये उक्त उपदेश ठीक है और जिसके पितृ-पितामहादि में जो आचार नहीं है उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिये। विवाद का मूल यही है कि लोग दूसरे सम्प्रदाय तथा आचार्यों की निन्दा करके अपने सम्प्रदाय के आचारों एवं सिद्धान्तों को स्वीकार कराना चाहते हैं और जब वैसा ही दूसरे लोग करते हैं तब फिर क्षुब्ध होते हैं। वे "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! सुखं वा यदि वा दुःखम्" भगवान् के इन भावों को भूल जाते हैं।

लोगों को इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि जैसे कोई हमारे साम्प्रदायिक व्यक्ति को अपने सम्प्रदाय में मिलाता है तो हमें क्षोभ होता है वैसे ही यदि हम भी दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्ति को अपने में मिलायेंगे तो अन्य लोगों को भी वैसे ही क्षोभ होगा। परन्तु प्रायः देखते देखते कितने स्मार्त्त भिन्न सम्प्रदायों में मिला लिये जाते हैं। साथ ही कहीं कहीं कोई साम्प्रदायिक भी स्मार्त्त बना लिये जाते हैं। यही राग-द्वेष का

मूल इतना बद्धमूल हो गया है कि हिन्दू-मुसलमानों से भी कहीं अधिक घनिष्ठ संघर्ष साम्प्रदायिकों में दृष्टिगोचर होता है।

वेदान्त-वेद्य, पूर्ण परब्रह्म भगवान् ही सकल सच्छास्त्रों के महातात्पर्य के विषय हैं, और यही वर्णाश्रमानुसार सर्व कर्म-धर्म से समर्हणीय हैं। इनका अपरोक्ष साक्षात्कार ही जीवन का चरम फल है। परन्तु प्रथम से ही प्राणियों का मन इन परम-दुरवगाह्य भगवान् के मनोवचनातीत स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः परम करुण प्रभु भक्तानुग्रहार्थ ही अपने अनेक प्रकार के मङ्गलमय स्वरूप को धारण करते हैं।

उपनिषदों में दहर-विद्या, शाण्डिल्य-विद्या, वैश्वानर-विद्याओं के रूप में इनकी ही अनेक सगुण उपासनाएँ विस्तीर्ण हैं। यही भगवान् विघ्नराज श्रीगणेश के रूप में ऋद्धि-सिद्धि आदि निज शक्तियों सहित आराधित होकर भक्तों का सर्वविघ्न-निवारण, सर्व-अभीष्ट-सम्पादन-पूर्वक स्व-स्वरूप साक्षात्कार कराकर परम गति देते हैं, और यही विश्वचक्षु भगवान् भास्कर के रूप में उपास्य होकर सर्व-रोग-निवारण-पूर्वक अपने पारमार्थिक विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कराकर भव-रोग से मुक्त कर देते हैं। ऐसे ही यही वेदान्तवेद्य शुद्ध भगवान् अविद्याशक्ति-प्रधान होकर प्रपञ्च का निर्माण करते हैं, विद्याशक्ति-प्रधान होकर मोक्ष प्रदान करते हैं और अनन्त अखण्ड विशुद्ध चिति-शक्ति-रूप से सर्व दृश्य के अधिष्ठान रूप विराजमान होते हैं। वही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि रूप में उपास्य होकर सर्वभुक्ति-

मुक्ति-प्रदायक होते हैं। वही विशुद्ध ब्रह्म, भूतभावन भगवान्, विश्वनाथ, श्रीविष्णु, नृसिंह एवं श्रीमद्राघवेन्द्र रामभद्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द-रूप में उपासित होकर सर्व सिद्धि प्रदान करते हैं।

अस्तु, इन सभी स्वरूपों की गायत्र्यादि वैदिक मन्त्रों एवं वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों द्वारा की गई उपासना मुख्य है। वेदशास्त्रोक्त स्वधर्म कर्म के अनुष्ठान के बिना पाशविकी उच्छृंखल चेष्टाओं का अन्त नहीं होता। बिना श्रौत-स्मार्त-शृंखला-निबद्ध चेष्टाओं के इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि का नियन्त्रण असम्भव है और बिना सर्व करण-रोध के अदृश्य विशुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार भी असम्भव है। अतः श्रौत-स्मार्त-कर्म-धर्म द्वारा ही परमेश्वर का मुख्य आराधन है।

इसी विशुद्ध वैदिक धर्म का बौद्ध आदि अवैदिक एवं वैदिकाभासों द्वारा विप्लव होने पर भगवान् शङ्कराचार्य ने अवतीर्ण होकर उसे पुनः प्रतिष्ठापित किया है। श्रीविद्यारण्य प्रभृति विद्वानों ने तथा अन्यान्य प्राचीन अर्वाचीन सन्तों ने भी इसी मत का पोषण किया है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदास ने भी इसी परम उदार सिद्धान्त का पोषण किया है। उसमें तीनों वर्णों के लिये गायत्री मुख्य उपास्य है। जिनके लिये गायत्री का अधिकार नहीं है, उन अवैदिकों के लिये अवैदिकी उपासनाएँ हैं। जो गायत्री मन्त्र के अधिकारी त्रैवर्णिक वैदिक संस्कार-सम्पन्न हों, उन्हें यदि गायत्री में परितोष न हो तो, विष्णु शिव आदि देवताओं

का विष्णु शिव आदि मन्त्रों से आराधन कर सकते हैं। वैदिक-संस्कार-सम्पन्न होने के कारण इन मन्त्रों में उनका अधिकार सहज सिद्ध है। अर्थात् विष्णु, शिव, सूर्य तथा शक्ति इन पञ्च देवताओं की, किंवा अन्य सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा ही पूर्ण सुसम्पन्न हो सकती है। और इसके सिवा वैदिक शिव विष्णु आदि मन्त्रों से भी तत्तत् उपासनाएँ हो सकती हैं।

इन समस्त वैदिकी उपासनाओं में वर्णाश्रमानुसार श्रौत स्मार्त धर्म का अनुष्ठान भी परमावश्यक है। वेद ने उपासना-विहीन कर्मों को स्वप्रकाश ब्रह्म की अपेक्षा स्वर्गादि तुच्छ फल के देनेवाले होने से अन्धतम की प्राप्ति के कारण कहे हैं। परन्तु कर्मविहीन उपासनाओं से तो घोर अन्धतम की प्राप्ति कही गई है; क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान विना इष्ट में चित की एकाग्रता रूप उपासना भी सम्पन्न न हो सकेगी।

स्वधर्मभ्रष्ट के लिये कहा गया है कि चाहे कितना भी श्रीहरि की भक्ति, किंवा ध्यान में तत्पर क्यों न हो, परन्तु यदि आश्रम के आचारों से भ्रष्ट है, तो वह पतित ही कहा जाता है। यथा—

"हरिभक्तिपरो वापि, हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात्पतितः सोऽभिधीयते॥

(बृहन्नारदीये)

अतः चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, सबको वेदशास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। द्विजों के जो आचार-व्यवहार चिह्न हैं, वे सभी उसको अत्यन्त आदरणीय होने चाहियें।

कोई जिज्ञासु यह पूछ सकता है कि कुछ शैव तथा वैष्णवों का कहना है कि गायत्री, यज्ञोपवीत एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि धर्म शैव या वैष्णव के लिये गौण हैं, उनके लिये तो अष्टाक्षर पञ्चाक्षरादि मन्त्र ही का अत्यन्त प्राधान्य होना चाहिये। वेद-शास्त्र तथा तदुक्त वर्णाश्रम-धर्म के बिना भी केवल शैव एवं वैष्णव धर्म से उनका कल्याण हो जाता है। इसका यह उत्तर है कि यद्यपि विष्णुमन्त्रादि प्राणिकल्याण के साधनरूप में आदरणीय हैं, तथापि वैष्णवतादि से द्विजत्व ही अधिक प्रबल है; क्योंकि द्विजत्व परमेश्वर-दत्त है। वैष्णवत्व, शैवत्व आदि प्राणि-संपादित हैं, अतः वैष्णवतादि के निमित्त से होनेवाले धर्मों का सम्मान अवश्य करना चाहिये। परन्तु परमेश्वर-दत्त द्विजत्व की रक्षा का भी ध्यान रखना परमावश्यक है। द्विजत्व की अभिव्यक्ति यज्ञोपवीत, भस्म एवं शिखा से होती है, वैष्णवता की अभिव्यक्ति कण्ठी, गोपीचन्दनादि से होती है। वैष्णवता के चिह्नों से द्विजत्व के चिह्नों का तिरस्कार अत्यन्त असंगत है। इसलिये वैदिकों के गृह में वैष्णवता को द्विजत्व से अविरुद्ध होकर ही रहना चाहिये। अवैदिकों के यहाँ यथारुचि व्यक्त लिङ्गों से वैष्णवता भले ही रहे।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि शैव, वैष्णव, शाक्त इन सभी संप्रदायों में प्रधान रूप से दो भेद हो गये हैं—एक वैदिक दूसरा अवैदिक। वैदिकों के यहाँ वेद तथा वेदोक्त कर्म एवं तदनुसारी लिङ्गों का प्राधान्य होता है, और तदविरुद्ध प्रकार से ही विष्णु,

शिव आदि देवताओं की उपासना होती है तथा सभी देवताओं का सम्मान होता है।

इन वैदिकों में किसी दूसरे देवता की निन्दा करना पाप समझा जाता है। पर अवैदिक वैष्णवों तथा शैवों के यहाँ वेद या तदुक्त धर्म-कर्म तथा तदनुकूल लिङ्गों का कोई सम्मान नहीं केवल साम्प्रदायिक आगम-तन्त्रादि के अनुसार आचार एवं चिह्नों का ही अधिक सम्मान है।

द्विज के लिये वैदिक चिह्नों का तिरस्कार अयुक्त है, शैवत्व या वैष्णवत्व पितृ-परम्परा से नियत नहीं है। वैदिक लोगों का तो यही कहना है कि जिस पुत्र के कल्याण के लिये उसके पिता, माता, पितामह, प्रपितामह आदि ने जिस व्रत या देवता का आराधन किया हो, उस पुत्र के कल्याण का मूल वही व्रत, एवं उसी देवता का आराधन है। ऐसी व्यवस्था मानने से राग-द्वेष भी मिट सकते हैं। अतः जिसकी मातृ-पितृ-परम्परा में जिस देवता का आराधन प्रचलित हो उसे उसी देवता के आराधन में तत्पर होना चाहिये।

——

१०

सर्वसिद्धान्त-समन्वय

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥

यह बात विदितवेदितव्य महानुभावों से तिरोहित नहीं है कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डगत विविधवैचित्र्योपेत, भोग्यभोक्तृकर्तृकरणादिनिर्म्माणपटीयसी, अचिन्त्याऽनिर्वाच्यकार्य्यानुमेयस्वानुरूपरूपा, श्रुतिसमधिगम्य-याथातथ्यभावा, अवान्तराऽनन्तशक्तिकेन्द्रभूता महाशक्ति जिन प्रत्यस्तमिताऽशेषविशेषमनोवचनातीत प्रज्ञानानन्दघन स्वमहिमप्रतिष्ठ भगवान् के आश्रित होकर उन्हीं की महिमा से सत्ता स्फूर्ति प्राप्त करके सावधानी से जगन्नाट्यनियन्त्री होती हुई भी प्रभु की भ्रुकुटिविलासानुविधायिनी होती है, उन सकल-अकल्याण-गुणगणप्रत्यनीक-निखिल-कल्याण-गुण-गण-निलय, अचिन्त्यानन्त-सौन्दर्यमाधुर्यसुधासिन्धु नटनागर में समस्त परस्पर-विरुद्ध धर्मों का सामञ्जस्य होते हुए भी स्वमति-प्रभव-तर्क एवं स्वाभिमत-शास्त्र तदर्थ विवेचनादि द्वारा नाना प्रकार (का) विकल्प कुछ काल से ही

नहीं वरन् अनादिकाल से करते हुए परीक्षक-दार्शनिक-वृन्द श्रवण-या दृष्टिगोचर होते आये हैं।

उन दार्शनिकों का, पारस्परिक अनेकप्रभेद होते हुए भी, भारतीय भाषा में वैदिक तथा अवैदिक शब्द से निर्देश किया जाता है। वेद-तन्मूलशास्त्रानपेक्षव्यक्ति-विशेष-निर्मित शास्त्र एवं स्वमतिप्रभव तर्कादि द्वारा तत्त्वों को निर्धारण करनेवाले अवैदिक कहलाते हैं। तद्विपरीत भ्रमप्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि पुरुष स्वभावसुलभदोषसंसर्गरहित अपौरुषेय वेद तन्मूलशास्त्र तथा तत्संस्कार-संस्कृत प्रज्ञातन्त्र तत्त्वनिर्धारण एवं तत्प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करनेवाले वैदिक कहलाते हैं।

यद्यपि "भूतं भव्यञ्च यत् किञ्चित् सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस अभियुक्तोक्ति से तथा सूत्ररूप से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयाद्यात्मवाद, शून्यवाद, इत्यादि वेदों में पाये जाते हैं तथापि न तो वे वाद सर्वथा सिद्धान्तरूप से वेदों में माने ही गये हैं और न तत्तद्वादाभिमानी अपने वादों के वैदिकत्व में आग्रह करते या गौरव ही मानते हैं। अतः उनके वैदिकत्वाऽवैदिकत्व में कोई विवाद नहीं। वैदिक सिद्धान्तियों का भी जब कि अंशभेद में प्राधान्याप्राधान्य-भाव से वैमत्य ही नहीं प्रत्युत बाह्यों से भी अधिक पारस्परिक संघर्ष है, तब एक शृङ्खलासम्बन्धशून्य परस्पर स्वतन्त्र विचारपद्धति को समाश्रयण करनेवालों में मतभेद तथा संघर्ष होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इतना होने पर भी क्या सभी सिद्धान्त सर्वांश में नितान्त भ्रममूलक तथा अनिष्टप्रद

हैं, अथवा सर्वांश में सभी भ्रमामूलक एवं पुरुषार्थप्रद हैं, यह बात कोई भी बतलाने का साहस नहीं करता !

यह सत्य है कि स्वसिद्धान्तातिरिक्त सभी प्रायः भ्रममूलक एवं परमपुरुषार्थ से च्युति के हेतु हैं। ऐसे स्वगोष्ठीसिद्धसिद्धान्ताभिमानी आज भी कम नहीं हैं। एक-वस्तु-विषयक प्रमाज्ञान एक ही होता है, नानाज्ञान अयथार्थ होते हैं। एक-वस्तु-विषयक अनेक प्रतिपत्तियाँ अवश्य ही प्राणियों को भ्रम में छोड़ती हैं।

चार्वाकों का कहना है कि जब तक जीवे सुख-पूर्वक जीवे। देह के भस्म हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इनके मत में नीति और काम-शास्त्र के अनुसार अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। अन्य कोई पारलौकिक धर्म या मोक्ष नाम का कोई पुरुषार्थ नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार ही भूत हैं। ये ही जब देह के आकार में परिणत होते हैं, तब उनसे चैतन्य-शक्ति उसी तरह उत्पन्न हो जाती है, जैसे अन्न-कण आदि से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, किंवा हरिद्रा और चूना से एक तीसरा लाल रङ्ग पैदा हो जाता है। अतएव, देह के नाश से उस चैतन्य का नाश हो जाता है। इसलिये चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त अनुमान, आगम आदि प्रमाणों की इस मत में मान्यता नहीं है। इसी लिये देह से भिन्न आत्मा होने में कोई भी प्रमाण नहीं है। कामिनी-परिरम्भण-जन्य सुख ही स्वर्ग है, कण्टकादि-व्यथा-जन्य दुःख ही नरक है। लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, देह का नाश ही मुक्ति है। 'मैं स्थूल हूँ,

कृश हूँ' इस अनुभव से स्पष्ट है कि देह ही आत्मा है। 'मेरा देह है' यह अनुभव 'राहोः शिरः' के समान औपचारिक है। इस पर बौद्धों का कहना है कि विना अनुमान-प्रमाण को स्वीकार किये काम नहीं चल सकता। पशु की भी प्रवृत्ति-निवृत्ति बिना अनुमान की नहीं होती। हाथ में हरी घास लिये पुरुष को देखकर पशु की उस ओर प्रवृत्ति और दण्डोद्यतकर पुरुष को देखकर उस ओर से निवृत्ति होती है। यह सब इष्ट-अनिष्ट का हेतु समझे विना नहीं हो सकता। इसके सिवा अनुमान प्रमाण नहीं है। यह वचनप्रयोग भी वहीं सार्थक है, जहाँ अनुमान प्रमाण है, ऐसा अज्ञान सन्देह या भ्रम हो, कारण, इन्हीं की निवृत्ति के लिये वाक्य-प्रयोग की आवश्यकता होती है। परन्तु दूसरे के अज्ञान, सन्देह, भ्रम आदि का निश्चय दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं, अतः आकृति आदि से उनका अनुमान या वचन प्रमाण से निर्णय करना होगा। यह सब विना किये यदि जिस किसी के प्रति अनुमान प्रमाण नहीं है, ऐसा कहने लग जायँ तो एक तरह का उन्माद ही समझा जायगा। अनुमान से स्पष्ट ही विदित होता है कि अचेतन देह से भिन्न आत्मा है।

इन बौद्धों में चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। उनका कहना है कि जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे दीपशिखा या बादलों का समूह। अर्थक्रियाकारित्ता ही पदार्थों का सत्त्व है, वह सबमें है। अतः क्षणिकत्व भी सबमें है। उनके मत में बुद्ध ही देव है और समस्त विश्व क्षणभंगुर है।

वैभाषिक के मत में बाह्य शब्दादि अर्थ और आन्तर ज्ञान दोनों ही प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं। परन्तु सौत्रान्तिक आन्तर अर्थात् ज्ञान को ही प्रत्यक्ष और बाह्य अर्थ को अनुमेय मानता है। उसका कहना है कि एकाकार ज्ञान में शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, रूप-ज्ञान इस तरह जो अनेक विलक्षणताओं की प्रतीति होती है, वह बिना बाह्य अर्थ के नहीं बन सकती। अतः ज्ञान की विलक्षणता के उपपादक रूप से बाह्य अर्थों का अस्तित्व अनुमान-गम्य है। योगाचार सविकल्प-बुद्धि को ही तत्त्व मानता है। वह बाह्य अर्थ का अस्तित्व नहीं स्वीकार करता। माध्यमिक सर्वशून्य ही मानता है। कहा जाता है कि बुद्धदेव का परम तात्पर्य सर्वशून्यता में ही था। विज्ञानवादी प्रवृत्तिविज्ञान (नीलादि ज्ञान) को मिटाकर आलय-विज्ञानधारा 'अहं अहं' इत्याकारक को ही मुक्ति मानता है। इस पर जैनों का कहना है कि बिना किसी स्थायी आत्मा को स्वीकार किये ऐहलौकिक पारलौकिक फल साधनों का सम्पादन व्यर्थ है। यदि आत्मा क्षणिक ही है तो कर्मकाल में आत्मा अन्य और भोगकाल में अन्य ही हुआ। परन्तु यह कथमपि सङ्गत नहीं, क्योंकि जो कर्त्ता है, वही फलभोक्ता भी होता है।

अबाधित प्रत्यभिज्ञा से भी एक स्थायी आत्मा की सिद्धि होती है। "जो मैंने चक्षु से घट देखा था, वही मैं हाथ से स्पर्श कर रहा हूँ। मैं, जिसने स्वप्न में हस्ती देखा था वही मैं जाग रहा हूँ।" अतः स्पष्ट है कि स्वप्न, जागर आदि में एक ही आत्मा है। जो यह कहा जाता है कि क्षणिक विज्ञान सन्तान में ही पूर्व-विज्ञानकर्त्ता होगा, उत्तर-

विज्ञान-भोक्ता होगा, ऐसी परिस्थिति में भी दूसरे के कर्म का दूसरा भोक्ता नहीं होगा। क्योंकि इसमें कार्य्य-कारण भाव ही नियामक होगा। अर्थात् एक विज्ञानधारा में तो कार्य्य-कारण भाव है, परन्तु दूसरी विज्ञानधारा के साथ दूसरी विज्ञानधारा का कार्य-कारण भाव नहीं है। जैसे मधुर रस से भावित कर्षितभूमि में वोये हुए आम्र-बीजों की मधुरिमा अंकुर, काण्ड, स्कन्ध, शाखा, पल्लवादि द्वारा फल में भी पहुँचती है. जैसे लाक्षारस से सींचे हुए कार्पास-बीजों की रक्तता अंकुरादि परम्परा से कपास में पहुँचती है, वैसे ही जिस विज्ञान-सन्तान में कर्म और कर्मवासना आहित होती है उसी में फल भी होता है।

यह भी ठीक नहीं है। कारण, दोनों ही दृष्टान्तों में बीजों का निरन्वय नाश नहीं होता है, किन्तु बीज के ही सूक्ष्म अवयव भिन्न भिन्न भावना से भावित होकर फलादि रूप में पूर्ण विकसित होते हैं। परन्तु क्षणिकवादी के मत से तो विज्ञान का निरन्वय नाश होता है। इसके सिवा जैसे पिपीलिकाओं से भिन्न होकर उनकी पङ्क्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है, ठीक वैसे ही सर्वत्र सन्तानी से भिन्न होकर सन्तान कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान-ज्ञेय दोनों भिन्न काल में हों तो भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बनेगा और यदि सव्येतर विषाण के समान समकाल में हो तो भी ग्राह्य-गाहक भाव नहीं बनेगा अतः स्थायित्व स्वीकार करना ही चाहिये। अतः 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश' आदि दोषवारणार्थ स्थायी आत्मा का मानना अनिवार्य्य है।

इनके मत में अनादि एक परमेश्वर कोई नहीं है किन्तु तप आदि से आवरण के प्रक्षीण हो जाने पर जिस आत्मा को अशेष विज्ञान हो गया वही सर्वज्ञ हैं। वह क्रमेण अनेक होते हैं। उन सर्वज्ञों से निर्मित आगम ही शास्त्र हैं, देह-परिमाण-परिमित आत्मा है। बन्ध दशा में जीव जल में लोष्टबद्ध तुम्त्रिका के समान डूबता-उतराता है। मोक्ष दशा में उसकी लघु तूल के समान सतत ऊर्ध्व गति होती है।

नैयायिकों का कहना है कि आत्मा देहादि से भिन्न व्यापक एवं ज्ञानादि गुणों से युक्त और नाना है। विश्वकर्त्ता एक परमेश्वर का स्वीकार किये बिना जगन्निर्माण, कर्मफल-व्यवस्था आदि कुछ भी न बनेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान और एक सर्वज्ञ परमेश्वर-निर्मित वेद एवं तदविरुद्ध आर्ष आगम एवं उपमान प्रमाण हैं। तत्त्व-ज्ञान द्वारा सर्वदुःखोच्छेद ही मुक्ति है। सांख्यवादी कहता है कि आत्मा व्यापक, असङ्ग, अनन्त चेतनरूप है। वह ज्ञानादि-गुण एवं कर्तृत्वादि दोषों से रहित है। प्रकृति ही पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन के लिये महदादि प्रपञ्चाकार में परिणत होती है। प्रकृति-प्राकृत तत्त्वों और उनके धर्मों के साथ विवेक न होने से ही आत्मा में कर्त्तृत्वादि धर्म का भान होता है। वस्तुतः वे नित्यशुद्धबुद्धमुक्त असङ्ग हैं। अतः सांख्य-विवेक से स्वरूपा-वस्थान ही मोक्ष है। योगियों का आत्मा और प्रकृति आदि सांख्यों के समान ही है। अष्टाङ्ग योग द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वक द्रष्टा का स्वरूपावस्थान ही उनका

मोक्ष है। प्रकृति का नियमन एवं योगादि पुरुषों की अभीष्ट-सिद्धि का मूल एक परमेश्वर भी उनके मत में मान्य है। वह क्लेश कर्म-विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट है। पूर्व-मीमांसकों का कहना है कि जैसे खद्योत (जुगनू) प्रकाश-अप्रकाश उभयरूप होता है वैसे ही आत्मा चेतन-अचेतन उभयात्मक है। वेद-विहित कर्मों के द्वारा वह शुभ सुखज्ञान-रूप से परिणामी होता है। वेद-प्रतिषिद्ध कर्मों द्वारा दुःखादिज्ञानाकार से परिणत होता है। उनके मत में वेद अनादि, अपौरुषेय अतएव स्वतःप्रमाण हैं। अर्थापत्ति अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा भी पदार्थों का निर्णय किया जाता है।

उत्तर-मीमांसकों में तो बहुत मतभेद है, क्योंकि प्रायः भारतीयों का अधिक तत्त्वान्वेषी समाज उसमें आदर रखता है। इसी से शाक्तागम, शैवागम, वैष्णवागमादि पथानुयायियों की दृष्टि में अपने आगमों का प्राधान्य होते हुए भी बादरायण महर्षि प्रणीत वैदिक-तात्पर्य्य-निर्णायक चतुर्लक्षणी उत्तरमीमांसा से अनुमत स्वसिद्धान्त होने से गौरव मानना उनके लिये अनिवार्य हो गया।

इसी लिये अनेक महानुभावों ने उसे अपनाया और उस पर स्वाभिमत भाष्य टीका-टिप्पणियाँ कीं। एक ही शास्त्र में, नहीं! एक ही सूत्र में, सहस्रों भाव-पूर्ण गम्भीर व्याख्यान हों! क्या उस शास्त्र-सूत्र-निर्माता या तदाधारभूत वेद भगवान् की महत्ता साधारण बुद्धि के बाह्य का विषय नहीं है? अस्तु, उत्तरमीमांसा-भाष्यकारों का अतिसंक्षिप्त प्रधान विषय दिखलाते हैं—द्वैतवादी प्रकृति, पुरुष

तथा परमेश्वर इत्यादि श्रुति-सूत्र-प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति-सूत्र प्रथम तो हैं ही नहीं, यदि हैं तो भी वे गौणार्थक हैं। अर्थात् उनका स्वार्थ में कुछ तात्पर्य्य नहीं है। ध्यान में रखना चाहिये कि पूर्वमीमांसक से लेकर उत्तरोत्तर सभी सिद्धान्तियों का "प्रमाणं परमं श्रुतिः" ऐसा उद्घोष है।

विशिष्टाद्वैतवादियों का कहना है कि अद्वैत नहीं है, यह कहना केवल धृष्टता है। जब कि अद्वैतवादिनी श्रुति विद्यमान हैं, तब उनका तात्पर्य्य अद्वैत में नहीं है यह भी कैसे कहा जा सकता है? अतः चित्-अचित् उभयविशेषण-विशिष्ट परमतत्त्व अद्वितीय है और वही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है, केवल निमित्त ही नहीं!

"नीलमुत्पलम्" तथा शरीर-शरीरी के समान विशेषण विशेष्य का पारस्परिक भेद होते हुए भी अभेद या अद्वैत सूपपन्न है। इस पक्ष में भेदवादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का सामञ्जस्य हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनन्तर द्वैताऽद्वैतवादी कहते हैं कि विशिष्टाऽद्वैत भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्ष में विशेषण-विशेष्य का वस्तुतः भेद ही मानते हो तब अद्वैत कैसे हो सकता है? विशिष्टाऽद्वैत केवल प्रयोग-चातुर्य्य है। अतः इस पक्ष में भी अद्वैतवादिनी श्रुति निरालम्बन ही रह जाती हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है और वही श्रुति सूत्र के तात्पर्य्य का विषय है। जैसे "सुवर्णं कुण्डलं" ऐसे प्रयोग तथा विचार से भी सुवर्ण स्वरूप ही

कुण्डल है। इस वास्ते सुवर्ण कुण्डल का अभेद, एवं सुवर्ण जानने पर भी "किमिदम्" ऐसी कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा होती है, इसी लिये दोनों का भेद भी है।

पयोव्रती दधि नहीं भक्षण करता, दधिव्रती पय से बचता है; गोरसव्रती दोनों ही का भक्षण करता है। इस तरह व्यवहारपार्थक्य से भेद होता है। 'तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन' अर्थात् सुवर्णादि कारण के अधीन हो कार्य की स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है। अतः अभेद भी है। ठीक ऐसे ही चित् भोक्तृवर्ग, अचित् भोग्यवर्ग परमतत्त्व के अधीन ही स्थिति प्रवृत्तिवाले हैं। अतः परमतत्त्व से अभिन्न हैं; व्यवहार में विरुद्ध धर्म देखने में आता है अतः भिन्न भी हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व ही में शास्त्र का अभिप्राय है।

शुद्धाद्वैतवादी इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते! उनका कहना है कि परमतत्त्व से पृथक् चित्-अचित् किसी तरह से हैं, तभी आप 'तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन' इस उपाधि से अभेद मानते हैं। वस्तुतः विशिष्टाऽद्वैतवादियों के समान आपके यहाँ भी अद्वैत-वादिनी श्रुति सम्यक् स्वार्थपर्यवसायिनी नहीं होती। परमात्मा से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने से तत्त्व में परिच्छेद होने से "निरतिशय पूर्णता" भी बाधित होगी। इस वास्ते विशिष्टत्व-भिन्नत्वादि-शून्य शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही श्रुति-सर्वस्व है। इस पक्ष में भेद-वादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों प्रकार की श्रुतियाँ अबाधित रहेंगी। भेदाऽभेद का परस्पर विरोध होने से एकत्र सामञ्जस्य होना भी असम्भव है।

इस पक्ष में "एकोऽहं बहु स्याम्" इत्यादि श्रुतिशतसिद्ध एकतत्त्व ही का बहुभवन अघटित-घटना-पटीयान् आत्मयोग की महिमा से सम्यक् सूपपन्न हो जायगा। परमेश्वर समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। अतः अणोरणीयस्त्व, महतोमहीयस्त्व, सर्वधारकत्व, सर्वसंसर्गराहित्य, स्वाभिन्न सुख-दुःख-मोहात्मक-प्रपञ्च-निर्मातृत्व, अविकृतपरिणामित्व भी होने में कोई आपत्ति नहीं।

विचित्रस्वरूपाभिन्नआत्मवैभव ही सर्वसमाधान में पर्याप्त है; सदंशाश्रित मायाशक्ति, चिदंशाश्रित संविच्छक्ति, आनन्दाश्रित आह्लादिनी शक्ति के सम्बन्ध से सदादि अंशों का ही प्रकृति-प्राकृत तथा पक्षत्रयाऽनुमोदित अणुपरिमाणचित्कणस्वरूप भोक्तृवर्ग एवं ज्ञान आनन्द के प्राधान्याऽप्राधान्य से अन्तर्यामी श्रीकृष्ण आदि रूप में अविकृत परिणाम निर्दुष्ट होने से सर्वव्यवहार भी समञ्जस है। इस पक्ष में कारणांश को लेकर अद्वैतवादिनी, सप्रपञ्च को लेकर द्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी ठीक लग जायँगी।

इसी तरह शैवों तथा पाशुपतों ने भी उत्तरमीमांसा पर भाष्य किया है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अंशों में वैष्णव भाष्यकारों और शैव भाष्यकारों में भेद नहीं है। प्रत्युत सबका यह दावा है कि यह वाद मुख्य रूप से हमारे ही हैं, दूसरों ने इन्हें चुराया है। वैष्णवमतानुयायियों का कहना है कि शैव भाष्यकार ने वैष्णव विशिष्टाद्वैत को चुराकर अपना रूप-रङ्ग देकर व्यक्त किया है। शैव मतानुयायियों का कहना है कि वैष्णव विशिष्टाद्वैतियों ने ही शैवविशिष्टाद्वैतियों के मत को चुराया है। वैष्णव 'अथातो ब्रह्म-

जिज्ञासा' इस सूत्र के ब्रह्म पद का विष्णु अर्थ करते हैं, शैव शिव अर्थ करते हैं। वैष्णवों में भी परस्पर विवाद है। कोई ब्रह्म शब्द में श्रीमन्नारायण, कोई रामचन्द्र, कोई श्रीकृष्ण, कुछ लोग श्रीकृष्ण के भी द्वारकास्थ, मथुरास्थ, ब्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, निकुञ्जस्थ स्वरूपों में मतभेद उठाते हैं। शाक्ताद्वैतवादी अनन्त, अखण्ड, प्रकाशात्मक शिव और उसकी स्वभावभूता, उससे अत्यन्त अभिन्न विभाशक्ति को शक्ति कहते हैं। वही शक्ति बाह्योन्मुख होकर प्रपञ्चव्यञ्जिका होती है। अन्तर्मुख होकर केवल शिवस्वरूपा ही होती है।

इसके बाद अद्वैतवादियों का कहना है कि आपका भी कहना ठीक है, परन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तियों का भी कहना निर्मूल नहीं! "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः", "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुतियों से वेदों का परम तात्पर्य "एकमेवाऽद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति-सहस्रसिद्ध सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, पूर्ण प्रज्ञानानन्द-घन परमात्मा में ही है।

अवान्तर तात्पर्य्य पारमार्थिक सत्ता से कुछ न्यून सत्तावाले अर्थात् अपरिच्छिन्न पूर्ण परमतत्त्व की परमार्थ सत्यता से न्यून सत्तावाले अघटित-घटना-पटीयसी अचिन्त्यानिर्वाच्य भगवदीय शक्ति एवं तदीय विकाश विविधवैचित्र्योपेत, विश्वजनीनाऽनुभवनिवेदित विश्व-व्यवहारोपयुक्त सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध पदार्थों में भी है। अघटित-घटनीपटीयान् आत्मवैभव हम भी मानते हैं पर उसे अनिर्वाच्य स्वभाव और मानना चाहिये? क्योंकि यदि उसे परमात्मतत्त्व से

व्यतिरिक्त परमार्थ सत्य मानें तो अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होती हैं। असत् खपुष्पादिवत् मानें तो प्रपञ्चनिर्माणपटीयस्त्व नहीं बनता! परमार्थसत् परन्तु परमतत्त्व से अत्यन्त अभिन्न मानें तो तद्वत् ही अविकारी कूटस्थ होने से उसमें सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च की हेतुता नहीं बनती।

भेदाऽभेद सत्त्वासत्त्व विकृतत्वाविकृतत्व समान सत्ता से एक जगह हो नहीं सकते। अन्यथा विरोधमात्र ही दत्ताञ्जलि हो जायगा? यदि श्रुतिप्रामाण्यात् ऐसा मानें सो भी नहीं; क्योंकि शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक होते हैं; न कि अकृतकर्तृ। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, शास्त्र उसके स्वरूप को वैसा ही बतलाते हैं। वस्तु-स्वभाव को अन्यथा नहीं करते। इस वास्ते जैसे पट अन्वय-व्यतिरेकादि युक्ति तथा वाचारम्भणादि श्रुतियों के विचार से तन्तु-व्यतिरिक्त नहीं होता, किन्तु आतानवितानात्मक तन्तु ही पट है तथापि अङ्गप्रावरणशीतापनयनादि कार्य्य तन्तुओं से नहीं होता किन्तु पट ही से होता है। अतः विलक्षण अर्थ-क्रिया-निर्वाहक होने से सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते। ठीक वैसे ही "अघटित-घटना-पटीयान्" आत्मयोग भी परमतत्त्वापेक्षया न्यून-सत्ताक अनिर्वाच्य मानना चाहिये। ऐसा मानने में विषम सत्ता होने से द्वैताऽद्वैत का विरोध भी नहीं होगा।

क्योंकि समान सत्तावाले भावाभावों का ही परस्पर विरोध होता है; न कि विषम सत्तावालों का भी। व्यावहारिक सत्ता के रूप्याभाववान् शुक्तितत्त्व में प्रातिभासिक सत्ता से रूप्यभाव होने

में कोई आपत्ति नहीं। तद्वत् परमार्थ सत्ता से अद्वैत तदपेक्षया न्यून अर्थात् व्यावहारिक सत्ता से द्वैत होने में कोई विरोध नहीं। इस पक्ष में व्यावहारिक अर्थात् व्यवहारकाल में आकाशादिवत् अबाध्यक्रियादिनिर्वाहक सत्यतासम्पन्न द्वैत को लेकर समस्त लौकिक वैदिक व्यवहार तथा अद्वैतवादिनी श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य के विषयभूत द्वैत में सामञ्जस्य भी पूर्वोक्त सिद्धान्तियों के अनुसार सम्पन्न होगा; तथा त्रिकालाबाध्य व्यवहारातीत परमार्थ सत्य स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्व के अभिप्राय से अद्वैतवादिनी श्रुति ही नहीं, अपितु समस्त श्रुतियाँ भी अपने महातात्पर्य के विषयभूत अनन्तानन्दात्मक तत्त्व में पर्यवसित हो जायँगी।

इन सिद्धान्तों के सिवा स्वाभाविक भेदाभेद, सोपाधिक भेदाभेद, चिदचिदविभक्ताद्वैत आदि अनेक सिद्धान्त हैं। परन्तु प्रायः उक्त मतों से मिलते-जुलते या गतार्थ हो जाते हैं। इनमें वैसे तो प्रायः परस्पर सभी अन्योन्य का खण्डन तथा स्वमतमण्डन करते हैं, परन्तु कुछ तो सिद्धान्तमात्र में विवाद करते हुए भी स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं; इस वास्ते उनके यहाँ अधिक संघर्ष नहीं प्रवेश करने पाता। परन्तु कुछ लोगों की तो सिद्धान्त या स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ प्रयत्न करने से तत्परता छूटकर परमत-खण्डन या परकीय इष्टदेव तथा आचार्यों के दोष प्रकट करने में ही प्रवृत्ति होती है।

जैसे 'शैव' या 'वैष्णव' लोगों की कट्टरता प्रसिद्ध है; सुना जाता है कि शिवकाञ्ची विष्णुकाञ्ची आदि परमपुण्य स्थलों में

प्रथम ऐसी दशा थी कि एक दूसरों के देवता के उत्सव या रथयात्रा आदिकाल में 'अभद्र' अर्थात् शोक के चिह्न एवं अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया करते थे। विष्णुभक्त शिव की निन्दा और शिवभक्त विष्णु की निन्दा करते थे। भस्म, रुद्राक्ष, ऊर्ध्व-पुण्ड्र, तप्तमुद्रा, कण्ठी आदि विषयों पर ही अतिगर्हणीय कलह करते थे।

प्रज्ञा का तत्त्व पक्षपात होना स्वभाव है। जरा ध्यान देकर विचारिये कि क्या उक्त समस्त सिद्धान्त सोपानारोहक्रम से किसी सिद्धान्तभूत परमार्थ सत्य परमतत्त्व में पर्यवसित होते हैं; अथवा परस्पर-विरुद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय से निर्मूल हो जाते हैं? द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि भला थोड़ी देर के लिये बाह्यों को छोड़ भी दें, तो भी तत्तद्वादाभि-मानियों से अभिमत तत्तद्देवताओं के अवतारभूत तत्तदाचार्य मात्सर्यादि दोषशून्य "प्रमाणं परमं श्रुतिः" का उद्घोष करते हुए "सर्वभूतानुकम्पया" प्रवृत्त होकर अतात्त्विक निष्प्रयोजन सिद्धान्त-स्थापन क्यों करेंगे?

इस वास्ते प्रथम पक्ष ही में कुछ सार प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि फिर उक्त सिद्धान्तों में कौन सा सिद्धान्त ऐसा है कि जिसमें साक्षात् या परम्परया सभी सिद्धान्तों का सामञ्जस्य हो? क्योंकि द्वैत-अद्वैत अत्यन्त विरोधी सिद्धान्तों का परस्पर सामञ्जस्य होना मानों तेज-तिमिर या दहन-तुहिन का ऐक्य सम्पादन है। इस विषय में समन्वय-साम्राज्य-पथानुसारी शास्त्र-

तात्पर्य-परिशीलन संस्कृतप्रेक्षावानों का कहना है कि "वेदैकसमधिगम्य" तत्त्व में आस्था रखनेवाले सिद्धान्तों का सामञ्जस्य तो सिद्ध ही है।

विशेष विचार से तो अदृष्ट कुछ न मानकर एकमात्र दृष्ट पदार्थ को माननेवाले बाह्य चार्वाक का भी दृष्ट को परमार्थसत्तया कुछ न मानकर केवल अदृश्य, अव्यक्त, अव्यवहार्य परमार्थतत्त्व को ही माननेवाले अद्वैतियों से परम्परया अविरोध हो सकता है।

इस वास्ते यद्यपि द्वैत में अद्वैत का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, तथापि अद्वैत में द्वैत का अन्तर्भाव हो सकता है। लोक में देखते ही हैं कि एक वटबीज से अनन्त वट-वृक्ष, एक मृत्तिका से अनन्त घट-शरावादि पात्र होते हैं। श्रुति भी—

"एकोऽहं बहु स्याम्, तदात्मानमेवाऽकुरुत"

इत्यादि वाक्यों से एक का ही बहुभवन बतला रही है। तस्मात् जैसे महासमुद्र में वायु के योग से तरङ्ग, फेन, बुद्बुद अनेक विकार स्वरूप से समुद्र का ही प्रादुर्भाव होता है, उसी तरह अनिर्वाच्य भगवदीय शक्ति के तादृश ही योग्य से अनिर्वाच्य प्रपञ्च रूप से निरवयव, निष्क्रिय, प्रज्ञानानन्दघन का अनिर्वाच्य प्रादुर्भाव होना श्रुतिसिद्ध है। भगवच्छक्ति की अनिर्वचनीयता तथा तत्कृत द्वैत का परमार्थ सत्य अद्वयानन्दब्रह्म के साथ अविरोध दिखा ही चुके हैं। अस्तु, जैसे प्रदीपशिखा या प्रकाश स्वसन्निहित स्वच्छता तारतम्योपेत बहुसंख्यक काँच के योग से तत्तदाकाराकारित हो जाती है, क्योंकि प्रकाश्य को प्रकाशता हुआ प्रकाश प्रकाश्याकार हो ही

४४

जाता है, ठीक उसी तरह आनन्दमय से लेकर अन्नमय ही पर्यन्त नहीं, अपितु तत्तद् इन्द्रियों द्वारा संसृष्ट शब्दाद्यात्मक पुत्र-कलत्रादि पर्यन्त के सन्निधान से तत्तदाकाराकारित विशुद्ध आत्मतत्त्व ही हो जाता है।

उपाधि के सम्बन्ध से उपहित की उपाधिस्वरूपवत्ता स्फटिकादि में प्रसिद्ध है। अतएव तत्तदुपाधियों के सम्बन्ध से उनके साथ अभेदभावापन्न आत्मा का आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राण-मय, अन्नमय तथा पुत्र रूप से निर्देश श्रुतियों में पाया जाता है। इसी वास्ते सकलविभ्रमास्पद परमतत्त्व में नानाप्रकार वादिविप्रति-पत्ति स्वस्वमतिवैभवानुसार तत्त्वग्रहण यह सभी समञ्जस है। उन्हीं लोक-बुद्धि-सिद्ध स्वरूपों का सोपानारोह क्रम से परमात्म-तत्त्व-प्रतिपत्ति के लिये मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति उत्तरोत्तर अनुवाद करती हैं। पुत्रादि से आत्मभाव की व्यावृत्ति के लिये अन्नमय देह में आत्मभाव रखनेवाले चार्वाक का भी मत अभिमत होने से अद्वैत में उपयुक्त है।

देह से आत्मभावव्यावृत्त्यर्थ प्राणमय में भी आत्मभाव अपेक्षित है। प्राणमय से आत्मबुद्धि हटाने के लिये मनोमय में आत्मभाव भी ठीक ही है एवं अभासान्वित क्षणिकबुद्धि वृत्ति-सन्तति में तथा सन्ततिक्षय रूप में विज्ञान तथा शून्य का अभिमान रखनेवाले विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों का भी मत परमतत्त्व-प्रतिपत्ति में क्रमशः पूर्वप्रतिपन्न आत्मभाव व्यावृत्ति के लिये उपयुक्त हो सकता है। संघात व्यतिरिक्त शरीर परिमाण आत्मा मानने-

वाला "आर्हत" सिद्धान्त भी संघाताभिमान-व्यावृत्ति के लिये उपादेय ही है।

नैयायिक, वैशेषिक भी व्यवहारोपयुक्त पदार्थ अनुमानादि प्रमाण संघातातिरक्त विभु आत्मा सिद्धकर परमतत्त्व प्रतिपत्ति के परम उपकारक हैं। सांख्य प्रकृति पुरुष का क्षीर-नीर से भी घनिष्ठ सम्मिश्रण मिटाकर असङ्ग, चेतन, विभु आत्मा को सिद्ध करते हैं। योगी तद्व्यतिरिक्त, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर सिद्ध कर परम पुरुषार्थभूत भगवदाराधन के साधक हो जाते हैं।

मीमांसकों ने भी भगवदाराधन का परम हेतु वर्णाश्रमानुसार वैदिक कर्मों का स्वरूप निर्णय कर अत्यन्त उपकार किया, जिनका कि भगवान् "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इत्यादि वचनों द्वारा परमतत्त्व प्रतिपत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करते हैं।

यहाँ से अब उत्तर-मीमांसकों की आवश्यकता देखनी चाहिये, परन्तु इसके पहिले यह बात समझ लेना चाहिये कि उक्त अथवा वक्ष्यमाण दार्शनिकों का विषय विशेष में प्राधान्य तदितर में गौण अभिप्राय मानकर ही समन्वय किया जा सका है। अन्यथा सर्वांश में प्राधान्य होने से विरोध अनिवार्य्य होगा, इस वास्ते तत्तत्, दार्शनिकों के प्रधान अंश उपयुक्त होने से ग्राह्य एवं अविरुद्ध हैं, जैसा कि विद्वानों में न्याय, वैशेषिक सर्वांश को प्रतिपादन करते हुए भी प्रमाण शास्त्र ही कहलाते हैं।

पूर्वोत्तर-मीमांसा वाक्यशास्त्र कही जाती है। व्याकरण पदशास्त्र कहा जाता है। इन उक्तियों का अभिप्राय यही है कि

उक्त शास्त्रों का प्रधान विषय प्रमाणादि ही है, अन्य गौण। अतः गौण अंश में विरोध होते हुए भी प्रधानांश सर्वमान्य हैं। अभिप्राय यह है कि जो दार्शनिक जितने अंश में पूर्ण तत्त्व प्राप्ति के उपयोगी जो बात कहते हैं, उनका वही अंश ग्राह्य है तदितर अग्राह्य है। जो लोग जितने अंश में पुरुषार्थ मानते हैं, उसी के हेतु का निर्णय करते हैं। निद्रालस्यादि तामस भावों की अपेक्षा राजस विषयोपभोगादि श्रेष्ठ पुरुषार्थ तथा अन्वयव्यतिरेक सिद्ध तत्साधन माननेवाले चार्वाक भी अंशतः अभिज्ञ ही हैं। जो विचारक दृष्टाऽदृष्ट-भेद से जितने पुरुषार्थ जिन जिन प्रमाणों से मानते हैं वे उन्हीं उन्हीं प्रमाणों से उनके साधनों का भी निश्चय करते हैं। महर्षि लोगों ने भी जिस विषय के अन्वेषण में समाधि द्वारा असाधारण प्रयत्न किये हैं उस विषय में उनकी असाधारण मान्यता होती है। जैसे महर्षि पाणिनि की शाब्दिकी व्यवस्था में, जिन विषयों में प्राधान्य नहीं उन विषयों में विरोध अनिवार्य है। अस्तु, उत्तरमीमांसा के द्वैत सिद्धान्तपरक भाष्यकार "भक्त्या मामभिजानाति, यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।" इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार परमतत्त्व साक्षात्कार का असाधारण कारण भगवद्भक्ति एवं तदुपयुक्त-अनन्त कल्याण-गुण-गणाश्रय उपास्य स्वरूप तद्भिन्न उपासक स्वरूप-निर्णय करते हैं।

विशिष्टाऽद्वैतियों ने परमेश्वर के साथ जीव का कुछ असाधारण सम्बन्धपूर्वक भक्ति के आधिक्य एवं अद्वैतवादिनी श्रुतियों का निरादर हटाने का प्रयत्न किया। द्वैताऽद्वैतवादियों ने "अन्योऽसावह-

मन्येस्मि, न स वेद" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपासना में उपास्योपासक के अभेद ज्ञान की आवश्यकता समझते हुए भेदाभेद का बराबर आदर सिद्ध किया। शुद्धाऽद्वैतियों ने भगवत् तत्त्व से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने में वस्तु की पूर्णता में बाधा समझकर शुद्धाऽद्वैत तत्त्व का स्थापन किया।

यद्यपि शुद्धाऽद्वैत सिद्धान्त में उक्त भगवदीय आत्मवैभव से ही एक का बहुभवन सिद्ध होने से लौकिक वैदिक समस्त व्यवस्था सूपपन्न है तथापि "अजायमानो बहुधा व्यजायत", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुतियों से अजायमान का जायमानत्व, एक का बहुत्व माया से ही सिद्ध है। क्योंकि परमार्थतः एक ही वस्तु का अजत्व, जायमानत्व, एकत्व-बहुत्व, असम्भव है। इस वास्ते वस्तुतः सबाह्याभ्यन्तर अज सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य स्वप्रकाशप्रज्ञानानन्द घन में ही अचिन्त्याऽनिर्वाच्य स्वात्म-शक्ति के अनिर्वाच्य सम्बन्ध से ही जायमानत्व, बहुत्व स्वीकार करना चाहिये। इसी वास्ते अद्वैतवादी अनिर्वचनीयवादी भी कहलाते हैं।

वेदान्तियों की ब्रह्ममीमांसा का भिन्न भिन्न भाष्यकार भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। परन्तु उसका मुख्य तात्पर्य्य किसमें है यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। कहना न होगा कि महर्षियों के अभिप्रायों का ज्ञान महर्षियों को ही होता है। शुक्र-नीतिसार में शुक्राचार्य्य के मन्तव्यानुसार वेदान्त का अद्वैत में ही मुख्य तात्पर्य्य है। 'ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नेह नानास्ति किञ्चन,

मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदान्तिनां मतम् ।" (चतुर्थाध्याये तृतीये प्रकरणे) सर्वभेदविवर्जित ब्रह्म ही सब कुछ है, नाना कुछ भी नहीं है। तद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च मायिक ही है। यही वेदान्तियों का मत है। इसके सिवा जिन दार्शनिकों ने वेदान्त मत का खण्डन किया है उन्होंने भी अद्वैत ही को वेदान्त-सिद्धान्त मानकर अनुवादपुरस्सर खण्डन किया है। सांख्यों तथा नैयायिकों में पाञ्चरात्र पाशुपतों तथा बौद्धों ने भी अद्वैत को ही वेदान्त मत मानकर खण्डन किया है। अब यहाँ प्रेक्षावानों को विचार करना चाहिये कि जब क्रमशः उक्त प्रकार से सभी सिद्धान्त अद्वैत की ओर (ही) अग्रसर हो रहे हैं और विचार दृष्टि से सभी का प्रधान प्रधान अंशों में अविरोध सिद्ध होता है तब कलह के लिये स्थान कहाँ रह जाता है।

द्वैतसिद्धान्ताऽनुयायियों का परम तात्पर्य्य श्रीमद्भगवच्चरणाम्बुज के अनुराग में ही है। यह बात अद्वैतवादियों को भी सम्मत है। यह बात दूसरी है कि कोई भगवान् के भूतभावन श्रीसदाशिव रूप में, कोई श्रीविष्णु रूप में, कोई पतितपावन श्रीमद्रामभद्र रूप में, कोई श्रीकृष्ण आनन्दकन्द रूप में तथा अन्यान्य रूप में प्रेम रखते हैं। विद्वानों का कहना है कि जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य्य-तत्त्व घट सरोवरादि अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावापन्न होता है, ठीक उसी तरह अनिर्वाच्य मायामय गुणों के परस्पर विमर्द वैचित्र्य निबन्धन विविध उपाधियों के योग से "माया आभासेन जीवेशौ करोति" इत्यादि श्रुति के

अनुसार अनन्तकोटिब्रह्माण्ड तद्गतजीवेशादि रूप से एक ही परमतत्त्व प्रादुर्भूत होता है। जैसे परम विशुद्ध गगनस्थ सूर्य ही प्रतिबिम्बापेक्षया बिम्बपदवाच्य होते हुए सर्वथा अविकृत है वैसे ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड तद्गत जीव एवं अवान्तर तत्तन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि नियम्य की अपेक्षा परम विशुद्ध तत्त्व ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के नायक होते हुए भी सर्वथा अविकृत है। जैसे वे ही सूर्य्य नील-पीत आदि उपनेत्रों से नील-पीत आदि अनेक रूपों में भासमान होते हैं वैसे ही एक ही परमतत्त्व विष्णुस्वरूपादि भावना-भावित मनस्कों को विष्णु रूप में और सदाशिव भगवान् की भावना से भावित मनस्कों को सदाशिव रूप में उपलब्ध होते हैं।

अतएव विशिष्टाद्वैत श्रीकण्ठीय शैवभाष्य की टीका करते हुए श्रीमदप्पययाजी दीक्षित कहते हैं कि यद्यपि सकल सच्छास्त्रों का महातात्पर्य अखण्ड अनन्त विशुद्ध अद्वैत ब्रह्म में ही है तथापि बिना साम्ब सदाशिव की भक्ति प्राणियों को अद्वैत वासना और निष्ठा नहीं हो सकती—"यद्यप्यद्वैत एव श्रुतिशिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठासाकं सर्वैः पुराणैः स्मृतिनिकरमहाभारतादिप्रबन्धैः। प्रत्नैराचार्य्य-रत्नैरपि परिजगृहे शङ्कराद्यैस्तदेव तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतामञ्भान्ति विश्रान्तिमन्ति॥ तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः॥ अद्वैतवासना पुंसामाविर्भवति नान्यथा।" वही रजस्तमोलेशादि से अननुविद्ध, अचिन्त्याऽनिर्वाच्य अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति के योग से विभिन्न विभिन्न भक्तों के भावानुसार भिन्न भिन्न मंगलमय विग्रहरूप में शिव-पुराण तथा स्कन्दपुराण में शिवरूप से, विष्णुपुराण में विष्णुरूप से,

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण रूप से और श्रीरामायण में श्रीरामभद्र रूप से—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥"

के अनुसार गाये जाते हैं। अन्यथा जैसे विष्णुपुराणादि में विष्णु का परत्व, सदाशिवादि का अपरत्व पाया जाता है वैसे ही स्कन्दपुराणादि तथा महाभारत में भी भीष्म के सामने युधिष्ठिर के लिये श्रीकृष्ण-मुख से ही सदाशिव का परत्व और तदतिरिक्त का अपरत्व पाया जाता है।

शिवपरक पुराणों को तामस राजस बतलाकर उनसे पीछा छुड़ाना भी सहृदयहृदयग्राह्य नहीं हो सकता। क्योंकि शिवपरक पुराणों में भी केवल शिवमाहात्म्य-प्रतिपादक पुराण ही कल्याण-कारक हैं, तदतिरिक्त नहीं। अश्रुतशिवमाहात्म्य पुरुष नरकगामी होता है; ऐसे एक दो नहीं सहस्रों वचन दिखलाये जा सकते हैं। विरुद्ध क्रिया संकल्पासिद्धि आदि अनेक दोषों के भय से सर्वसम्मति से ईश्वर एक ही है, दो नहीं। पुराणों के निर्माता महर्षि व्यास सर्वलोक-कल्याणार्थ प्रवृत्त होकर परस्पर-विरुद्ध बातें कह भी कैसे सकते हैं? वेदों में जैसे "नारायणो ह वा इदमग्र आसीत्" से नारायण का ही अस्तित्व पाया जाता है वैसे ही "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" इत्यादि वचनों से रुद्र का ही अस्तित्व भी पाया जाता है।

ठीक यही समस्त दूषणगण, त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र, भस्म, गोपीचन्दन, रुद्राक्षादि विषयों में भी समझना चाहिये। अर्थात् कहीं केवल भस्म, त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य, तदितर की निन्दा, कहीं ऊर्ध्व-पुण्ड्र की स्तुति, तदितर की निन्दा। यदि ऊर्ध्वपुण्ड्र की विधि उपनिषदों में पाई जाती है तो भस्म तथा रुद्राक्ष का माहात्म्य जाबालोपनिषदादि में पाया जाता है। यदि काठरायण, माठराय-णादि अत्यन्त अप्रसिद्ध श्रुतियों का भी प्रामाण्य साम्प्रदायिक मानते हैं, तो मुक्तिकोपनिषत् प्रमाण तथा लोकप्रसिद्धि सिद्ध रुद्राक्ष, भस्म, जाबालादि उपनिषदों के प्रामाण्य में बाधा ही क्या हो सकती है? अस्तु, यह साम्प्रदायिक कलह, कलह-प्रियों को ही शोभा देता है। दुराग्रही लोग लाख प्रयत्न से भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ सकते!

अतः इस विवाद में हम पाठकों के समय का अपव्यय नहीं चाहते। परन्तु उक्त विषयों में समन्वय पद्धति के मर्मज्ञों की उक्त तथा वक्ष्यमाण व्यवस्था ध्यान से पढ़नी चाहिये। उनका कहना यह है कि पूर्वोक्त बिम्बादिदृष्टान्तानुसार एक ही परमतत्त्व का भावानुसार नाम-रूप वेष-भूषा-भेद से उपासना तथा तत्तदनु-रूप नियत उपकरण भिन्न भिन्न उपनिषद् तथा पुराणों में बतलाये गये हैं और नियत रूपादि में निष्ठा-परिपाक के लिये नियत रूप का ही माहात्म्य, तदितर की निन्दा प्रतिपादन की गई है। जैसे वेदों में क्रम से उदित, अनुदित, समयाध्युषित होम का विधान भी पाया जाता है और वहाँ ही उक्त होमों की निन्दा

भी पाई जाती है। परन्तु उक्त निन्दाओं का तात्पर्य निन्दा में न होकर किसी एक की दृढ़ता सम्पादन करने में ही है।

अर्थात् जिसने जिस पक्ष को स्वीकार किया उसको उसी में दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिये। दूसरे पक्ष का अवलम्बन नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैदिकों की ऐसी मर्यादा है कि निन्दा का तात्पर्य निन्दा में न होकर किसी विधेय की स्तुति में होता है। जैसे वेदों में एक जगह अविद्यापदवाच्य कर्मों के करनेवालों को अन्धंतम की प्राप्ति कही है। विद्यापदवाच्य उपासना में निरतों को उससे भी घोर अदर्शनात्मक तम "अन्धं तमः प्रविशन्ति" की प्राप्ति कही है।

परन्तु उक्त विद्या तथा अविद्या का शास्त्र में विधान पाया जाता है। शास्त्र-विहित कृत्य की अकर्तव्यता "नहि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्" इत्यादि भगवान् शङ्कराचार्य की उक्ति के अनुसार हो नहीं सकती। यदि उनकी निन्दा में ही तात्पर्य होता तो "विद्यया देवलोक" इत्यादि श्रुति-सिद्ध फल अनुपपन्न होगा, क्योंकि कहीं पर भी निषिद्ध कृत्य की शुभफलकता श्रुति-सिद्ध नहीं है। इस वास्ते वैदिकों ने समुच्चय विधान की स्तुति के ही लिये एक एक की निन्दा मानी है। ठीक इसी तरह उक्त निन्दाओं का भी तात्पर्य निन्दा में न होकर स्वोपास्य देव में दृढ़ता के लिये स्तुति में ही है। किंवा जैसे कोई कौतुकी अपनी मुग्धा भार्या को चिढ़ाने के लिये अपने कुत्ते को श्याल के नाम से पुकार कर गाली देता है, न कि श्याल को गाली देता है। मुग्धा अपने भ्राता को गाली समझकर चिढ़ती है।

शिवपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर शिव-तत्त्व में ही दृढ़ निष्ठा के लिये शिवस्वरूपाभिन्न विष्णुपुराणादि-प्रतिपाद्य सर्वेश्वर श्रीविष्णु के नाम से ही ब्रह्माण्डान्तर्गत कार्य्य विष्णु की निन्दा की गई है, तथा विष्णुपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर श्रीविष्णुतत्त्व के उपासकों के निष्ठा-दार्ढ्यार्थ तदभिन्न ही श्रीशिव के नाम से कार्य्य ब्रह्मकोटि में प्रविष्ट रुद्र की निन्दा की जाती है। कहीं कहीं तो शिव या विष्णु की उपासना से नरक होना तक पाया जाता है। ऐसे स्थलों में भी नरक का अर्थ नरक न होकर कार्यकारणातीत परमतत्त्व-प्राप्ति की अपेक्षा से ब्रह्मलोकादि ही नरक पद से कहे गये हैं; क्योंकि वेदों में भी "असुर्या नाम ते लोकाः" इत्यादि मन्त्र में परमात्म-तत्त्व की अपेक्षा देवताओं को भी असुर बतलाया गया है।

असुरों का अर्थात् अशोभन परमात्मव्यतिरिक्त अशोभन प्रपञ्च में या असुप्राणादि अनात्मा में रमण करनेवालों के स्वभूत अदर्शनात्मक तम से आवृत वह लोक अर्थात् फल है, जहाँ "आत्महन" आत्मा के वास्तविक नित्य शुद्ध, बुद्ध, स्वरूप को न जानकर कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि अनेक कलङ्क को आरोपण करने-वाले अनात्मज्ञ कहे जाते हैं।

जैसे यहाँ देवलोकादि की निन्दा में तात्पर्य नहीं, किन्तु आत्मज्ञानार्थ प्रयत्नातिशय करने ही के लिये है वैसे शास्त्रों के गम्भीर अभिप्राय किसी की निन्दा में न होकर स्वोपास्य निष्ठा या (किसी) बड़े कल्याण-विषयक प्रयत्न में प्रवृत्ति के लिये

समझना चाहिये। अनभिज्ञ लोग मुग्धा भार्या की तरह दुःखी होकर परस्पर कलह करते हैं। बुद्धिमान् तो अपने स्वप्रकाशात्मक पूर्ण परम प्रेमास्पद को ही सर्वस्वरूप सर्वोपास्य समझकर मुदित होते हैं और रागद्वेषादिरहित भगवान् के किसी एक रूप में निष्ठा रखते हैं। जैसे किसी मर्मज्ञ भावुक की उक्ति प्रसिद्ध है—

"श्रीनाथे जानकीनाथे, विभेदो नास्ति कञ्चन।
तथापि मम सर्वस्वं, रामः कमललोचनः ॥"

तथा—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे,
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे,
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥

इत्यादि। जब एक ही परमतत्त्व भगवान् भक्तानुग्रहार्थ अनेकधा प्रादुर्भूत होते हैं तब उन्हीं के एक स्वरूप या नाम को समाश्रयण कर दूसरे स्वरूप या नाम का तिरस्कार या निन्दा करनी कितनी बड़ी भूल है। क्या अपने ही एक अंग का तिरस्कार करनेवाले मूर्ख अनन्य भक्त पर भी कोई प्रसन्न हो सकता है? शिवप्रधान या विष्णुप्रधान पुराणों में भी शिव तथा विष्णु के ही मुख से स्थलान्तरों में सम्यक् अभेद या परस्पर उपास्योपासक-भाव तक भी सुना जाता है। इसे विष्णुसहस्रनाम शाङ्कर भाष्य में देखना चाहिये। विस्तार-भय से वहाँ के वचन न देकर वैष्णवकुल-कमल-

दिवाकर श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की ही कुछ उक्ति दी जाती है। आपका कहना है कि—

शिव-पद-कमल जिनहिं रति नाहीं,
रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं।
हित निरुपधि सब विधि तुलसी के,
सेवक स्वामि सखा सिय पिय के॥

कुछ सांप्रदायिक महानुभाव श्री पार्वतीरमण सदाशिवजी तथा श्री विष्णुजी के प्रणाम आदि में अपने अनन्य वैष्णवत्व या शैवत्व की त्रुटि समझते हैं परन्तु विचार करने से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि शैव या वैष्णव केवल विष्णु या शिव को प्रणाम करना छोड़ देने से अनन्य वैष्णव या शैव नहीं हो सकते क्योंकि चाहे कोई शिव को प्रणामादि करना छोड़ भी दे परन्तु कामिनी-काञ्चन-कैङ्कर्य्य कैसे छूट सकता है? उसके बिना छूटे तो लोगों को विधर्मियों के पीछे-पीछे स्वार्थवश घूमना या नत होना अपरिहार्य ही है, तब अनन्य शैव या अनन्य वैष्णव कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः परमेश्वर के आराधन का परम उत्कृष्ट मार्ग स्वस्ववर्णाश्रम-धर्म ही है जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

वर्णाश्रमानुसार वैदिक अग्निहोत्रादि कृत्यों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि सभी देवताओं का यजन करना पड़ता है

अत: कोई भी वैदिकत्वाभिमानी कैसे कह सकते हैं कि हम अनन्य वैष्णव या शैव हैं, अन्य देव का अर्चन नहीं करेंगे। तस्मात् अनन्यता का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि देवता, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनों की अर्चा-पूजा छोड़ देनी चाहिये किन्तु अनन्यता का अर्थ यही है कि देवपितृगुरुब्राह्मणादि सभी का आराधन-पूजन करो परन्तु वह सभी हो भगवदर्थ, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

सब कर माँगें एक फल, राम-चरन-रति होहु।

इत्यादि। इसी प्रकार व्यवस्था भस्मादि के विषय में समझनी चाहिये। कारण कि रागत: प्राप्त पदार्थ की निन्दा निषेध के लिये होती है। जैसे सुरामांसादि रागतः प्राप्त हैं, अत: उनकी निन्दाओं का तात्पर्य्य उनके निषेधों में हो सकता है। भस्म, त्रिपुण्ड्रादि राग से तो प्राप्त हैं नहीं; किन्तु किन्हीं शास्त्रवचनों से ही प्राप्त हैं। शास्त्र-प्राप्त का अत्यन्तबाध शास्त्रान्तर से भी नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्रान्तर निरवकाश हो जायगा।

षोडशीग्रहण "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस शास्त्र से ही प्राप्त है। अत: "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस साक्षात् निषेध से भी अत्यन्तबाध नहीं होता; किन्तु विकल्प ही ग्रहणाऽग्रहण का माना गया है। ठीक इसी तरह शास्त्रप्राप्त भस्म-त्रिपुण्ड्रादि का विकल्प या सम्प्रदाय-भेद से व्यवस्था है; अर्थात् "शैवों" तथा "वैष्णवों" के लिये सम्प्रदायानुसार व्यवस्था एवं श्रौतस्मार्त-

कर्म-निरत कर्मठों को प्रातः-सायं भस्म इतरकाल में यथाकाम। यही पद्धति देखने में भी आ रही है। लिखा भी है कि—

स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्य्याद्धुत्वा चैव तु भस्मना।
देवान् विप्रान् समभ्यर्च्य चन्दनेन समाचरेत्॥

आहिताग्नि लोग किसी समय भस्मादि और किसी समय चन्दनादि लगाते हैं। इतरों के लिये यथाकाम ही समझना चाहिये। निषेध का विषय श्मशानादिगत भस्म है न कि आहवनीयादि-गत पवित्र भस्म। सामान्यवचनों का भी श्रुतियों से संकोच उचित ही है। अभिप्राय यह है कि अद्वैतवादियों का इन मतभेदों में आग्रह नहीं है।

उनमें यथारुचि त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र, शिव या विष्णु का सम्यक् आदर है। इस वास्ते इन विषयों में अद्वैतियों का किसी के साथ विरोध नहीं है। तीर्थ, व्रत, मन्दिर, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति आदि प्रतिमार्चन, वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त-कृत्य आदि विषयों का उनके यहाँ कितना आदर या प्रचार है इसका पता काश्यादि पुण्यस्थलों में ही नहीं प्रत्युत ग्रामीणों में भी उनके अनुयायियों के दर्शन से ही सुस्पष्ट लग सकता है।

भगवान् शङ्कराचार्य का सिद्धान्त है कि अनादिकाल से प्रवृत्त यह संसारचक्र बिना परमतत्त्व, परब्रह्म के स्वरूप-साक्षात्कार के कदापि नहीं शान्त हो सकता। भगवत्स्वरूपसाक्षात्कार के लिये वर्णाश्रमानुसार शिष्टाचार प्राप्त सभी लौकिक वैदिक कृत्य अनुष्ठान-सहित भगवद्भक्ति ही परमावश्यक है।

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काव्ये मतिस्त्यज्यताम्"

साधनापञ्चक से,

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां, क्षयात् पापस्य कर्म्मणः।"
"कषाये कर्मभिः पक्वे, ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥"
"भक्त्या मामभिजानाति"

इत्यादि वचनों के अनुसार अद्वैत तत्त्व अव्यवहार्य्य है, अतः व्यावहारिक सत्य नहीं कहा जा सकता। द्वैत प्रपञ्च ही व्यवहार्य्य होने से व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है। द्वैत-अद्वैत समान सत्ता से विरुद्ध होते हैं अतः पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता-भेद से व्यवस्था उचित है। इसी वास्ते उन्होंने स्वयं बदरीनारायण आदि पुण्यस्थलों में शतशः शिव और विष्णु की प्रतिमाएँ स्थापन करके भक्ति का सम्यक् प्रचार किया।

रहा भगवद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च को मिथ्या बतलाना, सो भगवान् तथा भगवद्भक्त दोनों को ही अभीष्ट है। भगवान् ही स्वयं कहते हैं, यही बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता है जो कि मरणशाली मिथ्या शरीर से मुझ परम सत्य अमृत को प्राप्त कर लेते हैं।

'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह, मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥"
(श्रीमद्भागवत)

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं, स्वप्नाभम्"
(श्री० भा० ब्रह्मस्तुतिः)

"रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः"

'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई॥'

समस्त शास्त्रों का परम तात्पर्य्य केवल भगवत्तत्त्व में ही है, उसी परमतत्त्वप्राप्ति के लिये अवान्तर तात्पर्य्य-विषयभूत अन्यान्य विषयों का निर्देश है।

इसी अभिप्राय से "सर्वे वेदा यत् पदमामन्ति" इत्यादि उक्तियाँ हैं। मिथ्या भी संसार पूर्वकथनानुसार विना सम्यक् धर्मानुष्ठान किये नहीं निवृत्त हो सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन साम्प्रदायिक कलहशून्य वैष्णव ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदास आदि सभी महानुभावों ने वैराग्यादि के लिये संसार के मिथ्यात्व पर बड़ा जोर दिया।

देहादि को ही सत्य माननेवाले प्राकृत पुरुषों से देहादि-पोषणार्थ कितने अनिष्टों की सम्भावना है, यह विज्ञों से तिरोहित नहीं है। श्री सूरदास हरिदास प्रभृति भावुक-वृन्दों ने भी प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के चरित्र-गान में ही अपना अमूल्य समय व्यतीत किया न कि निःसार जगत् की सत्यता-प्रतिपादन में!

मिथ्या कहने का भी अभिप्राय यही है कि "त्रिकालाऽबाध्य" परमार्थ सत्य भगवान् की सत्यता के समान इसकी सत्यता नहीं है; किन्तु व्यवहार में आनेवाली केवल व्यावहारिक सत्यता है, न कि गगनकुसुम के समान अत्यन्त असत्। मिथ्या शब्द का यहाँ अपह्नव अर्थ नहीं है, अपि तु अनिर्वचनीयता अर्थ समझना चाहिये, जैसे अविद्या शब्द का विद्या-व्यतिरिक्त कर्म विवक्षित है।

अधर्म से धर्मविरुद्ध पापादि विवक्षित है न कि विद्या का अभाव या धर्म का अभाव।

यद्यपि साधारणतया लोक में सत्यता एक ही प्रकार की प्रसिद्ध है तथापि अध्यात्मशास्त्रवेत्ता सूक्ष्म स्तर-भेद से सत्यता में महान् भेद समझते हैं। उनकी दृष्टि में विना (वस्तु) सत्ता के किसी वस्तु की अपरोक्ष प्रतीति असम्भव है। इसी वास्ते रज्जु सर्प आदिकों की भी प्रतीति तत्काल उत्पन्न अनिर्वाच्य सर्प को विषय करनेवाली होती है। क्योंकि अत्यन्त असत् खपुष्पादि के समान रज्जु-सर्प को अपरोक्ष प्रतीति तथा भय-कंपादि की जनकता नहीं हो सकती, इस वास्ते उसे असत् खपुष्पादि से विलक्षण परन्तु रज्जुज्ञान से बाध्य होनेवाला मानना चाहिये; अतः व्यावहारिक घटादि से भी विलक्षण प्रातिभासिक सत्य कहलाता है एवं आकाशादि जो कि व्यवहारकाल में कभी बाधित न होने से रज्जुसर्पादि से विलक्षण हैं तथा ब्रह्म-साक्षात्कार होने से एक-मात्र ब्रह्म ही रह जाता है, तद्व्यतिरिक्त का बाध हो जाता है, अतः त्रिकालाऽबाध्य परमार्थ सत्य से भी विलक्षण हैं। वे व्याव-हारिक सत्य कहलाते हैं, और जो सदा एकरस परम तत्त्व है वही परमार्थ सत्य कहलाता है। जैसे द्वैतवादियों के यहाँ घट की अनित्यता, आकाश की नित्यता, रूप-विलक्षणता सत्यता के बराबर होने पर भी समञ्जस है वैसे ही बाधित होने से मिथ्यात्व बराबर होते हुए भी व्यावहारिक समस्त प्रपञ्च की विनिवृत्ति के लिये व्यावहारिक साधनों की ही आवश्यकता है। शास्त्रों में स्वाभाविक

कामकर्म लक्षण मृत्यु के अपनयनार्थ ही अविद्यापदवांच्य कर्मों का विधान भी है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा"।

विशुद्धस्वान्ततत्त्वनिष्ठ के लिये "योगारूढस्य तस्यैव, शमः कारण-मुच्यते" के अनुसार विधिपूर्वक सर्व-कर्म-संन्यास शास्त्रानुसार ठीक ही है। अब रहा यह कि जीव परमेश्वर के भेद न मानने से ठीक भगवदुपासना नहीं हो सकती इस वास्ते अद्वैतियों के साथ विरोध है, तो यह भी नहीं, क्योंकि यावत् प्रारब्ध अविद्या लेश की अनुवृत्ति प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक से अद्वैतवादी भी मानते हैं। अतः जब तक उपाधि का अस्तित्व है तब तक जीव परमेश्वर का वास्तविक अभेद होते हुए भी व्यावहारिक भेद अनिवार्य्य है।

जब तक जल विद्यमान है तब तक जैसे प्रतिबिम्ब-भाव अवश्य है वैसे ही जीवभाव भी अनिवार्य्य है। जैसे वायु-योग से समुद्र में तरङ्ग भाव होता है, वैसे ही अनिर्वाच्य भगव-च्छक्ति के योग से जीवभाव भी अनिवार्य्य होगा। इसी दृष्टि से भेदभाव भगवद्भक्ति में पर्य्याप्त है।

इसी वास्ते श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने कहा है कि "सत्यपि भेदा-पगमे, नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं, सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचिदपि समुद्रो न तारङ्गः" हे नाथ! जैसे तरङ्ग यद्यपि समुद्र से वस्तुतः भिन्न नहीं होता, किन्तु वायुयोग से अवस्थान्तरापन्न समुद्र ही तरङ्ग कहलाता है, तथापि व्यवहार से समुद्र-तरङ्ग का भेद सिद्ध ही है। उस व्यवहार-सिद्ध भेद दशा में भी समुद्र का तरङ्ग है, ऐसा ही कहा जाता है, तरङ्ग का समुद्र है ऐसा नहीं! ठीक इसी

तरह हमारा आपका यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है तथापि मायाकृत व्यवहार-सिद्ध भेद विद्यमान है। ऐसी दशा में भी हे प्रभो! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं।

यदि कहा जाय कि भक्ति के लिये पारमार्थिक भेद ही अपेक्षित है, अभेद-ज्ञान भक्ति का प्रतिबन्धक है। तो यह भी उचित नहीं मालूम पड़ता, कारण कि प्रथम तो भेद लोक में अनादिकाल से प्रसिद्ध ही है। लोक-प्रसिद्ध ही भेद को लेकर परमानर्थ के हेतु तथा नश्वर भी कामिनी, कांचन आदि विषयों में अनिवार्य्य प्रेम देखा जाता है। यहाँ तक कि भावुकों ने "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम" इत्यादि वचनों से भगवान् में तादृश प्रेम पाने की बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की है।

अतः व्यावहारिक भेद से प्रेम सिद्धान्त के निर्वाह में कोई अनुपपत्ति नहीं! दूसरे यह कि अभेद प्रथमोपस्थित ही नहीं है। क्योंकि अभेदज्ञान तो धर्मानुष्ठानपूर्वक भगवदाराधनादि द्वारा विशुद्ध स्वान्त को ही श्रवणादि में बड़े प्रयास से सिद्ध हो सकता है। फिर वह प्रेम में ही प्रतिबन्धक क्यों हो सकता है? इस वास्ते सिद्ध हुआ कि व्यवहार-भेद या द्वैत लेकर भगवत् प्रेम सम्यक् सम्पादन किया जा सकता है।

यह प्रथम प्रसिद्ध ही है। प्रतिबन्धक भी उसका कोई उपस्थित नहीं। अतः द्वैतियों का अद्वैतियों के साथ भी कोई विरोध नहीं हो सकता। यदि द्वैतियों का भगवत् प्रेम में परमतात्पर्य्य न होकर द्वैत या भेद-सिद्धि में ही तात्पर्य्य हो तब अवश्य अद्वैतियों के साथ

विरोध अनिवार्य्य है। क्योंकि अद्वैतियों का तो परमंतात्पर्य्य या परमपुरुषार्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म अद्वैत-सिद्धि में ही है। समान विषय में विरुद्ध विकल्प अवश्य ही विरोध का प्रयोजक होता है, परन्तु यह हो नहीं सकता। क्योंकि द्वैत-भेद आबालगोपाल सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः उसके साधन का प्रयास व्यर्थ है।

यदि द्वैतसिद्धि ही मोक्ष या परम पुरुषार्थ की हेतु होती तो अनायास ही समस्त प्राणी अब तक विमुक्त हो गये होते! नाना प्रकार के कर्मोपासना-ज्ञानादि साधनोपदेश करनेवाले वेदशास्त्रों की आवश्यकता ही नहीं होती। कठिनातिकठिन तप आदि की भी कोई आवश्यकता न होती! इसी लिये सूरदास प्रभृति अर्वाचीन भक्त-शिरोमणि भी निःसार संसार की सत्यता-असत्यता के झगड़े में न पड़कर केवल भव-भयहारी भगवान् के प्रेम में ही निमग्न रहते थे।

प्रेमतत्त्व पर भी यदि कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः प्रेमतत्त्व व्यवधानाऽसहिष्णु होने से अभेद का ही पोषक है। जहाँ भावुकों को अनुरागातिशय से प्रियतम के संश्लेषकाल में रोमालियों की भी उद्गति व्यवधायक होने से सहृदयहृदयवेद्य अनिर्वाच्य व्यथा पहुँचानेवाली होती है, पुत्रवत्सला जननी प्रिय पुत्र को प्रेम से हृदय में लगाकर पुनः पुनः चिपटाने का प्रयत्न करती है, तब क्या प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णु नहीं कहा जा सकता? वस्तुतः जहाँ जितनी मात्रा में प्रेम-तत्त्व का आधिक्य है वहाँ उतनी ही मात्रा में व्यवधान या पार्थक्य असह्य है। इन्हीं अभिप्रायों

तरह हमारा आपका यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है तथापि मायाकृत व्यवहार-सिद्ध भेद विद्यमान है। ऐसी दशा में भी हे प्रभो ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं।

यदि कहा जाय कि भक्ति के लिये पारमार्थिक भेद ही अपेक्षित है, अभेद-ज्ञान भक्ति का प्रतिबन्धक है। तो यह भी उचित नहीं मालूम पड़ता, कारण कि प्रथम तो भेद लोक में अनादिकाल से प्रसिद्ध ही है। लोक-प्रसिद्ध ही भेद को लेकर परमानर्थ के हेतु तथा नश्वर भी कामिनी, कांचन आदि विषयों में अनिवार्य्य प्रेम देखा जाता है। यहाँ तक कि भावुकों ने "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम" इत्यादि वचनों से भगवान् में तादृश प्रेम पाने की बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की है।

अतः व्यावहारिक भेद से प्रेम सिद्धान्त के निर्वाह में कोई अनुपपत्ति नहीं ! दूसरे यह कि अभेद प्रथमोपस्थित ही नहीं है। क्योंकि अभेदज्ञान तो धर्मानुष्ठानपूर्वक भगवदाराधनादि द्वारा विशुद्ध स्वान्त को ही श्रवणादि में बड़े प्रयास से सिद्ध हो सकता है। फिर वह प्रेम में ही प्रतिबन्धक क्यों हो सकता है ? इस वास्ते सिद्ध हुआ कि व्यवहार-भेद या द्वैत लेकर भगवत् प्रेम सम्यक् सम्पादन किया जा सकता है।

यह प्रथम प्रसिद्ध ही है। प्रतिबन्धक भी उसका कोई उपस्थित नहीं। अतः द्वैतियों का अद्वैतियों के साथ भी कोई विरोध नहीं हो सकता। यदि द्वैतियों का भगवत् प्रेम में परमतात्पर्य्य न होकर द्वैत या भेद-सिद्धि में ही तात्पर्य्य हो तब अवश्य अद्वैतियों के साथ

विरोध अनिवार्य्य है। क्योंकि अद्वैतियों का तो परमंतात्पर्य्य या परमपुरुषार्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म अद्वैत-सिद्धि में ही है। समान विषय में विरुद्ध विकल्प अवश्य ही विरोध का प्रयोजक होता है, परन्तु यह हो नहीं सकता। क्योंकि द्वैत-भेद आबालगोपाल सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः उसके साधन का प्रयास व्यर्थ है।

यदि द्वैतसिद्धि ही मोक्ष या परम पुरुषार्थ की हेतु होती तो अनायास ही समस्त प्राणी अब तक विमुक्त हो गये होते! नाना प्रकार के कर्मोपासना-ज्ञानादि साधनोपदेश करनेवाले वेदशास्त्रों की आवश्यकता ही नहीं होती। कठिनातिकठिन तप आदि की भी कोई आवश्यकता न होती! इसी लिये सूरदास प्रभृति अर्वाचीन भक्त-शिरोमणि भी निःसार संसार की सत्यता-असत्यता के झगड़े में न पड़कर केवल भव-भयहारी भगवान् के प्रेम में ही निमग्न रहते थे।

प्रेमतत्त्व पर भी यदि कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः प्रेमतत्त्व व्यवधानाऽसहिष्णु होने से अभेद का ही पोषक है। जहाँ भावुकों को अनुरागातिशय से प्रियतम के संश्लेषकाल में रोमालियों की भी उद्‌गति व्यवधायक होने से सहृदयहृदयवेद्य अनिर्वाच्य व्यथा पहुँचानेवाली होती है, पुत्रवत्सला जननी प्रिय पुत्र को प्रेम से हृदय में लगाकर पुनः पुनः चिपटाने का प्रयत्न करती है, तब क्या प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णु नहीं कहा जा सकता? वस्तुतः जहाँ जितनी मात्रा में प्रेम-तत्त्व का आधिक्य है वहाँ उतनी ही मात्रा में व्यवधान या पार्थक्य असह्य है। इन्हीं अभिप्रायों

से उत्तरोत्तर आचार्यों ने जीव तथा परमेश्वर के असाधारण संबंध अर्थात् व्यवधान-रहित संबंध-सिद्धि के लिये विशिष्टाऽद्वैत "द्वैताऽद्वैत" इत्यादि अभेदानुगुण पक्ष स्वीकार किया है।

श्रुति भी "आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति" इत्यादि वचनों से स्वभिन्न देवादि में गौण प्रेम, तथा व्यवधान-शून्य स्वात्मा में ही सर्वातिशायी प्रेम को प्रदर्शित कर प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णुत्व स्वाभाव्य सिद्ध करती है। प्रेम का स्वरूप ही वस्तुतः रसमय है। रसस्वरूप वस्तु परमात्मा ही है। "रसो वै सः" भाव-विशेषों से द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो निखिल-रसामृत-सिन्धु भगवत् तत्त्व है वही प्रेमपदवाच्य होता है। प्रेम उक्त प्रकार से स्वाश्रय-विषय में व्यवधान मिटाने के अनुकूल है। जैसे रश्मिजाल या प्रकाश अपने उद्गमस्थल आदित्य में ही निरतिशय तथा अव्यभिचारी भाव से रहता है, अन्यत्र सातिशय तथा व्यभिचारी भाव से ही रहता है। ठीक वैसे सर्वान्तरतम प्रत्यगभिन्न परम प्रेमास्पद रसस्वरूप भगवत्तत्त्व से ही प्रादुर्भूत रसमय प्रेमतत्त्व निरतिशय तथा अव्यभिचारी भाव से अपने उद्गमस्थल ही में होता है। अन्यत्र सातिशय एवं व्यभिचारी भाव से होता है।

जैसे एक ही समुद्र में समुद्रतरंग एवं परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः अविभिन्न होते हुए भी त्रिधा व्यवहृत तथा अनुभूत होते हैं, वैसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल सौख्य जिसके तुषार के समान हैं, उसी अचिन्त्याऽनन्त सौख्य-सुधासिन्धु परमतत्त्व में परम विशुद्ध

आह्लादिनी शक्ति के सम्बन्ध से प्रेम तथा उसके आश्रय विषय का अद्भुत चमत्कारकारी अनुपम विकाश है।

प्रेमतत्त्व के लिये स्वाभिवृद्धयर्थं स्वाश्रय विषय का विप्रयोग अपेक्षित है। उससे भी कहीं अधिक अव्यवधान लक्षण संप्रयोग भी अपेक्षित होता है। क्योंकि प्रथम किसी तरह संप्रयोग संपन्न होने पर ही विप्रयोग भी रस का अभिव्यञ्जक होता है। विप्रयोगाग्नि-संतप्त भावुक का संप्रयोगाऽमृत विना जीवन ही असंभावित है। यह बात दूसरी है कि बहिरङ्ग अल्पदर्शी देशादिकृत व्यवधान-राहित्य में ही तृप्त हो जाते हैं। सूक्ष्मज्ञ तथा अन्तरङ्ग भावुक, देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत, समस्त व्यवधान-राहित्य विना नहीं तृप्त होते !

यही बात स्वात्मसमर्पण-रूप भक्ति के विषय में भी समझनी चाहिये। अर्थात् कुछ महानुभाव वित्त, पुत्र, कलत्र, देहादि समर्पण कर स्वरूप का अस्तित्व रखते हुए भी तृप्त हो जाते हैं एवं कुछ महानुभाव अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्व में अनेकाऽनर्थोपप्लुत जीवभाव के पृथक् अस्तित्व की कल्पना स्वप्रकाश सूर्य्य में अंधकार की कल्पना के समान अनुचित समझकर स्वस्वरूप को भी भगवान् में सर्वथा समर्पण कर भगवान् की पूर्णता के बाधक का अपनयन करते हैं।

इसी वास्ते भगवान् भी अभेद का समर्थन करते हैं—"विभक्तमिव च स्थितम्"। परमतत्त्व वस्तुतः एक होता हुआ भी सुर, नर, तिर्यगादि रूप से बहुधा स्थित है। 'विभक्तमिव' इत्यादि स्थलों में

जो तटस्थ ईश्वर की विभक्तवत् व्यवस्थिति मानते हैं उनके यहाँ अप्रसिद्धरूपदोष अनिवार्य्य है। क्योंकि स्वरूप से परमेश्वर विभक्तवत् अर्थात् वस्तुतः एक परन्तु पृथक्-पृथक् स्थित के समान होता है। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध है। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" क्षेत्रज्ञ त्वंपदार्थ को 'मां विद्धि' परमात्मस्वरूप ही समझना चाहिये। क्षेत्रज्ञ शब्द का जाव ही अर्थ है, परमेश्वर नहीं। क्योंकि जैसे माया का असाधारण सम्बन्ध परमेश्वर के साथ है अतः "मायिनं तु महेश्वरम्" के अनुसार मायी महेश्वर है, वैसे ही क्षेत्र का असाधारण सम्बन्ध जीव से ही है। अन्यथा क्षेत्र दुःखादि का सम्बन्ध भी परमेश्वर में अनिवार्य्य होगा। 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मां' का यदि एक ही अर्थ है तब अभेद सम्बन्ध से शाब्दबोध भी असम्भव है, यदि पृथक् है तो भी उद्देश्य-विधेय में लक्षण-लक्ष्य की तरह ज्ञातता-अज्ञातता अपेक्षित है।

"रामं सीतापतिं विद्धि" इत्यादि स्थलों में भी ज्ञात राम को उद्देश्य कर अज्ञात सीतापतित्व विधेय है। यहाँ भी दो में एक को उद्देश्य कर एक को विधेय मानना चाहिये। क्षेत्रज्ञ यदि ईश्वर रूप से प्रसिद्ध है तो उसे ईश्वरत्व विधान व्यर्थ है, यदि अप्रसिद्ध है तो भी ईश्वरत्व विधान निष्प्रयोजन है। ईश्वर को क्षेत्रज्ञातृत्व विवक्षित हो तो भी "एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः" इत्यादि वचनों से क्षेत्रज्ञ पृथक् निर्देश व्यर्थ होगा। क्योंकि क्षेत्रज्ञाता को सीधे ईश्वर बतलाया जा सकता था।

फिर क्षेत्रज्ञ संज्ञा निर्धारण कर परम्परा से ईश्वरत्व कहना सर्वथा अपार्थक है। सर्वज्ञ को क्षेत्रज्ञ मात्र कथन प्रतिकूल ही है। क्षेत्रज्ञ शब्द से यदि परमेश्वर कहा गया, तब जीव का स्वरूप पृथक् दिखलाना चाहिये। भोग्यवर्ग-प्रतिपादनानन्तर भोक्तृवर्ग का निरूपण ही संगत होने से भोक्तृवर्ग को लङ्घन कर नियन्ता का प्रतिपादन भी असङ्गत है। इस वास्ते "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इत्यादि श्रुति के अनुसार प्रसिद्ध क्षत्र तथा उसके ज्ञाता को अनुवाद कर यथायोग्य बाध सामानाधिकरण्य या मुख्य सामानाधिकरण्य से परमात्मत्व-विधान ही भगवान् को अभिप्रेत है।

अतएव 'पैंगी रहस्य' श्रुति भी "अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ" इत्यादि वचनों से शारीर अर्थात् शरीराभिमानी जीव को ही क्षेत्रज्ञ बतलाती है। यदि शारीर शब्द का अर्थ भी "शरीरे भवः" इस व्युत्पत्ति से परमेश्वर मानें तो शरीर में होनेवाला व्यापक आकाश भी शारीर पद से कहा जा सकता है। पर यह लोकाऽप्रसिद्ध है, अतः ठीक नहीं।

सारांश यह निकला कि अद्वैत सिद्धान्त सर्वाऽविरुद्ध एवं भगवान् और उनके भक्तों को सर्वथा अभिमत है। अतः सोपाना-रोह-क्रम से सभी सिद्धान्त उक्त सिद्धान्त के अनुकूल हैं। कोई कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि उक्त अद्वैत सिद्धान्त में सगुण भगवान् भी व्यावहारिक या मिथ्या तत्त्व हैं, तब मिथ्यातत्त्व में अनुरक्ति कैसे संभावित हो सकती है? परन्तु विचार करने से यह कथन निर्म्मूल है। जैसे प्राची दिक्-सम्बन्ध से पूर्णचन्द्र का सम्यक्

प्रादुर्भाव होता है वैसे ही परम विशुद्ध अनिर्वाच्य दिव्य शक्ति के सम्बन्ध से परमतत्त्व का दिव्य मङ्गलमय विग्रह रूप में प्रादुर्भाव होता है।

व्यावहारिक कहने का भी अर्थ अलीक या रज्जुसर्प के समान नहीं हो सकता जैसे पार्थिवत्व अंश में बराबर होते हुए भी हीरकादि में महद् वैषम्य है एवं व्यावहारिकत्व अंश में बराबर होते हुए भी विष अमृत में महान् भेद है। ठीक इसी तरह जगदुपादानभूता माया शक्ति तथा भगवान् के मङ्गलमय विग्रह रूप में विकाश की निमित्तभूत विशुद्ध शक्ति में महान् प्रभेद है। जैसे मेघादि अस्वच्छ पदार्थ के सम्बन्ध से यद्यपि सूर्य्य-स्वरूप समावृत है परन्तु विशुद्ध काँचादि के योग से सूर्य्य-स्वरूप समावृत न होकर प्रत्युत अधिक विशुद्ध रूप में प्रकट होता है। ठीक वैसे ही अचिन्त्य विशुद्ध शक्ति के योग से परमतत्त्व का स्वरूप समावृत भी नहीं होता। प्रत्युत आत्माराम मुनीन्द्रों के भी चित्त को आकर्षण करनेवाले दिव्य स्वरूप में प्रकट होते हैं। इतना भेद अवश्य है कि अद्वैत सिद्धान्ती जहाँ एक ओर भगवान् को अचिन्त्यानन्त समस्त कल्याणगुणगणास्पद मानते हैं वहाँ दूसरी ओर "निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तम्" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सत्ता-भेद से निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कल भी मानते हैं।

अन्यान्य सिद्धान्ती केवल सगुणतत्त्व को ही मानकर निर्गुण का सर्वथा अपलाप ही करते हैं। अर्थात् सगुण को ही प्राकृत गुणगणराहित्य के अभिप्राय से निर्गुण भी कहते हैं। द्वैती लोग

आदित्यतत्त्व के समान सगुण भगवान् को मानकर आतप के समान निर्गुणतत्त्व को मानते हैं। अद्वैतियों का कहना है कि गुणादि की आवश्यकता स्वाश्रय में सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय सम्पादन के लिये ही हो सकती है।

परमतत्त्व अनन्त पद समभिव्याहृत ब्रह्म पद तथा "एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादि श्रुति से निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वतः सिद्ध है। अतः गुणकृत अतिशयता-राहित्य तथा निर्गुणत्व श्रुति के अनुरोध से स्वतः निर्गुण ही तत्त्व में गुण स्वतः अपने गुणत्वसिद्ध्यर्थ भगवत्तत्त्व का समाश्रयण करते हैं। इस वास्ते भगवान् स्वरूप से निर्गुण होते हुए भी सगुण कहे जा सकते हैं।

"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्"

(श्री० भा० ए०)

आदित्यस्थानीय सगुण तत्त्व आतपस्थानीय निर्गुण तत्त्व देश में यदि अविद्यमान है तब तो परिच्छिन्नता अनिवार्य्य है। यदि निरतिशय रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है तब नामान्तर से निर्गुण परम तत्त्व ही हुआ। क्योंकि अतिशयता की कल्पना जहाँ जाकर स्थगित हो जाती है वहीं निरतिशय प्रज्ञानानन्दघन परमतत्त्व कहलाता है।

नाम में कोई विवाद नहीं। यदि शून्यवादी या विज्ञानवादी इसी तत्त्व को शून्य या विज्ञानतत्त्व शब्द से कहते हों तो अद्वैतियों का नाममात्र में कोई विवाद नहीं। यदि "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुति तथा दार्शनिकों से प्रसिद्ध क्षणिक विज्ञान संतति या

तत्त्वय रूप अत्यन्ताऽसत् विज्ञान या शून्य मानते हों तो उक्त परम तत्त्व से महान् भेद सुस्पष्ट सिद्ध है। अतः उक्त प्रकार से परमतत्त्व स्वरूप से निर्गुण और निरपेक्ष होते हुए भी सगुण तथा साकार है। जैसे प्राची दिक्, चन्द्राभिव्यक्ति में, वायु तरङ्गाभिव्यक्ति में निमित्त मात्र है वैसे ही अचिन्त्याऽनिर्वाच्य परम विशुद्ध शक्ति भी भगवान् के सगुण स्वरूप में प्रादुर्भाव के निमित्त मात्र है। जैसे प्राची या वायु स्वयं चन्द्र या तरङ्ग रूप नहीं है वैसे ही विशुद्ध शक्तिमात्र सगुण भगवान् नहीं हैं।

भगवान् तो स्वतः नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव ही हैं। इसी भाँति तत्त्वदर्शी सर्वस्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न प्रज्ञानानन्दघन भगवान् में आत्मभाव से प्रतिष्ठित हुए भी व्यावहारिक भेद समाश्रयण कर अपरिगणित कन्दर्पदर्पदलन पटीयान् सौन्दर्य्यसुधासिन्धु के मुनिमनमोहक माधुर्य का भी समास्वादन करते हैं।

इस तरह से यद्यपि अकुटिल भाव से श्रुतिस्मृति तदनुकूल तर्कानुमोदितमार्ग द्वारा समस्त विरुद्ध धर्म एवं सिद्धान्तों का साक्षात् या परम्परया सामञ्जस्य वेदों के परमतात्पर्य्य विषयभूत भगवान् में निर्विवाद सिद्ध है तथापि लीला-विशेष अभिनय के लिये वस्तुतः अनन्यपूर्विकाओं में भी अन्यपूर्विकात्व के लोकदृष्टि-सिद्ध आरोपवत् अभिप्राय-भेद से सकल विवादास्पदत्व भी लीलामय के स्वरूपाऽननुरूप नहीं है।

वेदान्त के इस अद्वैत सिद्धान्त से नास्तिकों तक का विरोध नहीं पड़ता। जो भगवान् भक्तों के सर्वस्व एवं ज्ञानियों के एकमात्र परम

तत्त्व हैं, वही नास्तिकों से नास्तिकों के भी सब कुछ हैं।' यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है परन्तु विवेचन करने से, अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभाव से घबराता है, वह यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ। साधारण से साधारण प्राणी भी आत्मरक्षा के लिये व्यग्र रहता है। कोई भी अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता। इस तरह नास्तिक भी अपने अस्तित्व का पूर्णानुरागी है। अपने आप कौन है, जिसका अस्तित्व वह चाहता है, इसे वह न जानता हो, यह बात दूसरी है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर भी उसकी दृष्टि फिर गई, तब तो वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार ये सभी दृश्य तथा मेरे हैं और मैं इनसे पृथक् तथा इनका द्रष्टा हूँ और मैं उसी निर्विकार, दृक्-स्वरूप स्वात्मा का ही सदा अस्तित्व चाहता हूँ। विवेचन करने से यह भी विदित होता है कि स्वप्रकाश दृक् का अस्तित्व 'तत्' स्वरूप ही है। इसी लिये आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। जगत् की अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी सन्देह हो, परन्तु 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा आत्मविषयक संदेह किसी को भी नहीं होता। जगत्, परमेश्वर, धर्म, कर्म सभी का अभाव सिद्ध करनेवाले शून्यवादी को भी अनिच्छया स्वात्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ता है। कारण, जो सब के अभाव का सिद्ध करनेवाला है, यदि वह रह गया तब तो स्वातिरिक्त ही सबै का अभाव सिद्ध होगा, अपना अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सर्वनिराकर्ता, सर्वनिषेध की अवधि एवं साक्षीभूत के अस्वीकार

करने पर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्वबाध का अधिष्ठान एवं साक्षीभूत अस्तित्व या सत्ता ही भगवान् का 'सत्' रूप है।

साथ ही बोध और प्रकाश के लिये प्राणिमात्र में उत्सुकता दिखाई देती है। पशु पक्षी भी स्पर्श से, आघ्राण से, किसी तरह ज्ञान के प्रेमी हैं। यह ज्ञान की वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। हमें अब अमुक तत्त्व का ज्ञान हो, अब अमुक का हो, इतिहास, भूगोल, खगोल, भूततत्त्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्त्वों को जानने को मन चाहता है। किंबहुना बिना सर्वज्ञता के, ज्ञान में सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध भान (बोध) में कल्पित हैं, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है। क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं निरवयव और अनन्त है। उसका दृश्य के साथ सिवा आध्यासिक सम्बन्ध के और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अतः यदि सर्वज्ञ होने की वाञ्छा है तो सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होने की ही वाञ्छा है। यह अखण्ड बोध ही भगवान् का 'चित्' रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सबका निज रूप है, वैसे ही यह अबाध्य, अखण्ड बोध भी सब का अन्तरात्मा है।

संसार में पशु, कीट, पतंग कोई भी ऐसा नहीं है जो आनन्द के लिये व्यग्र न रहता हो। प्राणिमात्र के देह, इन्द्रिय, मन,

बुद्धि, अहंकार आदिकों की जितनी भी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्द के लिये हैं। बिना किसी प्रयोजन के किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक उन्मत्त भी, चाहे भ्रम या अज्ञान से ही सही, आनन्द के लिये ही समस्त चेष्टाओं को करता है। समस्त वस्तुओं में भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी जिसके लिये नाना चेष्टाएँ करता है उसके विषय में उसे सन्देह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द बहुत प्रसिद्ध है। संसार भर की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो अर्थात् जो अन्य के लिये प्रिय न हो, वही 'आनन्द' होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री, पुत्र आदि में प्रेम तभी तक है, जब तक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही उनसे द्वेष हो जाता है। परन्तु, सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी भी, किसी को भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह सभी आनन्द को चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील तथा लालायित रहते हैं।

परन्तु उसे पहचानने की कमी है; क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्र, शब्द-स्पर्श आदि संभोग में ही सुख की भ्रान्ति से फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु विवेचन से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है,

वह सुख नहीं, किन्तु सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। जगत् के सम्भोग-साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं, किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णाप्रशमन के अनन्तर जिस शान्त अन्तर्मुख मन पर सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिविम्ब का निदान या बिम्बभूत जो अन्तरात्मा है, वही 'आनन्द' है। जो लक्षण आनन्द का, वही अन्तरात्मा का भी है। जैसे सब कुछ आनन्द के लिये प्रिय है, आनन्द और किसी के लिये प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं होता। अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरुपाधिक परम प्रेम का आस्पद है। उसी का आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। इसी के लिये समस्त कार्य-करण-संघात की प्रवृत्ति होती है। यह सुख-दुःख-मोहात्मक, नानात्मक, संघात से विलक्षण सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असङ्ग, अद्वितीय तत्त्व ही भगवान् का 'आनन्द' रूप है। इस तरह सभी 'सच्चिदानन्द' भगवान् के उपासक हैं।

प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहते हैं। एक चींटी भी पकड़ी जाने पर व्याकुलता के साथ हाथ-पैर चलाती है। शुक, सारिका आदि पक्षी सोने के पिंजड़े में रहकर सुन्दर मधुर भोजन की अपेक्षा बन्धनमुक्त हो, स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फलों को भी खाकर जीवन व्यतीत करने ही में सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं।

इस तरह प्राणिमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिये लालायित है। ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा ? परन्तु स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान् का ही स्वरूप है। बिना असङ्ग सच्चिदानन्द भगवान् को प्राप्त किये बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रता की कल्पना अत्यन्त ही निराधार है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह का सम्बन्ध बना है, तब तक स्वतंत्रता कैसी ? भले ही कोई माता-पिता गुरुजनों तथा वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतंत्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदि के परतंत्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ता है। कारण, जब तक कुछ स्वतंत्रता त्याग कर शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतंत्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मल, विक्षेप, आवरण को दूर करके शरीरत्रय-बंधन से मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर ले तब तक पूर्ण स्वातंत्र्य मिल सकता ही नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'स्वतंत्रता' भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न भगवान् का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँ तक कि माता-पिता गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। ये सभी भाव भी जीवभाव के

रहते नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठान-भूत भगवान् के ही परतंत्र हो सकते हैं। इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व, ये सब भगवान् में ही होते हैं। जब आस्तिक नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्ति के लिये जी जान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्ति के लिये व्यग्र हैं, यह वही भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं? क्योंकि प्राणिमात्र किंवा तत्त्वमात्र का अन्तरात्मा भगवान् ही है। फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशय से श्री वाल्मीकि की उक्ति है—"लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।" लोक में ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो राम का अनुगामी न हो। निज सर्वस्व के बिना किसी को भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरङ्ग की जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसी के लिए व्यग्र होते हुए भी उसे जानते ही नहीं।

विश्वेश्वरयतीन्द्रस्य, श्रीगुरोश्चरणाब्जयोः।
कृतिरेषार्पिता, भूयान्मुदे सुमनसां सदा॥

—

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सद्ध	सिद्ध	२	१३
प्रादुभाव	प्रादुर्भाव	४	२२
अपर	अपार	५	२
पदाथ	पदार्थ	७	१५
औपधिक	औपाधिक	१६	३
हुंई	हुईं	२१	६
सकता कि	सकता है कि	२३	३
यदापश्चा	यदा पश्चा	२५	३
यामो	श्यामो	२६	२२
उनके	उसके	२८	१
जि	जिस	३१	१२
कुलता	व्याकुलता	,,	१३
को भी	का भी	३२	२०
प्रकार	प्रकार के	३३	८
द्रैत	द्वैत	३७	१३
क्तोना	क्तो ना	३८	५
वहा	वही	३९	९
से हा	से ही	,,	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अद्दैत	अद्वैत	४०	५
प्रतीति के	प्रतीति का	४८	९
तेष	तेषु	५१	४
सकता	सकते	५२	१५
है ही	हैं ही	५४	१०
लिय	लिये	५६	१
दपण	दर्पण	५६	२२
दशन	दर्शन	,,	,,
पूण	पूर्ण	६१	७
अथ	अर्थ	६७	८
आप्प	आप्य	६८	६
साथक	सार्थक	,,	११
सव	सर्व	,,	१८
जातो	जाती	६९	२०
अङ्ग,	अङ्ग	७६	१२
नपुर	नूपुर	८३	११
भा	भी	८९	६
प्रादुभाव	प्रादुर्भाव	९५	१७
प्रीतियुक्त	प्रीति युक्त	९९	२२
बना	बिना	१०३	१४
द्वतं	द्वैतं	,,	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
वोधे	बोधे	१०३	१८
प्राची स	प्राची से	११०	७
किराट	किरीट	,,	१९
है, रहा	रहा है,	१२८	२०
ऊचुयदा	ऊचुर्यदा	१३२	१०
जावन	जीवन	१५०	१
भेद स	भेद से	१५४	१६
सूयतत्त्व	सूर्यतत्त्व	१५५	१
श्राम	श्रीम	१६५	७
अवतीण	अवतीर्णं	१६७	१६
दशन	दर्शन	१६८	१३
मनपेत	मनुपेत	१६९	१७
तत्त्वदीयं	तत्त्वदीपं	१७४	१६
स कर्तृत्व	कर्तृत्व	१८६	७
मक्ति	मुक्ति	,,	१४
विशोष्य	विशेष्या	,,	२२
बहिरङ्ग हैं	बहिरङ्ग है	१८९	६
कम का	कर्म का	१९५	६
उसका	उसकी	२००	१६
सौन्दर्य	सौन्दर्य	२०३	८
स्मात्तादि	स्मार्तादि	२११	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सेय	ज्ञेय	२१२	१४
स यह	से यह	२१८	१४
कर्मंण्यकम	कर्मण्यकर्म	२२१	१७
हिरण्यगभ	हिरण्यगर्भ	२२५	१८
हा आदि	ही आदि	२२६	४
सवकर्म	सर्वंकम	२३२	११
उनका	उसका	"	"
समथ	समर्थ	२३५	२०
भा प्राकृत	भी प्राकृत	२३६	१५
ऐश्वर्य	भग	२४३	१०
हैं तो	है तो	२४४	१६
हम	हमें	२५२	१
यहा	यही	२५९	७
अद्वत	अद्वैत	२६५	२०
चत्र	चित्र	२७४	२
पयाप्त	पर्याप्त	"	११
लये	लिये	"	१३
संस्पश	संस्पर्श	२७५	२१
लच्चण	लक्षणा	२८३	२
पयवसित	पर्यवसित	"	१३
कृताथता	कृतार्थता	२८६	१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मन्यमाना	मन्यमाना:	२९१	१
कात्यायिनी	कात्यायनि	३००	१९
माग	मार्ग	३०८	१
भा	भी	३०९	१७
अथ	अर्थ	३१०	१०
साथ हा	साथ ही	३१८	१६
अत्तिएवतां	अक्तएवतां	३१९	१४
इन्द्रियगोचर	इन्द्रियागोचर	३२५	११
,,	,,	,,	१३
अथात्	अर्थात्	३३०	१
यो	य:	३४१	१६
आकषण	आकर्षण	३४३	२२
व	वे	३४९	१०
आपयति	प्रापयति	३५३	१४
चाहिय	चाहिये	३५५	२०
स्वाथ	स्वार्थ	३५६	१०
पिवेत्	पिबेत्	,,	१५
स्वाथ	स्वाथ	३५७	१
वतन	वर्तन	,,	१९
समपण	समर्पण	३६६	१३
गोपाङ्गनाआ	गोपाङ्गनाओं	३७८	१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
है कैसा	कैसा है	३८२	५
कुत्सितों	कुत्सितों	,,	८
को भोग	के भोग	३८३	११
उसका	उसकी	३८६	१५
दशन	दर्शन	३९३	१३
सवद्रष्टा	सर्वद्रष्टा	,,	२२
पही	यही	३९७	१३
हा है	ही है	३९८	२२
उस	उन	४०२	२१
रूपानु	रूपान्	४०३	१२
उसे वह	वह	४०६	१६
सवज्ञ	सर्वज्ञ	४१३	१०
मोक्तृत्वादि	भोक्तृत्वादि	४१४	१९
सवमिदं	सर्वमिदं	४१५	२
कहता हैं	कहती हैं	४१८	९
अथात्	अर्थात्	४२४	१०
त्वं पदाथ	त्वं पदार्थ	४३१	२२
परातत्त्व	पराक्त्व	४३४	५
प्राक्तृतात्मक	प्राक्तृतात्मकं	,,	१२
व्रह्मा	व्रह्मा में	,,	२२
भागम्	भागं	४३८	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पदाथ	पदार्थ	४४१	३
कमजाल	कर्मजाल	४४२	१
भागम्	भागं	४४३	२१
सुहृद्वग	सुहृद्वर्ग	४४५	११
दशन	दर्शन	,,	१२
प्रवाहक	प्रवाह	४४८	१
चौर ने	चौर	,,	४
परधम	परधर्म	४४९	२२
सै च	कृत्स्न	४५२	७
च्छास्त्र	च्छास्त्रं	४५८	१६
औपचारक	औपचारिक	४५९	१
देवाभास	हेत्वाभास	४६१	४
पदाथ	पदार्थ	४६७	२
असुसु	असुषु	४७१	१२
सितये	सितमे	४७२	१६
होती है	होता है	४७९	१२
पुरुष को	पुरुष की	४८०	१७
तमेव	तमेतद्यत्	४८५	१९
द्वेष का	द्वेष्य का	४८६	८
सहजा	सयुजा	४९०	१६
पाराङ्	पराङ्	४९४	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कि स्तूयसे	किं स्तूयसे	४९६	१२
हाती हैं	होती हैं	,,	२२
यिनी	यनी	५०२	४
देव ने ने	देव ने	,,	१७
मऽस्तु	मस्तु	५१२	१२
फलयोग	फलभोग	५१६	१३
तात्पय	तात्पर्य	५१९	५
मङ्गल विग्रह	मङ्गलमय विग्रह	५२८	४
चित्तं चिद्धि	चित्तं तु चिद्धि	५३०	१
दुलारा	दुलारी	५३५	१९
दपण	दर्पण	५३९	११
पदाथ	पदार्थ	५४०	१
विचेष्टेत	विचेष्टते	५५०	१६
सम्भव	समलव	५५४	१२
याप्युच्चै	याप्युच्च	,,	१४
परमाथ	परमार्थ	५६७	११
ध्रुवजा	ध्रुवजी	,,	२०
ज्ञाना	ज्ञाना:	५७९	१०
व्यापाश्रय:	व्यपाश्रय:	५८५	४
द्वरा	द्वारा	५८६	३
सर्वक्कम	सर्वकर्म	,,	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
विमुक्त	विमुख	५८९	२०
भा	भाः	५९१	१६
रस्यता	सरसता	५९३	१५
हृत्छयाग्नि	हृच्छयाग्नि	५९४	१९
,,	,,	,,	२२
शोकाश्रु सार	शोकाश्रुसागर	५९७	६
का जहाँ	की जहाँ	५९८	१७
मुखारबिन्द	मुखारविन्द	६०४	१४
को भी	को ही	६०८	८
सुदृशन	सुदर्शन	६१४	४
का शोभा	की शोभा	६१७	१३
वण	वर्णं	६१८	२२
गुणान्	स गुणान्	६२३	५
पर हा	पर ही	६३१	२
रुका	रुकी	,,	३
मोता	मोती	६३३	५
तत्त्वौप	तन्त्वौप	६३९	४
ब्रह्मशास्त्रैक	ब्रह्म शास्त्रैक	६३९	६
स्तवक	स्तावक	६४५	१२
हा	ही	,,	१४
रूपगभ	गर्भ	६४६	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
श्रमवतां	श्रमवता	६५६	५
मिषुस्त्वा	मिषुस्त्वासं	६५९	२१
शुचीनाम्	शुचीनां	६६५	१५
अथवा "योगि	"अथवा योगि	,,	१६
वेद ने भा	वेद ने भी	६६६	१३
युक्तवाले के	युक्त के	६६८	६
रूप	रूप से	६६९	२१
स्कार	संस्कार	६७०	२१
सूर्य तथा	सूर्य, गणपति तथा	६७१	३
प्राप्ति के	प्राप्ति का	,,	१०
कहे हैं	कहा है	,,	१०
विज्ञानकर्ता	विज्ञान कर्ता	६७८	२२
सर्वज्ञ हैं	सर्वज्ञ है	६८०	३
योग्य	योग	६८९	१६
अभासा	आभासा	६९०	१८
द्वुत	द्वैत	६९४	१३
शनाम्भान्ति	शनाक्रान्ति	६९५	१७
देवलोक	देवलोकः	६९८	१४
अशोभन परमात्म	परमात्म	६९९	१३
कश्चन	कश्चन	७००	६
काव्ये	काम्ये	७०४	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मामन्ति	मामनन्ति	७०५	६
क्वचिदपि	क्वचन	७०७	१७
रोमालियों	रोमावलियों	७०९	१७
में महत्	में मृत्तिका से महत्	७१४	६
के निमित्त	की निमित्त	७१६	६
'तत्'	'सत्'	७१७	१४

श्री स्वामी करपात्रीजी के ग्रन्थ

१.	समन्वयसाम्राज्यसंरक्षण	(संस्कृत)	१॥) रु०
२.	सङ्कीर्तनमीमांसा	(हिन्दी)	॥)
३.	समाधान	"	।=)
४.	श्रीभगवत्तत्त्व	"	कपड़े की जिल्द ४)
			सादी जिल्द ३॥)

"सन्मार्ग"

वेदादि सच्छास्त्रानुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म तथा समाज-धर्मों का यथेष्ट विवेचन करते हुए विश्व को निःश्रेयस एवं ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय का मार्ग प्रदर्शित करनेवाला मासिक पत्र। सम्पादक, श्री विजयानन्द त्रिपाठी। वार्षिक मूल्य दो रुपया।

उपर्युक्त पुस्तकें तथा 'सन्मार्ग' के मिलने का स्थान,—मूलचन्द चोपड़ा, सन्मार्ग-कार्यालय, १३।२४ सत्ती चबूतरा, बनारस।

— —

"सिद्धान्त"

सामयिक स्थिति पर प्राचीन दृष्टि से विचार करनेवाला साप्ताहिक पत्र। सम्पादक, श्री गङ्गाशङ्कर मिश्र। वार्षिक मूल्य तीन रुपया। प्राप्तव्य स्थान—गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस।